ओ३म्
स्मारिका
Progti
अन्तर्राष्ट्रीय
आर्य समाज स्थापना शताब्दी समारोह
दिसम्बर १९७५ नई दिल्ली (भारत)

स्मारिका

कृण्वंतो विश्वमार्यम्

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
दयानन्द भवन, रामलीला मैदान
नयी दिल्ली-११०००२

प्रार्थना

ओ३म् ! विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव
यद्भद्रं तन्न आ सुव ।
अ ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्

ओ३म् ! आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्
दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशु सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः । सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् । निकामे
निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्
योगक्षेमो नः कल्पताम् ।।

असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमय

समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः
सहचित्तमेषाम् । समानं मंत्रमभि मंत्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ।।

प्रधानमन्त्री का क्रान्तिकारी कार्यक्रम और आर्यसमाज

आर्यसमाज दहेज विरोधी, शराबबन्दी, सरकारी कार्यालयों में हिन्दी के प्रचलन तथा गो संरक्षण के महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भारत सरकार का पूर्ण समर्थक है।

देश की समृद्धि के लिए अधिक अन्न उत्पादन, कृषि कार्य को बढ़ावा देने, गोबर से गैस तथा खाद की समस्या को हल करने के लिए गो संरक्षण अति आवश्यक है। दहेज विरोधी नशाबन्दी एवम् अन्य सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक उत्कर्ष के लिए प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने जो नीति अपनाने की घोषणा की है, आर्यसमाज सर्वात्मना उसका समर्थन करता है। समूचे देश को एक धारा में चलाने के लिए हिन्दी को उचित रूप से बढ़ावा देकर राजकाज की भाषा बनाने में सरकार जो प्रयत्न कर रही है यह भी हमारे लिए संतोष का विषय है।

—रामगोपाल शालवाले,
प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली

समारोह में पधार कर जो हमें गौरवान्वित कर रहे हैं, महामहिम राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अली अहमद का संदेश :
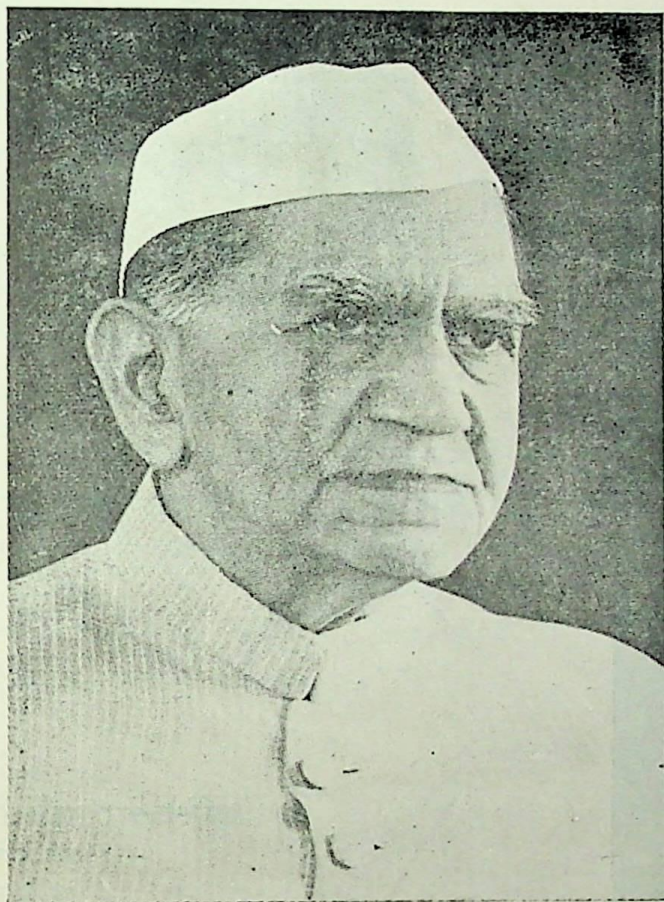
दिसम्बर २२, १९७५

फखरुद्दीन अली अहमद
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली

मुझे यह जानकर खुशी हुई कि आर्य समाज अपनी जन्म शताब्दी मना रहा है और इस अवसर पर एक स्मारिका भी प्रकाशित की जा रही है। आर्य समाज ने शिक्षा और समाज सुधार के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। इसके लिए मैं उसे बधाई देता हूं और शताब्दी समारोह की सफलता के लिए अपनी शुभकामनाएँ भेजता हूँ।

एम० चन्ना रेड्डी
राज्यपाल
राजभवन, लखनऊ

मुझे प्रसन्नता है कि महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित "आर्यसमाज" के शताब्दी समारोह के अवसर पर एक 'स्मारिका' का प्रकाशन किया जा रहा है।

मूल वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा तथा हमारी जाति में समय के साथ-साथ प्रविष्ट तमाम कुरीतियों, अन्धविश्वासों एवं जड़ता के विपरीत आर्यसमाज ने प्रशंसनीय योगदान किया है तथा आशा है कि वह स्वयं किन्हीं परिस्थितियों में न बंधकर, उस मूल अक्षय कोष से, राष्ट्र तथा जाति के जीवन को सिंचित करता रहेगा जो कालान्तर में अनेक नामों और रूपों में अपने को प्रस्फुटित करता रहता है।

शताब्दी की सफलता हेतु मैं अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ भेजता हूँ।

शंकरदयाल शर्मा
संचार मन्त्री
भारत सरकार
नई दिल्ली

प्रिय श्री विमलेश जी,

प्रसन्नता है कि आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह के शुभ-अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है। मुझे विश्वास है कि स्मारिका में प्रकाशित सामग्री पाठकों को समाज-कल्याण के कार्यों में जी जान से लगने की प्रेरणा देगी।

कृपया इस पुनीत कार्य के लिए मेरी शुभ-कामनाएँ स्वीकार करें। मैं स्मारिका के सफल प्रकाशन की कामना करता हूँ।

सद्भावनाओं के साथ—

नूरुलहसन
शिक्षा तथा समाज कल्याण मन्त्री
भारत सरकार
नई दिल्ली

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज अपनी शताब्दी मना रहा है। महर्षि ने देश में शिक्षा के क्षेत्र में और महिलाओं के उत्थान के लिए पथप्रदर्शक का कार्य किया है। मैं समारोह की सफलता की कामना करता हूँ।

बंशीलाल
रक्षामंत्री
भारत सरकार
नई दिल्ली

आर्यसमाज के पिछले सौ सालों का इतिहास सामाजिक जागृति के अभियान का इतिहास है। देश में फैली सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने, ऊँच-नीच का भेद-भाव मिटाने और हरिजनोद्धार के लिए आर्यसमाज ने जो प्रयत्न किए वे सुनहरी अक्षरों में लिखने योग्य हैं। विदेशी जुए को उतार फैंकने के लिए स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भी आर्यसमाज ने सराहनीय भूमिका निभाई है।

महान् समाज-सुधारक और आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द जी सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत थे। उनका सादा एवं साधनामय जीवन और उनके ऊँचे आदर्श देशवासियों के लिए प्रेरणा के स्रोत हैं। आर्यसमाज शताब्दी समारोह के अवसर पर मैं स्वामी दयानन्द जी को हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ और उम्मीद करता हूँ कि आर्यसमाज एक बार फिर समाज में फैली बुराइयों को जड़ से उखाड़ने और देशवासियों में राष्ट्रीय एकता के संचार के लिए जागृति का शंख फूंकेगा।

आर्यसमाज शताब्दी समारोह की सफलता के लिए मंगल कामनाएँ।

प्रकाशचन्द सेठी
केन्द्रीय रसायन एवं उर्वरक मन्त्री
भारत सरकार
नई दिल्ली

आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह के आयोजन का समाचार जानकर मुझे प्रसन्नता हुई। राष्ट्रीय नवजागरण में महर्षि दयानन्द और उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज का योगदान स्वर्णाक्षरों में अंकित है। सामाजिक, शैक्षणिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है।

मैं समारोह की सफलता की कामना करता हूँ।

रामनिवास मिर्धा
आपूर्ति एवं पुनर्वास मंत्री
नई दिल्ली

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा आर्यसमाज शताब्दी समारोह के अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन करने जा रही है। आर्यसमाज का हमारे देश के समाज की कायापलट करने में एक गौरवान्वित स्थान रहा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रेरणा से आर्यसमाज ने हमारी पुरानी संस्कृति को जागृत किया एवं उसको वर्तमान जीवन पद्धति का अंग बनाने का प्रयास किया। मुझे आशा है कि स्मारिका में आर्यसमाज के सिद्धान्तों एवं आदर्शों पर विस्तृत लेखादि संकलित किये जायेंगे जिससे जनता को आधुनिक विचारधाराओं को ग्रहण करने में सहायक सिद्ध हो सके।

समारोह की सफलता के लिए हार्दिक शुभकामनाएँ।

बुद्धप्रिय मौर्य
उद्योग राज्य मन्त्री,
भारत सरकार,
नई दिल्ली

आर्यसमाज अपनी स्थापना के सौ वर्ष पूरे कर शताब्दी महापर्व मना रहा है। आर्यसमाज के प्रवर्तक-महर्षि दयानन्द सरस्वती ने देश में व्याप्त-धार्मिक अंधविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों को दूर करके भारत के जनजागरण में नई क्रान्ति को जन्म दिया और हजारों कार्यकर्ता पैदा किये जिन्होंने संघर्ष कर देश की आजादी में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

शिक्षा तथा समाजसुधार क्षेत्र में खास कर देश से जाति भेद-भाव मिटाने, अछूतोद्धार और नारी जागरण की दिशा में जो कदम आर्यसमाज ने उठाये वे सराहनीय हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि आर्यसमाज एक बार फिर समाज में अस्पृश्यता तथा जातिवाद जैसी बुराइयों को जड़ से उखाड़ने और देशवासियों में राष्ट्रीय एकता के संचार के लिये जाग्रति का महामन्त्र देता रहेगा। आर्यसमाज के विगत के गौरव की महिमा बनी रहे, इस सफलता की कामना के साथ।

आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह के अध्यक्ष पूज्यपाद :

महात्मा आनन्द स्वामी जी का संदेश

आर्यजगत् में एक नया मोड़ लाने की आवश्यकता है। पिछले एक सौ वर्षों में भवन-निर्माण का कार्य थोड़ा बहुत हो गया है परन्तु चरित्र-निर्माण व वेद प्रचार का कार्य कुछ ढीला पड़ गया है। जिस विचार के प्रचार करने वाले नहीं होते वह विचार फैलते नहीं हैं। यह एक स्वाभाविक नियम है। अतः स्वाध्यायशील जिनके शरीर में शक्ति है और महर्षि के मिशन को पूरा करने की अभिलाषा है, वे अब कार्यक्षेत्र में वानप्रस्थ या संन्यासी के रूप में निकल पड़ें।

स्थान-स्थान पर अष्टांग-योग केन्द्र स्थापित करके आत्म-दर्शन के पिपासुओं की शुभकामना पूरी की जाये। आज योग के नाम पर दुकानदारी बहुत चल पड़ी है। जिससे योग बदनाम हो रहा है। दुकानदारी को बन्द करने और साधक और साधिकाओं को प्रसन्न करने के लिए यह पग उठाने आवश्यक हैं।

बाल-विद्या मन्दिर स्थान-स्थान पर खुल जाने चाहिएँ। एक और अत्यन्त आवश्यक कार्य यह होना चाहिये कि आज की नई पीढ़ी आर्यसमाज के महान् कार्यों को नहीं जानती। अतः गत सौ वर्ष में आर्यसमाज ने जो महान् कार्य किये हैं उनका उल्लेख एक पुस्तक में होना चाहिए। आर्य जगत् में ७६ शहीद हो चुके हैं, इनका विवरण भी प्रकाशित होना चाहिए।

गुरु-शिष्य को प्रणाम

महाभारत काल से आज तक मथुरा जनपद शिक्षा, संस्कृति, साहित्य और युगप्रवर्तक महापुरुषों का स्थान रहा है। गीता के प्रणेता भगवान श्रीकृष्ण और वेदों के उद्धारक महर्षि दयानन्द मथुरा से सम्बन्धित रहे हैं। तिलक द्वार से विश्रान्त घाट तक जाते-आते प्रज्ञाचक्षु गुरु विरजानन्द और उनके वर्चस्वी शिष्य दयानन्द का स्मरण अनायास हो जाता है। इस छोटे-से नगर ने आर्यसमाज के अनेक ऐतिहासिक समारोह देखे हैं! भविष्य में भी हम आर्य बन्धुओं के स्वागत को तत्पर रहेंगे।

आज मथुरा भी पूरे राष्ट्र की भाँति अंगड़ाई लेकर उठ रहा है। छोटे से नगर के आसपास एक विराट मथुरा जन्म ले रहा है। नई चुनौतियाँ हमारे सामने हैं! प्रधानमन्त्री ने जिस कार्यक्रम को निश्चित किया है, मेरे आर्य बन्धु क्या उसको कार्यान्वित करने में सहयोगी होंगे? मैं उनका आह्वान करता हुआ आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह के अवसर पर गुरु विरजानन्द जी महाराज और महर्षि दयानन्द को अपनी श्रद्धांजली भेंट करता हूँ। आयोजन सफल हो और 'स्मारिका' अभूतपूर्व बने यह मेरी कामना है।

ठा० चकलेश्वरसिंह,
सदस्य—लोकसभा

विशाल हृदय : महर्षि दयानन्द

हम आर्य समाजी अपनी सौ वर्ष की लम्बी यात्रा पूरी कर चुके हैं। ऋषि ने जिस वैदिक भाव का बीजारोपण किया था, आज भारत ही नहीं संसार के दूसरे देश भी उससे प्रभावित हैं। स्त्री शिक्षा, हरिजन उद्धार, स्वदेशी प्रचार, अंध-विश्वासों का उन्मूलन और विश्वबन्धुत्व की भावना आर्यसमाज के प्रचार प्रसार के मूल में रहे हैं।

आज हम अपना आत्म निरीक्षण करते हुए संकीर्णताओं से ऊपर उठें! आर्यसमाज में जिन गुट बंदी साम्प्रदायिकता और व्यक्ति या पार्टियों से समझौते की-सी स्थिति आ गई है; उसे समाप्त कर, हमें राष्ट्र की जीवनधारा के साथ—एकात्मक होना चाहिये! हमें पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द ला० लाजपतराय और श्री देशबन्धु गुप्त की परम्परा को जीवित रखना चाहिये। धर्म और आचार के नाम पर चलने वाले गुरुओं का उत्तर केवल आर्यसमाज है। इस दिशा में उसे कारगर तरीके से अपने कार्यक्रम को क्रियान्वित करना चाहिये!

शताब्दी पर्व पर मैं समस्त आर्यनेताओं, विद्वानों और लाखों की संख्या में हमारी नगरी दिल्ली में पधारने वाले आर्यजनों का अभिवादन करता हूँ।

चौधरी दिलीपसिंह,
सदस्य, लोकसभा

आर्यसमाज धार्मिक आडंबरों का उन्मूलन करे

मध्य प्रदेश के जीवन में आर्यसमाज का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज सरकार के बाद सबसे बड़ी संस्था है। वैदिक ज्ञान के केन्द्र गुरुकुल हमारे लिये आदर्श रहे हैं। स्वदेशी प्रचार और धर्म के क्षेत्र में आडम्बरों का उन्मूलन आर्यसमाज की अपनी विशेषता है। शताब्दी समारोह के अवसर पर मैं आयोजन की सफलता और 'स्मारिका' के गौरवपूर्ण प्रकाशन की हृदय से मंगल कामना करता हूँ।

श्रीकृष्ण अग्रवाल
सदस्य-लोकसभा

आभार

मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह पर प्रकाशित जो 'स्मारिका' आपके हाथ में है, उसकी व्यवस्था समिति का संयोजन मैं कर रहा हूँ। केवल कुछ सप्ताह का समय ! और इतना बड़ा समारोह ! सभी आर्यनेता और कार्यकर्ता दिन-रात एक कर जिस निष्ठा से इस कार्य में जुट पड़े वह प्रशंसनीय है।

समारोह की सफलता एवं 'स्मारिका' के प्रकाशन के लिये अपने शुभकामना संदेश जिन नेताओं ने हमें भेजें मैं उनका अनुगृहीत हूँ। महामहिम राष्ट्रपति, महामहिम उपराष्ट्रपति, भारत-रत्न श्रीमती इन्दिरा गाँधी, माननीय बाबू जगजीवनराम, श्री शंकरदयाल शर्मा, श्री बुद्धप्रिय मौर्य, श्री चौ० बंशीलाल, श्री इन्द्रकुमार गुजराल एवं श्री डी० पी० यादव आदि नेताओं ने हमें गौरवान्वित किया है।

जहाँ मनीषी विद्वानों, लेखकों और कवियों ने अपनी रचाएँ हमें दी हैं वहाँ उदार उद्योगपतियों और व्यापारियों ने भी विज्ञापन देकर अपने सहयोग से हमें प्रोत्साहित किया है।

'स्मारिका' के विज्ञापन पक्ष के लिये में श्रीयुत् घनश्यामदास गोयल, श्री प्रह्लाद राय गुप्त, श्री रामकृष्ण अग्रवाल और श्री रतनचन्द सहदेव का अनुगृहीत हूँ। उनके सहयोग से ही यह कार्य सम्पन्न हुआ है। अपने निकट सहयोगी श्री सरदारी लाल वर्मा और श्री विमलेश ने जिस लगन और धैर्य से यह आयोजन सम्पन्न किया है वह उनका स्नेह और ऋषि भक्ति ही है।

मैं समारोह में पधारने वाले विदेश के बन्धुओं और प्रत्येक प्रांत से आने वाले आर्य जनों का अभिनन्दन करता हूँ।

—**राममूर्ति कैला**
संयोजक : स्मारिका समिति

●●●

आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली

हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

भारत के विभाजन से पूर्व जो स्थान पंजाब में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब (लाहौर) को प्राप्त था, केन्द्रीय राजधानी दिल्ली में वही स्थान नवगठित आर्य प्रतिनिधि सभा का है। दिल्ली राज्य की लगभग १५० आर्यसमाजों को यह सभा एक सूत्र में बाँधने को कृत संकल्प है।

सभा का कार्यालय आर्यसमाज मन्दिर, हनुमान रोड नई दिल्ली में सुचारू रूप से चल रहा है। सभा को वेदप्रचारार्थ इस समय आठ वैतनिक एवं लगभग ५० अवैतनिक विद्वानों की सेवाएँ प्राप्त हैं। सभा अन्य वैतनिक विद्वानों की सेवाएँ भी प्राप्त करने को प्रयत्नशील है ताकि दिल्ली के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों में भी समय-समय पर अपना सहयोग दे सकें।

वेद प्रचार के अतिरिक्त साहित्य प्रकाशन, दिल्ली के आर्यजनों की डायरैक्टरी का प्रकाशन, सभा के साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन, आर्य विद्या परिषद के माध्यम से दिल्ली के आर्य स्कूलों के प्रवन्ध में सहयोग एवं स्कूलों में धार्मिक परीक्षाओं का संचालन और अन्य अनेक ज्वलन्त प्रश्नों के समाधान प्रयत्नशील हैं। इस समय सभा के निम्न अधिकारी हैं—

प्रधान—श्री प्रेमनाथ चड्ढा एडवोकेट
उप-प्रधान—श्री चौधरी हीरासिंह कार्यकारी पार्षद दिल्ली प्रशासन, श्री वैद्य प्रह्लाद दत्त, श्री चौ० रामलाल
मन्त्री—श्री सरदारीलाल वर्मा
उप-मन्त्री—श्री प्राणनाथ, श्री होशियारसिंह
कोषाध्यक्ष—श्री ज्योतिप्रसाद गुप्त
पुस्तकाध्यक्ष—श्री मनोहरलाल गुप्त

विषय-सूची

१. आज की परिस्थिति में आर्य समाज का दायित्व — ३३
श्री रामगोपाल शालवाले

२. राष्ट्रीय पुनर्जागरण व स्वाधीनता का अग्रदूत : आर्य समाज — ३४
श्री ओम्प्रकाश त्यागी, संसद् सदस्य

३. दिव्य महापुरुष महर्षि दयानन्द को प्रणाम — ३६
पं० नरेन्द्र हैदराबाद

४. महान उग्र — ३७
श्री मनोज विद्यालंकार

५. स्वराज्य का मंत्रदाता व संन्यासी — ३८
श्री अनूपसिंह

६. आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती — ३९
श्री अक्षयकुमार जैन

७. वेदों का सन्देश — ४२
श्री शिवकुमार शास्त्री

८. नारी जागरण में आर्य समाज की भूमिका — ४४
श्रीमती कमला सिंघवी

९. सप्तपदी का महत्व — ४६
पं० चन्द्रभानु पुरोहित

१०. वर्तमान कल्प की प्रथम सृष्टि की युग पद्युत्पत्ति — ४८
श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती

११. विश्व भ्रातृत्व का वैदिक आदर्श — ५१
डा० विनोदचन्द्र विद्यालंकार

१२. योग का दर्शन और क्रियात्मक दृष्टिकोण — ५३
श्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती

१३. वैदिक उपासना का महत्व — ५७
श्री ज्योति स्वरूप

१४. वैदिक धर्म का व्यापक रूप — ५८
श्री ओम्प्रकाश शास्त्री

१५. आर्य समाज : एक शताब्दी की उपलब्धियां — ६०
डा० भवानीलाल भारतीय

१६. भारत के उत्थान में आर्य समाज का हाथ — ६४
श्री सन्तराम, बी० ए०

१७. आर्य समाज क्या है और उसने क्या किया — ६६
पं० रघुनाथ प्रसाद पाठक

१८. मही पै स्वर्ग लाएंगे (कविता) — ७०
श्री सत्यव्रत शर्मा 'अजेय'

१९. दयानन्द तुल्यो महात्मा न कश्चित् — ७१
आचार्य धर्मदेव विद्या मार्तण्ड

२०. वेदपंचकम (कविता) — ७२
स्नातक श्री सत्यव्रत

२१. ज्योतिपुरुष : दयानन्द : विजयते (कविता) — ७२
श्री शंकरदेव विद्यालंकार

२२. आर्य समाज की संसार को देन — ७३
पं० प्रकाशचन्द्र कविरत्न

२३. दयानिधान दयानन्द — ७५
आचार्य श्री प्रियव्रत

२४. राष्ट्र भाषा सम्मेलन या अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन — ७६
डा० वेदप्रताप वैदिक

२५. महर्षि निर्वाण — ७८
पं० लक्ष्मी नारायण चतुर्वेदी

२६. वैदिक समाज व्यवस्था — ८०
डा० दिलीप वेदालंकार

२७. देवदयानन्द की दिव्य देन — ८३
ज्ञानी पिण्डीदास

२८. भारत के युवावर्ग को महर्षि दयानन्द का आह्वान — ८६
श्री टी० एल० वासवानी

२९. आर्य समाज का त्रैतवाद — ८८
आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

३०. हे महान् (कविता) — ९१
वैद्य निरंजन देव आयुर्वेदालंकार

३१. महर्षि दयानन्द और कार्लमार्क्स — ९२
डा० राधा मोहन

३२. महर्षि दयानन्द : एक पुनर्मूल्यांकन — ९६
श्री हरिश्चन्द्र विद्यालंकार

३३. ऋषि दयानन्द की वेदार्थ शैली के मौलिक सिद्धान्त — ९९
आचार्य प्रियव्रत, वेद वाचस्पति

३४. वैदिक धर्म और विज्ञान — १०२
आचार्य रामानन्द शास्त्री

३५. आर्य समाज भारत राष्ट्र का निर्माण करे — १०४
श्री अवनीन्द्र वेदालंकार

३६. प्रतिज्ञा (कविता) — १०७
डा० सुरेश शास्त्री

३७. ब्राह्मण साहित्य का सामान्य परिचय — १०८
डा० कृष्णकुमार

३८. श्री मद्दयानन्द सरस्वती स्वामिनो वेदभाष्यस्य वैशिष्ट्यम् — ११३
श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक

३९. वैदिक शाखाओं का स्वरूप — ११६
श्री जयदेव आर्य

४०. दीप जले : पर दीप जलाने वाला रूठ गया (कविता) — १२०
श्री विमलचन्द्र 'विमलेश'

४१. युग दृष्टा दयानन्द — १२१
श्री राजपालसिंह शास्त्री

४२. आर्य समाज और हिन्दी — १२३
डा० रघुवरदयाल वार्ष्णेय

४३. वेद और योग — १२६
श्री भगवद्दत्त वेदालंकार

४४. स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती — १२८
श्री प्रेमचन्द शास्त्री

४५. महर्षि दयानन्द—भारतीय स्वाधीनता संग्राम में योगदान — १३०
श्री राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

४६. गीतानुसार मुक्तात्मा महर्षि दयानन्द — १३६
श्री कृष्णस्वरूप विद्यालंकार

४७. पाश्चात्य संस्कृति का बहुमुख आक्रमण — १३८
श्री वैद्य रणजीत राय देसाई

४८. नक्षत्र विद्या और वेद — १४१
श्री पं० शिवदयालु आर्य

४९. धार्मिक क्षेत्र पर महर्षि दयानन्द के विचारों का प्रभाव — १४४
श्री विश्वनाथ शास्त्री
५०. सूरज सी आस्था (कविता) — १४७
डा० देवेन्द्र आर्य
५१. यम नियम मीमांसा — १४९
श्री भगवान देव शर्मा
५२. देश की स्वतंत्रता एवं उन्नति के प्रेरक : महर्षि दयानन्द — १५२
डा० प्रशान्तकुमार वेदालंकर
५३. ऋषि दयानन्द की वेदार्थ में क्रान्ति — १५५
डा० रामनाथ वेदालंकार
५४. पंजाब में आर्य समाज और जनजीवन — १५९
श्री कालीनाथ राय
५५. श्री दयानन्द चे पुण्य स्मरण — १६०
श्री गो० म० किराणे
५६. आर्यवीरदल के प्रेरणा स्रोत : रामप्रसाद बिस्मिल — १६१
श्री जगदीशचन्द्र बसु
५७. त्रैतवाद या ऋषि दयानन्द और सिद्ध दर्शन — १६३
डा० हरिदत्त शास्त्री
५८. सामाजिक और राजनीतिक सुधार दोनों एक दूसरे के पूरक हैं — १६६
श्री० पं० प्रकाशवीर शास्त्री
59. India's Debt to Swami Dayananda — 168
Prof. S.N. Pherwani
60. Maharshi Dayanand—The World Teacher — 170
Shri Parashuram R. Dudhat
61. Maharshi Dayanand & Politics — 174
Prof. Shri Prakash
62. Arya Samaj & What it stands for — 178
Shri R.L. Sahdev
63. Swami Dayanand's Mighty Legacy — 180
Sri Suraj Bhan
64. Arya Samaj in Nation Building — 182
Dr. S S. Shashi
६५. वैदिक धर्म — १८३
श्री सत्यपाल शास्त्री
६६. वेद अपौरुषेय हैं — १८७
आचार्य डा० श्रीराम आर्य
६७. आर्य समाज क्या करे — १९१
श्री कृष्णदत्त
६८. स्वामी श्रद्धानन्द — १९३
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर
६९. आर्य समाज की प्रशस्त सीढ़ी : युवा पीढ़ी — १९५
श्री अशोककुमार भारद्वाज
७०. आर्य समाज के मन्तव्य — १९६
प्रो० शेरसिंह
७१. स्वामी दयानन्द : मानवता के ज्योतिर्पुंज — १९९
श्री रामचन्द्र विकल, संसद् सदस्य
७२. वेदज्ञान का यथार्थ स्वरूप — २०१
पं० रामदयालु शास्त्री
७३. देवदयानन्द — २०६
डा० राणाप्रतापसिंह राणा गन्नौरी
७४. नवभारत के निर्माण में महर्षि दयानन्द का योगदान — २११
आचार्य धर्मदेव
७५. वेदों में अद्भुत विज्ञान — २१४
विद्याभास्कर सच्चिदानन्द शास्त्री
७६. आर्य समाज के कुछ प्रमुख ज्ञान के केन्द्र — २१३
७७. भारतीय दर्शन समन्वय — २२५
आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री
७८. स्वतन्त्रता संग्राम में आर्य समाज का योगदान — २२९
श्री मेवाराम गुप्त
७९. वैदिक त्रैतवाद — २३३
डा० प्रज्ञा देवी
८०. आर्य समाज और राजनीति — २३७
डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
८१. हिन्दी के प्रचार-प्रसार में आर्य समाज का योग — २४२
डा० सूर्यदेव शर्मा
८२. वैदिक समाज एवं मानव — २४४
कु० कुसुमलता आर्य
८३. हिन्दी पत्रकारिता को आर्य समाज की देन — २४८
डा० लक्ष्मीनारायण दुबे
८४. आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब — २५०
श्री वीरेन्द्र (सभा मंत्री)
८५. आर्य प्रतिनिधि सभा बिहार — २५१
८६. आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ — २५२
८७. श्रीमती परोपकारणी सभा अजमेर — २५७
डा० भवानीलाल भारतीय (संयुक्त मंत्री)
८८. आर्य समाज के मन्तव्यों के प्रचार की समस्या और समाधान — २५८
श्री शिवकुमार शास्त्री, संसद् सदस्य
८९. यूरोप में भाषा विषयक एक अनुभव — २६०
श्री रघुवीर सिंह शास्त्री, वेदवाचस्पति
९०. विदेशों में आर्य समाज — २६२
श्री विमलचन्द 'विमलेश'
९१. देश की एकता में हिन्दी का योग — २६६
श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'
९२. आर्य समाज स्थापना शताब्दी समारोह की व्यवस्था समितियाँ — २६९
९३. आर्य समाज एवं सामाजिक पुनरुत्थान — २७१
श्री परमेश शर्मा, एम० ए०
९४. ऋषि का एक सुन्दर स्वप्न — २७२
डा० पुष्पावती
९५. विदेशों में युवा वर्ग और आर्य समाज — २७३
श्री रविदत्त

स्मारिका

अन्तर्राष्ट्रीय आर्य समाज
स्थापना शताब्दी समारोह
नई दिल्ली

२४ दिसम्बर, १९७५

सम्पादक मण्डल (परामर्श)
डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
डा० हरिदत्त शास्त्री
श्री शंकरदेव विद्यालंकार
श्री रामानन्द शास्त्री धर्माधिकारी
श्री शिवकुमार शास्त्री (संसद् सदस्य)
आचार्य श्री वैद्यनाथ शास्त्री
डा० भवानी लाल भारतीय

सम्पादक
विमल चन्द्र 'विमलेश'

मूल्य
पांच रुपये

प्रकाशक
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
दयानन्द भवन, रामलीला मैदान
नई दिल्ली-११०००१

मुद्रक
माडर्न प्रिण्टर्स,
के-३० नवीन शाहदरा,
दिल्ली-११००३२

सम्पादकीय

नये संदर्भ : नई चुनौतियाँ

शताब्दी पर्व पर मैं अपने ज्ञात-अज्ञात करोड़ों आर्यजनों का अभिनन्दन करता हूँ। यह यात्रा उस सत्य की विजय-यात्रा है जो ऋषि ने आर्यसमाज की स्थापना के समय इसके मूल में रक्खा था। शारीरिक उन्नति (व्यक्ति) से लेकर संसार का उपकार (विश्व) तक जैसे एक लघु स्वर को अनन्त विराट् का रूप देने का स्वप्न संजोया था— हम उस दिशा में बढ़े हैं। सफलतायें हस्तगत की हैं। मथुरा की एक साधारण कुटीर विश्व के बड़े-बड़े सभा-भवनों एवं प्रासादों तक स्मरण की जायेगी—यह कोई आकस्मिकता या संयोग नहीं। इसके पीछे उस युग-दृष्टा ऋषि के जीवन और कार्यक्रम का अनुशीलन है जो महाभारत काल के उपरान्त पहली बार भारत के सामाजिक और राजनीतिक पटल पर रक्खा गया। आर्यसमाज मात्र विशाल भवनों या बड़े-बड़े समारोहों का नाम नहीं—यह वह कार्यक्रम है जो ऋषि ने व्यक्ति को विश्व-समूह तक उसकी समग्र क्षमताओं के साथ पहुँच जाने के लिए तैयार किया था।

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' कहीं कोई असन्तुलन नहीं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की ओर विश्व जा रहा है, अवश्य पहुँचेगा। ऋषि ने संसार के समक्ष आज से १०० वर्ष पूर्व ही यह आदर्श उपस्थित कर दिया था। 'इदन्नमम' और 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' के आदर्श आज विश्व के सामने उपस्थित तृतीय महायुद्ध की विभीषिका का एकमात्र समाधान है। महर्षि ने मानव-जीवन को टुकड़ों में बाँटकर नहीं देखा, उनकी दृष्टि यथार्थ और समग्रता पर टिकी थी। "कोई दयानन्द आकर अस्वस्थ धरा पर जन गण की पीड़ा का शुभ उपचार करेगा" जैसे ऋषि विश्व को दुःख, शोषण, अन्याय और कुरीतियों से मुक्त कराने आये थे। इस संदर्भ में बनाया गया कार्यक्रम ही आर्यसमाज है।

महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पं० जवाहरलाल नेहरू, रोम्यां रोला, अरविन्द और इन्दिरा गांधी ने आर्यसमाज और ऋषि की आदरपूर्ण शब्दों में चर्चा की है—हम इसे इस रूप में लें कि हमें इस योग्य बनना है। क्षुद्रता आदरणीय नहीं होती। हमें महानता का मार्ग ग्रहण करना है। संकीर्णता, अवसरवादिता या आपसी मतभेद कोई ऐसी समस्या नहीं जो न सुलझाई जा सकें—हमें आत्म-निरीक्षण करना है; अपने परिवेश को देखना है। सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में जो आडम्बर और अवरोध आगया है उसे दूर करना है।

सिद्धान्त अच्छे होते हैं पर जब तक उन्हें जीवन क्षेत्र में न लिया जाय उनका कोई उपयोग नहीं होता। आर्यसमाज के मनीषी विद्वानों और लेखकों से मैं निवेदन करूँगा कि ऋषि और उनका दर्शन साहित्य में अङ्कित होना चाहिये। नई पीढ़ी और भारत से दूर विदेशों में इसी प्रकार वैदिक विचारधारा पनप सकती है। आकर्षक और कम-मूल्य की रचनायें प्रकाशित होनीं चाहियें। एक सुनियोजित उपदेशक महाविद्यालय हो, जहाँ प्रतिभाशाली वक्ता और प्रचारक दीक्षित हों। जो आज है उसे ही सन्तोषप्रद मान बैठना उचित नहीं–प्रचार के नये-नये साधनों द्वारा हमें अपना कार्यक्रम विश्व के प्रत्येक देश तक ले जाना चाहिये। आर्यसमाज के भवन सप्ताह में एक दिन सत्संग कर लेने के लिये ही नहीं—उनमें नई पीढ़ी का दिशा निर्देश होना चाहिये। इस सम्बन्ध में आर्य विद्वान् और नेतागण एक सर्वमान्य योजना बना सकते हैं।

ऋषि दयानन्द विश्व के वन्दनीय हैं, आर्यसमाज के माध्यम से हमें उस गरिमा को बनाये रखना चाहिये। आर्यसमाज के पावन मंच से मैं विश्व के सभी नर-नारियों के विकास और समृद्धि की मंगल-कामना करता हूँ। संसार से आडम्बर, शोषण, अन्याय और युद्ध समाप्त हों, शान्ति और सहयोग का विकास हो—आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह पर यही मेरे हृदय के स्वर हैं।

●●●

एक विहंगम दृष्टि

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की उपलब्धियाँ

ऋषि दयानन्द का आदेश

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना २५ सितम्बर, १९०८ को आगरा में हुई थी। इसके मूल में महर्षि दयानन्द का वह आदेश था जिसमें आर्य समाज के संगठन को सार्वभौम रूप देने का स्पष्ट संकेत दिया गया था। वम्बई में वनाये गये आर्य समाज के नियमों में तीसरी धारा इस प्रकार रखी गई थी :—

"इस समाज में प्रतिदेश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा-प्रशाखा होंगे।"

इस नियम में जहाँ प्रान्तीय सभाओं के निर्माण का आदेश है वहाँ सार्वभौम संगठन की स्थापना का भाव भी बीज रूप में विद्यमान है। यही बीज कालान्तर में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के रूप में प्रादुर्भूत हुआ। अब यह संगठन एक विशाल वृक्ष के रूप में न केवल समस्त भारत में ही किन्तु विदेशों तक भी फैला हुआ है। इस समय इसकी शाखाएँ भारत से बाहर पूर्वी अफ्रीका, दक्षिणी अफ्रीका, फिजी, मौरिशस, गियाना, ट्रिनीडाड, सिंगापुर, बैंकाक, दक्षिण अमेरिका के कुछ देशों तक स्थापित हो चुकी हैं। इस सभा का कार्य-क्षेत्र समस्त देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर है।

आर्य समाज के संगठन का अनोखा रूप

महर्षि दयानन्द कितने दूरदर्शी थे इसका प्रमाण आर्य समाज के संगठन की उस रूपरेखा से मिलता है जो अन्य किसी धार्मिक संस्था में नहीं है। ऋषि के आदेशानुसार आर्य समाज वैदिक राजनीति के आदर्श को अपने में अन्तर्निहित करते हुए पूर्णतः धार्मिक और लोकतन्त्रात्मक है। यही इसकी उल्लेखनीय व्यवस्था है। विश्व की अन्य किसी धार्मिक संस्था में राजनीति समाविष्ट नहीं है और न ही वह पूर्णतः लोकतन्त्रात्मक है। संसार की अधिकांश धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं का संगठन ऊपर से नीचे की ओर है। परिणामतः ऊपर के संगठन के दुर्बल होते ही निम्नस्थ संगठन छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसके विपरीत, आर्य समाज के सगठन में ही यह अनोखी विशेषता है कि यह नीचे से ऊपर की ओर जाता है और पूर्णतः लोकतन्त्रात्मक है। स्थानीय आर्य समाजें इसकी मूलस्थ इकाइयां हैं जो इस विशाल भवन को डावांडोल होने से बचाती रहती है। यदि कभी, दुर्भाग्यवश शीर्षस्थ संस्था व सभा का अस्तित्व समाप्त भी हो जाए तब भी आर्य समाज का संगठन अक्षुण्य रहेगा। सार्वदेशिक सभा के मूल में यही विशुद्ध लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्त काम कर रहा है। इसी के फलस्वरूप इस सभा का कार्यक्षेत्र और प्रभाव निरन्तर विस्तारोन्मुखी है।

सभा के इतिहास का सिंहावलोकन

सार्वदेशिक सभा के गत लगभग आधी सदी के इतिहास का यदि हम सिंहावलोकन करें तो निःसन्देह वह बड़ा गौरवपूर्ण है। उसे पढ़ व जानकर प्रत्येक आर्य का मस्तक ऊँचा होगा। संक्षेपतः, हम इसके भूतकाल पर एक सरसरी दृष्टि डालना चाहते हैं।

ऋषि दयानन्द जन्म शताब्दी

स्वामी श्रद्धानन्द जी और मुख्यतः महात्मा नारायण स्वामी जी के नेतृत्व में सार्वदेशिक सभा की ओर से सन् १९२५ में १५ फरवरी से २१ फरवरी तक मथुरा में महर्षि दयानन्द जन्म शताब्दी बड़े उत्साह के साथ भारत तथा विदेशों की आर्य समाजों की ओर से मनाई गयी। इस विशाल समारोह में लगभग चार लाख आर्य नर-नारियों ने महर्षि दयानन्द के प्रति अपनी श्रद्धांजलि प्रस्तुत करने के लिये सोत्साह भाग लिया। पुलिस व सरकारी अधिकारियों पर बिना किसी प्रकार प्रत्यक्षतः निर्भर करते हुए एक दर्शन से अधिक शिविरों और मुख्य बाजार तथा विशाल पंडाल इत्यादि की समूची व्यवस्था आर्य जनता के सहयोग से ही आर्य स्वयंसेवकों द्वारा ही की गयी। इससे आर्य समाज के आंतरिक अनुशासन और सार्वदेशिक सभा के व्याप्त प्रभाव का परिचय मिलता है। इस महोत्सव में 'आर्य विद्वत् परिषद्' ने विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा और राजार्य सभा द्वारा आर्य समाज के भावी कार्य-क्रम की दिशा में प्रशस्त मार्ग दर्शन करते हुए

आर्य पर्व पद्धति और दयानन्द ग्रन्थमाला प्रकाशन, प्रत्येक आर्य मन्दिर पर "ओ३म्' का गेरू रंग का झण्डा फहराने और शताब्दी महोत्सव के बाद से १०१ से दयानन्द सम्वत् चालू करने, साप्ताहिक सत्संगों की एकरूपता इत्यादि महत्त्वपूर्ण निश्चय पारित किए।

ऋषि की जन्मभूमि में प्रथम महोत्सव

इस शताब्दी महोत्सव के परिशिष्ट स्वरूप ही महर्षि के जन्मस्थान टंकारा नगर में ७ फरवरी से १२ फरवरी १९२६ तक मौरवी नरेश के सभापतित्व में विशाल उत्सव हुआ। इसके फलस्वरूप गुजरात, काठियावाड़ में आर्य समाज का प्रचार हुआ। मथुरा में दयानन्द शताब्दी महोत्सव की सफलता से प्रेरणा प्राप्त कर आर्यजनों ने, विशेषत: राजस्थान के, ऋषि की अर्द्धनिर्वाण शताब्दी मनाने का निश्चय किया। सार्वदेशिक सभा और परोपकारिणी सभा के सहयोग से शाहपुराधीश स्व० श्री उम्मेद सिंह जी की अध्यक्षता में १९३३ में १४ से २० अक्तूबर तक अजमेर में श्री मद्दयानन्द अर्द्ध शताब्दी महोत्सव सफलतापूर्वक मनाया गया।

राष्ट्रपति के सानिध्य में दीक्षा शताब्दी महोत्सव मथुरा में

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रथम शताब्दी महोत्सव "दयानन्ददीक्षा शताब्दी महोत्सव" के रूप में मथुरा में सन् १९६० में २४ दिसम्बर से २७ दिसम्बर तक विशेष उत्साह और सफलता के साथ मनाया गया। भारत के सब क्षेत्रों और विदेश से भी लगभग दो लाख व्यक्ति इसमें सम्मिलित हुए। इस महोत्सव की उल्लेखनीय घटना २५ दिसम्बर को गुरु विरजानन्द जी की ऐतिहासिक कुटिया में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा अनुसंधान विभाग का शिलान्यास था। २६ दिसम्बर को मथुरा नगर में आर्य नर-नारियों का विशाल जलूस निकला जो गुरु विरजानन्द कुटिया तक अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करने पहुंचा। इसमें लगभग १ लाख व्यक्तियों ने भाग लिया।

१९१२ में पटियाला का मुकद्दमा

व्यक्तिगत रूप में आर्य जगत् को कभी जात-विरादरी और कभी ब्रिटिश नौकर शाही की ओर से कई प्रकार की यातनाएँ और कष्ट सहने पड़े हैं। सामूहिक रूप से आर्य समाज पर उल्लेखनीय संकट १९१२ में पंजाब की पटियाला रियासत में उस समय आया जब विदेशी शासन के गुप्त इशारे पर, वहाँ के ८० आर्य पुरुषों को गिरफ्तार कर उन पर राजद्रोह का मुकद्दमा चलाया गया। सार्वदेशिक सभा को स्थापित हुए अभी चार वर्ष ही हुए थे जिसके प्रधान महात्मा मुंशीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द जी) थे। रियासत की ओर से हजारों रुपये खर्च करके एक अंग्रेज सरकारी वकील रखा गया था जबकि आर्य समाज की ओर से महात्मा मुंशीराम जी तथा अन्य कुछ वकील सेवा भाव से काम कर रहे थे। अन्तत:, रियासत को झुकना पड़ा, मुकद्दमा वापस लिया गया और आर्य जगत् पर से रियासत से निकल जाने का आदेश रद्द करना पड़ा।

धौलपुर में आर्य समाज की भूमि

आर्य समाज पर दूसरी आपत्ति धौलपुर रियासत में १९१५ के प्रारम्भ में आयी जब राज्य की ओर से वहां आर्य समाज के सत्संगों पर पाबन्दी लगा दी गयी, समाज की भूमि पर कब्जा कर लिया गया और वहां शौचालय बना दिये गये। सार्वदेशिक सभा ने यह मामला अपने हाथ में लिया। प्रबल आन्दोलन हुआ और महात्मा मुंशीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द जी) के नेतृत्व में आर्य समाज का एक दल सत्याग्रह के लिए वहां पहुँच गया। वायसराय और महाराजा धौलपुर की मध्यस्थता से सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया। बीच में कई बार विघ्न भी आये पर आर्य समाज अपनी मांग पर दृढ़ रहा। अन्तत: २६ अगस्त १९१८ को आर्य समाज की मांग पूरी हो जाने से आन्दोलन समाप्त हुआ।

नगर कीर्तन पर पाबन्दियाँ—सभा की दृढ़ता

ब्रिटिश सरकार की मुस्लिम परक नीति के कारण, आर्य समाज के नगर-कीर्तनों पर कई जगह मस्जिदों के सामने बाजा न बजाने की आड़ में पाबन्दियां लगाई जाती थीं। १९२६ में मुरादाबाद में और १९३० में पानीपत में इस प्रकार की अन्यायपूर्ण पाबन्दियों के विरोध में आर्य समाज ने नगर कीर्तन निकालने बन्द कर दिये थे। सार्वदेशिक सभा ने इन मामलों को अपने हाथ में लेकर समाचार-पत्रों में जब आन्दोलन चलाये और सत्याग्रह करने का दृढ़ निश्चय किया तब सरकार को झुकना पड़ा और नगर कीर्तनों से पाबन्दियां हटानी पड़ीं।

गोरे अफसर द्वारा आर्य मन्दिर की वेदी का अपमान

२२ नवम्बर १९३० को जिला सहारनपुर के अन्तर्गत बहादुराबाद कस्बे के आर्य समाज मन्दिर में एक गोरे अफसर कर्नल गफ ने जूते पहने कुछ सिपाहियों के साथ जबरदस्ती घुसकर वेदी का अपमान किया, 'ओ३म्' ध्वज को फाड़ डाला तथा समाज के कई आवश्यक कागजात जला डाले। इस खुले आम उत्पात से आर्य जगत् में असन्तोष की तीव्र लहर तत्काल ही दौड़ गयी। सार्वदेशिक सभा ने इस मामले को हाथ में लिया। सत्याग्रह की तैयारियां होने लगीं। अन्तत: गोरे फौजी अफसर को बिना शर्त लिखित क्षमा पत्र, सार्वदेशिक सभा के प्रधान महात्मा नारायण स्वामी जी को उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री तथा रक्षा विभाग के प्रतिनिधि की उपस्थिति में देना पड़ा। साथ ही समाज मन्दिर पर लगाए जाने के लिए ओ३म का झंडा बनवाकर रक्षा विभाग ने स्वामीजी महाराज को अर्पण किया।

जेल में हवन के लिए सत्याग्रह

राजनीतिक व धार्मिक आन्दोलनों में जेल गये आर्य सत्याग्रहियों के लिए कारावास में हवन करने पर सरकार की ओर से प्रतिबन्ध था। दिल्ली जेल में मा० हरकेश, फरूखाबाद जेल में श्रीमती सावित्री देवी, सहारनपुर जेल में श्रीमती चमेली देवी ने इस प्रतिबन्ध के विरुद्ध भूख-हड़ताल की। सार्वदेशिक सभा ने इन सब मामलों को तत्काल हाथ में ले सरकार को झुकने के लिए बाध्य किया और आर्य कैदियों को जेल में हवन करने की सुविधाएं प्रदान करा दीं।

स्वामी श्रद्धानन्द जी की हत्या

१६२६ की २३ दिसम्बर को समस्त भारत के मूर्धन्य नेता, वीर, निडर और आजन्म आर्य जाति के सेवक श्री स्वामी श्री श्रद्धानन्द जी (पहला नाम महात्मा मुंशीराम जी) की दिन के लगभग ४ बजे बलिदान भवन, नया बाजार दिल्ली-६ में एक मुस्लिम आततायी द्वारा हत्या कर दी गयी। स्वामी जी के निजी सचिव और सेवक धर्मसिंह ने अपने को संकट में डाल इस हत्यारे को अपनी प्रबल भुजाओं में ऐसा पकड़ा कि वह भाग न सका। स्वामी जी की इस क्रूर हत्या से जबकि वे रोग शैया पर पड़े थे—सारे देश में प्रबल और "अकल्पनीय हड़कम्प" आ गया। गांधी तथा अन्य समस्त राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं ने एक स्वर से इस दुष्ट की घोर निन्दा की। स्वामी जी की शवयात्रा राजधानी की अनोखी ऐतिहासिक घटना थी। इस असाधारण और शानदार बलिदान से आर्य समाज और समस्त हिन्दू जाति को बड़ी स्फूर्ति और शक्ति मिली। इस बलिदान के बाद आर्य जगत् में कई उल्लेखनीय बलिदान हुए।

आर्य नेताओं की हत्या, रक्षा समिति की स्थापना

१६२७-१६४२ के बीच मुस्लिम षड़यन्त्रों के फलस्वरूप लाहौर में म० राजपाल की हत्या और उसके बाद लाहौर में ही दो अन्य आर्य बन्धुओं की हत्या, १६३४ में बहराइच के साहू बद्रीशाह की हत्या, कराची के आर्य कार्य-कर्ता पं० नाथूराम तथा अन्य कई नगरों में प्रमुख आर्य हिन्दुओं की हत्या मुस्लिम गुण्डों द्वारा की गयीं। सार्वदेशिक सभा की ओर से इस सम्बन्ध में आत्म-रक्षा का प्रबल आन्दोलन चलाया गया। आर्य वीर दल और आर्य रक्षा-समिति का गठन किया गया, हत्यारों और गुण्डों के विरुद्ध कड़ी कानूनी कार्यवाही करने के लिए सरकार पर जोर डाला गया और आर्य महासम्मेलनों का आयोजन कर जनमत जागृत किया गया। प्रथम आर्य महासम्मेलन दिल्ली में १६२७ में महात्मा हंसराज जी की अध्यक्षता में हुआ।

लोहारू का सत्याग्रह : आर्य नेताओं पर ईंट-पत्थर

दिल्ली के पास हिसार जिले में लोहारू मुस्लिम रियासत थी, जिस की अधिकांश प्रजा हिन्दू है। यहाँ पर १६३६ में आर्य समाज के नगर कीर्तन पर आक्रमण किया गया जिससे कई आर्य सज्जन सख्त जखमी हुए। अभी यह घटना ताजा ही थी कि १६४० में पुनः नगर कीर्तन पर हमला किया गया। सार्वदेशिक सभा के उपप्रधान श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी, भक्त फूलसिंह जी तथा अन्य कुछ प्रचारकों के साथ १६४० मार्च २६ और ३० को जब वहाँ पहुँचे तब पुलिस की मौजूदगी में १००-१५० शस्त्र सज्जित मुसलमानों ने पुनः आक्रमण किया। स्वामी जी, भक्त जी तथा अन्य कई महानुभाव जख्मी हुए। सार्वदेशिक सभा की ओर से इस कुत्सित और गर्हित अन्याय का प्रबल विरोध करते हुए जब सत्याग्रह की तैयारी प्रारम्भ की गई, तब रियासत के मुस्लिम अधिकारियों को होश आया। सार्वदेशिक सभा की शर्तें मान ली गईं, प्रचार की स्वतन्त्रता दी गई और अपराधियों को दण्ड दिये जाने की जिम्मेदारी रियासत ने अपने ऊपर ले ली।

सभा का एक उज्ज्वल अध्याय—हैदराबाद का सत्याग्रह

सार्वदेशिक सभा के इतिहास में हैदराबाद सत्याग्रह का अध्याय विशेष स्फूर्तिदायक है। इतने बड़े पैमाने पर इतना सफल सत्याग्रह, सम्भवतः किसी धार्मिक व राजनीतिक संस्था की ओर से नहीं किया गया। ब्रिटिश सरकार हैदराबाद रियासत को देश की सबसे बड़ी और मुस्लिम होने के नाते तथा कूटनीतिक कारणों से भारत पर अपना प्रभुत्व स्थिर रखने में परम सहायक समझती थी। यद्यपि इस रियासत की आबादी ८० प्रतिशत से अधिक हिन्दू थी पर रियासत के शासक निजाम की कट्टर मतान्ध और पक्षपातपूर्ण नीति के कारण हिन्दुओं, विशेषतः, आर्य समाजियों को अनेक प्रकार के अत्याचारों और महजबी तास्सुबों का कई वर्षों से शिकार होना पड़ रहा था। आर्य समाज के उपदेशकों को रियासत से बाहर निकाल दिया जाता था और यज्ञ, हवन, सत्संग आदि धार्मिक कृत्यों पर कड़े प्रतिबन्ध थे। पत्रों, आवेदन पत्रों, शिष्टमण्डल इत्यादि की कोई सुनवाई नहीं होती थी। जनता की तिलगू भाषा होते हुए भी उर्दू को जबरदस्ती रियासती भाषा बनाया गया तथा अदालतों और दफ्तरों में सबके लिए तुर्की टोपी पहनना अनिवार्य था। वस्तुतः, हैदराबाद, अलीगढ़ के मुस्लिम विश्व-विद्यालय का कट्टर पिछलग्गू था।

मुस्लिम तुष्टीकरण नीति के कारण कांग्रेस इस अन्यायपूर्ण स्थिति को जानते हुए भी चुप्पी साधे थी। शेर की मांद में हाथ डालने का कोई साहस नहीं कर रहा था। स्व० श्री महात्मा नारायण स्वामी जी के नेतृत्व में सार्वदेशिक सभा ने आर्य समाज के केवल धार्मिक एवं नागरिक स्वतन्त्रता के अधिकारों की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह करने का निश्चय किया।

दस हजार से अधिक सत्याग्रही जेल में

२३ जनवरी १६३६ को पहला जत्था सार्वदेशिक सभा के प्रधान ८२ वर्षीय महात्मा नारायण स्वामी जी के नेतृत्व में सत्याग्रह के लिये हैदराबाद के नगर गुलबर्गा पहुंचा। उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और अदालती नाटक के बाद छः मास के कारावास का दण्ड दे दिया गया। द्वितीय सर्वाधिकारी कुंवर चांदकरण जी शारदा, तृतीय महात्मा खुशहाल चन्द जी (अब आनन्द स्वामी जी), चतुर्थ राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री (स्व० स्वामी ध्रुवानन्द जी) पंचम पण्डित वेदव्रत जी (स्व० स्वामी अभेदानन्द जी महाराज) षष्ठ म० कृष्ण जी' पं० ज्ञानेन्द्र जी गुजरात सप्तम क्रमशः प्रत्येक विशेष रेलगाड़ियों द्वारा अजमेर, लाहौर, पटना, लखनऊ, रावलपिण्डी इत्यादि हजारों मील दूर से हजारों सत्याग्रहियों सहित हैदराबाद में जेल यात्रा करने को रियासत में पहुंचने लगे। निजाम सरकार इससे बहुत घबरा गयी। रियासत के लिये अनेक अप्रत्याशित समस्याएँ प्रबल रूप से खड़ी हो गयीं। इस सत्याग्रह में १०५७१ आर्य नर-नारी जेल गए। इसके अतिरिक्त दो हजार सत्याग्रही थे जो समझौता होने से पूर्व ८-८-३६ तक विभिन्न शिविरों में पहुँच गये थे और सार्वदेशिक सभा के आदेश की प्रतीक्षा में तैयार थे। यह जत्था श्री पं० विनायकराव जी बार-एट-ला हैदराबाद के नेतृत्व में सार्वदेशिक सभा के आदेशों की प्रतीक्षा में था।

हैदराबाद सत्याग्रह के प्रसंग में श्री शिवचन्द्र जी ने सार्वदेशिक आर्य-

रक्षा समिति के मन्त्री, पब्लिसिटी तथा जनसम्पर्क विभाग के इंचार्ज के रूप में प्रशंसनीय योगदान किया।

इस धर्म-युद्ध में आर्य जनता के सहयोग से रियासत को झुकना पड़ा—२५ वीर शहीद हुए

सिंध में सत्यार्थप्रकाश पर पाबन्दी : सत्याग्रह

सिन्ध की मुस्लिम लीगी सरकार ने २६ अक्तूबर १९४४ को सिन्ध प्रान्त में शान्ति रक्षा की आड़ में सत्यार्थप्रकाश के १४वें समुल्लास के प्रकाशन और मुद्रण पर पाबन्दी लगा दी। इससे समस्त आर्यजगत् में तीव्र रोष और विरोध की लहर दौड़ गई। सिन्ध प्रान्त में सत्यार्थप्रकाश पर ऐसा प्रतिबन्ध लगाने के लिए मतान्ध मुसलमानों की ओर से देर से आन्दोलन चल रहा था। सार्वदेशिक सभा ने सिन्ध सरकार और भारत सरकार के साथ पत्राचार करके इसका प्रबल विरोध किया। इसी सम्बन्ध में सभा की ओर से १०-११-१२ फरवरी १९४४ को दिल्ली में आर्य महासम्मेलन का पांचवां अधिवेशन स्व० डा० श्यामा प्रसाद जी मुखर्जी की अध्यक्षता में हुआ जिसमें मुसलमानों के सत्यार्थप्रकाश के १४वें समुल्लास पर प्रतिबन्ध लगाये जाने के आन्दोलन का विरोध किया गया था। ७ मई १९४४ को भारत की समस्त आर्य समाजों में सत्यार्थप्रकाश दिवस विशेष जोश के साथ मनाया गया। सभा द्वारा वैध उपायों से किये गये आन्दोलन और विरोध का जब कोई सन्तोषजनक परिणाम न निकला तब आर्य जनता में व्यग्रता का संचार होना स्वाभाविक ही था। १९४६, अगस्त २ को सत्यार्थप्रकाश समिति की बैठक कराची में हुई जिसमें महात्मा नारायण स्वामीजी ने सभा के प्रधान पद के लिये अपने उत्तराधिकारी को मनोनीत कर सत्याग्रह करने की घोषणा कर दी। उनके साथ ही राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री, स्वामी अभेदानन्द, महात्मा खुशहालचन्द जी, कुंवर चान्द करण जी शारदा, स्वामी ब्रह्मानन्द जी, पं० लक्ष्मीदत्त जी दीक्षित, ३ जनवरी १९४७ को कराची सत्याग्रह के लिये पहुंच गये। १४ जनवरी १९४७ को सत्याग्रह का बिगुल बज गया। सत्याग्रह प्रारम्भ करने की सूचना सिन्ध सरकार के प्रधानमन्त्री के पास भेज दी गई और सात दिन तक उत्तर की प्रतीक्षा का समय निश्चित किया गया। सत्याग्रह का स्वरूप करांची में खुलेआम सत्यार्थप्रकाश को बेचना और १४वें समुल्लास का पाठ करना था। सिन्ध सरकार से कोई उत्तर न आया परन्तु इन आर्य नेताओं ने सत्याग्रह जारी रखा। सत्यार्थप्रकाश को रखने, पढ़ने और बेचने पर कोई बाधा न डालने और इन आर्य नेताओं को गिरफ्तार न करने का आदेश जिला अधिकारियों को सिन्ध सरकार ने गुप्त रूप से दे दिया था। इसलिये जब सत्याग्रही आर्य नेताओं के विरुद्ध सरकार की ओर से कोई कार्यवाही न की गई तब स्पष्ट हो गया कि सत्यार्थप्रकाश पर, वस्तुतः, किसी प्रकार का प्रतिबन्ध सिन्ध प्रान्त में नहीं है। महात्मा नारायण स्वामी जी के वक्तव्य के साथ यह सत्याग्रह सार्वदेशिक सभा की एक और शानदार विजय की घोषणा करता हुआ समाप्त हो गया। इस सिन्ध सत्याग्रह के प्रसंग में श्री शिवचन्द्र जी का योगदान भी उल्लेखनीय रहा।

भूपाल में भी पाबन्दी हटानी पड़ी

भूपाल रियासत के अन्तर्गत सिहौर नगर में सत्यार्थप्रकाश के १४वें समुल्लास के प्रवचन पर रोक लगी हुई थी। आर्य समाज ने इसका विरोध किया। सार्वदेशिक सभा द्वारा ३०-७-४८ को पत्र द्वारा मांग की गई कि इस निषेध आज्ञा को शीघ्र वापस लें अन्यथा सत्याग्रह प्रारम्भ किया जायेगा। भूपाल सरकार ने २२-९-४८ को सभा को सूचना दी कि वह निषेध आज्ञा समाप्त कर दी गयी है।

सभा के नेतृत्व में गोरक्षा सत्याग्रह

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ने धार्मिक और आर्थिक दृष्टि से गोरक्षा पर बड़ा बल दिया है। अपने जीवन काल में उन्होंने तत्कालीन वायसराय और कमाण्डर-इन-चीफ से मिलकर गोवध रोकने की विशेष मांग की थी। "गोकरुणानिधि" पुस्तक लिखकर महर्षि ने अपने इस कार्यक्रम के विषय की व्याख्या और पुष्टि की है। आर्यसमाज के विशाल कार्यक्रम में गोरक्षा का विशेष स्थान है।

२८ फरवरी १९६७ तक इस सत्याग्रह में १ हजार जत्थों ने, दीवान हाल आर्य समाज से सभा के नेतृत्व में, सत्याग्रह किया। इस सत्याग्रह के संचालन में श्री ला० रामगोपाल जी शालवाले की विशेष भूमिका रही।

पंजाब हिन्दी सत्याग्रह

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से १९५७ में पंजाब हिन्दी सत्याग्रह का संचालन श्री घनश्याम सिंह गुप्त और स्व० श्री स्वामी आत्मानन्द जी के नेतृत्व में ला० रामगोपाल जी शालवाले, पं० प्रकाशवीर जी शास्त्री, श्री पं० नरेन्द्र जी (हैदराबाद) पं० शिवकुमार जी शास्त्री, श्री ओमप्रकाश जी त्यागी के सहयोग से हुआ। यह सत्याग्रह विस्तार, संयम और उत्साह की दृष्टि से अनोखा था। इसमें लगभग २८ हजार नर-नारियों ने भाग लिया जिनमें १२ हजार बन्दी बनाये गये। इनमें दो हजार से अधिक महिलाओं और बच्चों ने अपने को गिरफ्तारी के लिए पेश किया। श्री सुमेर सिंह जी के बलिदान के अतिरिक्त छः अन्य भाई-बहिन वीर गति को प्राप्त हुए। ३१-१२-५७ तक समस्त बन्दी रिहा कर दिये गये। इसके संचालन में श्री पं० वाचस्पति जी शास्त्री का भी भारी सहयोग था।

ईसाइयों के षड्यन्त्र का मुकाबला

ब्रिटिश काल में ईसाइयों का घातक अराष्ट्रीय प्रचार प्रच्छन्न रूप में था पर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस सरकार की तथाकथित धर्म निरपेक्ष नीति का अनुचित लाभ उठाते हुए ईसाई पादरियों ने भारत को "ईसाईस्थान" बनाने का स्वप्न लेना शुरू कर दिया। यूरोप और अमेरिका के साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने उन्मुक्त हाथों से इन ईसाई मिशनों की सहायता करनी प्रारम्भ की। इन मिशनों ने भारत के उत्तर-पूर्व प्रदेश, असम, नागालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा और मध्यप्रदेश के भीलों, छोटा नागपुर, उड़ीसा, बिहार व राजस्थान की जन-जातियों तथा अन्य प्रदेशों के पिछड़े वर्गों को

समाज सुधार का नेतृत्व आर्य समाज के हाथ में

ऋषि दयानन्द का यह दृढ़मत था कि सामाजिक दोषों और कुरीतियों के उन्मूलन के बिना राष्ट्र का उत्थान कभी नहीं हो सकता। अपने प्रचार द्वारा प्रदर्शित पथ का अनुसरण करते हुए आर्य समाज ने पारिवारिक और सामाजिक कुरीतियों, कुप्रथाओं, अन्धविश्वासों और रूढ़ियों पर कुठाराघात करने में कभी प्रमाद और पक्षपात नहीं किया। आर्यसमाज के इस चौमुखी आन्दोलन का ही यह परिणाम है कि नारी को सम्मान, उन्नति और शिक्षा प्राप्ति का निर्बाध अधिकार मिला, तथाकथित दलित वर्ग के गुण कार्य स्वभाव के अनुरूप जन्म आधारित व्यवस्था को समाप्त करते हुए वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समता पर स्थितिपूर्ण अधिकार मिले। आर्यसमाज के ही प्रबल आन्दोलन से आज देश में अन्तर्जातीय और अन्तः प्रान्तीय विवाह, जाति बहिष्कार का भूत समाप्त करते हुए निर्विरोध हो रहे हैं। समुद्रयात्रा और सहभोज के प्रतिबन्ध ध्वस्त हो गये हैं। विवाह सम्बन्धी कुरीतियों-—जैसे बाल-विवाह, बहु विवाह, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह की इति श्री सी हो गई है। दहेज लेन-देन के विरोध में अन्तर्जातीय विवाहों के समर्थन में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से स्तुत्य पग उठाये जा रहे हैं। शुद्धि के कार्य में अब आर्यसमाज के साथ अनेक पौराणिक और अन्य हिन्दू संस्थाएं पूर्ण सहयोग दे रही हैं। सनातन धर्म के कट्टर अनुयायी विद्वान शंकराचार्य और महामंडलेश्वर—सब स्वर से शुद्धि का समर्थन कर रहे हैं। क्या यह सब चिन्ह आर्यसमाज की चौमुखी विजय के नहीं हैं?

अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार

आर्यसमाज एक सार्वभौम सांस्कृतिक संस्था है। जब वेद का ज्ञान सम्पूर्ण विश्व के लिए है तब उसका उद्घोषक आन्दोलन किसी देश विदेश तक कैसे सीमित रह सकता है? इसके अतिरिक्त भारत से बाहर लगभग दो करोड़ भारतीय विभिन्न देशों में निवास करते हैं। अनेक ऐसे हैं जिन्होंने अपने सम्बद्ध देश की नागरिकता भी स्वीकार कर ली है, पर उनका मूलतः सम्बन्ध भारत की सभ्यता, संस्कृति और परम्परागत इतिहास से ही है। सार्वदेशिक सभा इस दिशा में सदा सजग रही है। सभा की ओर से अथवा सभा की प्रेरणा और तत्वावधान में यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका, दक्षिण पूर्व एशिया के कई विभिन्न नगरों में आर्यसमाज मन्दिर, आर्य संस्थाएं अथवा आर्य प्रतिनिधि सभाएं स्थापित हो चुकी हैं और उत्साह से प्रबल कार्य चल रहा है विशेषतः फीजी, मौरिशस, ट्रीनीडाड, केनिया, दक्षिण अफ्रीका, जंजीबार, सिंगापुर, थाईलैंड, मलेशिया, बर्मा, कनाडा, अमेरिका, यू० के० इत्यादि में।

यह हर्ष की बात है कि लन्दन में आर्यसमाज के सत्संग नियमित रूप से होते हैं और मन्दिर के निर्माण की स्थिति बहुत अनुकूल बनती जा रही है। १९७३ में २४ से २६ अगस्त तक मौरिशस द्वीप में सार्वदेशिक सभा द्वारा आयोजित आर्य महासम्मेलन तो न केवल आर्यसमाज अपितु भारत के इतिहास की एक अनूठी घटना है। वेद का विश्व शान्ति और प्राणिमात्र के प्रति कल्याण और भ्रातृत्व का सन्देश लेकर हजारों आर्य नर-नारी वैदिक जय घोष के साथ समुद्र यात्रा द्वारा जब मौरिशस पहुंचे तब समस्त भूमंडल में वेद पताका लहराने का ऋषि दयानन्द का स्वप्न साकार होता दिखाई दे रहा था।

सत्यार्थप्रकाश का प्रचार

इसके प्रचार के लिए सभा की ओर से तूफानी स्तर पर आन्दोलन हो रहा है। हिन्दी में कम से कम एक लाख सत्यार्थप्रकाश प्रकाशित करने और सस्ते दाम पर बिक्री करने की योजना कार्यान्वित हो रही है। अनेक आर्य-समाज, आर्यसंस्थायें और दानी महानुभाव, युवाजनों और छात्रों में विशेषतः मुफ्त सत्यार्थप्रकाश वितरण के लिए उद्यत हो गये हैं।

विविध ग्रन्थ

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त सभा की ओर से अन्य भी कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ तैयार कराये जा रहे हैं जैसे—

१— आर्यसमाज की उपलब्धियां—ले० पं० दीनानाथ सिद्धान्तालंकार
२—स्वामी दयानन्द का जीवन चरित्र—ले० डा० भवानीलाल भारतीय
३—दयानन्द दिव्य दर्शन—जिसमें महर्षि के जीवन सम्बन्धी १५२ सुन्दर रंगीन पृथक चित्रों के साथ ऋषि जीवन के घटनाचक्र का विवरण है।
४—आर्य समाज और उसका सन्देश—ले० श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक
५—आर्य डाइरेक्टरी

स्वतन्त्रता संघर्ष में आर्यसमाज का योगदान

आर्यसमाज को इस बात का गौरव है कि उसके प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ने सबसे पूर्व भारत को "स्वराज्य" और विदेशी शासन को समाप्त करने का नारा दिया। स्वाधीनता को धर्म का एक अनिवार्य अंग घोषित किया। साथ ही देश को सर्वाधिक मूर्द्धन्य नेता एवं कार्यकर्त्ता प्रदान किए। इसीलिए कांग्रेस के इतिहासकार ने महर्षि को राष्ट्र पितामह की उपाधि प्रदान की थी। महर्षि के इस स्वदेश भक्ति के मार्ग का अवलम्बन आर्य-समाज ने व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से पूरी निष्ठा से किया। यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में जितना बलिदान और आत्म-समर्पण आर्यसमाज ने किया है उतना भारत की किसी अन्य संस्था ने नहीं किया। इस सदी के पहले दो दशकों में उल्लेखनीय देश सेवक और विदेशी सरकार के अत्याचारों के शिकार आर्यसमाजी श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा, मदनलाल ढींगरा, लाला लाजपतराय, स० अजीतसिंह, भाई परमानन्द, भाई बालमुकुन्द, मा० अमीरचन्द्र, ला० हरदयाल इत्यादि अनेक स्मरणीय हैं। गांधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन में सबसे पहले आर्यसमाज ने व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से इसमें अग्रगण्य भाग लिया। स्वामी श्रद्धानन्द, डा० सत्यपाल, भाई बुडगो और रत्तो, महाशय कृष्ण, लाला दुनीचन्द, पं० वेदव्रत (स्वामी अभेदानन्द), पं० धुरेन्द्र शास्त्री (स्वामी ध्रुवानन्द), पं० इन्द्र, लाला देशबन्धु गुप्त, श्री सत्यदेव विद्यालंकार, सुभद्रा देवी, बसन्तलाल मुरारका, श्री चांदकरण शारदा इत्यादि कुछ आर्य राष्ट्र सेवकों का ही

(शेष पृष्ठ २७० पर)

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली
के
वर्तमान पदाधिकारी एवं माननीय सदस्यगण

पदाधिकारी

१. प्रधान—श्रीयुत ला० रामगोपाल शालवाले

२. उपप्रधान—(१) श्री प्रतापसिंह शूरजी वल्लभदास

(२) श्री पद्मभूषण डी० डी० राम

(३) ,, धर्मवीर भू० पू० राज्यपाल

(४) ,, छोटूसिंह एडवोकेट अलवर

(५) ,, मुल्कराज खन्ना दिल्ली

मन्त्री—श्री औमप्रकाश त्यागी संसद सदस्य

उपमन्त्री—(१) श्री पं० नरेन्द्र, हैदराबाद

(२) ,, सच्चिदानन्द शास्त्री

(३) ,, भगवानदेव शर्मा

(४) ,, गौरीशंकर कौशल, भोपाल

(५) ,, पं० वासुदेव शर्मा, पटना

कोषाध्यक्ष—श्री सोमनाथ मरवाह एडवोकेट, दिल्ली

पुस्तकाध्यक्ष—श्री मुनि ओमाश्रित जी, दिल्ली

अन्तरंग सदस्य

१—श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज

२—श्री स्वामी विद्यानन्द जी विदेह

३—स्वामी श्री इन्द्रवेश रोहतक

४—श्री आचार्य रामानन्द शास्त्री पटना

५— ,, कोतूरुसितैया जी गुप्त हैदराबाद

६— ,, मिहिरचन्द धीमान हावड़ा कलकत्ता

७— ,, वैद्य रविदत्त, ब्यावर

८— ,, सेठ भगवती प्रसाद गुप्त, बम्बई

९— ,, भक्तराम एडवोकेट

१०— ,, पं० आनन्द प्रिय बड़ौदा

११— ,, कृष्ण बलदेव, लखनऊ

१२— ,, विश्वम्भरप्रसाद शर्मा दिल्ली

१३— ,, राजगुरु शर्मा, महू छावनी (म० प्र०)

प्रतिष्ठित सदस्य

१—श्री स्वामी विद्यानन्द जी विदेह सी-२२ वेद सस्थान, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-२९

२— ,, स्वामी सत्यप्रकाश जी, आर्यसमाज कटरा इलाहाबाद

३— ,, धर्मवीर जी, ५४ आनन्द लोक, नई दिल्ली

४— ,, ओम्प्रकाश त्यागी, १२३ रफी मार्ग वी-पी-हाउस, नई दिल्ली-१

५— ,, पं० नरेन्द्र जी सा० आ० प्र० सभा नई दिल्ली

पदेन प्रधान

१—श्री प्रतापसिंह शूरजी वल्लभदास, कच्छकैसल वी-पी रोड बम्बई ४

२— ,, वा० पूर्णचन्द जी एडवोकेट, माई थान, आगरा

३— ,, घनश्यामसिंह जी गुप्त, दुर्ग (म० प्र०)

सभा के वर्त्तमान आजीवन सदस्य

१. श्री भगवान जी हीरा भाई पटेल, सातेम वाया नवसारी, गुजरात

२. श्री मास्टर शिवचरणदास जी ११३ दरियागंज दिल्ली-६

३. ,, डा० डी० राम जी ब्रजकिशोर पथ पटना

४. ,, महाशय बनवारीलाल जी आर्य, जवाहर गेट, गाजियाबाद

५. ,, कविराज हरनामदास बी० ए० १ फ्लैग स्टाफ रोड, दिल्ली

६. ,, सुरेन्द्रकुमार जी वर्मा, साकेत, मैरिस रोड अलीगढ़

७. ,, राजाधिराज सुदर्शनदेव जी, शाहपुरा जि० भीलवाड़ा (राजस्थान)

८. ,, बा० दया स्वरूप जी विश्व नागरिक १३८ विवेकानन्द मार्ग, इलाहाबाद

९. ,, ला० हंसराज जी गुप्त, २० बारा खम्भा रोड, नई दिल्ली

१०. ,, राजा रणञ्जयसिंह जी भूपति भवन, अमेठी, सुल्तानपुर (उ० प्र०)

११. ,, मुनि ओमाश्रित जी ५२८२ कोल्हापुर हाउस, जवाहर नगर, सब्जीमंडी, दिल्ली

१२. ,, स्वामी दिव्यानन्द जी सरस्वती, १६ सिविक सेक्टर भिलाई (म० प्र०)

१३. ,, सेठ देवेन्द्र जी आर्य, शिवकुटीर, सराय तरीन (मुरादाबाद)

कुछ आजीवन सदस्यों की सदस्यता निरस्त की हुई है।

सम्बद्ध सभाएँ

१. आर्य प्रतिनिधि सभा, महात्मा नारायण स्वामी भवन, ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ — १५

२. आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाव, कृष्णपुरा, गुरुदत्त भवन, जालन्धर — १५

३. आर्य प्रतिनिधि सभा विहार, मुनीश्वरानन्द, भवन नया टोला पटना — १५

४. आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब, निकट नई कचहरी जालन्धर — १५

५. आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल, ४२ शंकरघोष लेन, कलकत्ता — ११

६. आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य भारत, आगरा बम्वई मार्ग शिवपुरी — ४

७. आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ, दयानन्द भवन मंगलवारी पेट सदर, नागपुर — ५

८. आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान, केसर गंज, अजमेर उप-कार्यालय, आ० स० दयानन्द मार्ग अलवर — १०

९. आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य दक्षिण सुल्तान बाजार, हैदराबाद — ४

१०. आर्य प्रतिनिधि सभा बम्बई, — ४

११. आर्य प्रतिनिधि सभा उड़ीसा, द्वारा हिन्दुस्तान मोटर कम्पनी, गोल बाजार, सम्बलपुर — ×

१२. आर्य प्रतिनिधि सभा गोआ, वास्कोडिगामा — ×

१३. ,, ,, ,, दिल्ली राज्य आर० ए०/४४ इन्द्रपुरी, नई दिल्ली-१२ — ७

१४. आर्य प्रतिनिधि सभा जम्मू काशमीर, पुराना अस्पताल मार्ग, जम्मू — ×

१५. आर्य प्रतिनिधि सभा गुजरात कारेली बाग बड़ौदा — ४

१६. आर्य प्रतिनिधि सभा पूर्वी अफ्रीका पौस्ट बाक्स ११५५२ नैरोबी (कीनिया) —

१७. आर्य प्रतिनिधि सभा दक्षिणी अफ्रीका, २१ Carlisle street डरवन —

१८. आर्य प्रतिनिधि सभा फिजी पो० बा० २२० सूबा —

१९. आर्य प्रतिनिधि सभा सूरीनाम डच गायना पो० बा० २५० पैरा मारिवो —

२०. आर्य सभा मौरीशस, पोर्टलुइस —

२१. आर्य सभा ब्रह्मदेश, १७२, विगनडेट स्ट्रीट, रंगून —

२२. अमेरिकन एर्यन लीग, अरवन स्ट्रीट जार्ज टाउन (गयाना) —

२३. आर्य प्रतिनिधि सभा तन्जानिया पो० बा० ७७ दारेसलाम —

२४. आर्य प्रतिनिधि सभा कर्नाटक —

२५. ,, ,, ,, हिमाचल प्रदेश —

आर्य प्रतिनिधि सभा तंजानिया, कर्नाटक ओर हिमाचल प्रदेश की नई प्रतिनिधि सभाएँ बनी हैं। तंजानिया सभा का अन्तरंग सभा की दिनांक ९-६-१९७४ की बैठक में और कर्नाटक तथा हिमाचल की प्रतिनिधि सभाओं का अन्तरंग सभा की दिनांक २७-१०-७४ की बैठक मैं सम्बद्ध किया जाना स्वीकृत हुआ। इन सभाओं के प्रवेश तथा प्रतिनिधित्व को नियमित किए जाने की व्यवस्था की जा रही है। आर्य प्रतिनिधि सभा जम्मू कश्मीर, गोआ और उड़ीसा की स्थिति नियमानुकूल अभी सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की नहीं हुई है।

भारत से बाहर की प्रतिनिधि सभाओं के प्रतिनिधित्व की शर्त यह है कि प्रतिनिधि उन सभाओं के ही सदस्य होने चाहिएँ। इस शर्त की पूर्ति होने पर ही इन्हें प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। जो सभा जब इस शर्त की पूर्ति कर देती हैं तभी उसे प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। इस वर्ष प्रतिनिधि सभाएँ इस शर्त की पूर्ति करने में सक्षम न होने के कारण प्रतिनिधित्व से वंचित रही परन्तु सम्बद्ध होने का उन्हें पूर्ण लाभ प्राप्त रहा।

सभा की अन्तरंग सभा ने भारत से बाहर आर्य प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना के कार्य को बढ़ावा देने और समाज की शक्ति और पुरुषार्थ को संयुक्त करने के उद्देश्य से नियमानुकूल ५ आर्य समाजों से बनी प्रतिनिधि सभा को मान्यता देने का निर्णय कर दिया है। सम्बद्ध सभाओं को प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की विशेष प्रेरणा दी गई है।
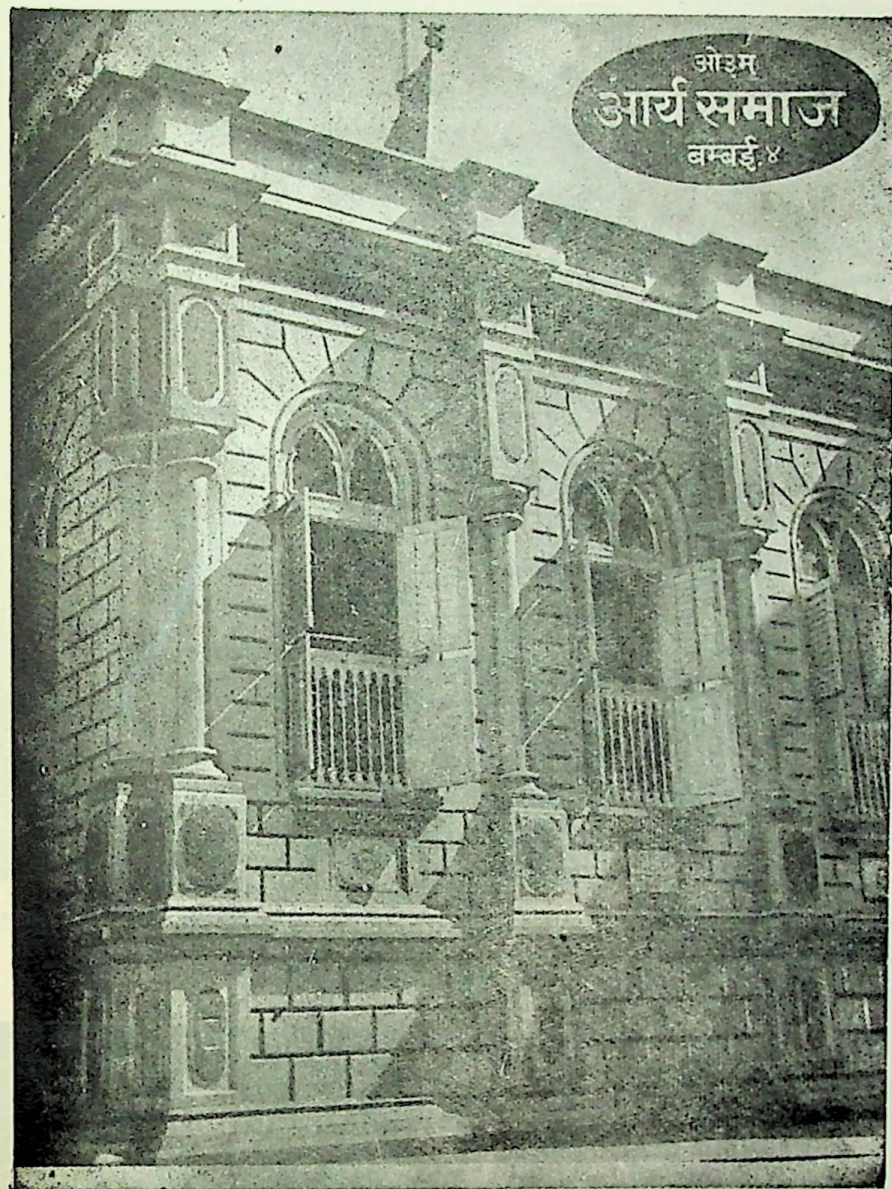
महर्षि के कर कमलों द्वारा
१२ अप्रैल १८७५ में स्थापित

←प्रथम आर्य समाज, बम्बई

जग कहता था भाषा भानु, था जर्जर तन तुल्य कृशानु
एक लंगोटी का परिधान, पहने प्रज्ञाचक्षु महान,

थे मुंदे नयन
पर अन्तस् चेतन
दिव्य दृष्टि से देख रहा
जो दिक् परिचालन
उस महान् चिरवंद्य देव को
अर्पित शत-शत भाव सुमन।

कुलगुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द जी महाराज

आर्य जगत् के वन्दनीय सन्त स्वामी डा० सत्यप्रकाश जी महाराज एवं शताब्दी समारोह के संरक्षक, केन्द्रीय सूचना और प्रसारण मंत्री, पं० विद्याचरण शुक्ल के साथ—श्री राममूर्ति कैला (संयोजक : स्मारिका समिति) श्री विमलचन्द्र 'विमलेश', (सम्पादक) और श्री रामनाथ सहगल।

आचार्या कु० सविता बहन नानजी भाई कालीदास मेहता (शताब्दी समारोह की संरक्षिका)

ला० रामलाल जी मलिक

श्री अजय कुमार,
प्रधान, आ० स० करौलबाग, नई दिल्ली
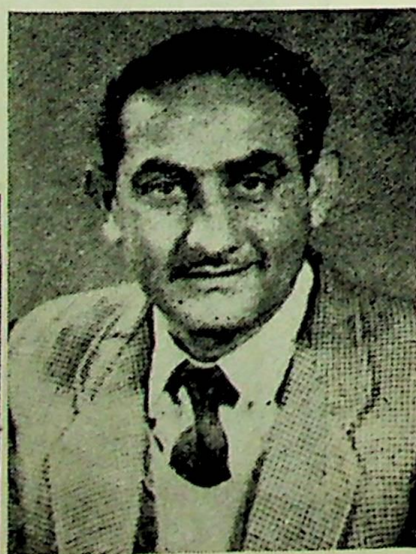
श्री मदन गोपाल खोसला
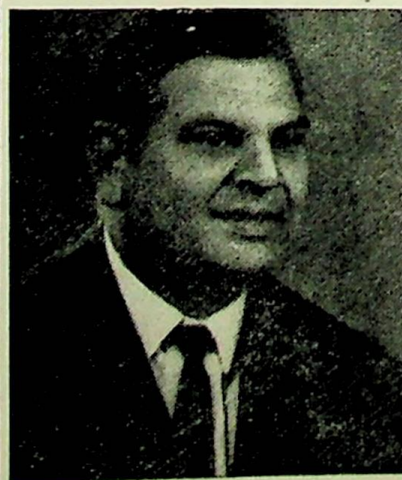
श्री आर० एल० सहदेव

परामर्श और सहयोग
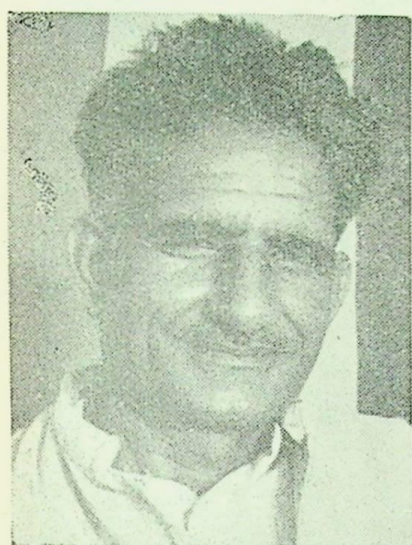
चौ० हीरासिंह, कार्यकारी पार्षद्
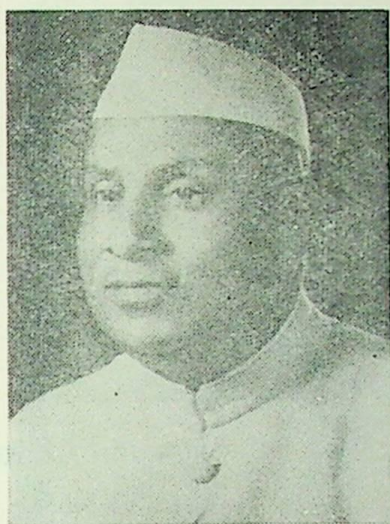
श्री देसराज जी चौधरी
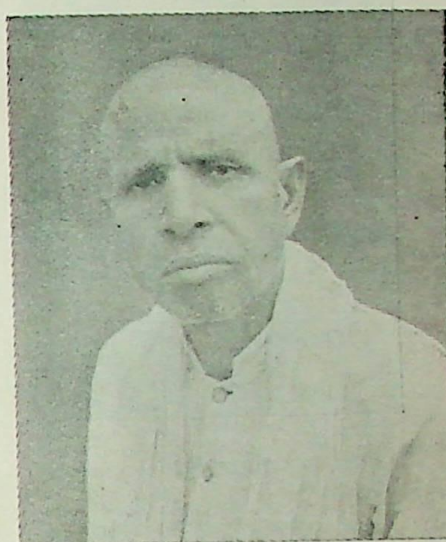
स्वामी ब्रह्मानन्द जी दंडी
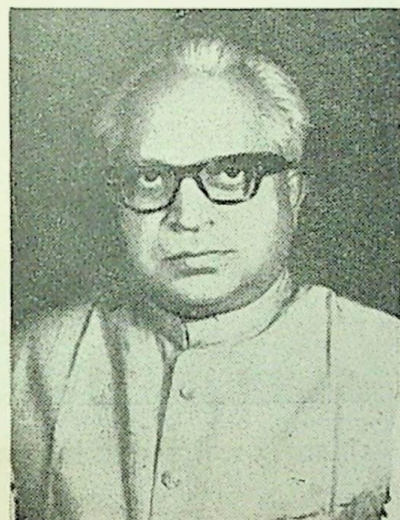
आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री
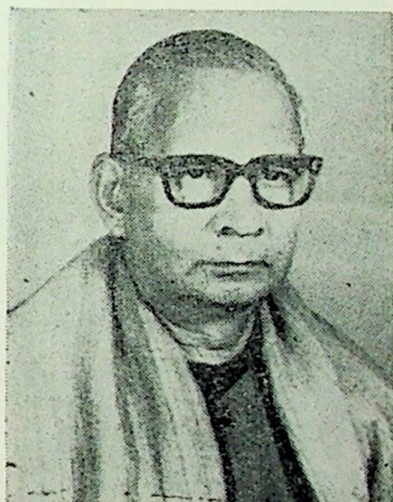
श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'
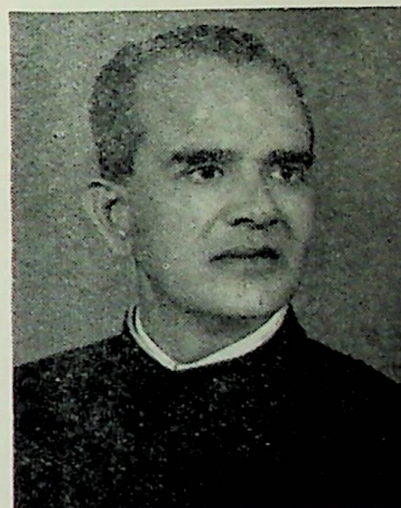
श्री विमलचन्द्र 'विमलेश'
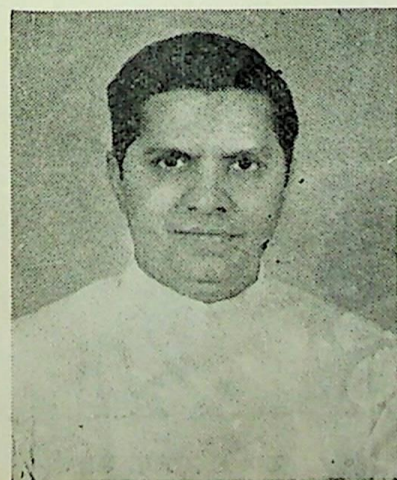
डा० दिलीप वेदालंकार
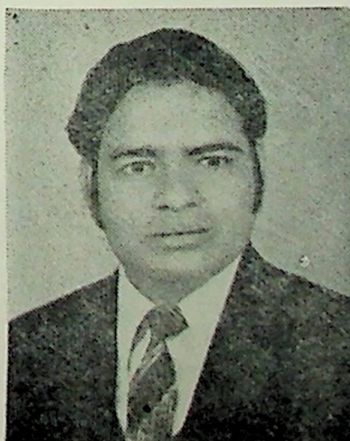
डा० देवेन्द्र आर्य

श्री रविदत्त
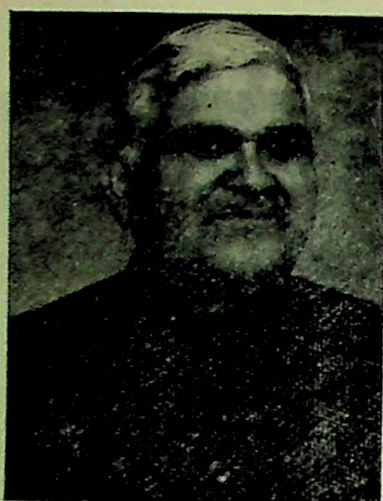
श्री राममूर्ति कैला
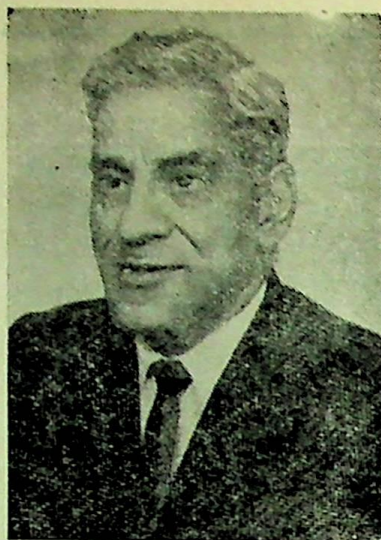
श्री सरदारीलाल वर्मा, मंत्री आ० प्र० स० दिल्ली
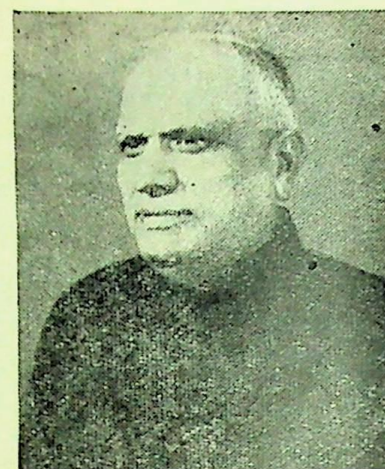
श्री मुलकराज भल्ला

श्री रामनाथ सहगल
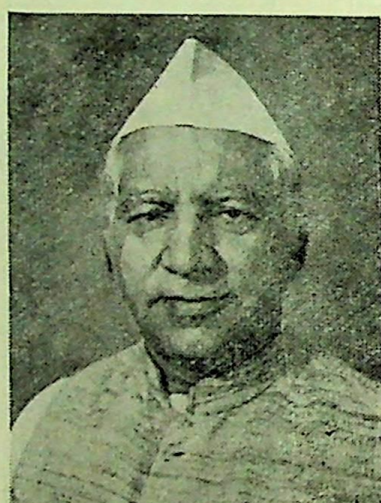
श्री जयदेव आर्य, बम्बई
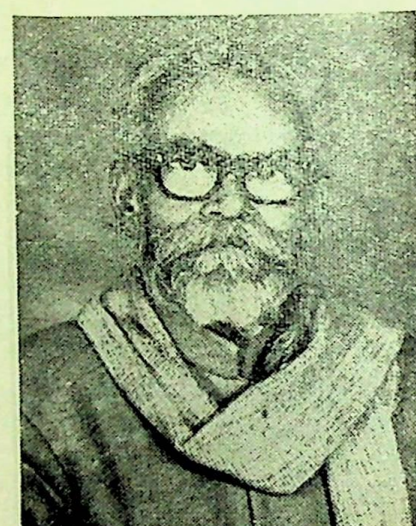
श्री वासुदेव शर्मा उपमंत्री सा० सभा

स्व० अमरनाथ महिन्द्रा

श्री गुलजारीलाल, बम्बई
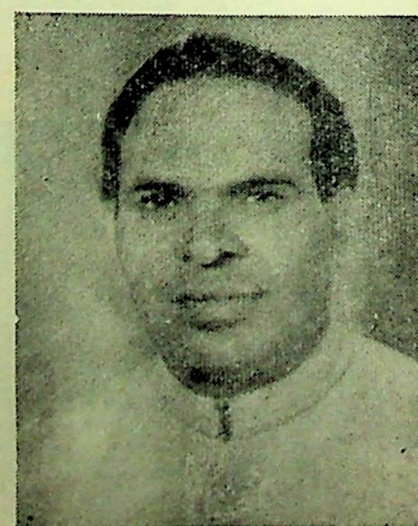
डा० सुरेशचन्द्र शास्त्री
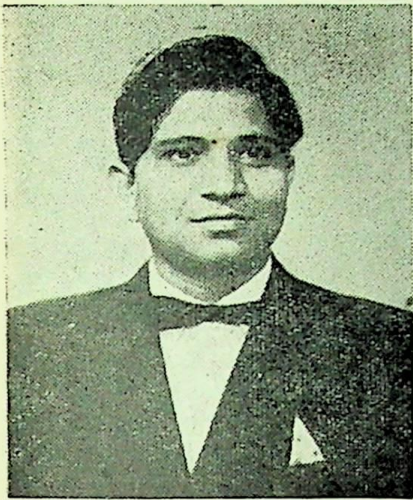
श्री प्रह्लादराय गुप्ता
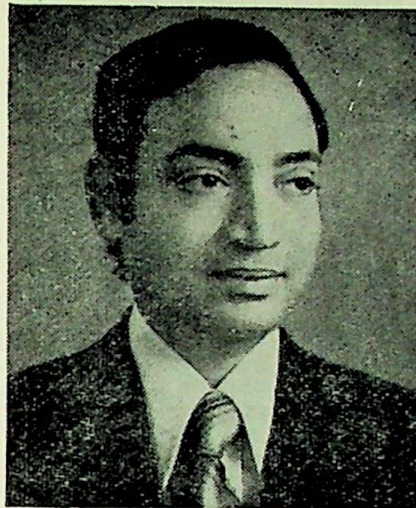
श्री आर० के० अग्रवाल

श्री मनोहरलाल गुप्त
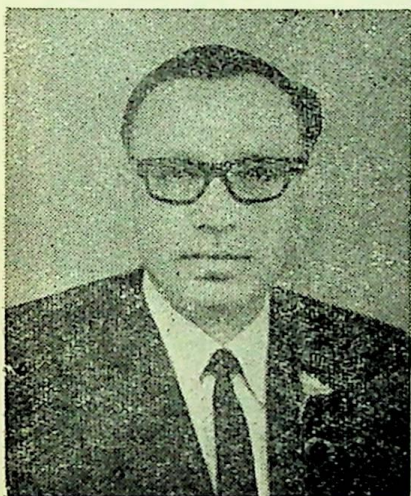
श्री प्राणनाथ

श्री अशोककुमार सहगल
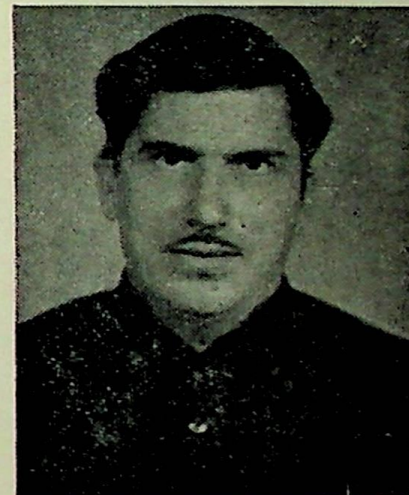
श्री सूर्यदेव, मंत्री आ०स० दीवानहाल
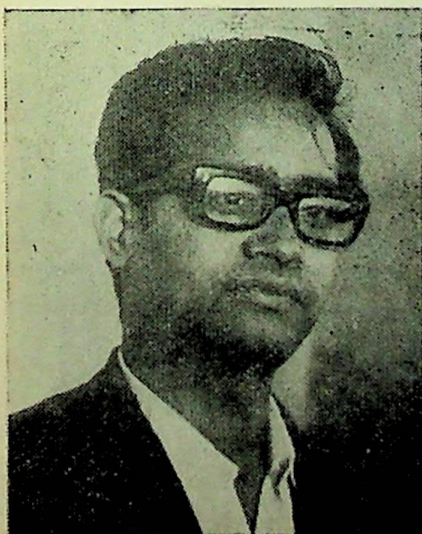
श्री राघव
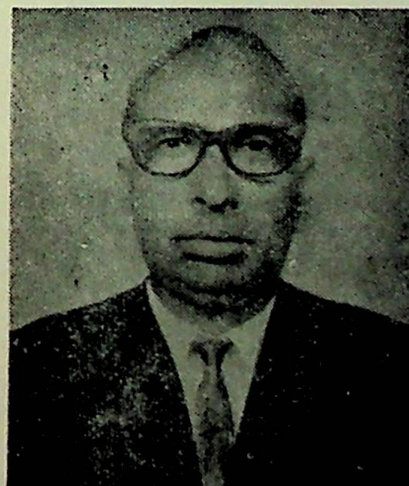
श्री खानचन्द चौधरी
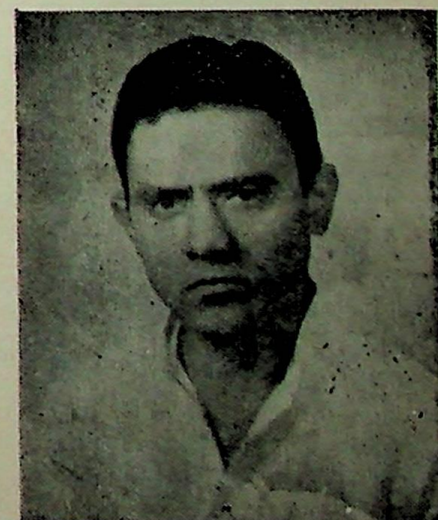
श्री वेदव्रत शास्त्री, बम्बई
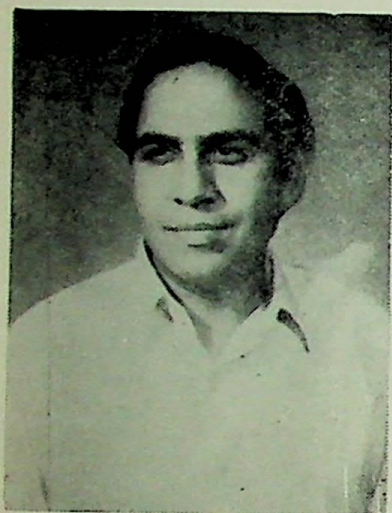
श्री रामकरण गुप्त
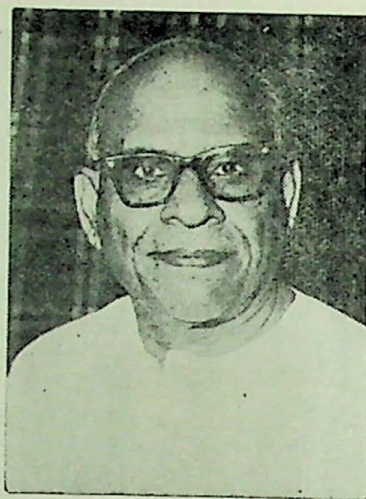
श्री जगदीशचन्द्र मल्होत्रा
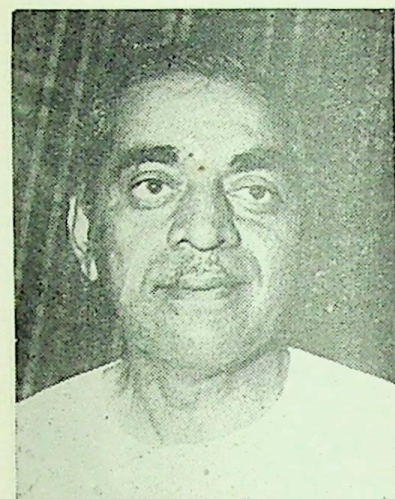
श्री नारायणदास जुनेजा
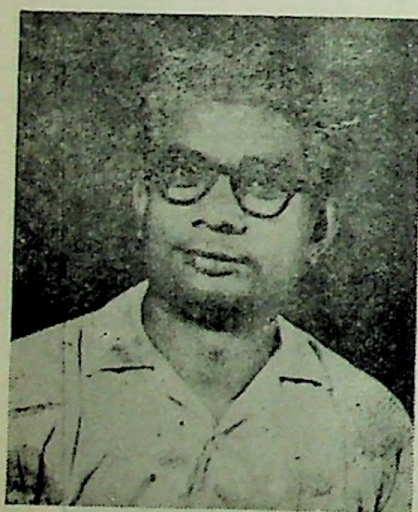
श्री रमेशचन्द्र शास्त्री
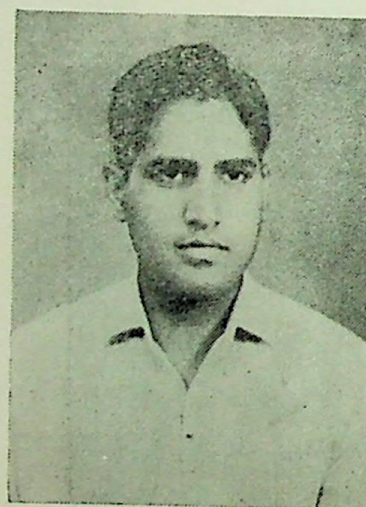
श्री देवव्रत शर्मा
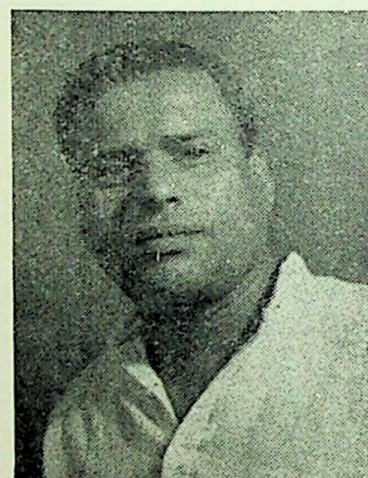
श्री एम० के० अमीन
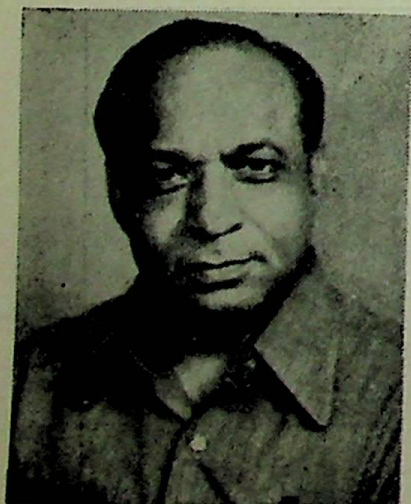
श्री ओंकारनाथ

श्रीमती शिवराजवती आर्य
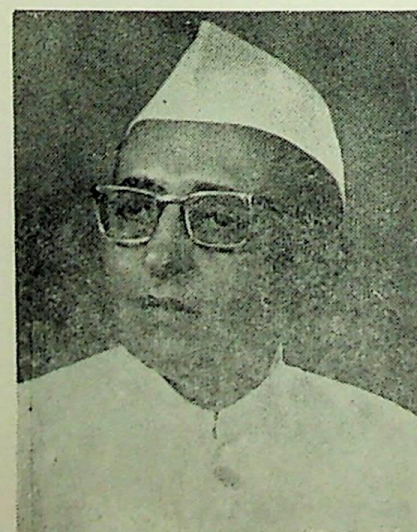
श्री जयन्तीलाल हरजीवनदास संघवी

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के भूतपूर्व प्रधान जिनका नेतृत्व अविस्मरणीय है
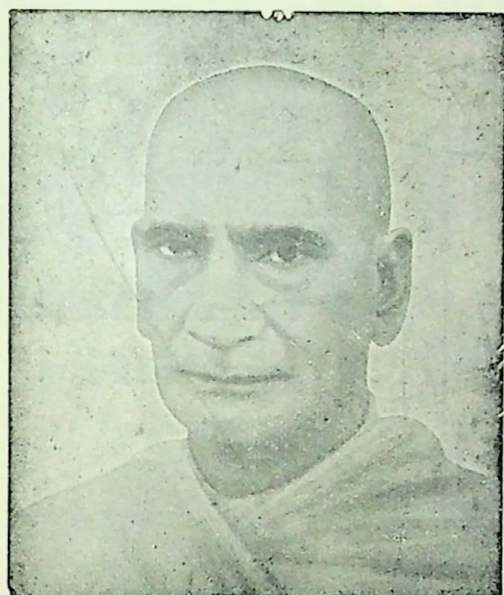
स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

श्री बंशीधर
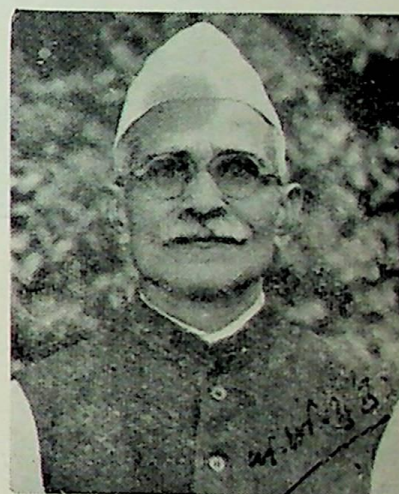
श्री घनश्यामसिंह गुप्त
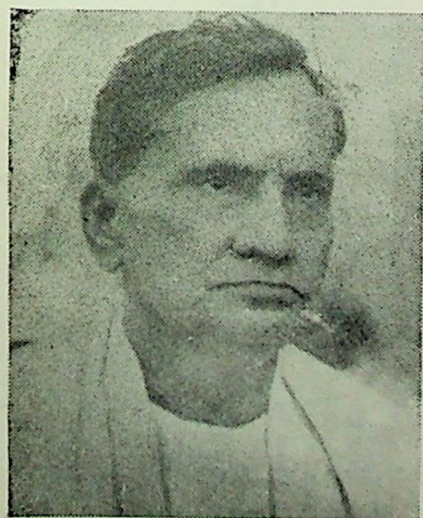
श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति

पूज्य नारायण स्वामीजी महाराज

श्री गंगाप्रसाद चीफ जज
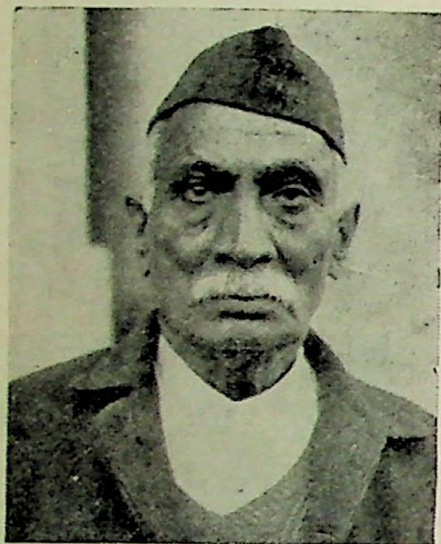
बा० पूर्णचन्द एडवोकेट
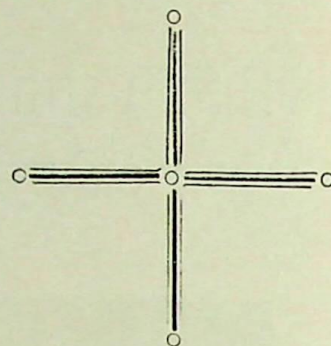
अभेदानन्द जी महाराज
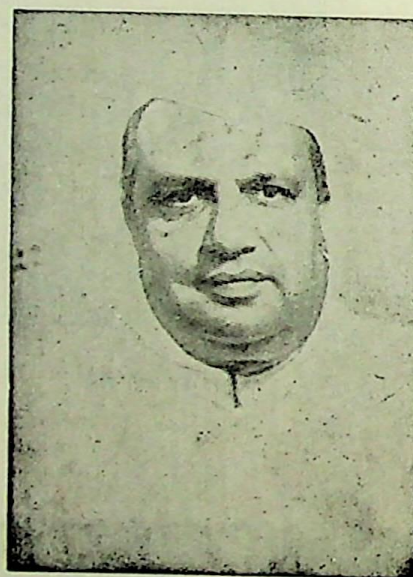
श्री प्रतापसिंह शूर जी वल्लभदास
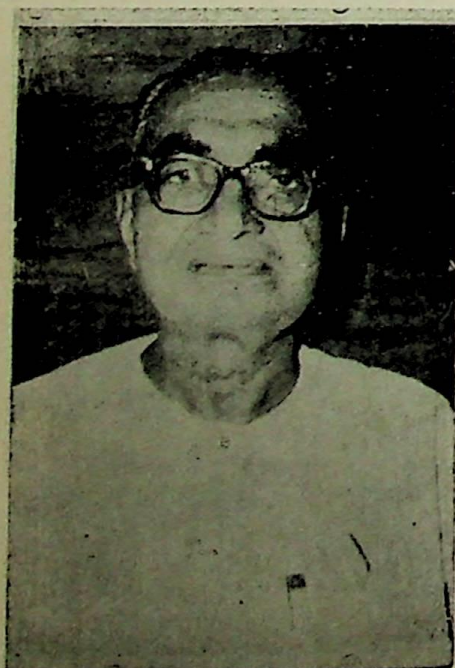
डा० दुखन राम जी
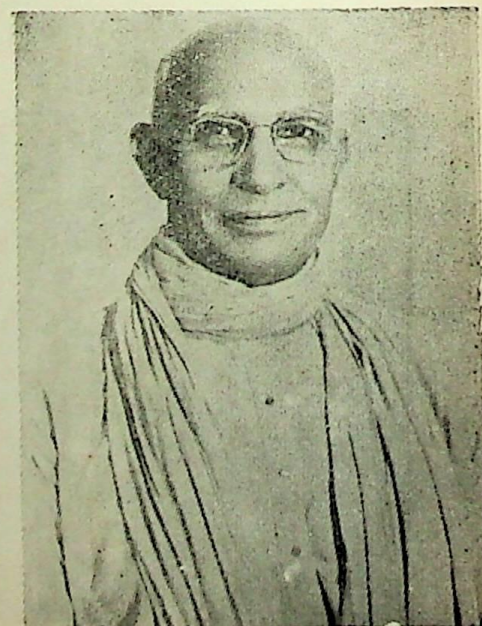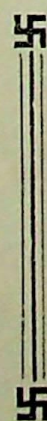
स्वामी ध्रुवानन्द जी

आर्य समाज के यशस्वी नेता और विद्वान
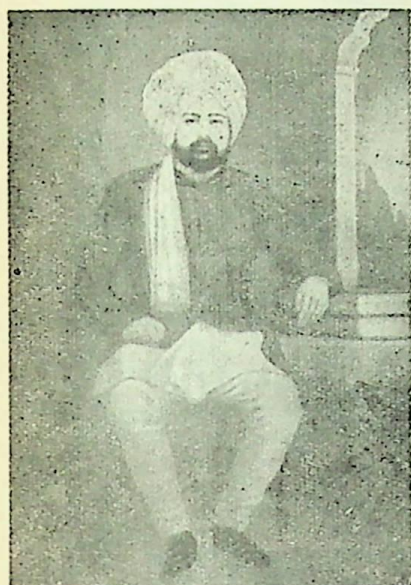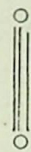
श्री पं० लेखराम आर्य मुसाफिर

श्री पं० गुरुदत्त विद्यार्थी

आचार्य रामदेव
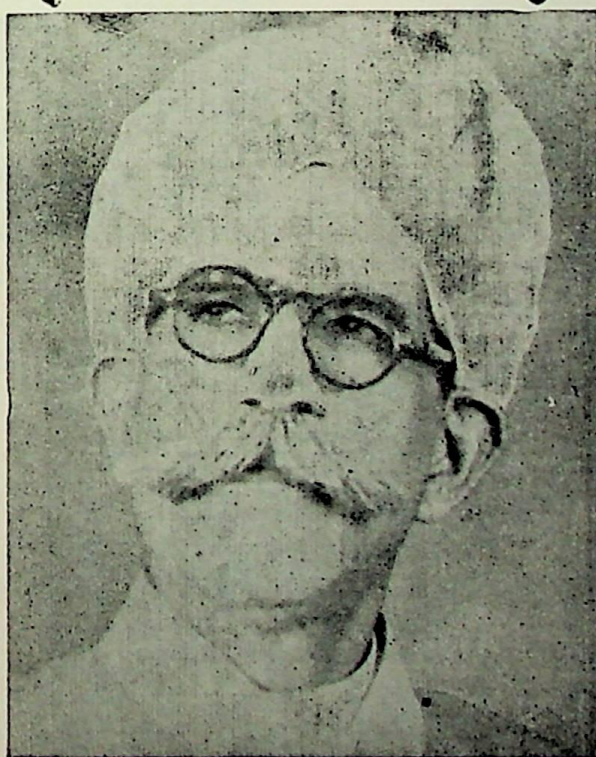
श्री महात्मा हंसराज

श्री पं० रामचन्द्र देहलवी

श्री लाला लाजपतराय

श्री प्रकाशवीर शास्त्री, संसद सदस्य

श्री रघुवीरसिंह शास्त्री
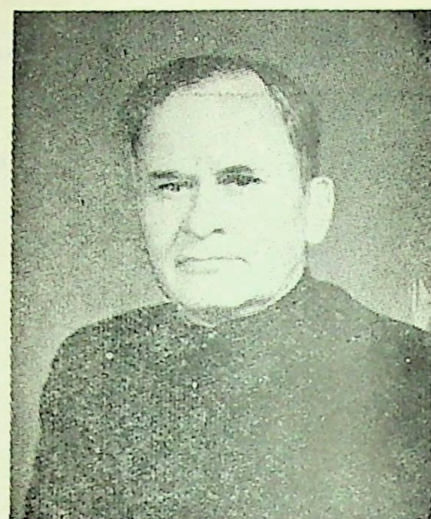
श्री वीरेन्द्र (जालन्धर)
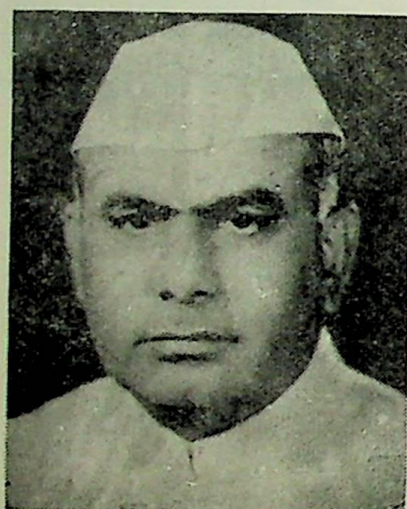
प्रो० शेरसिंह, सदस्य लोकसभा

माननीय आर्य नेतागण
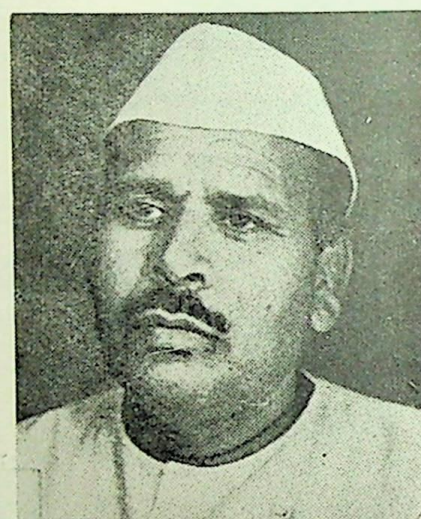
श्री रामचन्द्र 'विकल', सदस्य लोकसभा
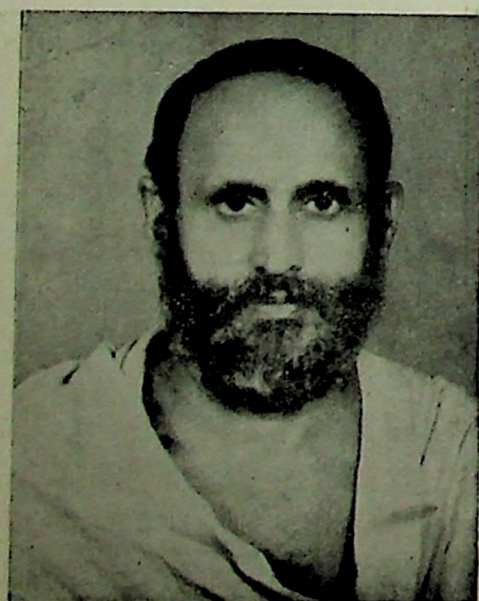
स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती
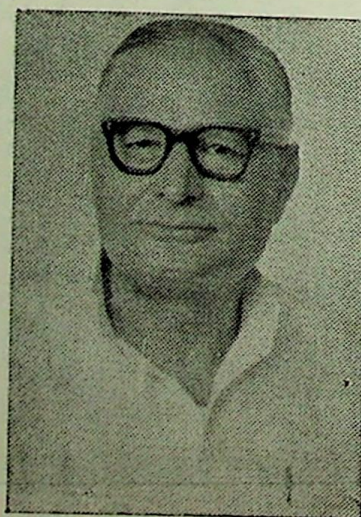
पं० शिवकुमार शास्त्री, सदस्य लोकसभा

श्री पं० आनन्दप्रिय (बड़ौदा)

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वर्त्तमान पदाधिकारी
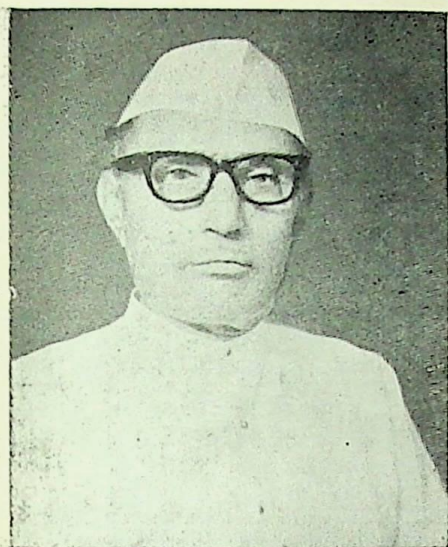
माननीय लाला रामगोपाल शालवाले

माननीय श्री ओम्प्रकाश त्यागी, एम० पी०
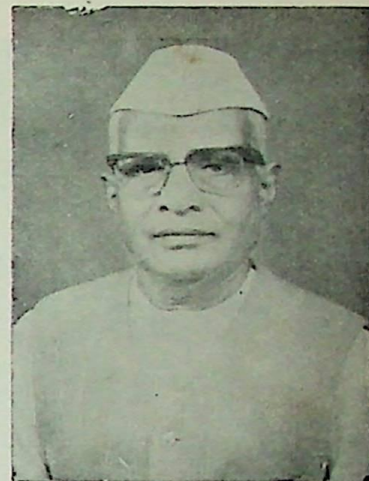
श्री पं० नरेन्द्र, संयोजक : शताब्दी समारोह

माननीय श्री सोमनाथ मरवाह, एडवोकेट

माननीय श्री धर्मवीर, उपप्रधान
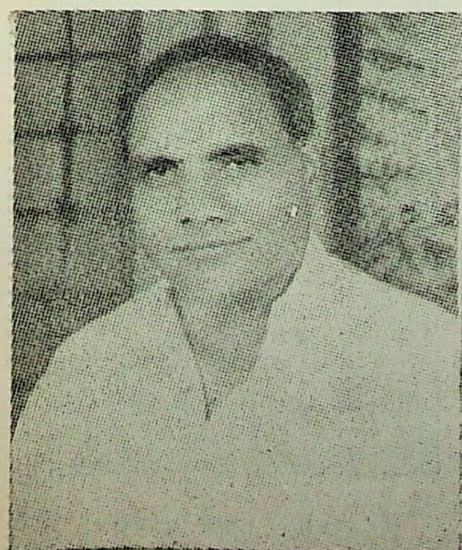
श्री छोटूसिंह, उपप्रधान
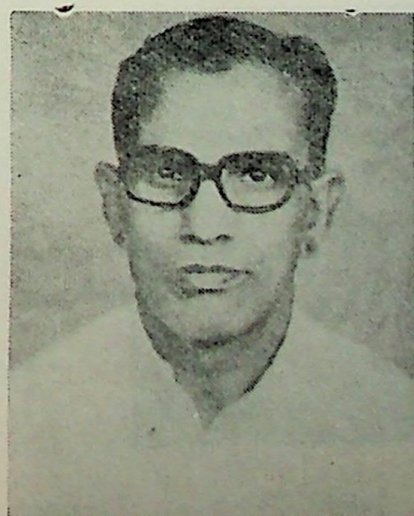
श्रीसच्चिदानन्द शास्त्री, उपमंत्री

श्री भगवानदेव शर्मा, उपमंत्री
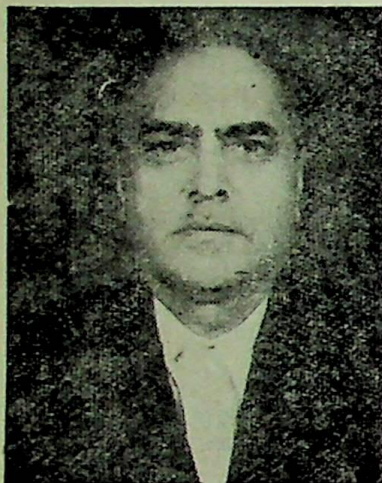
श्री दीवानचन्द साहनी
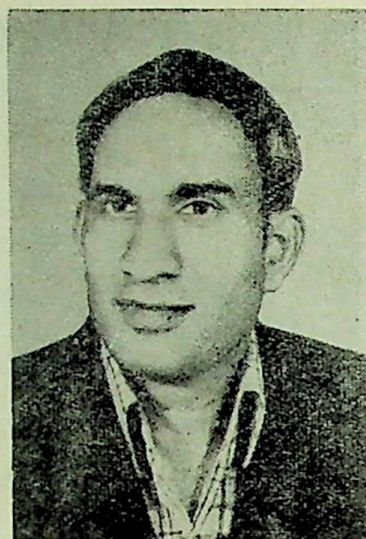
श्री परमेश शर्मा
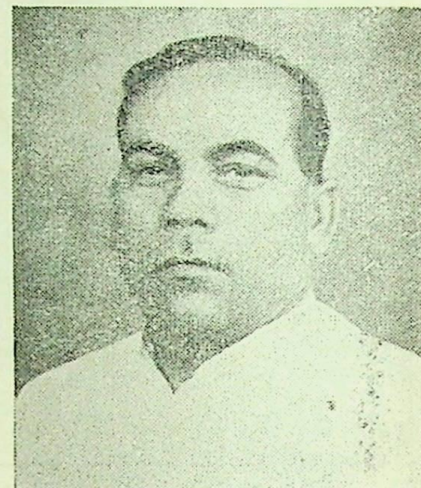
श्री दिनेशचन्द शर्मा

पं० रामावतार शर्मा
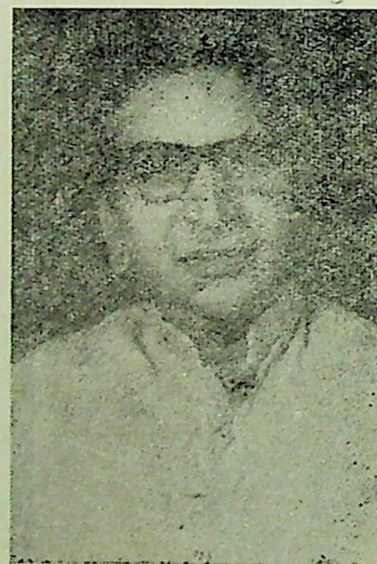
श्री जगनप्रसाद गौतम, बम्बई

श्री शिवनाथ

श्री धर्मवीर घूरा (मारीशस)
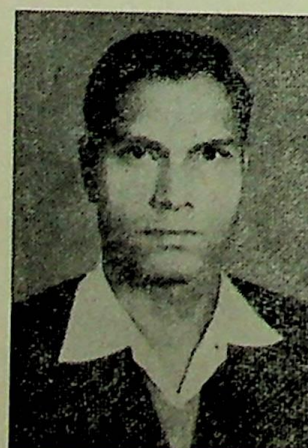
श्री सोहनपाल

श्री रामप्यारे शुक्ल, बम्बई

एम डी एच के कुछ अन्य अनुपम उपहार

जल जीरा

भूख को बढ़ाता है, हाज़मे को तेज़ करता है और तबियत में ताज़गी पैदा करता है।

किचन किंग

सब मसालों का सम्राट। सभी वेजिटेरियन व नान-वेजिटेरियन तरकारियों के लिये संपूर्ण मसाला।

चंकी चाट

हर प्रकार के फलों की चाट, दही का रायता, दालमोठ और सब्ज़ियों को अत्यन्त स्वादिष्ट बनाता है।

चने का मसाला

न केवल चनों के लिये बल्कि हर प्रकार की सब्ज़ियों और तरकारियों के लिये उत्तम मसाला।

यदि आप शुद्ध मसालों के इच्छुक हैं तो हमारी फ़र्म का नाम और पैकिंग पर एम॰ डी॰ एच॰ ट्रेड मार्क देख कर खरीदें। मिलते जुलते नामों से धोखा न खाएं।

महाशियां दी हट्टी प्रा॰ लि॰

खारी बावली, देहली-6 फ़ोन 268704

चीफ़ स्टाकिस्ट : रूपक स्टोर्स अजमलखां रोड, नई देहली ● स्टाकिस्ट : किशन चन्द सूरज प्रकाश, खारी बावली, देहली

आज की परिस्थिति में आर्य समाज का दायित्व

• श्री लाला रामगोपाल शालवाले

आज से एक सौ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ल प्रतिपदा सं० १९३२ तदनुसार ६ अप्रैल, १८७५ को बम्बई के गिरगांव मुहल्ला की मणिकराव की वाटिका में मानवमात्र के कल्याण तथा सामाजिक व धार्मिक उत्थान के लिए आर्य-समाज के नाम से महर्षि दयानन्द ने एक महान् अभियान का श्री गणेश किया था।

महर्षि दयानन्द वैदिक धर्म के पुरातन एवं शाश्वत सत्यों के आधार पर सम्पूर्ण विश्व के अन्य समुदायों को एक ईश्वर का उपासक बनाकर आपसी सद्भाव द्वारा परमात्मा के अमृत पुत्रों को धर्म की वेद मूलक माला में पिरोना चाहते थे।

उन्होंने धर्म के नाम पर फैले पाखण्ड को, चाहे वह अपना हो अथवा पराया समान रूप से मूलोच्छेदन करके सत्य सनातन वैदिक धर्म की स्थापना करके मनुष्य शरीर धारी चाहे वह छोटा कुलोत्पन्न हो या बड़े कुलों का सब को समान रूप से उन्नति करके लौकिक सुख और पारलौकिक परमानन्द की प्राप्ति का अधिकार दिया था। इसीलिए उन्होंने वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त को जन्मना न मानकर गुण, कर्म व स्वभाव के अनुसार स्वीकार करके जन्मगत जाति-पाँति की रूढ़िवादिता पर सर्वप्रथम कुठाराघात किया। ईश्वर-जीव-प्रकृति तीन सनातन सत्ताओं को नित्य बताकर नवीन वेदान्त के झूठे अद्वैतवाद का निराकरण करके अज्ञान का पर्दा हटा कर सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

सृष्टि उत्पत्ति के विज्ञानमूलक सिद्धान्त की व्याख्या करके हजारों वर्षों के पश्चात् महर्षि दयानन्द ने घोषणापूर्वक कहा कि आज से १ अरब ९७ करोड़ २९ लाख ४९ हजार ७५ वर्ष पूर्व जगत के रचयिता ने पंच-भूतात्मक प्राणियों को उत्पन्न करने के अनन्तर मानवी साँचों के आधार बनाकर युवा स्त्री पुरुषों का निर्माण किया। चारों वेदों का सनातन ज्ञान प्रसारित कर मानव का मार्ग दर्शन किया और जीवन यापन के सभी सिद्धान्त पर गहरी चोट कर के वेद के प्राचीनतम रहस्यों को स्पष्ट कर प्रतिपादन किया।

"अपने देश में अपना राज" यह घोषणा सन् १८७५ में सर्वप्रथम सत्यार्थप्रकाश द्वारा आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने ही की थी कि अविद्या, अज्ञान, और अभाव को दूर करना प्रत्येक आर्य का परम कर्त्तव्य है। आर्य समाज के सेवकों ने अनेक प्रकार की आँधियों का प्रतिरोध कर के उपरोक्त महान् कार्य को पूरा करते हुए अपने प्राणों तक को न्यौछावर करके अविद्या और अज्ञान को दूर करने का सद् प्रयत्न किया।

यज्ञों के नाम पर हिंसा की जाती थी। आज से सौ वर्ष पूर्व सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द ने घोषणापूर्वक कहा कि वैदिक यज्ञ हिंसा से रहित होते थे। अश्वमेध यज्ञ में घोड़े नहीं मारे जाते थे।

अपितु 'राष्ट्र व अश्वमेधः', अर्थात् राष्ट्र का निर्माण करना ही अश्व-मेध यज्ञ है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रसाद से आर्य समाज के विद्वानों और कार्यकर्त्ताओं ने घर-घर में यज्ञ कर के देश के वायुमण्डल को सुगन्ध युक्त बनाने का प्रयत्न किया।

अछूतोद्धार तथा शुद्धि आन्दोलन चला कर आर्य समाज ने हिन्दू जाति के कटते पैरों को बचा लिया। इस महान् कार्य की पूर्ति के लिए हमें अनेक बलिदान देने पड़े। इन बलिदानों ने भावी सन्तति और आर्य जाति के भविष्य को सुरक्षित कर दिया।

भावी कार्यक्रम :

महर्षि दयानन्द के विचारों के प्रकाश में एवं आज की बदलती परि-स्थितियों के सन्दर्भ में भविष्य में इन कार्यों को क्रियान्वित रूप देने की ओर हमें अग्रसर होने की आवश्यकता है।

देश विदेश में विराजमान पूज्यनीय, संन्यासी, वानप्रस्थी, गुरुकुलों, कालेजों तथा शिक्षा संस्थानों के प्राचार्य एवं उपाध्यक्षों, प्रबन्धकों, आर्य समाज के माननीय अधिकारियों, युवक संगठनों के जागरूक प्रहरी तथा महिला समाज की देवियों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे अपना पूरा समय आर्य समाज के माध्यम से जन सम्पर्क बनाने, धार्मिक तथा राजनैतिक क्षेत्र से भ्रष्टाचार मिटाने एवं यज्ञों के माध्यम से वेद के पावन सिद्धान्तों का प्रचार करने में लगावें। दहेज प्रथा के उन्मूलन तथा अन्तर्जातीय व अन्तर्प्रान्तीय विवाहों को प्रोत्साहन दें। देशद्रोही तत्त्वों से देश के शासन को अवगत करायें। साथ ही गो पालन की प्रेरणा तथा गोहत्या विरोधी आन्दोलन को सक्रिय बना कर भारत के मस्तक से गो-हत्या के कलंक को मिटा कर महर्षि दयानन्द के दिव्य स्वप्न को साकार बनावें।

आर्यसमाज स्थापना शताब्दी के पुनीत अवसर पर हम सब को आत्म-निरीक्षण करना चाहिए और आपसी मतभेदों को भुला कर संगठित रूप से आर्य समाज को सुदृढ़ बनाना चाहिये। युग प्रवर्तक योगीराज वेद भाष्यकार महर्षि दयानन्द सरस्वती की वेद मूलक मान्यताओं को पूर्ण कर दिखाने की अपूर्व क्षमता अपने में जुटानी होगी तभी हमें आर्य कहलाने का अधिकार प्राप्त होगा।

राष्ट्रीय पुनर्जागरण व स्वाधीनता का अग्रदूत—आर्य समाज

• श्री ओ३म् प्रकाश त्यागी, संसद सदस्य

आज संसार के विचारकों व इतिहासकारों के सम्मुख एक महान आश्चर्यजनक प्रश्न यह बना हुआ है कि लगातार शताब्दियों तक ऐसे विदेशी आक्रान्ता शासकों ने भारतीय राष्ट्र तथा आर्य जाति को समूल नष्ट कर इसकी लाश पर अपने अनुकूल नए राष्ट्रों को जन्म देने के लिए लोभ-लालच, छल-कपट, बल, बर्बरता, आदि सभी अमानवीय व घृणित उपायों का अवलम्बन लिया। तथापि लम्बी दासता में रह चुकने के पश्चात् भी यह राष्ट्र अपनी चेतना, स्वाभिमान तथा जीवन की रक्षा कैसे कर सका? इस प्रश्न का सारांश में उत्तर यही है कि यों तो भारत में विदेशी आक्रान्ताओं के आगमन से ही यहां समय-समय पर ऐसे अनेकों देश भक्त राजा, नेता व विद्वान हुए हैं जिन्होंने भारत की स्वतन्त्रता व स्वाभिमान को बनाये रखने का प्रशंसनीय प्रयास किया। परन्तु वर्तमान भारत में दिखाई पड़ने वाली स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय चेतना व स्वाभिमान पूर्ण जीवन महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज की ही देन है। यदि महर्षि दयानन्द और आर्य समाज का अवतरण न होता तो भारत का राष्ट्रीय स्वरूप क्या होता, इसकी कल्पना करना कठिन है।

सन् १८५७ की महान क्रान्ति के पश्चात् जब भारत में स्वतन्त्रता व स्वराज्य का नाम तक लेना अपनी मृत्यु को स्वयं निमंत्रण देना समझा जाता था, जबकि विदेशी अंग्रेजी प्रशासक लार्ड मैकाले की योजनानुसार शिक्षा संस्थाओं के द्वारा भारत की भाषा, धर्म, संस्कृति, साहित्य व इतिहास को समाप्त कर ईसाई राष्ट्र को जन्म देने का भरसक प्रयास किया जा रहा था, जबकि विदेशी विद्वान आर्य जाति के मूल धर्म-ग्रन्थ वेदों को असभ्य गड़रियों के गाने तथा रामायण-महाभारत को काल्पनिक गाथाएं सिद्ध कर रहे थे। ऐसी विकट परिस्थिति में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने इसके उद्धार करने की प्रतिज्ञा ली और उसे चरितार्थ करने के लिए सन् १८७५ में बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की।

राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने की दृष्टि से महर्षि दयानन्द सरस्वती ने देश में सर्वप्रथम सर्व-क्रान्ति का नारा दिया और धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में एक ऐसी नवीन क्रान्ति को जन्म दिया जिससे समूचे भारत में देखते-देखते खलबली मच गई। बहुत से अज्ञानी व्यक्तियों ने उनकी आन्तरिक वेदना व लक्ष्य को न समझ कर उनका विरोध भी किया, उन पर पत्थर मारे, उन्हें जहर दिया। परन्तु वह निर्भीक महान क्रान्तिकारी संन्यासी सभी विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता गया।

देशवासियों की पराधीनता के कारणों का आभास कराने के लिए उन्होंने कहा कि स्वायभुव राजा से लेकर पाण्डव पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। तत्पश्चात् वे आपस के विरोध से लड़कर नष्ट हो गए क्योंकि इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता।

भारत को जंगली व असभ्य लोगों का देश और इनके महान ग्रन्थ वेद को असभ्य गड़रियों के गाने सिद्ध करने वाले विदेशी विद्वानों को उत्तर देते हुए महर्षि ने इन शब्दों के द्वारा देशवासियों के अन्दर स्वाभिमान की भावना भरते हुए कहा—"यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैले हैं वे सब आर्यावर्त्त देश से ही प्रचारित हुए हैं।"

सन् १८५७ की महान क्रान्ति के पश्चात् आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ही वह महापुरुष थे जिन्होंने सर्वप्रथम स्वराज्य, स्वदेशी, स्वभाषा (राष्ट्रभाषा हिन्दी) की प्रेरणा देशवासियों को दी। उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा कि "माता-पिता के तुल्य विदेशी राज्य के अच्छा होते हुए भी वह स्वराज्य से अच्छा कदापि नहीं हो सकता।" इस तथ्य को थ्योसिफिकल सोसायटी की प्रसिद्ध नेत्री श्रीमती ऐनीबिसेण्ट ने स्वीकार करते हुए कहा कि—"महर्षि दयानन्द ने ही सर्व प्रथम नारा लगाया था कि—भारत भारतीयों का हो।"

सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत

जन्म-गत जाति-पांत छूत-छात संकीर्ण साम्प्रदायिकताओं, मत-मतान्तरों आदि अनेक सामाजिक कुरीतियों से जर्जरित व विघटित राष्ट्र को एक सूत्र में लाने के लिए महर्षि दयानन्द और आर्य समाज ने बड़ा ही प्रशंसनीय कार्य किया। सर्वप्रथम उन्होंने सभी धार्मिक वर्गों व मत-मतान्तरों को एक मत होने के लिए दिल्ली दरबार के समय एक सर्वधर्म सम्मेलन बुला कर प्रयास किया। उसमें असफल हो जाने पर उन्होंने सभी समुदायों में धर्मके नाम पर फैले पाखण्डवाद व असत्य एवं संकीर्ण साम्प्रदायिक विचारों का बड़ी कड़ाई से खण्डन किया।

जन्म से कोई छोटा-बड़ा, छूत-अछूत नहीं होता, अपितु अपने गुण, कर्म

व स्वभाव से व्यक्ति छोटा-बड़ा बनता है। इस सिद्धान्त का दयानन्द ने वेद शास्त्रों के प्रमाणों से प्रतिपादन ही नहीं किया अपितु आर्य समाज ने उनके इस विचार को क्रियात्मक रूप देते हुए सर्वत्र अपने उत्सवों व सम्मेलनों पर सहभोजों का आयोजन कर और गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देकर राष्ट्रीय एकता की दिशा में देशवासियों को अग्रसर किया।

महर्षि दयानन्द और आर्य समाज द्वारा की गई उक्त सामाजिक क्रान्ति के सम्बन्ध में माडर्न रिव्यू के यशस्वी सम्पादक श्री रामानन्द चटर्जी ने अपने पत्र में लिखा है कि—"स्वामी दयानन्द भारत को राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक रूप से एक सूत्र में बांधना चाहते थे। भारत को एक राष्ट्र का रूप देने के लिए उन्होंने भारत को विदेशी शासन से मुक्त कराना चाहा। सामाजिक दृष्टि से देशवासियों को एक करने के लिए उन्होंने जात-पात और वर्ग भेद को मिटाना चाहा।

भारत की भाषा, धर्म, संस्कृति, साहित्य, इतिहास, देश-भक्ति आदि को समाप्त करने की दृष्टि से बनाई लार्ड मैकाले की शिक्षा-योजना को विफल कर देश के छात्र-छात्राओं में अपनी भाषा, धर्म, संस्कृति आदि के प्रति अगाध श्रद्धा व स्वाभिमान भरने के लिए महर्षि की योजनानुसार आर्य समाज ने उत्तर भारत के लगभग सभी प्रान्तों में गुरुकुलों, स्कूलों, कालेजों की स्थापना की। प्रमाण-स्वरूप जब राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी दक्षिण अफ्रीका में वहां की गोरी सरकार की रंग-भेद नीति के विरुद्ध सत्याग्रह कर रहे थे तो गुरुकुल कांगड़ी के विद्यार्थियों ने अपने नित्य का घी-दूध त्याग कर और दूधियां बांध पर मजदूरी करके धन जमा किया और गांधी जी की सहायतार्थ भेजा। यही कारण था कि भारत आने पर गांधी जी सर्वप्रथम गुरुकुल कांगड़ी में उन देश भक्त बच्चों को आशीर्वाद देने गये।

स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय योगदान

जब स्वर्गीय गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस का स्वतन्त्रता आन्दोलन चला तो आर्य समाज ने अनुभव किया कि उनके द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में महर्षि दयानन्द के स्वप्नों को साकार किया जा सकता है। स्वामी श्रद्धानंद, श्री स्व० लाला लाजपतराय, श्री भाई परमानन्द आदि सभी प्रमुख आर्य नेता और आर्य नर-नारी व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े। उस समय सर्वत्र आर्य समाज बाहर से धार्मिक संगठन बना रहा, परन्तु आंतरिक रूप से कांग्रेस के साथ हो गया और आजादी की लड़ाई में नींव के पत्थर बनकर खड़ा हो गया। आर्य समाज द्वारा की गई इस राष्ट्रीय चेतना को स्वर्गीय विपिन चन्द्र पाल जी ने अपने ग्रन्थ वर्तमान भारत में स्वतंत्रता आन्दोलन का प्रारम्भ के अन्दर इन शब्दों में प्रकट किया कि—"यह दयानन्द ही था जिसने उस आंदोलन की आधार शिला रखी जो बाद में धार्मिक राष्ट्रीयता के नाम से जाना गया। उनके आंदोलन ने उन हिन्दुओं में एक नवीन राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न की, जो शताब्दियों से आत्महीनता के गर्त में पड़े थे।......और साथ ही देश की जनता को वेद के आधार पर स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व की भावना प्रदान की।"

भारत को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए क्रान्तिकारी आंदोलन के जन्मदाता—स्वर्गीय श्यामजी कृष्ण वर्मा को महर्षि दयानन्द जी ने ही अपने व्यय से इंग्लैंड में विशेष शिक्षा प्राप्त करने व भारतीय धर्म संस्कृति, स्वातन्त्र्य-प्राप्ति की आग फूंकने की दृष्टि से भेजा था। उन्होंने इंग्लैंड जाते ही सन् १९०५ में इंडियन होम रूल सोसायटी की स्थापना की जिसका लक्ष्य भारत के लिए स्वराज्य प्राप्ति था। उन्होंने भारतीय समस्याओं पर विचार प्रकट करने के लिए वहां इंडिया हाउस की भी स्थापना की और अपने विचारों को प्रकट करने के लिए इंडियन सोशलिस्ट नामक पत्र भी निकाला।

सन् १९१६ में आर्य समाज के प्रसिद्ध नेता श्री लाला लाजपतराय जी ने अमरीका जाकर भारत की स्वतन्त्रता के लिए वहां वातावरण उत्पन्न करने की दृष्टि से इंडियन होम रूल लीग नामक संस्था की स्थापना की। उन्हीं के प्रचार का परिणाम था कि अमरीका की जनता व सरकार सदैव भारत की स्वतन्त्रता का समर्थन करती रही।

अंग्रेज सरकार ने साहस करके आर्य समाज को राजनीतिक व बागी सिद्ध करने के लिए पटियाला रियासत में इस पर केस चलवाया और लगभग ८५ आर्य समाजियों के विरुद्ध पुलिस द्वारा वारण्ट निकाले गए और आर्य समाज के सत्यार्थ प्रकाश आदि सभी ग्रन्थों पर वहाँ की रियासत द्वारा प्रतिबन्ध लगाया गया परन्तु अंग्रेज सरकार के लाख प्रयत्न करने पर भी वहाँ की सरकार अपने पक्ष को सिद्ध न कर सकी और पटियाला सरकार द्वारा केस वापिस ले लिया गया।

आर्य समाज ने ही भारत में राष्ट्रीय चेतना व स्वाभिमान को जन्म दिया। इसकी सिद्धि के लिए अन्त में दो महान विदेशी विद्वानों का मत उद्धृत करना उचित होगा। श्री डी० वैबले के विचारों—"वर्तमान माडर्न स्वतन्त्र भारत की वास्तविक आधारशिला दयानन्द ने ही रक्खी थी। दुर्भाग्यवश अन्य आधारशिलाओं की भांति इस आधारशिला को भी हम देख नहीं सकते हैं—फिर भी हम इस पर दृष्टिपात कर सकते हैं और इस पर बने भवन की प्रशंसा कर सकते हैं तथा इस तथ्य को हमें कभी नहीं भूलना चाहिए कि योग्य से योग्य भवन निर्माण बिना नींव के नहीं बन सकता है चाहे वह आधारशिला अदृश्य ही क्यों न हो।"

फ्रांस के प्रसिद्ध विश्व-विख्यात विद्वान श्री रोम्यां रोलां लिखते हैं कि—"राष्ट्रीय पुनर्जागरण में जो इस समय देश में देख पड़ रहा है, स्वामी दयानन्द ने प्रबल शक्ति के रूप में कार्य किया। उनके आर्य समाज ने इच्छा व अनिच्छा पूर्वक बंगाल के १९०५ के विप्लव का मार्ग बताया था। दयानन्द सदैव सार्वजनिक रूप से यह घोषणा करते थे कि उनका समाज अराजनीतिक है और ब्रिटिश गवर्नमेंट का निर्णय इससे भिन्न था। दयानन्द राष्ट्रीय संगठन और पुनर्निर्माण का सर्वाधिक मसीहा था।

दिव्य महापुरुष–महर्षि दयानन्द को प्रणाम

• पं० नरेन्द्र, (हैदराबाद)
संयोजक : आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समिति

आर्यसमाज स्थापना दिवस के इस पवित्र अवसर पर मैं आर्यसमाज संस्थापक पुण्य श्लोक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती को कृतज्ञता पूर्वक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और उन महानुभावों का भी स्मरण करता हूँ जिन्होंने आर्यसमाज के प्रसार और उस की यशःवृद्धि में योग दे कर समाज के आदर्शों की रक्षा निमित्त साहसपूर्वक अनेक कष्टों का सामना कर निष्काम भाव से आत्मोत्सर्ग किया है। उन महापुरुषों की तपस्या का ही परिणाम है कि आर्यसमाज अपने कार्यों द्वारा न केवल विश्व जीवन को शान्ति और संजीवनी शक्ति देता रहा है अपितु वह सभी समुदायों द्वारा मान और सम्मान भी प्राप्त करता रहा है।

आर्यसमाज स्थापना शताब्दी के इस मांगलिक अवसर पर समाज संस्थापक सर्व कल्याण कारक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का स्मरण करना प्रत्येक आर्य का पुनीत कर्तव्य है। महर्षि का व्यक्तित्व और कृतित्व इतना महान् है कि वह यावच्चन्द्र दिवाकरौ चिरस्मरणीय रहेगा।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने १८७५ ई० में बम्बई नगर में आर्यसमाज स्थापना करके एक प्रकार से धर्म प्रचारक संघ की नींव रखी थी। यह संघ आडम्बर से अछूता और समाज सुधार का पोषक था। आर्यसमाज की स्थापना के माध्यम से महर्षि ने निश्चित ही मानवमात्र में नूतन जीवन एवं जागृति उत्पन्न करने का अमोघ साधन प्रस्तुत किया था। महर्षि दयानन्द द्वारा गठित इस समाज द्वारा वैदिक धर्म की मर्यादा और उसकी गौरव गरिमा अक्षुण्ण रह सकी है।

दयार्द्र हृदय दयानन्द ने विश्व प्रेम और लोकहित की भावना से प्रेरित होकर लोगों को आर्यसमाज में प्रविष्ट होने के लिए प्रेरित किया और सावधान किया कि आर्यसमाज के अतिरिक्त अन्य किसी समाज से उनका हित सम्पादन न होगा। महर्षि का विश्वास था कि आर्यसमाज में कालान्तर में ऐसे कर्मठ व्यक्ति उत्पन्न होंगे जो कि आदर्शों की रक्षा तथा उस के निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति में प्राण प्रण से जुट जायेंगे। महर्षि का स्वप्न साकार हुआ, इतिहास इसका साक्षी है। दूरदर्शी दयानन्द का वह कथन जिसमें कहा गया था कि आर्यसमाज रूपी वाटिकाएँ हरी भरी, फूली फली लहलहाती दिखाई देंगी। प्रभु कृपा से यह सब कुछ होगा परन्तु मैं न देख सकूंगा, सर्वथा सत्य सिद्ध हुआ है।

आज आर्यसमाज के सामने अनेक कार्य हैं। उनके कार्यों में सब से बड़ा कार्य वैदिक विचारधारा एवं वैदिक संस्कृति का अधिकाधिक प्रचार और प्रसार करना, विरोधी तत्त्वों का उपशमन कर वैदिक धर्म का मार्ग प्रशस्त करना और जड़वाद की विभीषिका से मानव मात्र की रक्षा कर संसार को विनाश के गर्त में गिरने से बचाना है। भोगवाद और वैदिक आध्यात्मवाद का समन्वय कर सुख और शान्ति की स्थिति उत्पन्न करना भी आर्यसमाज का ही कार्य है, जिसके लिए भोगवाद से तंग आकर सारा संसार छटपटा रहा है।

भगवान बुद्ध ने अपनी लोकहित की योजना में सदाचार को रखा था किन्तु परमात्मा को उसमें स्थान नहीं दिया था। भगवान शंकर ने अपनी योजना में परमात्मा को तो स्वीकार किया किन्तु संसार को महत्त्व नहीं दिया था। परिणामतः दोनों ही महानुभावों की योजनाएँ असफल रहीं। इसके विपरीत भगवान दयानन्द द्वारा आरोपित आर्यसमाज जिस धर्म (वैदिक) का प्रतिनिधित्व करता है, उसमें भोगवाद और आध्यात्मवाद दोनों को समन्वित किया गया है। यही कारण है कि आर्यसमाज की योजना प्रणाली सर्वहितकारी और जन जीवन मंगल विधान में समर्थ सिद्ध हो सकी है।

आर्यसमाज स्थापना शताब्दी की इस पावन वेला में हमें इस बात को पुनः पुनः स्मरण करना चाहिए कि हमारा आदर्श वैदिक आदर्श है, हमारा धर्म वैदिक धर्म है और हमारा विश्वास एक ईश्वर के प्रति है। यह विश्वास ही हमें निष्काम सेवा की प्रेरणा देता रहेगा और इस सेवा भाव से सच्चरित्रता का निर्माण होता है। वैयक्तिक, सामाजिक, लौकिक अथवा पारलौकिक अभ्युदय वेदानुकरण द्वारा ही सम्भव है। इस उदात्त विचारधारा ने विश्व में वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न की है जिसके फलस्वरूप परम्परित धार्मिक मान्यताओं में नवीन उन्मेष हुआ है, सामाजिक रूढ़ियों और धार्मिक कुरीतियाँ समाप्त हुई हैं, मानसिक दासता के बन्धन शिथिल हुए हैं और विश्व मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुधार और प्रगति की स्थिति उत्पन्न होने लगी है।

ऐसी परिस्थिति में हम आर्यजनों को पुनः एक बार हृदयपूर्वक व्रत लेना होगा कि इस वैदिक विचारधारा के माध्यम से विश्वमात्र को ओत-प्रोत कर विश्वभर को आर्य बनायेंगे, विश्व के लोगों को एक भाषा, एक धर्म और एक संस्कृति का सन्देश देकर एकता के सूत्र में बाँधने का अहर्निश प्रयत्न करें। आज हम सब इस बात का संकल्प करें कि निर्धारित दायित्व की पूर्ति करने, मानव समाज में आध्यात्मिक जीवन का संचार करने, आर्य संस्कृति की रक्षा करने, समाज को परिष्कृत करने और चरित्र निर्माण निमित्त कार्य करते रहेंगे।

महान उग्र

• श्री मनोहर विद्यालंकार

य एको अस्ति दसनामहां उग्रो अभि व्रतैः।
गमत् स शिप्री न सयोषदागमद्ध्वंन परिवर्जति ॥

ऋक् ८-१-२७

ऋषि : मेधातिथिमेध्यातिथि काण्वौ ॥
देवता : इन्द्रः

वह ऐश्वर्यशाली इन्द्र स्वरूप से एक ही है। उसके समान या उससे बड़ा कोई नहीं। वह अपने गुण, कर्म और स्वभाव से अद्वितीय है। उसके सृष्टि आदि कार्य इतने विशाल और महान् हैं कि उन्हें समझना सम्भव नहीं है।

वेद अन्यत्र कहता है कि :—

१. न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्तिवृत्रहन् ।
न वयेवं यथा त्वम् । साम संख्या २०३.

२. न त्वा वा अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
साम-६८१ ।

आपसे बड़ा या आपसे ऊपर तो कोई है हीनहीं। आपके तुल्य भी कोई नहीं है।

आपके तुल्य इस भूमण्डल पर या द्युलोक में कहीं भी न तो कोई हुआ है, न है और न कभी होगा।

अपने नियमों के कारण वह अत्यन्त उग्र (उदान्त-तीक्ष्ण व भीषण) है। नियम भंग उसे सहन नहीं होता। वह तो 'उग्रो उग्राणाम' है। उदान्त व्यक्तियों के लिए उदान्त तथा भीषण कर्म करने वालों के लिए भीषण है।

कर्म फल अनिवार्य है। अपराध या अनियम करके उसके परिणाम से कोई बच नहीं सकता। उसे धोखा नहीं दिया जा सकता। उससे छिपकर कुछ किया नहीं जा सकता क्योंकि वह शिप्री = ज्ञानी = सर्वज्ञ है।

वह 'दात्रस्य दाता' (ऋक् ६-६७-५५) है। जिस पदार्थ के जो योग्य है उसे वही मिलता है। वह दूसरों का कल्याण करने वालों का सदा कल्याण ही करता है 'वितन्वते प्रतिभद्राय भद्रम्' (ऋक् १-११५-२) उत्तम कर्म करने वालों के लिए अपेक्षया अधिक उत्तम फल देता है (सुकृते सुकृत्तरः) (ऋक् १-१५६-५) वह कर्मानुसार सब को पदार्थ, धन तथा सुख सनातन काल से देता चला आया है और अनन्तकाल तक देता चला जायेगा 'याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः (यजुः ४०-८।)

कर्मानुसार फलप्रदान के साथ-साथ वह सरल तथा सदाचारी व्यक्तियों की सहायता भी किया करता है। उसका एक व्रत (नियम) यह भी है कि यदि दो दुष्ट वंकु या पापी स्पर्धा कर रहे हों तो उनमें से जो सत्य के अधिक निकट होगा, या जिसका व्यवहार अधिक सरल होगा उसकी वह रक्षा करता है, उसे आगे बढ़ाता है। और जो अनेक्षया असत्याचरण वाला या कुटिल होता है, उसे मारता है नष्ट कर देता है 'तयोर्यत्सत्यं यत (दृजीयः तदित्सोमोअवति हन्त्यासत्' अथर्व ८-४-१२ ।

इसलिये मनुष्य को पाप या अपराध हो जाने के बाद भी निराश नहीं होना चाहिए। सदा सुकृत् की ओर बढ़ते जाना चाहिए। सत्यमार्ग को ग्रहण करके सरल व्यवहार करना चाहिए। यदि कोई अपराध या पाप हो जाए तो उस पर पश्चाताप तथा प्रायश्चित करना चाहिए। उस अपराध या पाप को दुबारा न करने का व्रत लेना चाहिए। यदि इस व्रत को अपने पूरे सामर्थ्य से निभाया तो यह बात उस शिप्री = सर्वज्ञ प्रभु से छिपी न रह जाएगी।

बस एक बात ध्यान देने की है कि उसको धोखा नहीं दिया जा सकता। मनुष्य ऊपर से कितना ही धर्मात्मा और परोपकारी बना रहे, किन्तु यदि उसका अन्तर शुद्ध नहीं है तो दीखने वाला रूप और व्यवहार लोगों को तो आकृष्ट कर सकता है वे उसे आदर व मान भी दे सकते हैं किन्तु उस शिप्री प्रभु के न्यायालय में नीयत का महत्त्व कर्म की अपेक्षा अधिक है।

यदि तुम्हारा पश्चाताप और प्रायश्चित पूर्ण है, हृदय से है, तो वह प्रभु तुम्हारी पुकार को कभी अनसुना नहीं करेगा। तुम्हारी सहायता के लिये अवश्य आयेगा। व्रतपालन के लिये तुम्हें शक्ति देगा, हिम्मत देगा, आत्मविश्वास बढ़ायेगा।

यदि तुम्हें दण्ड देगा तो उस कष्ट को सहन करने का सामर्थ्य भी देगा

(शेष पृष्ठ ४१ पर)।

'स्वराज्य' का मंत्रदाता–वह संन्यासी

> *"जब स्वराज्य मन्दिर बनेगा तो उसमें बड़े-बड़े नेताओं की मूर्तियाँ होंगी और सब से ऊँची मूर्ति दयानन्द की होगी।"* —**श्रीमती एनीबीसेंट**

• श्री अनूपसिंह

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' के अष्टम् समुल्लास के अन्तर्गत सन् १८७५ में स्पष्ट शब्दों में लिखा था—"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। मतमतांतर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्णसुखगामी नहीं होता।"

डा० एनीबीसेंट ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया ए नेशन' में लिखा है—"स्वामी दयानन्दजी ने सर्वप्रथम घोषणा की थी कि भारत भारतीयों के लिए है।"

महान क्रान्तिकारी स्वातंत्र्य वीर सावरकर ने कहा था—"महर्षि दयानन्द स्वाधीनता संग्राम के सर्वप्रथम योद्धा, हिन्दू जाति के रक्षक थे।"

कांग्रेस के मंच से 'स्वराज्य' शब्द का सर्वप्रथम उच्चारण सन् १९०६ में दादा भाई नौरोजी ने किया था। पाठकवृन्द यह जानकर आश्चर्यचकित होंगे कि दादा भाई नौरोजी ने स्वराज्य शब्द महर्षि दयानन्द के अमर ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' से ही लिया था। २० अक्तूबर, १९६८ के सैनिक समाचार ने अपने अंक में लिखा था "दादा भाई नौरोजी पहले सज्जन थे जिन्होंने भारत पर अंग्रेज़ों के अधिकार जमाए रखने के विरुद्ध लिखा। वे पहले हिन्दुस्तानी थे जिन्होंने शब्द स्वराज्य (स्वशासन) प्रयुक्त किया। एक दिन लोकमान्य तिलक ने हैरान होकर देखा कि पारसी देशभक्त दादा भाई नौरोजी 'सत्यार्थप्रकाश' के पन्ने पलट रहे हैं। आपने विनोद में पारसी देशभक्त से प्रश्न किया—'क्या आप आर्यसमाजी बन गए हैं ?' 'नहीं, मुझे स्वराज्य समर में स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ से भारी प्रेरणा प्राप्त होती है। दादा भाई जी ने उत्तर दिया।"

लोकमान्य तिलक ने सन् १९१६ में स्वराज्य जन्म सिद्ध अधिकार होने की घोषणा की थी। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती के विषय में स्वयं लोकमान्य ने लिखा "ऋषि दयानन्द जाज्वल्यमान नक्षत्र थे, जो भारतीय आकाश पर अपनी अलौकिक आभा से चमके और गहरी निद्रा में सोये हुए भारत को जागृत किया। स्वराज्य के वे सर्वप्रथम संदेशवाहक तथा मानवता के उपासक थे।"

११ नवम्बर, १९५० को ऋषि निर्वाणोत्सव पर श्रद्धांजलि देते हुए लौह पुरुष सरदार पटेल ने कहा—"स्वामी दयानन्द जी का सबसे बड़ा योगदान यह था कि उन्होंने देश को किंकर्त्तव्यविमूढ़ता के गहरे गड्ढे में गिर जाने से बचाया। उन्होंने भारत की स्वाधीनता की वास्तविक नींव डाली थी।"

भूतपूर्व रक्षामंत्री श्री महावीर त्यागी ने कहा—"मुझे इस बात के स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं कि स्वामी दयानन्द ने ही भारत की स्वतंत्रता का वृक्ष लगाया, महात्मा गांधी ने उसे सींच कर बड़ा किया।"

और महान् दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् ने कहा—"महर्षि दयानन्द ने राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक उद्धार का बीड़ा उठाया··· स्वामीजी ने स्वराज्य का जो सबसे पहला संदेश हमें दिया था, उसकी आज हमें रक्षा करनी है।"

श्रीमती एनीबीसेंट ने तो कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में यहाँ तक कहा था—"जब स्वराज्य मन्दिर बनेगा तो उस में बड़े-बड़े नेताओं की मूर्तियां होंगी और सब से ऊँची मूर्ति दयानन्द की होगी।"

आओ आज स्वाधीनता दिवस के पावन अवसर पर स्वराज्य के मंत्र दाता उस संन्यासी का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण कर उसके श्री चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित करें।

('वीर अर्जुन' से साभार)

आर्य समाज के संस्थापक–स्वामी दयानन्द सरस्वती

• श्री अक्षयकुमार जैन
सम्पादक—नवभारत टाइम्स

भारत की यह खूबी रही है कि जब-जब और जिस-जिस प्रकार के व्यक्तियों की राष्ट्र को जरूरत पड़ी, तब-तब वैसे ही राष्ट्रनेताओं का आविर्भाव हो गया। महात्मा बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, विवेकानन्द की परम्परा में ही स्वामी दयानन्द भी आते हैं, जिन्होंने देश को रूढ़ियों में पड़ते जाने से बचाया। उन्हीं के शब्दों में मेरा देश जो संसार भर का शिक्षक रहा, संसार भर में धनीमानी रहा, संसार भर में सत्य और सदाचार में अनुकरणीय रहा, किसी प्रकार पुनः अपना वही पहला उच्च स्थान प्राप्त करें, यही मेरे हृदय की अभिलाषा है।" इसी अभिलाषा को पूरा करने में उन्होंने जीवन भर लगा दिया। वह जीवन पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचारी रहे, किन्तु गृहस्थों के दुखों का भान करके उन्होंने भी उन्हें उपदेश दिये।

यह संयोग की बात है कि महात्मा गांधी की तरह स्वामी दयानन्द भी गुजरात के रत्न थे। भारत के पश्चिमी भाग में सौराष्ट्र नामक प्रदेश है। उसे काठियावाड़ कहा जाता है। स्वराज्य से पहले गुजरात प्रदेश में मोरवी नाम का एक देसी राज्य था जिसके टंकारा नगर के जीवापुर मुहल्ले में महर्षि दयानन्द का जन्म हुआ।

स्वामी जी के बचपन का नाम मूलशंकर था। उनके पूर्वज त्रिवाड़ी (त्रिपाठी) ब्राह्मण थे। पं० दर्शन जी के घर विक्रम संवत १८८१ (सन् १८२४) में महर्षि का जन्म हुआ। दयानन्द अपने पिता की ज्येष्ठ सन्तान थे। नाम उनका मूलशंकर रखा गया, किन्तु दुलार में उन्हें दयाराम भी कहा जाता था।

इस प्रकार मूलशंकर का जन्म एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल में हुआ। यही कारण है कि गृह त्यागी होने पर अनेक बार ऐश्वर्य-भोग के प्रलोभन मिलने पर भी दयानन्द अपने व्रत से न डिगे। ओखी मठ के महंत को एक बार उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया था—"यदि मैं धन सम्पत्ति का इच्छुक होता तो पितृ-गृह छोड़कर कभी न आता क्योंकि मेरे पिता की सम्पत्ति इस मठ की सारी दौलत से किसी प्रकार भी कम नहीं है।"

उनके पिता दर्शन जी धर्म के प्रति दृढ़ आस्थावान थे। वह शिव के परम भक्त, तेजस्वी और कठोर स्वभाव के पुरुष थे। दर्शनजी की धर्म-परायणता का एक और प्रमाण डेमी नदी के किनारे उनका बनवाया हुआ कुबेरनाथ महादेव मंदिर मौजूद है।

मूलशंकर का विद्यारम्भ पांच वर्ष की आयु में हुआ। माता-पिता और अन्य वयोवृद्ध अभिभावक कुल की प्रथा के अनुसार उन्हें शिक्षा देने लगे और उस काल में उन्होंने बहुत से श्लोक और मंत्र कंठस्थ कर लिए। उपनयन संस्कार के बाद आठ वर्ष की आयु में ही सन्ध्योपासना आदि कार्यो का नियमपूर्वक पालन करना उन्होंने शुरू कर दिया। पिताजी की धर्मनिष्ठता के कारण दस वर्ष की आयु में ही मूलजी को पार्थिव पूजा का आदेश दिया गया।

स्वामी जी की तीक्ष्ण बुद्धि का पता इस बात से चलता है कि चौदहवें वर्ष में पदार्पण करने से पहले ही व्याकरण और शब्द रूपावली का अभ्यास करके उन्होंने समस्त यजुर्वेद तथा अन्य वेदों के भी थोड़े अंश कंठाग्र कर लिए थे।

चौदह वर्ष की आयु में ही कुल की प्रथा के अनुसार उनके वाग्दान की तैयारियाँ होने लगीं। पिता अधिक शिक्षा के पक्षपाती न थे। वह चाहते थे कि पुत्र उनकी भांति जमेदारी करे और सद्गृहस्थ बने, किन्तु पुत्र काशी जाकर उच्च-शिक्षा प्राप्त करना चाहता था। वाग्दान तो स्थगित करने को पिता राजी हो गये पर काशी भेजने की बात उन्होंने अस्वीकार कर दी।

महर्षि के प्रारम्भिक जीवन में ऐसी घटना घटी जिसके कारण वह विरक्त हुए और उनके मस्तिष्क में प्रकाश का उदय हुआ। इस घटना से उनमें मूर्तिपूजा के प्रति अविश्वास जागा। यह घटना उस समय घटी जब मूलशंकर कुल तेरह वर्ष के थे। शिवरात्रि को धर्मनिष्ठ पिता ने उन्हें व्रत रखने का आदेश दिया। मूलजी ने विधिपूर्वक उपवास रखा और अन्य साथियों सहित नगर से बाहर बने शिवालय में पूजा के लिए पहुँचे।

शिवरात्रि में चार पहर में चार बार पूजा का विधान है। इस बीच पुजारी को सोना नहीं चाहिए। बालक मूल जी का यह पहला ही अवसर था, इसलिए वह बहुत सावधान रहा कि उसे नींद न आये।

दूसरे पहर की पूजा समाप्त होने पर मूलजी ने देखा कि मन्दिर के व्रतधारी पुजारी और उपासक मन्दिर से बाहर जाकर सो रहे। यहाँ तक कि धर्मनिष्ठ पिता भी इस व्रत का पालन न कर सके और जब उस शिवरात्रि के उपासकों को अकेला मूलजी जाग रहा था तो उसने देखा कि एक बिल में से एक चूहा बाहर निकला और महादेव की पिंडी पर चढ़ाई हुई अक्षत आदि सामग्री को खाने लगा। स्वतन्त्रतापूर्वक वह महादेव की मूर्ति के ऊपर भी घूम लेता।

इस घटना को देखकर मूलजी के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ। स्वयं स्वामी जी के शब्दों में—"देखते-देखते मेरे मन में आया कि यह क्या है ? जिस महादेव की शान्त पवित्र मूर्ति की कथा, जिस महादेव के प्रचण्ड पशुपतास्त्र की कथा और जिस महादेव के विशाल वृषारोहण की कथा गत दिवस व्रत के वृतान्त में सुनी थी, क्या वह महादेव वास्तव में यही है ?"

अपने सन्देहों को वह देर तक न झेल सके। पिता की कठोरता, धर्म-परायणता और शिवभक्ति से वह परिचित थे। धर्म के कठोर बाह्य विधानों के प्रति अपनी अनास्था को अपनी शारीरिक दुर्बलता का परिणाम मानना इस आयु में स्वाभाविक था। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने स्पष्ट विरोध न किया। पर बालक का मन शान्त न रह सका। वह सोच रहा था कि सच्चे शिव के अभाव में ही इन शिव भक्तों का मन वास्तविक पूजा पाठ से पराङ्मुख है। व्रत के महात्म्य को जानते हुए भी उनमें निद्रा आदि के शैथिल्य का भी कदाचित् यही कारण है। बालक मूलशंकर ने मन में तय किया कि यथार्थ महादेव का दर्शन किये बिना मैं मूर्ति की पूजा नहीं करूंगा। इस निश्चय के बाद उसे नींद भी आने लगी और भूख भी सताने लगी। पिता ने अविश्वासी पुत्र को अधिक देर रोकना उचित न समझकर भेजने की आज्ञा दे दी। रात का समय, तीन कोस का फासला, इसलिए एक सिपाही के साथ मूल को घर भेज दिया, पर व्रत भंग न हो यह कहना वह न भूले।

पढ़ने के लिए काशी न भेजकर गाँव से थोड़ा दूर पर ही अध्ययन की व्यवस्था की गई थी, किन्तु इस बीच मूलजी के विवाह की तैयारियाँ हुई और पिता को पुत्र का इनकार मिलने पर उन्हें गाँव में ही बुला लिया गया। उधर विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं तो एक दिन शाम को बिना किसी से कहे-सुने मूलशंकर ने २२ वर्ष की आयु में सदा के लिए घर का त्याग कर दिया।

घर से चलकर चार कोस दूर एक गाँव में उन्होंने रात बिताई। पास-पड़ोस में विख्यात लाला भक्त के पास वह पहुंचे, किन्तु वहाँ पर भी उनके ज्ञान की प्यास न बुझी। भगवा वस्त्र पहने मूलजी तीन महीने तक वैरागियों के साथ इधर-उधर घूमते रहे, फिर सिद्धपुर के मेले में वह पहुँचे। वहाँ पर उनके एक गाँव वासी ने उन्हें पहचान लिया और पिता को सूचना दे दी। पिता ने वहाँ पहुँच उन्हें पकड़ लिया।

पिता चाहते थे पुत्र गृहस्थ बने, पर पुत्र योगाभ्यास करके मृत्यु-यन्त्रणा से मुक्ति पाना चाहता था। तीन दिन पिता की कैद में रहकर, चौथी रात को तीन बजे वह पहरेदारों के सो जाने पर निकल पड़े और फिर घर न लौटे। चौदह वर्ष तक वह अमृत की खोज में दत्तचित्त रहे। आठ साल तक नर्मद के तट पर योगाभ्यास करते रहे। इसी बीच उन्होंने ब्रह्मचारी का विधिवत रूपधारण किया और नियमानुसार उनका नाम मूलशंकर से दयानन्द रखा गया।

नर्मदा तट से वह उत्तराखण्ड की यात्रा पर गये। हरिद्वार में उन्हें तांत्रिक पण्डितों, जंगम सम्प्रदाय आदि अनेकों साधु सम्प्रदायों का परिचय हुआ। ज्ञान के लिए गुरू की खोज में दयानन्द मथुरा पहुँचे जहाँ उन्होंने दंडीस्वामी विरजानन्द को प्राप्त कर लिया।

दयानन्द की असली शिक्षा यहाँ पर हुई। ग्रन्थ अध्ययन के अलावा गुरू-शिष्य में वार्तालाप भी हुआ करता था। इस वार्तालाप में आर्यावर्त के पुनरुत्थान की चर्चा होती थी। दंडीजी की पाठशाला में दयानन्द ने लगभग तीन वर्ष तक अध्ययन किया। स्वामी विरजानन्द की शिक्षा-दीक्षा ने ही स्वामी दयानन्द को आदर्श सुधारक बना दिया। कहते हैं जब दयानन्द चलने को हुए तो उन्होंने गुरू दक्षिणा के रूप में आधा सेर लौंग गुरू की भेंट की, पर गुरू ने आशीर्वाद देते हुए कहा—"मैं तुम्हारे जीवन की दक्षिणा चाहता हूँ। प्रतिज्ञा करो कि जब तक जीवित रहोगे आर्य ग्रन्थों का प्रचार, अनार्य ग्रन्थों का खण्डन तथा वैदिक धर्म की स्थापना के हेतु अपने प्राण तक न्यौछावर कर दोगे।" ऋषि दयानन्द ने 'तदास्तु' कह गुरू की आज्ञा शिरोधार्य की।

उसके बाद ऋषि दयानन्द ने देश भर का दौरा किया। वह राजे-रजवाड़ों में गये और जहाँ अनेक राजा-महाराजा उनके भक्त हो गये वहाँ कुछ नरेश अप्रसन्न भी हुए, पर उसकी चिन्ता उन्होंने नहीं की। उनके विरोधियों ने उनकी हत्या कराने के यत्न किये, किन्तु अन्त में उन्हें मुँह की खानी पड़ी। कर्णवास की घटना सर्वविदित है जहाँ हत्या करने के लिए आने वाला स्वामी जी के चरणों में गिर गया। बड़े-बड़े धुरंधर पण्डितों से उनका शास्त्रार्थ हुआ। उनकी दृढ़ता का सिक्का उनके विरोधियों ने भी माना।

स्वामी जी की सेवा के लिए कल्लू कहार नामक एक नौकर रहता था। वह स्वामी जी के सामान की चोरी करके भाग गया। षड्यन्त्र का आरम्भ वहीं हो गया। ३० सितम्बर, १८८३ को यथा नियम स्वामी जी दूध पीकर सोये, किन्तु कुछ देर बाद ही उन्हें उदरशूल हो निकला और उनकी निद्रा भंग हो गई। जी मचलाने लगा और तीन बार वमन हुआ। सुबह हुई, डाक्टर बुलाया गया, उसने दवा दी, किन्तु लाभ न हुआ तथा दिन में कई दस्त हुए।

१६ अक्तूबर तक डाक्टरी चिकित्सा चलती रही, किन्तु रोग बढ़ता ही गया। उसी दिन महर्षि को आबू भेजने का निर्णय हुआ। उन्हें डोली में ले जाया गया, किन्तु मार्ग लम्बा था। आबू पर्वत की चढ़ाई। किसी प्रकार वहाँ पहुँचे, किन्तु दशा बिगड़ती देख उन्हें अजमेर लाने का निर्णय किया गया।

२६ अक्तूबर को प्रातःकाल स्वामी जी अजमेर पहुँचे। चिकित्सा की गई, किन्तु दशा चिन्ताजनक हो गई। ३० अक्तूबर को ग्यारह बजे से ही श्वास की गति बढ़ गई। उनकी इच्छानुसार औषधि बन्द कर दी गई और उसी दिन सायंकाल ऋषि का देहावसान हो गया।

महर्षि दयानन्द पहले व्यक्ति थे जिन्होंने राष्ट्र के लिए एक भाषा की बात कही। गुजराती भाषा-भाषी होते हुए भी उन्होंने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने का उपदेश दिया। उनकी महत्ता इसलिए भी है कि उन्होंने राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाया। उस समय जो रूढ़ियवादिता फैल रही थी स्वामी जी ने वैज्ञानिक और विवेकशील दृष्टिकोण अपनाने का मार्गदर्शन किया। वह गुजरात से होकर वहाँ बँधकर न रहे और समग्र भारत के हो गये। उनके विचार साम्प्रदायिक न थे, जो कुछ उन्होंने सोचा वह राष्ट्र को उन्नत करने के लिए था और उसी में उन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया।

आज उन के द्वारा स्थापित आर्य समाज को पूरे १०० वर्ष हो गये हैं। इस अवसर पर आर्य समाज के माध्यम से समाज सुधार व हिन्दी के प्रचार व प्रसार के महान यज्ञ में आहुति देना प्रत्येक भारतीय का परमकर्तव्य है।।

(शेष पृष्ठ ३७ का)

तीन वेदों में आए निम्न दो मन्त्र इस बात की पुष्टि करते हैं :—

(१) आ घा गमद्यदीश्रवत् सहसुणीभिरुतिमिः। वाजेभिरुप नो हवम्। ऋक् १-३०-८ अथर्व २०-२६-२, साम-७४५।

(२) य उग्रः सन्ननिषृतः स्थिरोरजाय संस्कृतः।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्दवंनेन्द्रोयोषत्यागमत।।
साम-ऋक ८-३३-९ अथर्व २०-५३-३, २०-५७-१३।

वह उग्र होते हुए भी कभी हिंसा नहीं करता। सदाव्रतो में स्थिर रहते हुए मनुष्यों को रमणीय बनाने के लिये संस्कृत करता रहता है, सुधारता रहता है। अथवा वह उदात्त होते हुए भी किसी दुर्दम पापी द्वारा निस्तीर्ण नहीं हो सकता। किन्तु एक बात निश्चित है कि चाहे कोई कितना ही गुरुतर पाप या अपराध करने के बाद भी यदि सच्चे हृदय से पश्चाताप और प्रायश्चित करके' स्तोता उसे पुकारता है और सहायता करता है कभी निराश नहीं करता, वियुक्त नहीं रहने देता।

शब्दार्थ—(यः एको अस्ति) वह परमात्मा एक=अद्वितीय अनुपम है (दंसना महान) अपने कर्मों द्वारा महान है। (अभि व्रतैः) अपने व्रतों के कारण (उग्रः) उदान्त, शुभ फलों द्वारा तथा कष्टप्रद दण्डों द्वारा भयानक है। (सशिप्री) वह ज्ञानी=पूर्ण ज्ञानी=सर्वज्ञ है। शिश्रम्=ज्ञानम् (स्वामी दयानन्द) (न सयोषत्) हमें कभी वियुक्त नहीं करता (आगमत् हवम्) हमारी पुकार पर जरूर आता है (हवं न परिवज्ति) हमारी पुकार को कभी टालता नहीं, अनसुना नहीं करता।

पुकार को सुनी जाने का उपाय है कि हम इस मन्त्र के ऋषि के नाम से संकेत लेकर तदनुकूल कार्य करें। (मेधातिथिः) बुद्धिपूर्वक चलते चले जाओ। (मेध्यातिथः) उस परमात्मा को सदामन में रखकर चलते जाओ। (काण्वः) प्रगति कितनी ही मन्द क्यों न हो, किन्तु होती अवश्य रहे। कभी अधोगति या अवनति न होने पावे।

●●

वेदों का सन्देश

• विद्याभास्कर श्री शिवकुमार शास्त्री
साहित्याचार्य, एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत)

आधुनिक मनुष्य या अर्वाचीन मनुष्य और प्राचीन मनुष्य के बीच किसी सीमा रेखा का खींचना यद्यपि सरल कार्य नहीं है तथापि असम्भव भी नहीं है। आज जो प्रवृत्तियाँ मानव समाज में परलक्षित हो रही हैं वे प्राचीन समाज में नहीं थीं यह कहना तो तर्क संगत एवं औचित्य पूर्ण नहीं कहा जा सकता। परन्तु इतना तो अवश्य पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि ये प्रवृत्तियाँ आज जितनी अधिक विश्वव्यापी तथा दुर्धर्ष हो रही हैं उतनी प्राचीन काल में सम्भवतः कभी नहीं रहीं। कुछ मानवों में तथा मानव समाजों में इन प्रवृत्तियों का बाहुल्य तो सदा ही सृष्टि के आदि से रहा है। इसीलिए देवताओं और असुरों को उपनिषदों में "उभये प्राजापत्याः" कहकर स्मरण किया गया है। परन्तु आसुरी प्रवृत्तियों का जैसा ताण्डव नर्तन आधुनिक मनुष्य समाज में है वह अभूत पूर्व तथा अश्रुत पूर्व है। आज के आसुर भाव ने वैज्ञानिक प्रगति की सहायता से देशों और राष्ट्रों की सीमाओं को मिटाकर सम्पूर्ण मही मण्डल पर अपना एक छत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया है। आसुरी भावों की प्रबलता, प्रचण्डता तथा दुर्धर्षता ही आज के मानव समाज को प्राचीन मानव समाज से पृथक् करने में समर्थ है। गीता में योगिराज कृष्ण ने जिस आसुरी सृष्टि का वर्णन किया है हम आज उसे सर्वत्र फूलता और फलता देख सकते हैं। आज का मानव शास्त्रोक्त विधानों का पालन करना तथा निषिद्ध कर्मों का परित्याग करना अपना कर्तव्य नहीं समझता। आज का पढ़ा लिखा व्यक्ति आस्तिकता का उपहास करता है। इंग्लैण्ड में एक बार ईश्वर के विषय में लोगों के विचार जानने का प्रयास करने पर ८० प्रतिशत से अधिक वैज्ञानिकों, स्नातकों, विद्वानों ने ईश्वर के मानने में अपनी असहमति व्यक्त की। ईश्वर को हटा देने पर सृष्टि का उद्देश्य केवल प्राणिमात्र की भोग और काम की तृप्ति के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। अतः आज मानव काम और भोग को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर स्वयं ही अपने विनाश को निमन्त्रण दे रहा है।

गीता के शब्दों में—इद मद्य मयालब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इद मस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।।

आज की समस्त योजनायें अर्थ और काम की पूर्ति को दृष्टि में रखकर बनाई जा रही हैं। ये दोनों ही आज मानव प्रेरणा के स्रोत हैं। यहाँ तक कि धर्म के क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्ति भी इनकी लपेट से अपने आप को बचा नहीं पाते हैं। आज धन ही मनुष्य की योग्यता का माप दण्ड बन गया है। आज योगी भी वही बड़ा है जो वायुयान से यात्रा करता है तथा सम्पत्तिशाली है।

मानव जीवन में अर्थ और काम की आवश्यकता है। इसलिए इनके लिए प्रयत्न भी अपरिहार्य हैं। इसीलिए उपनिषत्कार ने "अन्नं बहुकुर्यात् तद् व्रतम्" कहकर अन्नोत्पादन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। इसीलिए पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ और काम को स्थान दिया है। परन्तु इन दोनों को धर्म और मोक्ष से मर्यादित कर दिया गया है। आत्मा को उन्नति के लिए धर्म और मोक्ष को प्रथम और अन्तिम स्थान देकर शरीर के विकास के लिए धर्म पूर्वक अर्जित अर्थ के द्वारा धर्म से मर्यादित काम की पूर्ति को द्वितीय स्थान दिया गया है। इसीलिए गीता में भी "धर्माऽविरुद्धः कामोऽस्मि" कहकर धर्म अविरुद्ध काम को हेय न मानकर उपादेय माना है। परन्तु धर्म को अफीम कहकर तथा ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करके आज मनुष्य वित्तैषणा और कामैषणा का शिकार हो रहा है। वह नहीं जानता कि अमर्यादित भोग स्वयं उसी को भोग डालेंगे और उसे पश्चाताप के साथ—

"भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता" कहने पर बाध्य कर देंगे।

ऐसी स्थिति में "खाओ, पिओ और मौज करो" को आदर्श वाक्य मानने वाले, कामनाओं की पूर्ति के लिए समस्त शिष्टाचारों और नियमों को तिलाञ्जलि देने वाले, जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए भ्रूण हत्या और गर्भपात को भी मान्यता देने वाले, सम लैंगिक मैथुन की बैधता को स्वीकार करने वाले मानव समाज को वेदों का सन्देश सुनाना क्या सम्भव है? क्या वह सन्देश श्रवण विवरों से होकर मनुष्य के अन्तस्तल में प्रवेश पा सकेगा? आज लाउडस्पीकर और मुद्रण यन्त्रों के आविष्कार से यह सम्भव हो गया है कि हम घर बैठे लोगों को वेदों का सन्देश सुनने पर बाध्य कर दें, उनके घरों में वेद की पवित्र पुस्तकें पहुंचा दें। ऐसा प्रयत्न हो भी रहा है। लाउडस्पीकर लगा कर अखण्ड रामायण का पाठ करके

इसी उद्देश्य की पूर्ति करने वाले धर्म प्राण भारतवासी अपने पड़ोसियों की नींद हराम करके यश के भागी बन रहे हैं। विद्यार्थी और रोगी उनकी इस धर्म भावना से उपकृत होकर शुद्ध हृदय से उनके कल्याण की कामना करते हैं। एक ओर अधिकांश मानव समाज ईश्वर और धर्म का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता और दूसरी ओर धर्म और ईश्वर के नाम पर ऐसे कार्य हो रहे हैं कि ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखने वाले तथा धर्म को मानने वाले भी दाँतों तले उँगली दबा कर रह जाते हैं।

वेदों का मानव मात्र के लिए जो सन्देश है, जिस पर चल कर वह सुख और शान्ति प्राप्त कर सकता है यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के प्रथम मन्त्र में प्रतिपादित किया गया है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद् धनम्॥

आस्तिकता हमारे मानव समाज रूपी प्रासाद की आधार शिला है। परन्तु आस्तिकता असली होनी चाहिए नकली नहीं। आज के मिलावट के युग में जहाँ डालडा भी असली नहीं मिलता, जहाँ राजधानी में मिट्टी के तेल में भी पानी मिला दिया जाता है असली आस्तिकता का मिलना कितना दुष्कर है यह हम सभी जानते हैं। आस्तिकता के नकली होने के कारण हमारे प्रासाद की नींव ही दृढ़ नहीं हो पाती तब उस पर भव्य भवन का निर्माण कैसे किया जा सकता है। जैसे नकली औषधियाँ जीवन की रक्षा न करके उसके विनाश का साधन बनती हैं ठीक वही दशा आज आस्तिकता की भी हो रही है। यदि मनुष्य को समस्त सृष्टि में व्यापक परमेश्वर की सत्ता पर पूर्ण विश्वास हो जाय तो वह विनाशकारी एटमबमों का निर्माण करके समस्त मानव समाज के साथ स्वयं अपने विनाश के मार्ग का निर्माण क्यों करे। दूसरी बात जो इस मन्त्र में प्रतिपादित की है वह इस भौतिक संसार की विनश्वरता है। इससे हमारे प्रासाद का गगनचुम्बी वाह्य रूप निर्मित होता है। इसी संसार की विनश्वरता की भावना को हृदयंगम कराने के लिए बालक भोज ने अपने चाचा मुञ्ज को पत्र लिखा था :—

मान्धाता च महीपतिः कृत युगालंकार भूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधेः विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिर प्रभृतयोयाता दिवं भूपते!
नैके नापि समंगता वसुमती मुञ्जत्वया यास्यति॥

संक्षेप में जिसका भाव यही है कि हे राजन् मुञ्ज! मान्धाता, राम और युधिष्ठिर एक से एक बढ़कर राजा संसार में हुए परन्तु यह पृथ्वी किसी के साथ नहीं गई परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आप इसे अपने साथ लेकर जायेंगे। राजा मुञ्ज की आँखें खुल गई। उसने भोज के बध से दुःखी होकर आत्महत्या करनी चाही। तब उसके सामने भोज के सुरक्षित होने का तथ्य प्रकट किया गया। संस्कृत साहित्य में वेद मन्त्र के इस द्वितीय भाग की प्रतिध्वनि अनेकशः कवियों की कविता में प्रतिध्वनित होती हुई कर्ण गोचर होती है।

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे,
नारी गृह द्वारि सखा श्मशाने।
देहश्चितायां परलोक मार्गे
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

धन, पशु, पत्नी, मित्र, पुत्र यहाँ तक मनुष्य की देह भी केवल चिता-तक ही मनुष्य का साथ देती है। तब इन विनश्वर वस्तुओं के लिए उस धर्म का परित्याग करना कहाँ तक न्याय संगत है जो परलोक यात्रा का एक मात्र साथ है। मन्त्र के तृतीय भाग में वह शिक्षा दी है जो मानवता का भूषण है। इसी शिक्षा के द्वारा हम उस मानव समाज के भव्य भवन की आन्तरिक सजावट कर सकते हैं। त्याग ही पशुओं और मनुष्यों की विभाजक रेखा है। यही त्याग मनुष्य में देवत्व का विकास करने में समर्थ हो सकता है। इस त्याग के द्वारा ही मनुष्य अमृतत्त्व की प्राप्ति कर सकता है। त्यागेनै केन अमृतत्व मानशुः" इस औपनिषदिक सूक्ति में त्याग की महत्ता का ही दिग्दर्शन कराया गया है। मन्त्र का चतुर्थ चरण इस त्याग को बद्ध मूल करने का उपाय बताता है। यह उस सजावट को सदा अम्लान बनाये रखता है। यदि लोभ ने हृदय में पदार्पण कर दिया तो त्याग वहाँ कब तक टिक सकता है। अतः त्याग के स्थायित्व के लिए हृदय में सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति का निरसन होना अपरिहार्य है।

इस प्रकार इस एक वेद मन्त्र की शिक्षाओं को ही यदि आज का मानव समाज अपने जीवन में चरितार्थ कर सके तो उसकी समस्त समस्याओं का अन्त हो सकता है। उसके मार्ग के कण्टक पुष्पों में परिवर्तित हो सकते हैं। उसके सम्मुख विस्तृत विनाश का मार्ग समाप्त होकर नवीन विश्व की रचना का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। परन्तु आज का भोगवादी मानव वेद की इस शिक्षा को ग्रहण करने की दिशा में अग्रसर होगा क्या?

★

नारी जागरण में आर्य समाज की भूमिका

• श्रीमती कमला सिंघवी

सन् १९७५ अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष के रूप में सर्वत्र मनाया जा रहा है। नारी स्वतन्त्रता और नारी जागरण के चर्चे आज आम बात है। लगता है नारी-स्वातन्त्र्य के इस आन्दोलन की प्रतिध्वनियाँ सुदीर्घ काल तक हमारे बीच रहेंगी। कांग्रेस संसदीय दल की कार्यकारिणी ने भी अनुरोध किया है कि महिलाओं के साथ सभी प्रकार के भेदभावों को समाप्त किया जाये और उन्हें प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के समान अधिकार मिल सकें, इसके लिए कानूनी कार्यवाही की जाये, आवश्यकतानुसार संबन्धित कानूनों में संशोधन भी किये जायें।

आर्य समाज ने इस दिशा में बहुत पहले ही अद्भुत कदम उठाकर, नारी मन में चेतना, जागृति और साहस की लहर उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था। इस वर्ष जबकि आर्य समाज अपना शताब्दी समारोह मना रहा है, नारी अधिकारों और नारी सुधारों के प्रति उसके योगदान और दृष्टिकोण, दोनों का स्मरण होना ऐसे अवसर पर स्वाभाविक है। नारियों को जब परदे और घर की देहरी से आगे बढ़ने तक पर समाज ने प्रतिबन्ध लगा रखे थे, उस समय आर्य समाज ने उनके विरूद्ध आन्दोलन छेड़ा था। कन्याओं के विद्यालय प्रारम्भ में जब आर्य समाज ने खोले तो हिन्दुओं ने ही उसका यह कहकर विरोध किया कि लड़कियों को पढ़ा-लिखाकर मेम थोड़े ही बनाना है।

आर्य समाज ने समाज सुधार की श्रृंखला में भी नारियों की समस्या को प्राथमिकता दी और समाज में व्याप्त पारिवारिक कुरीतियों को समूल उखाड़ फैंकने के लिए कमर कस ली। हिन्दू महिलाओं की दयनीय दशा को देखकर रोना आता था। ईसाइयों ने तो कभी सिद्धान्त रूप में ही नारियों में जीवात्मा नहीं मानी थी। पर हिन्दू समाज तो उसे प्रत्यक्ष व्यवहार में परिणत कर रहा था। महर्षि दयानन्द और उनके आर्य समाज ने हिन्दू-समाज को एक नया क्रान्तिकारी दृष्टिकोण दिया जो आगे चलकर परिवर्तन के मोर्चे को सुदृढ़ करने में सहायक सिद्ध हुआ। स्वामी जी इस युग के उन महापुरुषों में थे जिन्होंने एक मन्दिर के चबूतरे पर खेलती हुई ६ वर्ष की बालिका को देखकर अपना मस्तक झुका दिया। देखने वाले ने जब यह प्रश्न किया कि वैसे आप मूर्ति पूजा का खण्डन करते हैं किन्तु मूर्ति का यह प्रभाव है कि आपका मस्तक अपने आप झुक गया। उन्होंने उत्तर दिया— मैंने अपना माथा मूर्ति को नहीं झुकाया अपितु इस छोटी-सी बालिका को झुकाया है। मैं इसका अभिवादन करके मातृशक्ति का अभिवादन कर रहा हूँ।

शिक्षा के क्षेत्र में पहल :

नारियों की शिक्षा के क्षेत्र में भी आर्य समाज ने युगान्तरकारी परिवर्तन किये। "स्त्री शूद्रोनाधी यातामिति श्रुतेः" वाली मनघडन्त श्रुति को आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी ने कभी प्रामाणिक नहीं माना। बल्कि यजुर्वेद के आधार पर उन्होंने यह प्रतिपादित किया—वेदों का प्रकाश ईश्वर ने सबके लिए किया है। अतः यह अनिवार्य हो जाता है कि लड़कों और लड़कियों को विज्ञान और विदुषी बनाने के लिए तन-मन-धन से प्रयत्न किया जाये जिससे स्त्रियाँ भी वेदाभ्यास करके गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषियों की भाँति विदुषी बन सकें और तेजस्वी व्यक्तित्व विकसित कर सकें।" स्त्रियों के पढ़ने का निषेध आर्य समाज ने सदैव मूर्खता, स्वार्थपरता और निर्बुद्धि का परिचायक माना है। स्वामी जी के अनुसार विद्वान पति और अनपढ़ एवं असंस्कृत पत्नी गृहस्थी की गाड़ी को सुचारू रूप से कदापि नहीं खींच सकते। शिक्षित नारी ही अपने अधिकारों के प्रति मूलरूप से जागरूक रह सकती है। इसीलिए उन्होंने पुरुषों के समान स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, गणित, शिल्प आदि सभी शिक्षाओं के लिए योग्य ठहराया।

१९वीं सदी के मध्य भाग में परदे की प्रथा तेजी से बढ़ रही थी। वैदिक और बौद्धकाल तक भारतीय स्त्रियों में पर्दे की प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता। मुगलशासन काल की देन के रूप में इस कुप्रथा ने स्त्रियों की स्वतन्त्रता का हरण किया। आर्य समाज ने स्त्री शिक्षा के साथ-साथ

इस ओर भी ध्यान दिया और सार्वजनिक कार्यक्रमों एवं समारोहों में स्त्रियों की उपस्थिति पर बल दिया। धीरे-धीरे आर्य समाज के प्रयत्नों से परदे की प्रथा एक ढोंग समझी जाने लगी और आर्य स्त्रियाँ इसे अपना अपमान समझने लगीं।

सती प्रथा के विरुद्ध भी आर्य समाज ने अपनी बुलन्द आवाज उठाई और विधवाओं के मन और मस्तिष्कों पर नई चेतना के बीज अंकुरित किये। उन्हें नवजीवन और नव दिशा मिल सके, इसके लिए पुनर्विवाह की व्यवस्था करने का प्रयास किया और उसे अपना सम्पूर्ण क्रियात्मक समर्थन दिया।

बाल विवाह के संबंध में सहस्रों कठिनाइयों एवं बाधाओं के बावजूद आर्य समाज में प्रगतिशील कदम उठाकर इसी कुरीति के विरूद्ध अभियान छेड़ा था। धीरे-धीरे विवाह योग्य आयु का स्तर ऊंचा होता गया और बहुत छोटी आयु के विवाह लगभग बन्द होने लगे। सेण्ट्रल असेम्बली में राजस्थान के प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता दीवान बहादुर हरबिलास जी शारदा ने तो इसके लिए कानून भी बनवाया था। आर्यसमाज का कहना था 'बाल्यावस्था में विवाह से जितनी हानि पुरुष की होती है उससे अधिक स्त्री की होती है। जैसे कच्चे खेत को काट लेने में अन्न नष्ट हो जाता है, कच्चे फल और ईख में मिठास नहीं होता, ठीक उसी तरह छोटी आयु में जो अपनी सन्तानों का विवाह कर देते हैं उनका वंश बिगड़ जाता है।'' बाल विवाह की तरह वृद्ध विवाह को भी हेय दृष्टि से देखा जाने लगा और लोग वृद्ध के लिए कुमारी कन्या से विवाह को त्याज्य मानने लगे।

आर्य समाज ने बहुविवाह का भी जमकर विरोध किया और एक विवाह के आदर्श सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यही नहीं आर्य समाज ने स्त्रियों में जागृति के लिए यह सन्देश भी दिया कि विवाह के लिए केवल माता-पिता की अनुमति ही पर्याप्त नहीं, बल्कि वर-कन्या की अनुमति को प्राथमिक मान्यता दी जानी चाहिए।

परिवार में नारी की प्रतिष्ठा के विषय में स्वामी जी पूर्णतया मनु से सहमत थे कि 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:' उन्होंने जननी का स्थान सर्वोपरि मानकर नारी के गौरव को सदा के लिए अक्षुण्ण बना दिया।

दहेज की अग्नि से दग्ध समाज को आर्य समाज ने शीतल छींटे दिये और दहेज के परिणामों की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया। बिना दहेज के गरीब घरों की जिन कन्याओं के हाथ पीले नहीं हो पाते थे उन्हें आर्य समाज का आन्दोलन वरदान बनकर आया।

इस प्रकार आर्य समाज ने परम्परा को संशोधित रूप दिया और इस गलत धारणा को निर्मूल कर दिया कि भारतीय धर्म और संस्कृति में नारी के स्वतन्त्र विकास और गौरव के लिए कोई स्थान नहीं है। स्वामीजी ने महिलाओं की मर्यादा और शालीनता की सुरक्षा रखते हुए उसकी मुक्ति और विकास का मार्ग प्रशस्त किया। यह स्मरणीय है कि दयानन्द जी ने जिस युग में नारी जागरण का शंखनाद किया था उस समय हमारा समाज विकृत और पतनोन्मुख था। भारत राजनैतिक दासता के कारागार में बन्दी था। हम स्वयं अपने भाग्य विधाता नहीं थे। किन्तु अज्ञान के अंधेरे को चीरकर स्वामीजी का उज्ज्वल सन्देह अरूणोदय बनकर भारतीय आकाश पर छा गया। स्वामीजी की कल्पना एक विवेकशील और गतिशील समाज की कल्पना थी, एक ऐसे समाज की कल्पना थी जो अपने अतीत के गौरव को आत्मसात कर सके और उसी के अनुरूप एक नये भविष्य का निर्माण कर सके। आज जबकि हम स्वतन्त्र और स्वाधीन हैं, नये समाज की संरचना में संलग्न हैं और नारी स्वतन्त्रता के आधारभूत सिद्धान्त को स्वीकार कर चुके हैं, एक बार फिर वर्तमान परिप्रेक्ष्य में स्वामी दयानन्दजी के सन्देश की संजीवनी शक्ति को सामाजिक जीवन में ग्रहण करने की अपेक्षा है, नारी जागरण के मर्म को विवेक के साथ व्याख्या की जरूरत है। (युगवार्ता)

सप्तपदी का महत्व

• श्री पं० चन्द्रभानु पुरोहित सिद्धान्त भूषण

मनुस्मृति के अध्याय ८ श्लोक २२७ में कहा गया है :—

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥

पाणिग्रहण के मन्त्र पत्नी बनाने के निश्चित लक्षण हैं परन्तु उन मन्त्रों की पूर्णता विद्वानों ने 'सप्तपदी' के सातवें पग पर कही है अर्थात् विवाह संस्कार में पाणिग्रहण के मन्त्र (गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं० इत्यादि) पढ़ने आवश्यक हैं परन्तु जब तक 'सप्तपदी' विधि न हो जाय तब तक विवाह पूर्ण नहीं माना जा सकता। इसी की पुष्टि महाभारत के अनुशासन पर्व अ० ४४ श्लोक ५५ में युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तर में शास्त्र विशारद भीष्म पितामह जी ने इस प्रकार की है :—

पाणिग्रहण मन्त्राणां निष्ठा स्यात् सप्तमे पदे।

पाणिग्रहण के मन्त्रों की परिपूर्णता सप्तपदी के सप्तम पद पर ही होती है।

इसी सम्बन्ध में कर्मकाण्ड का यह वचन भी प्रसिद्ध है "यावत् सप्तपदी नास्ति तावत् कन्या कुमारिका"—जब तक सप्तपदी न हो जाय तब तक कन्या कुमारी के समान ही मानी जाती है।

सप्तपदी का महत्व उसके मन्त्रों की सारगर्भित तथा अर्थपूर्ण व्याख्या से भी है। विधि के प्रारम्भ में ही वर वधू से कहता है 'मा सव्येन दक्षिण-मतिक्राम'—इसका अर्थ जहां यह है कि बायां पर दायें का अतिक्रमण न करे, उससे आगे न निकले—वहां इसका भाव यह भी है कि कोई भी उल्टा क़दम, अनुचित क़दम दक्षिण क़दम को, सीधे क़दम को, सच्चाई के क़दम का उल्लंघन न करे अर्थात् तुम ठीक मार्ग पर चलने वाली बनो।

सप्तपदी का पहला मन्त्र है—'ओं इष एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूँस्ते सन्तु जरदष्टयः।

हे देवि ! अन्न के लिये पहला पग उठाने वाली बनो, मेरे व्रत के अनुकूलता वाली बनो। सर्वव्यापक प्रभु तुझे (मुझ तक) ले आवे, हम दोनों बहुत से पुत्रों को प्राप्त करें और वे पुत्र वृद्धावस्था तक जीने वाले हों अर्थात् दीर्घजीवी हों।

इसी प्रकार दूसरे पग में 'ऊर्जे'; तीसरे में 'रायस्पोषाय'; चौथे में 'मयो भवाय'; पांचवें में 'प्रजाभ्यः'; छठे में 'ऋतुभ्यः' के लिए कहा गया है तथा सातवें पग में 'सखे' ऐसा सम्बोधन किया गया है।

'उर्जे' का अर्थ बल व रस है। अन्न खाने से शरीर में बल आना चाहिए। अन्न के साथ गोरस—दूध, दही, मक्खन तथा फलादि के रस का सेवन भी करना चाहिए। अन्न का तात्पर्य यहां धन से है। अन्न इसलिये कहा क्योंकि यह सबसे बड़ा धन है। 'अन्नं साम्राज्यानामधिपतिः' अन्न साम्राज्यों का स्वामी है। हम धनों को बैंकों में ही डिपोज़िट (Deposit) करने वाले न हों, अपने शरीर में भी डिपोज़िट करने वाले हों, उनको बलवान् बनाने वाले हों।

वेदों में 'इष' तथा 'ऊर्ज' का स्थान-स्थान पर वर्णन आता है। यजुर्वेद के प्रारम्भ में ही कहा गया है 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा'। इसी के अ० ३८। मन्त्र १४ में प्रार्थना की गई है 'इषे पिन्वस्व। ऊर्जे पिन्वस्व' हे प्रभो ! हमें अन्न के लिए तथा बल के लिये शक्ति सम्पन्न कर। ऋ० ९।६६।१९ में कहा गया है '……आसुवोर्जमिषं च नः' हमें ऊर्ज तथा अन्न प्राप्त कराइये। सामवेद उत्तरार्चिक अ० १९ खण्ड ३ के प्रथम तीन मन्त्रों में प्रार्थना की गई है '……इषं स्तोतृभ्य आ भर'। हम स्तुति करने वालों को अन्न से भरपूर कर दो। अथर्ववेद काण्ड ३ सूक्त १० मन्त्र ७ में गृहपत्नी से आशा की गई है—इषं ऊर्जं न आ भर' तू हमें अन्न तथा बल से सम्पन्न कर।

तीसरे पग में 'रायस्पोषाय' धन की वृद्धि तथा पशुओं की पुष्टि के लिए कहा गया है। मनुस्मृति अ० ७ श्लोक ९९ में उपदेश है—

अलब्धं चैव लिप्सेत, लब्धं रक्षेत यत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव, वृद्धं पात्रेषु निः क्षिपेत् ॥

अप्राप्त को प्राप्त करने की इच्छा रखे, जो प्राप्त हो जाय उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करे, रक्षित धन की वृद्धि करे तथा बढ़े हुए धन को सुपात्रों में दान कर दे।

शतपथ ३।३।१।८ में आया है 'पशवो वै रायः', इसलिए इनकी पुष्टि करनी चाहिये। वैदिक संस्कृति के अनुसार गृहस्थाश्रम में पशु होने आवश्यक हैं। यजुर्वेद अ० ३।मन्त्र ४३ में कहा गया है—'उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ०"। हमारे घरों में गौवें, बकरियाँ तथा भेड़ इत्यादि एकत्रित किये गये हैं।

चौथे पग में 'मयोभवाय' सुखी जीवन तथा ईश्वर भक्ति के लिए कहा गया है। धन, बल तथा ऐश्वर्य वृद्धि की सार्थकता तभी है जब कि पति-

पत्नी का जीवन सुखमय हो। दोनों में प्रेम हो, वे एक दूसरे से सन्तुष्ट हों।

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।। मनु० ३।६०

दोनों में आपस में ही प्रेम न हो अपितु प्रभु से भी प्रेम हो। दोनों आस्तिक हों, ईश्वर-भक्त हों। सन्ध्या के अन्तिम मन्त्र—नमस्कार मन्त्र में कहा गया है :—

'नमः शम्भवाय च मयो भवाय च' ।यजु० १६।४१

उस सुखस्वरूप तथा संसार के उत्तम सुखों को देने वाले प्रभु को नमस्कार हो।

पांचवें पग में 'प्रजाभ्यः' सन्तान के लिए कहा गया है। घर में धन, बलादि सब हों परन्तु सन्तान न हो तब भी घर की शोभा नहीं है। बच्चों की किलकारियां घर के आंगन को हर्ष व प्रसन्नता से निनादित कर देती हैं इसीलिये सप्तपदी के प्रत्येक पग पर तथा विवाह की पाणिग्रहणादि विधियों में सन्तान प्राप्ति का बार-बार जिक्र आता है। सफल गृहस्थ का लक्षण बताया गया है :—

वाणी रसवती यस्य भार्या पुत्रवती सती।
लक्ष्मीर्दानवती यस्य सफलं तस्य जीवितम्।।

जिसकी वाणी सरस हो, पत्नी पतिव्रता तथा पुत्रवती हो, धन का दानादि में सदुपयोग होता हो, उस ही मनुष्य का जीवन सफल है। सप्तपदी में 'सन्तान' का नम्बर पांचवां है। सन्तानोत्पत्ति से पूर्व घर में धन-धान्य हो, शरीर में बल हो, ऐश्वर्य की वृद्धि तथा गौ आदि पशुओं की विद्यमानता हो, हृदय में प्रेम हिलोरें भरता हो तथा प्रभु की मस्ती हो तब ही सन्तान का लालन-पालन ठीक हो सकेगा और वह बलवान्, सुन्दर, प्रेम करने वाली तथा आस्तिक होगी।

छठे पग में 'ऋतुभ्य' ऋतुओं के लिए कहा गया है। ऋतु छः होती हैं तथा छठा ही पग रखा जाता है। किस ऋतु में कैसा आहार-विहार करना यह जानना आवश्यक है ताकि स्वास्थ्य उत्तम और निरोगिता रहे। डाक्टरों के बिलों से बार-बार बिलबिलाना न पड़े। आयुर्वेद में इसे ऋतुचर्या विद्या कहते हैं। सब ही ऋतुओं में आनन्द-प्रसन्न रहना चाहिये। हर मौसम की शिकायत न करते रहना चाहिये। सामवेद पूर्वार्चिक अध्याय ६ (आरण्य काण्ड) की चतुर्थी दशति का दूसरा मन्त्र (क्रमशः मन्त्र सं० ६१६) है :—

वसन्त इन्नु रन्त्या ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः।।

वसन्तु ऋतु रमणीक है तो ग्रीष्म ऋतु भी रमणीक है। तदन्तर वर्षा की धारायें रमणीक हैं तो शरद् ऋतु, हेमन्त और शिशिर ऋतुएँ भी निश्चय पूर्वक रमणीक ही हैं।

अन्तिम सातवें पग में पत्नी को 'सखे' कह कर सम्बोधन किया गया है, यह हेतुगर्भ सम्बोधन है अर्थात् सख्यता के हेतु सातवाँ पग चलने वाली बनो। पति-पत्नी एक-दूसरे के सखा हैं, मित्र हैं। मित्र मित्र का आदर करता है उससे कोई बात छिपाता नहीं। वे एक-दूसरे के विश्वास-पात्र बनते हैं। ये ही एक दूसरे के सच्चे कामरेड (Comrade) भी हैं। अन्य कामरेड तो ऐसे भी हो सकते हैं जो काम की रेड ही मार दें।

इस प्रकार सप्तपदी के मन्त्रों में बहुत सुन्दर शिक्षा दी गई है जिसका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है। सप्तपदी का महत्व यह भी है कि जहां पारिवारिक जीवन की सफलता के लिये ये सात बातें आवश्यक हैं वहां राष्ट्रीय उन्नति के भी ये सात सोपान हैं।

राष्ट्र में सबसे प्रथम अन्न का प्रबन्ध होना चाहिये। हमारी सरकार को बहुत वर्षों पश्चात् यह होश आई कि Grow more food (अधिक अन्न उपजाओ) का आन्दोलन सबसे आवश्यक है। कल-कारखाने वालों को भी सबसे प्रथम भोजन की आवश्यकता है। ऋ० ७।३५।७ में कहा है—'शं न उरूची भवतु स्वधाभिः'। हमारे देश की दिशायें अन्न से भरपूर हों, जिससे हमारा कल्याण हो।

दूसरी वस्तु बल—सैन्य शक्ति होनी चाहिये। सेना के लिये भी पहले राशन की आवश्यकता है। भूखी फौज क्या लड़ेगी और क्या विजय प्राप्त करेगी। सेना ही देश की आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा कर सकती है।

तीसरी वस्तु धन की वृद्धि तथा पशुओं की वृद्धि हो—सब प्रकार की समृद्धि हो। आर्थिक स्थिति दृढ़ हो। घाटे का बजट नहीं, बचत वाला बजट हो। देश में कल-कारखाने हों। अर्थ अनर्थ का कारण न बने इसके लिये उत्तम शिक्षा का प्रबन्ध हो।

चौथी वस्तु प्रजा का सुखी होना तथा ईश्वर भक्त होना है। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में लिखा है :—

"जिस राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं, वही देश सुखयुक्त होता है।"

सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में ऋषि कहते हैं :—

"जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं, तभी तक राज्य बढ़ता रहता है और जब दुराचारी होते हैं तब (राज्य) नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।"

पांचवी वस्तु राष्ट्र में उत्तम जन संख्या का, साहसी नवयुवकों का होना आवश्यक है। वीर माताओं के महत्व को हम न भूलें।

छठी वस्तु जनता का स्वास्थ्य उत्तम रहे, प्रत्येक ऋतु में सुखकारी भवन तथा स्थान हों इसके लिये राष्ट्र का स्वास्थ्य विभाग, लोक निर्माण, आवास, पर्यटन, परिवहनादि विभाग जागरूक तथा कर्तव्यपरायण हों।

सातवीं और अन्तिम वस्तु है जनता में परस्पर प्रेम और एकता हो। हम एक दूसरे को सखा समझें। अथर्ववेद १२।१।१८ में कहा गया है 'मा नो द्विक्षत कश्चन' हम से कोई द्वेष न करे। 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' (यजु० ३६।१८) हम एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें। देश के विभिन्न विचारधारा वाले व्यक्तियों से प्रभु आशा करते हैं।—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। (अथर्व० ३।३०।१)

मैं तुम लोगों को एक दूसरे से सहानुभूति रखने वाले, उत्तम विचारों से युक्त तथा द्वेषरहित करना चाहता हूँ।

"वर्तमान कल्प की प्रथम (आदि) सृष्टि की युगपदुत्पत्ति"

(महर्षि दयानन्द का वैदिक मन्तव्य)

• श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती शास्त्री, तर्कवाचस्पति

अथ पृथिव्यादीनां रचना विशेषमाह ।।

अब पृथिव्यादिकों की रचना विशेष की व्याख्या करते हैं।

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति। तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः।

—ऋग्वेद— १ मण्डल, १६४ सूक्त, १५ मन्त्र।

साकंऽजानाम्। सप्तथम्। आहुः। एकऽजम्। षट्। इत्। यमाः। ऋषयः। देवजाः। इति। तेषाम्। इष्टानि। विऽहितानि धामऽशः। स्थात्रे। रेजन्ते। विऽहितानि। रूपऽशः।।

पदार्थः—(साकंजानाम्) सहैजातानाम् (सप्तथम्) सप्तमम् (आहुः) कथयन्ति (एकजम्) एकस्मात्कारणाजजातम् (षट्) (इत्) एव (यमाः) नियन्तारः (ऋषयः) गन्तारः (देवजाः) देवाद्विद्युतो जाताः (इति) प्रकारार्थे (तेषाम्) (इष्टानि) संगतानि (विहितानि) ईश्वरेण रचितानि (धामशः) धामानि धामानि (स्थात्रे) स्थितस्य कारणस्य मध्ये। अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (रेजन्ते) कम्पन्ते (विकृतानि) विकारमवस्थान्तरं प्राप्तानि (रूपशः) रूपैः सह।।

अन्वयः—हे विद्वांसो यूयं साकंजानां मध्ये यदेकजं महत्तत्त्वं सप्तथमाहुः। यत्र षड् देवजा यमा ऋषय ऋतवो वर्त्तन्ते तेषां मध्ये यानि धामश इष्टानीश्वरेण विहितानि यानि रूपशो विकृतानि स्थात्रे रेजन्ते तानीदिति विजानीत।।

भावार्थः—येऽत्रजगति पदार्थाः सन्ति ते सर्वे ब्रह्मनियोगतो युगपज्जायन्ते। नात्र रचनायां क्रामाकांक्षाऽस्ति कुतः परमेश्वरस्य सर्वव्यापकत्वाऽनन्तसामर्थ्यवन्त्वाभ्याम्। अत स स्वयमचलितः सन् सर्वाणि भुवनानि चाबयति स ईश्वरोऽविकारः सन् सर्वान् विकारयति यथा क्रमेण ऋतवो वर्त्तन्ते स्वानि स्वानि लिंगान्युत्पादयन्ति तथैव पदार्था उत्पद्यमानाः स्वान् स्वान् गुणान् प्राप्नुवन्ति।।

भाषापदार्थः—हे विद्वानो तुम (साकंजानाम्) एक साथ उत्पन्न हुए पदार्थों के बीच में जिस (एकजम्) एक कारण से उत्पन्न महत्तत्त्व को (सप्तथम्) सातवां (आहुः) कहते हैं जहाँ (षट्) छः (देवजाः) देदीप्यमान बिजली से उत्पन्न हुए (यमाः) नियन्ता अर्थात् सबको यथायोग्य व्यवहारों में वर्तानि वाले (ऋषयः) आप सब में मिलने वाले ऋतु वर्तमान हैं (तेषाम्) उनके बीच जिन (धामशः) प्रत्येक स्थान में (इष्टानि) मिले हुए पदार्थों को ईश्वर ने (विहितानि) रचा है और जो (रूपशः) रूपों के साथ (विकृतानि) अवस्थान्तर को प्राप्त हुए (स्थात्रे) स्थित कारण के बीच में (रेजन्ते) चलायमान होते उन सब को (इत्) ही (इति) इसी प्रकार से जानो।।

भावार्थः—जो इस जगत् में पदार्थ हैं वे सब ब्रह्म के निश्चित किये हुए व्यवहार से एक साथ उत्पन्न होते हैं। यहाँ रचना में क्रम की आकांक्षा नहीं है क्योंकि परमेश्वर के सर्वव्यापक और अपना सामर्थ्य वाला होने से। इस से वह आप अचलित हुआ सब भुवनों को चलाता है और वह ईश्वर विकाररहित होता हुआ सबको विकारमुक्त करता है जैसे क्रम से ऋतु वर्तमान हैं और अपने-अपने चिह्नों को समय-समय में उत्पन्न करते हैं वैसे ही उत्पन्न होते हुए पदार्थ अपने-अपने गुणों को प्राप्त होते हैं।

२— अथ प्रजाकृत्यमाह।।

अब प्रजा के कृत्य को कहते हैं।

सकृद्ध द्यौरजायत सकृद् भूमिरजायत। पृश्न्या दुग्धं सकृत्पयस्तदन्यो नानु जायन्ते।

—ऋ० ६, ४८, २२।

पदार्थः—(सकृत्) एकवारम् (ह) खलु (द्यौः) सूर्यः (अजायत) जायते (सकृत्) एकवारम् (भूमिः) (अजायत) जायते (पृश्न्याः) अन्त-

रिक्षे भवा: सृष्ट्य: (दुग्धम्) (सकृत्) (पय:) उदकम् (तत्) तस्मात् (अन्य:) भिन्न: (न) (अनु) (जायते)।

अन्यय:—हे मनुष्या यथा ह द्यौ: सकृदजायत भूमि: सकृदजायत पृश्न्या: सकृञ्जायन्ते दुग्धं पयश्च सकृञ्जायते तदन्यो नानु जायते तथैव यूयं विजानति।

भावार्थ:—हे विद्वांसो येनेश्वरेण सूर्यादिकं जगद्युगपदुत्पाद्यते स एतया सृष्ट्या सह न जायतेऽस्या भिन्न: सन् सर्वं सद्यो जनयति तमेव यूयं ध्याय-तेति।

भाषा पदार्थ:—हे मनुष्यो ! जैसे (ह) निश्चय के साथ (द्यौ:) सूर्य (सकृत्) एक बार (अजायत) उत्पन्न होता है तथा (भूमि) भूमि (सकृत्) एकबार (अजायत्) उत्पन्न होती है और (पृश्न्या:) अन्तरिक्ष में होने वाली सृष्टियाँ (सकृत्) एक बार उत्पन्न होती हैं तथा (दुग्धम्) दूध और (पय:) जल एक बार उत्पन्न होता है (तत्) उस से (अन्य:) और (न) नहीं (अनु जायते) अनुकरण करता वैसे तुम जानो।

भावार्थ:—हे विद्वानो ! जिस ईश्वर ने सूर्य आदि जगत् एक बार उत्पन्न किया वह इस सृष्टि के साथ नहीं उत्पन्न होता। किन्तु इस सृष्टि से भिन्न अर्थात् भेद को प्राप्त हो कर सबको शीघ्र उत्पन्न करता है उसी का ध्यान तुम लोग करो।

३. भावार्थ:—सूर्यादींल्लोकान् कारणं जीवांश्च जगदीश्वरो धत्ते य इमानसंख्यलोकान् सद्यो निर्ममे यस्मिन्निमे प्रलीयन्ते च स एव सर्वै-रुपास्य: ।।

—ऋग्वेद १।१५४।१

भाषा भावार्थ:—सूर्यादि लोक कारण और जीवों को जगदीश्वर धारण कर रहा है जो इन असंख्य लोकों को शीघ्र निर्माण करता और जिस में प्रलय को प्राप्त होते हैं वही सबको उपासना करने योग्य है।

४. अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।

—ऋ० १०।१९०।२

स एव वशी ईश्वर: (विश्वस्य मिषत:) सहजस्वभावेन (अहोरात्राणि) रात्रेर्दिवसस्य च विभागं यथापूर्वं (विदधत्) विधानं कृत्वान्।

(विश्वस्य मिषत:) उसी ईश्वर ने सहज स्वभाव से जगत् के (अहो-रात्राणि) रात्रि, दिवस, घटिका, पल और क्षण आदि जैसे पूर्व थे वैसे ही (विदधत्) रचे हैं।

—पञ्चमहायज्ञ विधि:

५. वस्तुत: जो सर्वशक्तिमान् है वह क्षणमात्र में सब को बना सकता है।

—सत्यार्थप्रकाश, १४वाँ समुल्लास

६. वह सर्वव्यापक होने से कंस एवं रावण आदि के शरीरों में भी परिपूर्ण हो रहा है, जब चाहे उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है।

—सत्यार्थप्रकाश, ७वाँ समुल्लास

७. प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं ?

उत्तर—एक वृन्द, छानवें करोड़, ८ लाख, बावन हजार, नव सौ, छहत्तर अर्थात् (१९६०८५२९७६) वेदों की उत्पत्ति और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं और यह संवत् सतहत्तरवाँ वर्त्त रहा है। यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है। "एतावन्येव वर्षाणी वर्त्त-मान कल्पसृष्टेश्चेति"। वर्तमान सृष्टि की कल्प संज्ञा और प्रलय की विकल्प संज्ञा के है। यह जानना अवश्य चाहिए कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से हुई। और जितने वर्ष अभी पूर्व गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं।

—ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, वेदोत्पत्ति विषय

८. प्रश्न—किन के आत्मा में कब वेदों का प्रकाश किया ?

उत्तर—प्रथम सृष्टि के आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा इन ऋषियों के आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया।

—सत्यार्थप्रकाश, ७वाँ समुल्लास

९. प्रश्न—जगत् की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ ?

उत्तर—एक अर्ब छानवें करोड़, कई लाख और कई हज़ार वर्ष जगत् की उत्पत्ति और वेदों के प्रकाश होने में हुए।

—सत्यार्थप्रकाश, ८वाँ समुल्लास

१०. देखो ! हम आर्य लोग संसार की उत्पत्ति और प्रलय के विषय में वेद आदि शास्त्रों की रीति से सदा से जानते हैं।...१९६०८५२९७६ वर्ष का भोग हो चुका है और अब २३३३२२७०२४ वर्ष इस सृष्टि के भोग करने के बाकी रहे हैं। सो हमारे देश के इतिहास में यथाक्रम से सब बातें लिखी हैं।

—सत्य धर्मविचार (मेला चान्दपुर) महर्षि दयानन्द का वचन

११. मनुष्य की उत्पत्ति का आदि काल ही ऋषियों को वेद प्राप्ति का समय है जिसको १९६०८५२९९७ वर्ष हुए।

—मौलवी अब्दुल रहमान से शास्त्रार्थ महर्षि दयानन्द का उत्तर

१२. को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति। भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुमेतत्।

—ऋ० १।१६४।४

पदार्थ—(क:) (ददर्श) पश्यति (प्रथमम्) आदिमं प्रख्यातम् (जाय-मानम्) (अस्थन्वन्तम्) अस्थियुक्तं देहम् (यत्) (यम्) (अनस्था) अस्थिरहित: (विभर्त्ति) धरति (भूद्या:) पृथिव्या मध्ये (असु:) प्राण: (असृक्) रुधिरम् (आत्मा) जीव: (क्व) कस्मिन् (स्वित्) अपि (क:) (विद्वांसम्) (उप) (गात्) गच्छेत्। अन्नाडभाव:। (प्रष्टुम्) (एतत्)।

अन्वय:—यद्यं प्रथमं स्रष्टे: प्रागादियं जायमानमस्थन्वन्तं देहम्भूम्या मध्येऽनस्था सुरसृगात्मा च बिभर्त्ति तं क्व स्वित् को ददर्श क एतत् प्रष्टुं विद्वांसमुपगात्।

भावार्थ:—यदा सृष्टे: प्रागीश्वरेण सर्वेषां शरीराणि निर्मितानितदा कोऽपिजीव: एतेषांद्रष्टा नासीत्। यदा तेषु जीवात्मान: प्रवेशितास्तदा प्राणादयो वायव: रुधिरादयो धातवो जीवाश्च मिलित्वा देहं धरन्तिस्म जीवयन्तिस्म च इत्यादि प्रत्यये विद्वांसं कश्चिदेव प्रष्टं याति न सर्वे।

भाषा पदार्थ:—(यत्) जिस (प्रथमम्) प्रख्यात प्रथम अर्थात् सृष्टि के पहिले (जायमानम्) उत्पन्न होते हुए (अस्थन्वन्तम्) हड्डियों से युक्त देह को (भूम्या:) भूमि के बीच (अनस्था) हड्डियों से रहित (असु:) प्राण

(उत्सृक्) रुधिर और (आत्मा) जीव (विभर्त्ति) धारण करना उसको (क्व, स्वित्) कहीं भी (कः) कौन (ददर्श) देखता है (कः) और कौन (एतत्) इस उक्त विषय के (प्रष्टुम्) पूछने को (विद्वांसम्) विद्वान् के (उप, गात्) समीप जावे।

भाषा भावार्थः—जब सृष्टि के पहिले ईश्वर ने सब के शरीर बनाये तब कोई जीव इन को देखनेवाला न हुआ। जब उनमें जीवात्मा प्रवेश किये तब प्राण आदि वायु रुधिर आदि धातु और जीव भी मिलकर देह को धारण करते हुए और चेष्टा करते हुए इत्यादि विषय की प्राप्ति के लिए कोई ही पूछने को जाता है किन्तु सब नहीं।

१३. जगता सिन्धु दिव्यस्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्…।

—ऋ० १।१६४।२५

पदार्थः—(जगता) संसारण सह (सिन्धुम्) नद्यादिकम् (दिवि) प्रकाशे (अस्तभायत्) स्तभ्नाति (रथन्तरे) अन्तरिक्षे (सूर्यम्) सवितृ-लोकम् (परि) सर्वतः (अपश्यत्) पश्यति।

अन्वयः—यो जगदीश्वरो जगता सिन्धुं दिवि रथन्तरे सूर्यमरुतभायत् सर्वं पर्यपश्यत्।

भावार्थः—यदा ईश्वरेण जगन्निर्मितं तदैव नदीसमुद्रादीनि निर्मि-तानि…।

भाषापदार्थः—जो जगदीश्वर (जगतः) संसार के साथ (सिन्धुम्) नदीं आदि को (दिवि) प्रकाश (रथन्तरे) और अन्तरिक्ष में (सूर्यम्) सवितृलोक को (अस्तभायत्) रोकता व सब को (पर्य्यपश्यत्) सब ओर से देखता है।

भाषा भावार्थः—जब ईश्वर ने जगत् बनाया तभी नदी और समुद्र आदि भी बनाये वैसे सूर्य आदि जगत् को ईश्वर धारण करता है।

१४. ऐश्वरी सृष्टि का ईश्वर कर्त्ता है, जैवी सृष्टि का नहीं।…आदि सृष्टि में जीव के शरीरों और सांचे बनाना ईश्वराधीन पश्चात् उन से पुत्रादि की उत्पत्ति करना जीव का कर्तव्य कर्म है। जैसे परमात्मा पर-माणुओं से सृष्टि करता है वैसे माता-पिता रूप निमित्त कारण से भी उत्पत्ति का प्रबन्ध नियम उसी ने किया है।

—सत्यार्थ प्रकाश द्वादशसमुल्लास (आस्तिक और नास्तिक का संवाद)

१५. प्रश्न—आदि सृष्टि में मनुष्य आदि की बाल्या, युवा वा वृद्धा-वस्था में सृष्टि हुई थी वा तीनों में ?

उत्तर—युवावस्था में…सृष्टि की है।

—सत्यार्थप्रकाश, अष्टमसमुल्लास

उपरोक्त पंक्तियों में महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका सत्यार्थप्रकाश और शास्त्रार्थों से १५ सन्दर्भ एकत्र किये गये हैं, इन से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान कल्प सृष्टि की युगपदुत्पत्ति हुई। पाठक महानुभाव बड़ ध्यान से इन उपयुक्त सन्दर्भों पर पूर्ण विचार करने का अनुग्रह करें।

आगे की कुछ पंक्तियों में लेख का संक्षिप्त सार उद्धृत किया है। इस सार में आवश्यक वचन देखिये—

संदर्भ १—येऽत्र जगति पदार्थाः सन्ति ते सर्वे ब्रह्म नियोगतो "युग-पञ्जायन्ते" इस जगत् में जो पदार्थ हैं वे सब ब्रह्म के निश्चित किये हुए व्यवहार से 'एक साथ उत्पन्न होते हैं।' 'सह-एव-जातानाम्' = एक साथ उत्पन्न हुए।'

संदर्भ २—ईश्वरेण 'सूर्यादिकं जगद्युगपदुत्पाद्यते' = 'सूर्य आदि जगत् एक बार उत्पन्न किया।' सकृत् = एक बार, शीघ्र पद इसी भाव की पुष्टि करते हैं।

सन्दर्भ ३—सद्यः = शीघ्र पद भी विचारणीय हैं।

सन्दर्भ ४—मिषतः = सहजस्वभावेन = सहज स्वभाव के पद इसी अर्थ के द्योतक हैं।

सन्दर्भ ५-६—परमात्मा में काल की गति नहीं है। वह काल से बाहर है।

सन्दर्भ ७, ८, ९—वेदों की और जगत् की उत्पत्ति एक समय हुई अर्थात् आदि सृष्टि में हुई।

सन्दर्भ १०-११—मनुष्य की उत्पत्ति और ऋषियों को वेद प्रकाश सृष्टि के आदिकाल में हुआ। अर्थात् मानवोत्पत्ति, वेदों का प्रकाश और जगत् = संसार = सृष्टि की उत्पत्ति आदि सृष्टि में एक समय होती हैं।

सन्दर्भ १२—सृष्टि की रचना से प्रथम परमेश्वर ने सब के शरीर बनाये और उसी समय उन में जीवों का प्रवेश किया।

सन्दर्भ १३—जब ईश्वर ने जगत् = संसार बनाया, उसी समय नदी समुद्र और द्युलोक में सूर्य का निर्माण एक साथ किया।

सन्दर्भ १४—ईश्वरीय सृष्टि की रचना परमात्मा ही करता है और आदि सृष्टि में ही जीवों के शरीर और ढाँचे वही बनाता है। आगे माता पिता रूप निमित्त कारण के प्रबन्ध का नियम भी ईश्वर आरम्भ में कर देता है।

सन्दर्भ १५—परमात्मा सृष्टि के आदि में सब जीवों को युवावस्था में उत्पन्न करता है। अर्थात् सब तत्त्व युवा रूप में भगवान् सृष्टि के आरम्भ में कर देता है।

नम्र निवेदन

यद्यपि मनुस्मृति और महाभारत आदि ग्रन्थों में भी यही भाव उप-लब्ध होते हैं। परन्तु हमने केवल महर्षि के वैदिक मन्तव्य ही इस विषय में यहाँ दिये हैं।

विश्वभ्रातृत्व का वैदिक आदर्श

• डा० विनोदचन्द्र विद्यालंकार, नैनीताल

वेदों में स्थान-स्थान पर मनुष्यों को शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी गई है और उनमें संग्राम के हृदय को कंपा देने वाले वर्णन मिलते हैं, जिस कारण पाठक पर यह प्रभाव पड़ता है कि वेद परस्पर कलह और युद्ध की शिक्षा देने वाली पुस्तक है। किन्तु वेदों का सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि वेदों की वास्तविक प्रेरणा विश्व में शान्ति स्थापित करने और परस्पर भ्रातृत्व-भावना को बढ़ावा देने की है। यही कारण है कि वेदों के अंक में पली भारतीय संस्कृति सदा से विश्वशान्ति की उपासक रही है।

वेद की भावना है कि व्यक्तियों में, समाज में और राष्ट्रों के बीच सर्वत्र भ्रातृभाव तथा मैत्रीभाव का उदय हो। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति, और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति द्वेष की भावना न रखे। वेद सर्वभूतमैत्री का सन्देश देता हुआ कहता है :

दृते दृ ꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि,
भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि,
भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ यजु० ३६, १८

"सब व्यक्ति मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, मैं भी सब व्यक्तियों को मित्र-दृष्टि से देखूं, एवं समाज में हम सब परस्पर मित्र-दृष्टि रखें।"

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात्।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि ॥ अथर्व० ६, ४०, ३

"दक्षिण दिशा में हमारा कोई शत्रु न हो, उत्तर दिशा में हमारा कोई शत्रु न हो, पश्चिम दिशा में हमारा कोई शत्रु न हो, पूर्व दिशा में हमारा कोई शत्रु न हो।"

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यन्त वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ अथर्व० ३, ३०, १

"हे मनुष्यो ! तुम सहृदय और अनुकूल मन वाले बनो, परस्पर द्वेष न करो, एक दूसरे पर ऐसी प्रीति रखो जैसे गौ अपने नवजात बछड़े के प्रति रखती है।"

वेद की दृष्टि में कोई मनुष्य चाहे किसी भी राष्ट्र का वासी हो, उसे सारी भूमि को अपनी माता समझना होता है :

"माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः" ॥ अथर्व० १२, १, १२
"नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै" ॥ यजु० ९, २२

इस पृथिवी पर सुख और शान्ति कैसे रह सकती है, इसके उपाय बताते हुए अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में कहा गया है—

"सत्यं बृहद् ऋतम् उग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति"—अर्थात् सदाचरण, सत्य ज्ञान, व्रतग्रहण, तप, आस्तिकता और यज्ञभावना के होने पर ही यह धरती धृत रह सकती है। अन्यथा वह नित्य कलह और अशान्ति के थपेड़ों से विध्वस्त होती रहेगी। पृथिवीधारक इन गुणों में एक गुण यज्ञभावना है, यज्ञभावना का अभिप्राय है पारस्परिक सहयोग की भावना। जैसे शरीर के एक अंग का दूसरे अंग के साथ सहयोग रहता है तभी शरीर चलता है, वैसे ही पृथिवी पर एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के साथ सहयोग रहना चाहिए।

भूमि की पश्चिम, पूर्व, उत्तर, दक्षिण किसी भी दिशा में हम चले जाएं वहाँ हमारा अपमान न हो, धक्के न मिलें, ऐसी पारस्परिक प्रीति की भावना राष्ट्रों में होनी चाहिए। साथ ही यह भूमि सबके लिए मंगलमयी होनी चाहिए :

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम ॥
अथर्व० १२, १, ३२

भूमि पर विभिन्न भाषाओं को बोलने वाले और विभिन्न धर्मों को मानने वाले भी लोगों को आपस में एक घर के समान भ्रातृभाव से रहना चाहिए :

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥
अथर्व० १२, १, ४५

आज अवस्था यह है कि प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को नीचा दिखाना चाहता है, शस्त्रास्त्रों की होड़ रही है। ऐसे-ऐसे संहारक अणुबमों का आविष्कार हुआ है कि एक ही बम से देश के देश नष्ट हो जाएं। परन्तु वेद की दृष्टि में यह स्थिति वांछनीय नहीं है। वेद कहता है :

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥ यजु० १६, ३

हे रुद्र ! हे शक्तिधर ! तुझे तो गिरिशन्त और गिरित्र अर्थात् लोक-रक्षक होना चाहिए : "गिरीषु राष्ट्रेषु शं तनोति इति गिरिशन्तः। गिरीन्

राष्ट्राणि त्रायते इति गिरित्रः ।।" तूने अपनी शक्ति के मद में आकर फेंकने के लिए जो इषु—जो ऐटम शक्ति—हाथ में पकड़ी हुई है उसे शिव बना, उसका संसार के हित के लिए उपयोग कर। उससे तू निरीह पुरुषों का और जगत् का संहार मत कर।

प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरात्न्योर्ज्याम् ।
याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप ।। यजु० १६, ६

"तूने जो धनुष की दोनों कोटियों पर डोरी चढ़ाई हुई है उसे खोल दे, और चलाने के लिए हाथ में जो बाण पकड़े हुए हैं उन्हें रख दे—अर्थात् तूने जो युद्ध की तैयारी कर ली है उससे उपरत हो जा।"

आज जब एक देश दूसरे देश की सीमा में घुसने तथा उस पर आक्रमण करने की बात सोच रहा है, इस वैदिक सन्देश के प्रचार-प्रसार की नितान्त आवश्यकता है। परस्पर विद्वेष की भावना से भरे हुए राष्ट्रों को एक दूसरे के प्रति भ्रातृभाव का हाथ बढ़ाते हुए कहना चाहिए :

इदमुत् श्रेयो अवसानमागाम्,
शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम् ।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु,
न वै त्वा द्विष्मः अभयं नो अस्तु ।।

आओ, आज हम परस्पर गले मिल लें। अब तक जो कुछ ईर्ष्या, द्वेष, कलह, विध्वंस हमने किया उसकी परम्परा को समाप्त कर दें। अब तक भूमि में, आकाश में, समुद्र में कहीं भी जाते हुए हमारे मनों में एक भय और सन्देह विद्यमान रहता था कि कहीं यहाँ शत्रु की सुरंगें न बिछी हों, कहीं शत्रु की पनडुब्बियां हमारे जलपोत को नष्ट न कर दें, कहीं शत्रु के हवाई जहाज हमारे ऊपर बम वर्षा न कर दें। पर आज से इस प्रकार की आशंका का हम अवसान कर दें। अपने मन से द्वेष व भय को निकाल दें। द्यावापृथिवी हमारे लिए उद्वेजक न रह कर कल्याणकर हो जाएं।

अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृद् ।
यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै।।
सखायाविव सचावह अव मन्युं तनोमि ते ।
अधस्ते अश्मनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरुः ।।
अथर्व० ६, ४२, १, २

हे भाई! आ आज हम दोनों गले मिल लें। एक दिन मेरे और तेरे बीच में कलह हो गया था। तब से हम दोनों एक दूसरे के जानी दुश्मन-से बन गए थे। मेरी समृद्धि तुझे फूटी आंखों नहीं सुहाती थी, और तेरी समृद्धि को मैं नहीं देख सकता था। किन्तु आज मुझे प्रत्यक्ष दीख रहा है कि वह सब हम दोनों की निरी नादानी और कोरा पागलपन था। हा, उस दिन जरा-सी बात के कारण हम दोनों लड़ पड़े थे, और तब से आज तक एक दूसरे से कितने अधिक दूर हो चुके हैं। आ, मेरे भाई, आ, आज से हम दोनों फिर एक-मन हो जाएं।

अरे यह क्या! यद्यपि मेरा क्रोध शान्त हो गया है तो भी तेरी क्रोधाग्नि शान्त नहीं हुई। तेरी कमान तनी ही हुई है। किन्तु, प्यारे भाई, आज तो मैं निश्चय करके आया हूं कि तुझे अपना करके ही रहूंगा, क्योंकि मैंने साफ-साफ देख लिया है कि इस कलह के कारण हम दोनों ही का सर्वनाश हुआ है। अभी तेरे हृदय की कमान क्रोध की डोरी से तनी हुई है, किन्तु निश्चय है कि मैं अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार द्वारा तेरे हृदय पर चढ़ी इस क्रोध की डोरी को उतार दूंगा। तब तेरा हृदय स्वयमेव मेरे प्रति सरल हो जाएगा, जैसे कि धनुष की डोरी उतार डालने पर धनुर्दण्ड सीधा हो जाता है। आ, मेरे भाई! आ, हम दोनों प्रेमपूर्ण मन वाले होकर दो मित्रों की तरह आपस में मिलें।

अभितिष्ठामि ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च ।
यथाऽवशो न वादिषो मम चित्तम् उपायसि ।।
अथर्व० ६, ४२, ३

हे भाई! बीती बातों को भूल जा, आ हम दोनों मित्र होकर एक दूसरे से मिलें। तेरे अन्दर जो मेरे प्रति क्रोध या द्वेष का भाव बाकी है उसे मैं अपने प्रेम से जीत लूंगा। आज तक हम दोनों ने क्रोध के वशीभूत होकर न जाने एक दूसरे को क्या-क्या नुकसान पहुंचाए हैं। किन्तु आज मुझे उल्टा इस क्रोध पर ही क्रोध आ रहा है। तेरे प्रति मेरे मन में जो क्रोध था उसे तो मैंने दूर कर ही दिया है, मेरे प्रति तेरे मन में जो क्रोध बाकी है उसे भी नष्ट किए देता हूं। मेरे प्यारे भाई, देखना जिस क्रोध ने अब तक हम दोनों को परस्पर शत्रु बना रखा था उसकी मैं कैसी दुर्गति बनाता हूं।

आ मेरे भाई, आज से हम इस पारस्परिक द्वेष-परम्परा को समाप्त करते हैं, हम दोनों एक दूसरे के समीप होते हैं, एक दूसरे के अन्तरंग मित्र बनते हैं और इस सुखद वेला में एक दूसरे के गले मिलकर यह मंगलकामना करते हैं :

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमुसन्त्वापः ।।
अथर्व० १६, १०, ८

यह तेज का गोला सूर्य, यह दूर-दूर तक ज्योति देने वाला आदित्य, हमारे मानस में शान्ति के प्रकाश को बखेरता हुआ उदित होवे। ये चारों दिशाएं हमारे हृदयों में शान्ति को मुखरित करती रहें। ये गगनचुम्बी पर्वतों के हिमाच्छादित धवल-शिखर हमें शान्ति का सन्देश देते रहें। ये गम्भीर समुद्र, कल-कल करके बहती हुई ये नदियों की धाराएं और ये शान्ति के मूर्तरूप जल हमारे हृदय में सदा शान्ति का स्रोत बढ़ाते रहें।

शं नो वातः पवतां शं नस्तपतु सूर्यः ।
शं नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु ।। यजु० ३६, १०

यह शीतल मन्द झकोरों के साथ बहने वाला सरस पवन हमारे लिए शान्ति-रस को बहा कर लाए। यह भगवान् मरीचिमाली अपनी मरीचियों में हमारे लिए शान्ति का प्रकाश भर कर लाए। यह गर्जना करने वाला दिव्य पर्जन्य हम पर शान्ति की अमृत वर्षा करता रहे।

योग का दर्शन और क्रियात्मक दृष्टिकोण

• श्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी

योग का दर्शन

भगवान् पतञ्जलि, भगवान् व्यास और भगवान् शङ्कराचार्य योग का अर्थ समाधि किया है। १.२० योग सूत्र में

श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा० का क्रम रखा गया है।

'योगः समाधिः' १।१ व्यास भाष्य में योग को समाधि कहा है।

'योगः समाधानम्' १।१ व्यास भाष्य विवरणम् भगवान् शंकर ने विवरण दिया है।

ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश नवम समुल्लास में योग की परिभाषा की है :—

"योगश्चित्त वृत्ति निरोधः" ।।१।२।। योग।

—मनुष्य रजोगुण-तमोगुण युक्त कर्मों से मन को रोक, शुद्ध सत्त्व-युक्त हो, पश्चात् उसका निरोध कर; एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्म युक्त कर्म इनके अग्र भाग में चित्त को ठहरा रखना; निरुद्ध—अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना।

जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है; तब सब के द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है।"

इस सूत्रार्थ में योग का सारा दर्शन आ गया है।

१. रजोगुण तमोगुण के कार्यों को छोड़ना।[1]
२. सदा शुद्ध—रजोगुण तमोगुण से मिश्रित नहीं—विशुद्ध सत्त्वगुण में रहना।[2]
३. ऐसा अभ्यास होने पर सत्त्वगुण और उसके कार्यों को छोड़ देना।[3]
४. इतना करने पर चित्त एकाग्र हो सकेगा। उस समय चित्त परमात्मा के अग्रभाग ज्ञानांश में या गुणि द्रव्यों के अग्रजाने जाने वाले गुणों के अग्रभाग ज्ञानांश में ठहर सकेगा।[4]
५. सब ओर से मन की पांचों प्रकार की वृत्तियों को रोकना।[5]
६. फिर सर्वथा निरुद्ध चित्त की अवस्था। इस अवस्था में

'विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्वः संस्कार शेषोऽन्यः ।:१।१८।। योग।

—सम्प्रज्ञात समाधियों से वैराग्य हो जाने पर उनके संस्कार ही शेष रह जायेंगे। यही असम्प्रज्ञात समाधि होगी। इसके अभ्यास के चित्त निरालम्बन होकर मानो अभाव को प्राप्त हो जाएगा। इसी का नाम निर्बीज समाधि है। पर वैराग्य ही इस की साधना है, उपाय है।[6] यही व्यास और शङ्कर ने स्वीकार किया है।

इस दर्शन से किस किस का दर्शन होगा :—

चित्तवृत्तियों को जब क्षय हो जायेगा, तब क्षीण वृत्तिचित्त वाले आत्मा की अपनी चेतना जाग उठेगी। जब तक चित्त अवृत्तिक नहीं हुआ

---

१. तत्तमसानु विद्धंम् अधर्मा ज्ञाना वैराग्या नैश्वर्यो पगं भवति
—रजस्तमोभ्यां संसृष्टम् ऐश्वर्यं विषय प्रियं भवति
२. तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूष प्रतिष्ठम्। व्यास-भाष्य-१।२।।
३. तत्परं पुरुष ख्यातेर्गुण—वैतृष्णयम् ।। यो० १.१६
—दृष्टानु श्रविक विषय—दोष दर्शी विरक्तः पुरुष दर्शनाभ्यासात् तच्छुद्धिः—प्रविवेकाप्यायिम बुद्धिः गुणेभ्यो व्यक्ता व्यक्तधर्मे केभ्यो विरक्त इति— व्यास भाष्यम्।

४. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।१।३ योग।
५. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा क्लिष्टाः। यो० १।५
प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः। यो० १।६
—प्रत्यक्ष-अनुमान-आगम प्रमाण वृत्तियां भी रोकना। स्वतः सब प्रयत्न करना।
—विपर्यय-मिथ्या ज्ञान-अतद्रूपप्रतिष्ठ को भी न आने देना।१।१।७।८
—शब्द-ज्ञानानुपाती, वस्तु शून्ये—विकल्पनामक को भी छोड़ना—१.९
—निद्रा भी सर्वथा त्यागनी १.१०
—स्मृति भी न रहे। १.११ तभी स्वतः प्रत्यक्ष होगा!
६. तस्य परं वैराग्यमुपायः : सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनायन कल्पते इति निर्वस्तुक आलम्बनी क्रियते।" व्याख्या० १।१८
—तस्य समाधेः पर मुत्तरम्।—२
सालम्बनो ह्याभ्यासो विरुद्धत्वान्निरालम्बनस्य समाधेः साधन त्वाय न कल्पते। निर्वस्तुकोऽपि विराम प्रत्ययो निरालम्बन समाध्यनु-रूपात्वाद् आलम्बनी क्रियते।'
—शांकरे भाष्य विवरणे

था, संसार के नाना व्यापारों में आत्मा को फंसाये थे। स्वयं देखते हुए भी आत्मा समक्ष रहा था, सब चित्त ही कर रहा है। इसके बिना तो मैं न देख सकता हूँ। न सुन सकता हूँ। न छू सकता हूँ। न स्वाद ले सकता हूँ। सूंघ भी नहीं सकता। कुछ भी नहीं कर सकता।

यह बात इस दृष्टान्त से समझी जा सकती है। बालपन में आंख खूब देखती थी। रात की चान्दनी में भी सुई में बारीक धागा पिरो लेती थी।

अधिक पढ़ने-पढ़ाने से देखने की शक्ति का ह्रास हो गया। आँख का परीक्षण हुआ और चश्मा लग गया। पहले पहल अस्वाभाविक लगा। ओलू बीता। शनैः शनैः चश्मे का अभ्यास हो गया। अब तो चश्मा उतार देने पर दिखता ही नहीं। अब तो वह आँखों का आभूषण हो गया। चश्मे के बिना मुख कुरूप लगता है।

यही दशा आत्मा की मन से काम लेने पर हो रही है। जैसे उपनेत्र अचेत है, जड़ है, कुछ भी देखने में असमर्थ है, उसी प्रकार मन भी जड़ है। पत्थर के टुकड़े के समान ही अचेतन है। उसे कुछ भी ज्ञान नहीं होता है। पर आत्मा उसका सहारा लेते-लेते अपनी शक्ति को—सामर्थ्य को भुला बैठा है। जैसे सिंह शिशु कुम्हार के गधों में सम्मिलित हो अपनी शक्ति को—सामर्थ्य को भूल जाता है। जब अपने स्वरूप का बोध हो जाता है, तो ऐनक भी कुछ अभ्यासों से छूट जाती है। सिंह शिशु अपने को जान लेने पर उसी कुम्हार को खाने को ही तय्यार हो जाता है, जिस के डण्डों की मार कितने ही दिनों से खा रहा था।

यही साधना में होता है, जब चित्त की वृत्तियाँ क्षीण[१] हो जाती हैं; आत्मा की अपनी चेतना जाग उठती है। उद्बुद्ध हो उठती है। वह आत्म-चैतन्य उस अवस्था में आत्मा, परमात्मा, मन, बुद्धिचित्त अहंकार, इन्द्रियों, तथा पाँचों भूतों को तन्मात्र रूप में, और उनमें विद्यमान तीनों सत्त्व, रजस्, तमोगुण के भागों को भी जान लेता है। निर्भ्रान्ति रूप से सब प्रत्यक्ष हो जाता है।

इस प्रत्यक्ष साक्षात्कार को संयम द्वारा भी होना बताया गया है। यह संयम योग का पारिभाषिक शब्द है।[२] जब ही एक ही द्रष्टव्य अथवा ज्ञातव्य विषय में धारणा—ध्यान—समाधि काल क्रम की अपेक्षा न रखें, समाधि एकदम लग जाये। प्रज्ञा लोक या प्रज्ञा विवेक या ऋतंभरा प्रज्ञा का आविर्भाव हो जाये।[३] तो सब वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। भाष्य विवरण में भी भगवान् शङ्कराचार्य ने लिखा है—'समाहितस्य चित्तस्य प्रज्ञायाः सर्वार्थप्रकाशनसामर्थ्यम् येनः यथाभूतम् आत्मादिवस्तु जानाति'।

—समाहित चित्त योगी की प्रज्ञा सब पदार्थों के प्रकाशन में समर्थ हो जाती है जिस से यथा-भूत वस्तु आत्मादि वस्तुओं को जान लेता है।

—१।२० परभाष्य विवरण

१. क्षीण वृत्तेरभिजातस्येन मणे गृंहीत-ग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थ-तदञ्जनता, समापत्तिः ।।यो० १.४१।।

२. त्रयमेकत्र संयमः ।३।४ यो०।

३. तज्जयात् प्रज्ञालोकः ।।३।५।। ऋतंभरातत्र प्रज्ञा ।।यो० १।४८; प्रज्ञाविवेक उपावर्तते ।। व्याख्या १।२०।।

व्यास ने भी लिखा :—

समाहित चित्तयोगी की प्रज्ञा-विवेक उदय हो जाता है जिससे वस्तुओं को यथार्थ जान लेता है।[१] आगे भी लिखा है—"सब भावों को ईश्वरार्पित कर देने वाले योगी को भी समाधि सिद्ध हो जाती है। जिससे जिस जिस को जानना चाहता है, उस उस को अवितथ रूप में—याथा तथ्य रूप में जान लेता है। चाहे वे पदार्थ इस स्थान के हों चाहे दूसरे स्थान के लोक-लोकान्तरों के हों। चाहे इस देह के हों, या देहान्तर के हों। चाहे इस समय के हों चाहे पहले या भावी किसी काल के। तब इसकी प्रज्ञा यथार्थ—पदार्थ जैसे होते हैं, उनको उसी रूप में जान लेती है।"[२]

इस दर्शन के अतिरिक्त और क्या-क्या होता है : —

सब प्रकार का ज्ञान हो जाता है। अनेक प्रकार की पचासों सिद्धियाँ या सामर्थ्य योगी में आ जाते हैं। काय संपत्, भूतजय, इन्द्रियजय, प्रधान-प्रकृति पर जय, अर्थात् सर्व पदार्थों का अधिष्ठाता हो जाता है। सब का ज्ञाता हो जाता है।[३]

ब्रह्मवित् ब्रह्मेव भवति।—ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म सा ही हो जाता है। भेद इतना ही रहता है कि समर्थ से समर्थ योगी भी एकदेशी ज्ञाता और और एकदेशी अधिष्ठाता होता है, जब कि परमात्मा सदा सर्वदेशी सर्वज्ञ और सर्वाधिष्ठाता है।

यह साधना की परात्पर सिद्धियाँ हैं। बहुत ही संक्षेप में यह योग के दर्शन का दिग्दर्शन मात्र कराया है। अब विचारना है यह सब तथ्य हो सकती हैं या केवल योग में रुचि उत्पन्न करने को अर्थवाद मात्र है। इसका क्रियात्मक दृष्टिकोण क्या है?

क्रियात्मक दृष्टिकोण :—

योग के दर्शन का क्रियात्मक दृष्टिकोण हृदयंगम करने के लिए दृश्य-मान क्रियाकलाप को ही दृष्टान्त रूप में उपस्थित करना उपयुक्त होगा।

अचेतन जड़ शरीर के कार्य : —

शरीर अचेतन है। जड़ है। आत्मा जब तक इसमें रहता है। गति करता है। कार्य करता है। आत्मा के निकल जाने पर इसमें गति नहीं रहती। क्रिया नहीं रहती। उस समय छोटी सी क्रिया के लिए भी छः आदमी लगते हैं। मुरदे को नहलाना हो तो अनेक जन मिलकर ही उसे

१. 'समाहित चित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्त्तते, येनेयथार्थं वस्तु जानाति।'—यो०१।२० व्यास भाष्य।

२. ईश्वरार्पित सर्व-भावस्य समाधिसिद्धिः, यया सर्वभीप्जितम् अवितथं जानाति, देशान्तरे देहान्तरे, कालान्तरे चा ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभुतं जानाति ।।यो०।१।४५।। व्या० भा०

३. स्थूल-स्वरूप-सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्व संयमात् भूतजयः ।।३.४४, ततोऽणिमादिप्रादुर्भाव-काय सम्पत्।३.४५; रूपलावण्य···काय संपत्।३.४६, इन्द्रिय जयः ३।४७ ततोमनोजवित्वं विकरणयावः प्रधान जयश्च।३४८।। सत्त्व पुरुषान्यता ख्याति-मात्रस्य सर्व-भावाधिष्ठा तृत्वं सर्व ज्ञातृत्वंच।३।४९।।

पानी से धोते हैं, इसी का नाम शव स्नान है। श्मशान तक अब शव नहीं जा सकता। उसे उठा कर भी अनेक आदमी ले जायेंगे। जितना भारी शरीर उतने ही आदमी अपेक्षित होते हैं। ऋषि दयानन्द की देह को १६ आदमियों ने उठाया था। मुरदे को उठाने के लिए इतने आदमी, जीते को चलाने फिराने के लिए किसी की आवश्यकता नहीं। इसीलिए न कि उसमें चेतन जीव है।

अब विचारा जाये। चेतन जीव कितना बड़ा है। अणु है। परिछिन्न एक देशी है। परमात्मा अणियान् है। जीव परमात्मा से कुछ स्थूल है। परमात्मा उसमें व्यापक है। जीव व्याप्य है। उपनिषद् ने बताया—बाल की मोटाई का १० हजारवाँ भाग जीव है। परमाणु से भी सूक्ष्म है।[1]

यह परमाणु से भी सूक्ष्म जीव ३।। हाथ के शरीर को उठाये फिरता है। यदि हाथी गेन्डे के शरीर में चला गया तो सैकड़ों मन के शरीर को अनायास मस्ती से झूमता हुआ इधर से उधर करता रहता है। हाथ पैर सूण्ड को घुमाता रहता है।

मनुष्य ही अपने हाथ को कैसी करामात से घुमाता है। हाथ में ही असंख्य परमाणु हैं। शरीर-परमाणुओं की तो गणना क्या ! परमाणु सारे ही जड़ हैं अचेतन हैं। छोटा सा नन्हा सा जीव उन्हें कैसे घुमाता है? यह सब अभ्यास पड़ गया है। छोटे शिशु में भी तो आत्मा और शरीर है, वह लेकर क्यों नहीं भागता?

'अभ्यास नहीं।' 'शक्ति नहीं' !

शक्ति क्यों नहीं ? आत्मा तो वही है जिसने घटना बढ़ना नहीं।'

शरीर का परिमाण बढ़ रहा है। आत्मा का उठाने का भी अभ्यास बढ़ रहा है। यह अभ्यास ही करा रहा है !

मनुष्य साधारणतया बैल को या दो दाँत वाले बछड़े को भी नहीं उठा सकते ! परन्तु यदि बछड़े के जन्म से नित्य उठाते रहें तो अभ्यास भी बढ़ जायगा, और उस बछड़े के बैल बन जाने पर भी उसे उठाता रहेगा। यह केवल आत्मविश्वास की शक्ति के विकास का क्रम है।

यह आत्मा लाखों, अरबों असंख्य परमाणुओं को अनायास में दिन-रात उठाता फिरता है। यह परमाणु चेतन नहीं। आत्मा की इच्छा मात्र से क्यों गति करते हैं ? शरीर में जुड़े हैं, यह भी कारण नहीं बनता ! रेल का इञ्जिन सैकड़ों डिब्बों को कैसे घसीटे लिए जाता है। ड्राइवर उसमें चेतन है। ड्राइवर का सम्बन्ध है, पर फिर भी न इञ्जन चेतन है, न डब्बे चेतन हैं। मानव ने केवल अपनी चेतना से अचेतन शक्ति को वश में कर लिया है। यह तो 'प्रकृति का वशीकरण-विज्ञान नाम से पुकारा जाता है। इसी से सन्तुष्ट हो आत्मा चेतनाशक्ति को भुला देता है।

मोहिनी विद्या वाला हिपनोटिज़म सीखने के लिये अपनी आँखों को—जड़ आँखों को एकटक घन्टों देखते रहने का अभ्यास कराता है। जब घन्टों देखने का—अपलक देखने का अभ्यास विधिवत् हो जाता है तो उसकी इच्छा से दूर रखा चिलमची का पानी ऊपर उठने लग जाता है, मोमबत्ती की लौ पर त्राटक करता है, तो लौ उसकी इच्छानुसार घटने बढ़ने लग जाती है। जब चेतन पर त्राटक यथाविधि करता है, तो उसके मन को शीघ्र ही समाहित कर देता है। उससे यथेच्छ दूर की, समीप की अज्ञात बातों को पूछता है। वह सम्मोहित जीव बड़े निराले ढंग से बता देता है। अधिकांश उत्तर ठीक होते हैं। बहुत से उत्तर गलत भी हो जाते हैं। संमोहित जीव को समाहित बलात् कर लिया गया है। उसके मन के मैले आवरण को दूर नहीं किया गया है। उस समाहित अवस्था में जब उसकी बुद्धि सत्त्वगुण प्रधान रहती है, ठीक-ठीक उत्तर मिल जाता है। जब बुद्धि तमोगुण मिश्रित रहती है, अशुद्ध उत्तर मिलता है।

प्रयोग कर्ता ने जिसको सम्मोहित किया वह तो प्रश्नों के उत्तर देता है, पर सम्मोहन करने वाला स्वयं कुछ भी नहीं जान पाता है क्योंकि उसका मन समाहित नहीं है।

चित्त समाहित होने पर ही ज्ञान होता है। चित्त ने स्वतन्त्रता छोड़ दी। प्रयोजक के आदेश को पालन करने लगा। बताने लगा।

अभ्यासी साधक भी मन की गति को—क्रिया-कलाप को रोक दे, योग की परिभाषा में पाँचों वृत्तियों पर रोक लगा दे। चित्त को क्षीण वृत्ति कर दे, तो उसको स्वतः ही ज्ञान होने लगेगा। मन के समाहित हो जाने पर, मन के मैल—रजोगुण तमोगुण दूर होते जायेंगे, सत्त्व की स्वच्छता में आत्मा ज्ञान प्राप्त करती जाएगी। वह ज्ञान विशुद्ध होगा। उसमें अन्यथा या विपर्यास की गन्ध भी नहीं रहेगी। उसी का नाम ऋतंभरा प्रज्ञा, प्रज्ञा-विवेक या प्रज्ञालोक है।

मनुष्य आत्मा की चेतना को बढ़ा कर हाथियों सिंहों पर शासन करता है। जब वही चेतना विशुद्ध रूप में परिमार्जित हो जाती है, तब जड़ प्रकृति भी बिना किसी माध्यम के योगी की वशवर्त्तिनी, आज्ञानुविधायिनी हो जाती है।

यह साधना है वैराग्य और समयाश्रित। योगाभ्यासियों ने अनुभव के आधार पर जो काल योग शास्त्र में भाष्यों में या विवरणों में दिया है, उसको उसी प्रकार अभ्यास करने के उपरान्त ही सफलता न मिलने पर अर्थवाद पूर्ण या अतिशयोक्तिपूर्ण कहा जा सकता है। कुछ भी अभ्यास न करने पर केवल अधूरे शब्द शास्त्र ज्ञान और श्रद्धा हीनता पर कही विचार-धारा अङ्गीकार नहीं की जा सकती।

योग की सिद्धियाँ क्या हैं :—

योग की विभिन्न क्रियायें हैं। कोई क्रिया अपनी परिपूर्णता को पहुँच गयी है या नहीं उसका परीक्षण मात्र सिद्धि है। ये कोई जादू, टोना, धोखा धड़ी नहीं है। सिद्धियों की उपलब्धि भी पाँच प्रकार से होती है:—

१. **जन्म सिद्धियाँ**—जो जन्म से ही मिलती हैं। जन्म से ही धनी बनना, जन्म से ही पक्षियों का आकाश गमन की सिद्धि, जन्म से ही कुत्ते आदि का तैर जाना, हाथी सिंह में जन्म से ही बल शौर्य का होना आदि।

२. **औषधियों से सिद्धियाँ**—सोमलता तथा आमलक आदि या अन्य सिद्ध औषधियों के प्रयोग से आयु को दीर्घ और शरीर को स्वस्थ रखना।

---

१. बालाग्रशत भागस्य, शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः सविज्ञेये स चानन्त्याय कल्पते ।।—श्वेताश्वतरो० ५।१६
—बाल की नोक का दस हजारवाँ सूक्ष्म भाग जितना जीव है वह अनन्त है।

३. मन्त्र जाप से आकाश चारी हो जाना। मन्त्र जाप से सत्त्वगुण की वृद्धि होती है। शरीर में तमोगुण भार कम हो जाना संभव है। इतना मनोबल बढ़ जाये कि पृथ्वी आकर्षण की भी पतंग पक्षी आदि की नाईं उपेक्षा कर आकाश में गमन कर जाये। समाचार पत्रों और परम्परा से साधकों में भी ऐसी या इसी प्रकार की अन्य सिद्धियाँ सुनने में आती हैं, नितान्त अविश्वसनीय तो नहीं हैं।

४. तप से सिद्धियाँ—तप से, प्रकृति का विरोध करते-करते मनोबल बढ़ जाता है। विरोध करते-करते हाथी शेर आदि को सिखाने वाले का मनोबल बढ़ जाता है। शेर हाथी का भी मनोबल क्षीण हो जाता है। वे डण्डे या हन्टर से भयभीत हो आज्ञा पालन करने लगते हैं। इस प्रकार एक ही मनोभावना रखने से वह भावना पूरी होने लग जाती हैं। इच्छानुसार काम गमन आदि लाभ हो जाता है।

इन सब सिद्धियों का समर्थन पतञ्जलि, व्यास, शंकर और दयानन्द ने किया है। आज भी अनोखे-अनोखे सिद्ध मिल जाते हैं जिनकी बातों का विश्लेषण न करवाने पर तार्किक केवल अश्रद्धावशात् अविश्वास ही मन में ले आते हैं, यह तर्क का विषय नहीं। ऋषियों को प्रक्रिया मान कर अभ्यास करें, और यदि सिद्धि लाभ न भी हो तो देखें प्रक्रिया भी तो दोष पूर्ण हो सकती है। उसे समझ अनुष्ठान करना ही साधना की सफलता है।

ये सिद्धियाँ एक देशी हैं। समाधिज सिद्धियाँ तो इन से विलक्षण हैं। समाधिज सिद्धियाँ पाँच प्रकार की हैं !

१. ध्यान से सिद्धियाँ।
२. योगाङ्गों से सिद्धियाँ।
३. संयम से सिद्धियाँ।
४. वैराग्य से सिद्धियाँ।
५. प्रकृतिजय से सिद्धियाँ।

१. ध्यान से सिद्धियाँ—आत्म, परमात्म दर्शन, प्रकृति विकृति ज्ञान प्रकृति पुरुष विवेक, देशान्तर देहान्तर, कालान्तर का ज्ञान। मुक्ति लाभ। १.४१, १.१६; १.२६. १.४५.

इन सिद्धियों में कोई विप्रत्ति प्रत्ति ऋषि भक्त को नहीं हो सकती। ऋषियों की ज्ञान गरिमा को हम समस्त जीवन में स्वाध्याय से अनुभव करते रहते हैं। ऋषियों ने वह सब ज्ञान साक्षात्कार कर ही लिखा था। ऋषियों ने अपने अनुभव के आधार पर ही उस प्रक्रिया को लिखा केवल परोपकार की भावना से। उनका उसके लेखन में कोई स्वार्थ नहीं था। फिर असमर्थता और अपनी न्यूनता, और अल्पज्ञता को छिपा कर अहंकार दम्भवशात् ऋषियों पर अविश्वास कर अपने और अपने साथियों को भटकाना ही माना जाएगा। ऋषियों का विज्ञान आज तक जीवित रहा है। आगे भी जीवित रहेगा। नास्तिक अविश्वासी सदा ही रहे हैं, पर उन ऋषियों की सच्चाई को लौप नहीं किया जा सका। अत: इस योग प्रक्रिया को सदा ही अनुभव सिद्ध करना होगा, तभी विश्वास दृढ़ होगा। परमात्मा, आत्मा, प्रकृति के विकार सब ही सत्य हैं तो यही मानना होगा ऋषियों ने, योगियों ने इन्हें प्रत्यक्ष कर ही जाना था।

२. योगाङ्गों से सिद्धियाँ—आत्मा, परमात्मा, प्रकृति का विवेक—पृथक्-पृथक् ज्ञान योग के अंगों के अनुष्ठान से ही होगा। १.२८॥ जन्तुओं का स्वाभाविक विरोध समीप में अहिंसा के वातावरण में आने पर दूर हो जाता है। २.३५ निर्विवाद है। अनुभव सिद्ध है ! हण्टर की मार से ही सरकस वाले वैर छुड़ा देते हैं तो अहिंसक योगियों के आचार-प्रभाव पर भी शङ्का नहीं उठाई जा सकती। सत्य सिद्ध होने पर वाणी का अमोघ होना २.३६ सब ही साधकों में आ जाता है। सब रत्नों की उपस्थिति अस्तेय से २.३७; अपूर्व पराक्रम ब्रह्मचर्य के पालन से २.३८; विषयों के स्वीकार न करने पर आत्मा की कथा ज्ञान होने लगता है। २.३९ प्रकृति छूटी आत्मा जागी, बाह्याभ्यन्तरीण शुद्धि से आत्मदर्शन की योग्यता आती है २.४१। जितनी-जितनी प्रकृति छूटेगी उतनी ही आत्मा चेतन होती जायगी—स्वरूप को पहचानती जायगी। सन्तोष से बढ़ कर सुख नहीं २.४२। जाप से मनोबल बढ़ता है २.४४, भगवान् अपनाते हैं, सब लौकिक काम भी बनते जाते हैं, काम बनता है, साधक का मन लगता है, साधन प्रदान कर पिता अपने पुत्र की साधना निर्विघ्न बनाता है, भगवान् भरोसा पूरा हो जाये तो समाधि लगती है २.४५। भगवान् भरोसे से निश्चिन्तता, निश्चिन्तता से समाधि। निश्चिन्तो हि योगः।' 'चिन्तापरित्यागो योगः' याज्ञवल्क्य कह गये हैं। आसन स्थिर होता है, मन स्थिर होता है, वाणी स्थिर होती है। मन स्थिर हुआ प्राण स्थिर हो जाते हैं २.४९, प्राण स्थिर हुए मन शान्त अवृत्तिक हो जाता है। शान्तभाव से तमोगुण रजोगुण दब जाते हैं। सत्त्वगुण का प्रकाश अभिव्यक्त होता है। २.४५ इन्द्रियाँ अपना काम छोड़ देती है; जो मन करता है वे वही करती हैं २.५४ मन शान्त है वह भी शान्त हो जाती हैं। धारणा, ध्यान, समाधि सिद्ध होने लगती हैं। सम्प्रज्ञात समाधि का समय आता है, सब प्रत्यक्ष होने लगता है १.४२-४५। संयम सिद्ध हो जाने पर—बिना प्रयास समाधि लगने लगती है, संयम से सब ज्ञान होने लगता है ३.४.५। यह प्राचीन और अर्वाचीन योगियों का अनुभव सिद्ध प्रकरण है।

३. संयम से सिद्धियाँ—भूत, भविष्यत् का ज्ञान, ३.१६; सब प्राणियों की बोली का ज्ञान ३.१७; पूर्व जन्म का ज्ञान, ३.१८; दूसरे चित्त की बात जानना। ३.१९; अन्तर्धान हो जाना ३.२१; मौत का समय जान लेना, ३.२२ किसी के बल का अपहरण कर लेना, ३,२३,२४; सूक्ष्म व्यवहित, दविष्ठ को जान लेना ३.२५; संसार भर को जान लेना ३२३; तारों का ज्ञान ३.२७; उनकी गति का ज्ञान ३.२८; जीवित शरीर की रचना को जान लेना ३.२९; भूख प्यास पर विजय प्राप्त करना ३.३०; गोह की तरह स्थिर हो जाना ३.३१; सिद्ध पुरुषों—सूक्ष्म शरीरियों का दर्शन ३.३२; सब बताने वाला तारक ज्ञान ३.३३; आत्मा से आत्मा को जानना ३.३५, पर काया में प्रवेश ३.३८ उदान पर जय लाभ कर कीचड़ पानी आदि में न धंसना ३.३९; जाज्वल्यमान रूप समान जय से प्राप्त करना ३.४०; आकाश गमन ३.४२; न दिखाई देना ३.४३; पाँचों भूतों से जो चाहे बना सकना ३.४५; मनोजवित्व ३,४८; देह के बिना केवल इन्द्रियों से जान लेना ३.४३; सब भावों का अधिष्ठाता होना, सर्वज्ञसम हो जाना। समस्त विषयों का ज्ञान हो जाना ३.४९; यह संयम से सिद्धियाँ मिलती हैं, बिना

(शेष पृष्ठ ८५ पर)

वैदिक उपासना का रहस्य

श्री ज्योतिस्वरूप, आचार्य-आर्षगुरुकुल, एटा (उ० प्र०)

ओऽम् त्वच सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायत:। न रिष्येत्त्वावतः सखा ॥ ऋग्वेद॥

वेद प्रभु की वाणी है, जगत्पिता ने अपने पुत्रों के कल्याण के लिए, वेदों के द्वारा, अपना अमर सन्देश प्रदान किया है हम वेदामृत का पान कर सकते हैं। मैं भटक रहा हूं, दुःख द्वन्द्वों आधिव्याधियों से ताड़ित हुआ-हुआ छटपटा रहा हूं। घूमते-घूमते करोड़ों अरबों वर्ष बीत गये शान्ति प्राप्त नहीं होती। साधू-सन्तों महात्माओं की कुटिया भी खटखटाई। किसी ने कहा-काशी जाओ, विश्वनाथ के दर्शन होंगे, कोई कहता है मथुरा में देखो-कहीं कानन में बंशी बजाते गौएं चराते कृष्ण कन्हैया मिल जायेंगे उनके दर्शन से सब दुःख दूर हो जायेंगे। किसी ने बताया अयोध्या नगरी में धनुष-वाण लिए, श्रीराम के दर्शन होंगे, तो सब पापों के पाश कट जायेंगे। एक फकीर ने कहा कि, काबे में संगे असमद के चूमने से, बहिश्त मिल जायेगा। जिसने जो कहा वही किया, काशी, काबा, मथुरा, अयोध्या येरुशलम में भी गया, अमरनाथ, बद्रीनाथ, द्वारिका, जगन्नाथ पुरी की भी खाक छानी। ढूंढ़ लिया सब संसार मिला न प्रियतम का प्यार।

प्रभु के वेद के द्वारा निर्देश किया है कि ऐ मूढ़ तू मेरी खोख में इतनी दूर-दूर क्यों भटकता फिरता है, मैं तो तेरे अन्दर ही बैठा हूं, ज्ञान चक्षुओं से देख, अज्ञान के पर्दे को हटा, आंखों में लगे काजल के समान, तेरे बहुत ही समीप हूं, ज्ञानरूपी दर्पण में देख। "ओ३म्-ईशावास्यमिदम् सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्" वेद का यह सन्देश है कि जगतीतल के कण-कण में, प्रियतम मौजूद हैं, उससे कोई भी जगह खाली नहीं है, पर्वतों के ऊंचे शिखर पर, सिन्धु की गहरी धार में, बादलों की गरज में, पक्षियों की चहचाहट में, दीन-हीन-दुःखी अनाथों के करुण क्रन्दन में विश्वपति को देख।

संसार के झगड़े से अलग होकर एक क्षण ठहर कर विचार, कि जहां से मैं सुनता हूं-बोलता हूं, देखता हूं, वहां वह प्रभु बैठा हुआ मुझे देख रहा है। रोम-रोम में रमा रहा वह ओऽम् है तो सब जगह, किन्तु उसके दर्शन आत्मामें ही होते हैं। जिस प्रकार मैं स्वयं अपने मुख को बिना दर्पण या अन्य प्रतिबिम्ब देने वाली वस्तु केअ तिरिक्त अन्यत्र नहीं देख सकता। इसी प्रकार प्रभु की अनुभूति अपने हृदय में ही कर सकता हूं। हृदय एक ऐसा स्थान है जहां प्रभु भी है मैं भी हूं अन्य स्थानों में प्रभु तो है किन्तु मैं नहीं हूं अतः हम परमात्मा के दर्शन करने के लिए बाहर न भटक कर अपने अन्दर खोजें। संसार के हर एक पदार्थ में उस प्रभु की ही सत्ता का अनुभव करें। अपने परिवार में, अपने मकान में, दूकान में, आफिस की फाइलों उलझे हुए भी, सर्वव्यापक जगन्नियन्ता महादेव की अनुभूति करें तो वस्तुतः शान्ति प्राप्त होगी, सब दुःख-द्वन्द्व आपत्तियाँ दूर हो जाएंगी। उर्दू के शायर ने वेद के इस भाव को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—

रोशन है मेरे जलवे हर एक शै में लेकिन,
है चश्मकोर तेरा तो क्या कसूर मेरा।

भगवान् कहते हैं मेरी ज्योति संसार के हरएक पदार्थ में वर्तमान है किन्तु ऐ मानव तेरी ही आंखें अन्धी हैं जो तू उस ज्योति का दर्शन नहीं कर पाता तो इसमें मेरा क्या दोष है।

जब हम सर्वत्र प्रभु की सत्ता का अनुभव करेंगे, तो किसी का धनहरण करने की हमारी न इच्छा होगी, न आवश्यकता होगी "तेन व्यक्तेन-भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" इस वेदोपदेश का स्वतः पालन हो जायेगा। इस मन्त्रांश का यह तात्पर्य है कि, हे मानव ! परमात्मा ने तेरे लिए जो योग्य पदार्थ दिये हैं, उन्हीं का उपयोग त्याग भाव से कर किसी के धनादि पदार्थ का अपहरण का प्रयत्न न कर, ऐसा लालच न कर जिससे चोरी आदि पाप करने की तेरी प्रवृत्ति हो जाये। चोर चोरी करते हुए इस प्रयत्न में होता है कि कोई मुझे देख न ले, प्रत्येक मनुष्य जब कोई पाप करने लगता है, तो उसे भय होता है, कि कोई जान न ले, देख न ले। यदि हम ज्ञानपूर्वक यह धारणा बना लें अभ्यास कर लें कि प्रभु सब ओर से देख रहा है, तो पाप कर्म हमसे कदापि नहीं हो सकेगा।

जब व्यक्ति की दुष्टकर्म करने की इच्छा होती है तो उसकी आत्मा से यह आवाज आती है कि यह काम बुरा है, नहीं करना चाहिए, उसे जो लज्जा, भय, संकोच, घृणा होती है, और अच्छा काम करते समय व्यक्ति को जो उत्साह प्रसन्नता होती है यह प्रभु की प्रेरणा है प्रभु का साक्षात्कार है यदि हम इस प्रेरणा को अनुभव करने लगें तो कल्याण हो जाए, पाप कर्म की प्रवृत्ति ही दूर हो जाये। आज संसार में जो चोरी, डकैती, झूठ, कपट अत्याचार निर्दोष प्राणियों का वध, एवं व्यभिचारकी पराकाष्ठा हो रही है उसका मूल कारण नास्तिकता, ईश्वर को सब जगह देखकर न डरना, अन्तरात्मा में विराजमान, परमात्मा की प्रेरणा को अनुभव न करना ही है, वेद के इस एक पूर्वोक्त मन्त्र से ही विश्व में शान्ति हो सकती है। ●●

वैदिक धर्म का व्यापक रूप

श्री पं० ओमप्रकाश शास्त्री, विद्याभास्कर (खतौली)

मनुष्य जीवन की सफलता शास्त्रों ने धर्मार्थ काम मोक्ष-प्राप्ति में स्वीकार की है। इन चार प्राप्तव्यों में भी धर्म को प्रथम स्थान दिया गया है। परन्तु प्रश्न यह है, कि वह धर्म क्या वस्तु है, जिसे मनुष्य को प्राप्त करना है? यदि वर्त्तमान काल में प्रचलित धर्म शब्द को स्वीकार किया जावे, जो कि विभिन्न मनुष्य समुदायों अर्थात् सम्प्रदायों या मतमतान्तरों के रूप में प्रसिद्ध है, तो यह धर्म प्राप्तव्य वस्तु नहीं हो सकती। क्योंकि वह तो प्रत्येक उत्पन्न शिशु की माता-पिता के मान्य धर्म के रूप में जन्म से स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। हिन्दू का बालक हिन्दू, मुसलमान का मुसलमान होता ही है। अतः उसकी प्राप्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इस से यह सिद्ध हो गया, कि धर्म शब्द किन्हीं मनुष्यों के समुदायों का नाम नहीं हो सकता। धर्म कोई इससे अतिरिक्त वस्तु है, जिसे प्राप्त करना मानव जीवन का प्रथम उद्देश्य है।

धर्म शब्द के अर्थ

धर्म शब्द का शाब्दिक अर्थ है, धारण करना। यूं तो महाराज मनु के अनुसार धृतिक्षमा आदि धर्म के दश लक्षण प्रसिद्ध हैं। परन्तु इन दश वस्तुओं से किसी व्यक्ति के धर्मात्मापन को देखा जा सकता है। ये दशों धर्मों के लक्षण मात्र हैं। स्वयं धर्म नहीं हैं। इन्हें जब कोई व्यक्ति या समाज अपने जीवन में व्यवहृत करता है, तभी ये धर्म बनते हैं। अन्यथा ये केवल सिद्धान्त मात्र ही रहते हैं। अतः धर्म कुछ ऐसे कर्त्तव्य कर्मों का नाम है—जिन्हें हमें अपने जीवन में कार्य रूप में परिणत करना होता है। अब प्रश्न यह है, कि वह कौन से तथा किस प्रकार के कर्म हैं-जो धर्म के अन्तर्गत आ सकते? इसका उत्तर भी शास्त्रकारों ने "धर्मो धारयये प्रजा:" इस वाक्य द्वारा दे दिया है। जिसका भाव यह है, कि धर्म वह है, जिससे प्रजा सुरक्षित हो। अर्थात् सामाजिक जीवन को जो सुरक्षा प्रदान करे-वह ही धर्म है। इसके विपरीत जो सामाजिक जीवन को विश्रंखलित तथा भेदभाव को जन्म दे-वह अधर्म तो हो सकता है, धर्म नहीं। धर्म सामाजिक जीवन में समानता, उदारता तथा परस्पर सहयोग-सहायता आदि सद्गुणों का एक संक्षिप्त नाम है। इसके अभाव में समाज अनेक दुर्गुण दुर्व्यसन आदि अधार्मिक प्रवृत्तियों से ग्रस्त होकर दुःख तथा विनाश के गर्त्त में गिर जाता है। इस दृष्टि से भी यदि हम वर्तमान काल के प्रचलित कथित धर्मों पर निगाह डालें, तो इतिहास इस बात की पुष्टि करता नज़र आता है, कि जब से उत्तम गुणों से युक्त धर्म का स्थान इन कथित धर्मों ने लिया तभी से मानव समाज परस्पर विरोध, घृणा, तथा भीषण संघर्षों से ग्रस्त हो गया। लगभग ५ सहस्र वर्षों के मध्य इन कथित धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ है। उससे पूर्व संसार के किसी भी भाग के इतिहास में धार्मिक संघर्षों का वर्णन नहीं मिलता। क्योंकि उससे पूर्व धर्म का अर्थ, सम्प्रदाय अथवा मतमतान्तर न होकर वह उदान्त सिद्धान्त या गुण होता था-जो मानव समाज के लिए आवश्यक थे। अतएव महर्षि दयानन्द जी महाराज ने अपने अमूल्य ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में एक स्थल पर धर्म की पहिचान के लिए एक कसौटी दी-उन्होंने लिखा—कि धर्म वह है जिसमें परस्पर कोई विरोध न हो, सबको समान रूप से ग्राह्य हो। इसके विपरीत अधर्म है। इसका भाव यह है कि धर्म का परस्पर न तो कभी संघर्ष होता है, और न कभी विरोध ही। संसार के विभिन्न धार्मिक इतिहासों में जो परस्पर विरोध, भेदभाव तथा घृणा और संघर्षों का लोमहर्षक वर्णन मिलता है वह वस्तुतः अधर्म का अधर्म से टकराव था। धर्म का धर्म से नहीं। वास्तविकता यह है, कि मानव समाज में जब कभी कोई संघर्ष होता है वह या तो अधर्म तथा धर्म के बीच होता है, अथा दो विभिन्न अधर्मों (कथित धर्मों) के मध्य। आज से ५ सहस्र पूर्व दो भीषण युद्धों का इतिहास में वर्णन मिलता है-एक राम-रावण युद्ध के रूप में और दूसरा महाभारत का युद्ध, ये दोनों ही युद्ध, धर्म तथा अधर्म के बीच हुए—और उसके बाद जो वर्तमान काल तक धार्मिक युद्धों का वर्णन धार्मिक इतिहासों में मिलता है, वह वस्तुतः अधर्म का अधर्म से टकराव मात्र है! उसको धर्मों के मध्य संघर्ष कहना एक विडम्बना है। धर्म का अर्थ सम्प्रदाय, मज़हब या मतमतान्तर स्वीकार कर लेने का ही यह परिणाम है। उपर्युक्त मतमतान्तरों के पारस्परिक मतभेदों का मुख्य कारण तत्तत् मतों के मान्य ग्रन्थों का पृथक-पृथक होना तथा उनका पारस्परिक विरोध ही है। इन मतमतान्तरों के साथ-साथ ही प्रत्येक मत का एक धार्मिक ग्रन्थ प्रकट किया गया। यह सर्वमान्य बात है, कि तत्तत् मज़हबों के यह सभी ग्रन्थ तात्कालीन तथा तद्देशीय आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र की दृष्टि से तत्तत् देश तथा तत्तत् काल में उस समय के सामाजिक सुधारक व्यक्तियों द्वारा बनाये गये। परन्तु उन्हें ईश्वरीय

(इलहामी) ज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया गया। चूंकि उक्त सभी कथित ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ समस्त मानव तथा प्राणिमात्र की हितदृष्टि से शून्य, उचित विधि—निषेधात्मक आदेशों से रहित सिद्ध हो चुके हैं। अतः मनुष्य के विचार तथा आचार सम्बन्धी कर्त्तव्यों का भी उनमें अभाव है। यदि कुछ इसप्रकार के आदेश हैं भी तो वह परस्पर विरोधी होने के कारण मनुष्यों में भ्रान्ति उत्पन्न करने के अतिरिक्त परस्पर वैचारिक (सैद्धान्तिक) विरोध को ही जन्म देते हैं। अतएव धर्म की उपरिलिखित व्याख्या के अनुसार एक सभी कथित इलहामी पुस्तकें चाहे वह **तेरित-ज़बूर** हों— चाहे बाइबिल या क़ुर्आन, सभी धार्मिक ग्रन्थ कहलाने के योग्य नहीं।

वैदिक धर्म

इसके विपरीत, परमेश्वर प्रदत्त "वेद" ही ऐसे ग्रन्थ रह जाते हैं। जो समय की दृष्टि से सबसे प्राचीन तथा सृष्टि के प्रारम्भ में प्राणीमात्र की हितदृष्टि से अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरा उपाधियों से युक्त महर्षियों के हृदय में परमपिता परमात्मा द्वारा दिये गये। जिन्हें आज हमें संहिता रूप में ऋग, यजु, साम तथा अथर्ववेद के नाम से जानते हैं। महर्षि दयानन्द जी ने इन वेदों के सम्बन्ध में आर्य समाज के तीसरे नियम में यह लिखकर कि:—

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है"

वेदों की महत्ता को प्रकट किया है। महर्षि ने विद्या की परिभाषा करते हुए लिखा कि "विद्या-सृष्टि से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का यथावत् ज्ञान प्राप्त करके उससे लाभ उठाना है। वेद शब्द जिन विदज्ञाने, विद्रत लाभ तथा विद् सत्तायाम् तीन धातुओं से निष्पन्न होता है। उनके सभी अर्थों का समावेश महर्षि की उक्त विद्या-परिभाषा में हो जाता है। अर्थात् संसार में जिन पदार्थों की सत्ता है, उनका यथावत् ज्ञान प्राप्न करके उनसे लाभ उठाना वेदों से ही सिद्ध होता है। इस प्रकार उक्त चारों वेद सर्वांगिगी रूप से सार्वभौम ज्ञान-विज्ञान, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य आदि समस्त विधि-विधाओं से युक्त प्रकट होते हैं। अतएव महाराज मनु ने अपनी स्मृति में "वेदोऽखिलो धर्म-मूलं" कहकर वेदों को धर्म का पूर्व आधार माना है। अतएव महर्षि दयानन्द ने प्राचीन सनातन धर्म को वैदिक धर्म के नाम से पुकारा। यह वैदिक धर्म ही वह धर्म है, जिसे सार्वभौम धर्म कहा जा सकता है। जो सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक संसार के प्रत्येक कोने में बिना किसी विरोध के स्वीकार किया जाता है। अर्थात् वेदों में जिन उदात्त सिद्धान्तों, कर्त्तव्यों तथा गुणों का वर्णन हमें मिलता है। उनका विरोध कोई भी आस्तिक सम्प्रदाय आज भी करता नज़र नहीं आता। वेदों की इन व्यापक शिक्षाओं के कारण ही धर्म शब्द स्वयं इतना व्यापक अर्थ अपने गर्भ में समा बैठा है। वेदों का गम्भीरता से अध्ययन करने पर साधारण घर-गृहस्थी से लेकर आत्मा-परमात्मा तक का जो विवेचन वेदों में मिलता है—वह अन्यत्र नहीं। राजा प्रजा का, स्वामी-सेवक का, पति-पत्नी का, पिता-पुत्रों का, भाई-बहिन का, साथ ही मनुष्यों का अन्यमूक प्राणिमात्र के प्रति कर्त्तव्यों का विशद वर्णन वेदों में उपलब्ध होता है। इस प्रकार वैदिक धर्म, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों को व्यापक रूप से प्रभावित करता है।

महर्षि दयानन्द ने अपने दूसरे प्रमुख ग्रन्थ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में "वेदोक्त धर्म विषयः" शीर्षक से वैदिक धर्म के प्रधान अंगों का बहुत स्पष्ट तथा सविस्तार वर्णन किया है। उसमें सामाजिक संगठन-सूक्त के नाम से प्रसिद्ध ऋग्वेद ८।अ.८।व ४९ मंत्र २ से लेकर मन्त्र ४ तक के मन्त्रों की स-व्याख्या उद्धत करके महर्षि ने धर्म के उस स्वरूप को प्रतिपादित किया है, जिसे आज लोग समाजवाद के नाम से पुकारते हैं। वेद का:—

"समानि प्रपा सह वोऽन्नभागः"

वैदिक धर्म का वह मूल मन्त्र है, जिसकी आज मानव समाज को अत्यधिक आवश्यकता है।

इसी प्रकार यजुर्वेद के:—

'दृष्टवा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धा मनृते दधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥' १९/७६

मन्त्र की व्याख्या से सत्य में ही प्रीति करनी—असत्य की नहीं। इसी व्याख्या में महर्षि ने धर्म शब्द की व्याख्या निम्न शब्दों में की है:—

(परमेश्वर जो सब जगत् का अध्यक्ष है, वह आज्ञा देता है):—"हे मनुष्य लोगों तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में (अश्रद्धा) अर्थात् प्रीति कभी मत करो, वैसा ही (श्रद्धाम्) सत्य अर्थात् जो वेद शास्त्रोक्त और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा की गई हो वा की जाये, वह ही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है, उसके आचरण में सब दिन प्रीति रक्खो···

इसके अनन्तर वैदिक धर्म की व्यापकता को और विस्तृत करते हुए महर्षि ने यजुर्वेद के:—

"हृते ह्वंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षा मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥
३६/१८

इस मन्त्र को उद्धृत करके वैदिक धर्म की व्यापकता का निम्न शब्दों में वर्णन किया है।

"हे सब दुःखों का नाश करने वाले परमेश्वर! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिए, कि जिससे हम लोग आपस में वैर को त्यागकर एक-दूसरे के साथ प्रेमभाव से बर्त्ते (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी मुझको अपना मित्र जानकर बन्धु के समान बर्त्ते ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों की (ह्वंह०) सत्य, सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये (मित्रस्याहम्) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और हानि-लाभ, सुख-दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूं। हम सब आपस में मिलके सदा मित्रभाव रक्खें और सत्य धर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें, जो ईश्वर का कहा धर्म है, वह ही एक सब मनुष्यों को मानने योग्य है।"

(शेष पृष्ठ ६५ पर)

आर्यसमाज : एक शताब्दी की उपलब्धियां

डा० भवानीलाल भारतीय, एम. ए., पी —एच. डी.

भारत में आर्यसमाज संस्थापना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—शताब्दियों की राजनीतिक पराधीनता ने भारतीय समाज को विकार ग्रस्त बना दिया था। राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक उत्पीड़न तथा आत्म-बोध के अभाव ने भारतवासियों में जिस हीन भावना को जागृत किया उसका सहज ही उन्मूलन होना कठिन था। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक पहुंचते-पहुंचते स्थिति और भी भयावह बन गई। मुगल साम्राज्य के के छिन्न-भिन्न हो जाने के पश्चात् उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता ने देश के नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों को विघटित कर दिया। अराजकता, असुरक्षा तथा अस्थायित्व के भाव भारतीय जन समाज में पनपने लगे और ऐसा प्रतीत होता था कि यदि शीघ्र ही शासन की स्थिरता, सामाजिक सुरक्षा तथा वैयक्तिक और समष्टिगत अधिकारों की रक्षा का आश्वासन नहीं मिला तो देश का भविष्य अंधकारपूर्ण हो जायेगा।

विदेशी शासन से उत्पन्न पराधीनता के भावों ने हिन्दू समाज को विकार ग्रस्त ही नहीं बनाया, हिन्दुओं के धार्मिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मानदण्डों की भी अपूरणीय क्षति की। सहस्राब्दियों पूर्व के वैदिक, औपनिषदिक तथा रामायण महाभारत कालीन समाज में लोगों की इहलोक और परलोक के प्रति जो स्वस्थ दृष्टि थी वह तो अतीत की वस्तु हो ही गई, मौर्य और गुप्त युगीन भौतिक समृद्धि तथा वैभव, कलात्मक अभिरुचि, साहित्य, संगीत, काव्य और स्थापत्य के क्षेत्र में महती उपलब्धियां और बृहत्तर भारत के समुद्र पारीय देशों पर भारत की सांस्कृतिक विजय के तथ्य भी अब केवल इतिहास में लिखने योग्य ही रह गये। धर्म, समाज और सामान्य जनजीवन के क्षेत्र में पराधीनता की काली घटाओं ने आपत्ति विपत्ति और अभिशापों की उपल वृष्टि की उससे जनता के दुःख और कष्ट ही बढ़े। धर्म के नाम पर थोथा कर्मकाण्ड, नैतिकता के नाम पर मिथ्या और मूढ़ विश्वासों का प्रचलन तथा सुसंगत सामाजिक विधान के स्थान पर कठोर वर्जनायें और नियंत्रण इन युग की कतिपय विकृतियां थीं। लोगों का चिन्तन इतना विकारग्रस्त एवं दूषित हो गया था कि वैचारिक उर्वरता के स्थान पर कट्टर संकीर्णता तथा अनुदारता के भावों का ही प्रसार हुआ। फलतः समाज में बाल विवाह का प्रचलन, विधवाओं पर अत्याचार, बहु विवाह की स्वीकृति, स्त्रियों की शिक्षा पर प्रतिबन्ध तथा उन्हें पर्दे के पीछे रखे जाने की प्रथा, जन्म के आधार पर स्पृश्यास्पृश्य की भावना तथा कन्या वध, सती दाह आदि नारी वर्ग के प्रति असीम अत्याचारों का विधान स्वीकृत हुआ। इन सामाजिक कुरीतियों ने हिन्दू समाज की एकता को विश्रृंखलित कर दिया जिसका एक अवश्यम्भावी परिणाम हुआ सहस्रों जातियों और उपजातियों की संकीर्ण काराओं में बंधकर समाज का छिन्न भिन्न और अस्त व्यस्त हो जाना।

इसी समय भारतवासियों का पश्चिम से सम्पर्क हुआ। यूरोपीय राष्ट्रों ने धीरे-धीरे भारत में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया। पुर्तगाली, फ्रान्सीसी और अंग्रेजी उपनिवेशों की स्थापना इस देश में हुई। राष्ट्रों की इस होड़ में अंग्रेज जाति ही सर्वाधिक शक्तिशाली प्रमाणित हुई और अंग्रेजों को ही भारत में साम्राज्य स्थापित करने का अवसर मिला। अंग्रेजी शिक्षा, शासन तथा सभ्यता से प्रभावित होने वाला भारत का सर्वप्रथम प्रान्त बंगाल था। अठारहवीं शताब्दी का वह धूमिल संध्याकाल था। नवयुग के आगमन की ज्योति वेला सन्निकट थी।

विदेशी संस्कृति से भारत का सम्पर्क और उसका दूषित प्रभाव—अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के साथ-साथ पाश्चात्य सभ्यता की भी आंधी आई और उसने भारतीय जनमानस को बुरी तरह झकझोर दिया। भारतवासी राजनैतिक दृष्टि से तो दास बने ही उनकी नैतिक, सामाजिक और आर्थिक दशा भी शोचनीय हो गई। देश एक अभूतपूर्व सांस्कृतिक संकट से गुजर रहा था। पश्चिम के इस सम्पर्क का भारतवासियों पर द्विविध प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव को श्रेयस्कर और स्पृहणीय इस अर्थ में कहा जा सकता है कि इससे भारतवासियों में स्वतन्त्रता, समानता, बंधुत्व के भावों का उदय हुआ। इस समय तक यूरोप में राष्ट्रवाद का जन्म हो चुका था। धार्मिक संकीर्णता के भाव समाप्त हो रहे थे। फ्रान्स की राज्य क्रान्ति तथा अमेरिका के स्वातंत्र्य युद्ध ने लोगों में प्रजातन्त्र के भाव उत्पन्न किये और व्यक्तिगत स्वाधीनता का उद्घोष हुआ। उधर इंग्लैण्ड तथा यूरोप के अन्य

देशों में औद्योगिक क्रान्ति हुई जिसने समाज के ढांचे में प्रभावी परिवर्तन किये। लोगों के सोचने की दृष्टि बदली तथा युग के दार्शनिक विचारक और चिन्तक यह अनुभव करने लगे कि मध्यकालीन संकीर्णता और कट्टरता का युग समाप्त हो गया है तथा विज्ञान एवं बुद्धिवाद पर आश्रित नवीन युग बोध का उदय हो रहा है।

यूरोपीय राष्ट्रों के सम्पर्क, विज्ञान के रेल, तार, डाक आदि नूतन आविष्कारों के प्रसार तथा पश्चिमी शिक्षा ने हमारे अंधविश्वासों और रूढिगत कदाचारों पर निर्मम प्रहार किया और हमें उदार तथा व्यापक दृष्टि अपनाने के लिये विवश किया। भारतवासियों में राष्ट्रीय भावों का उदय हुआ, उन्होंने समष्टिगत दृष्टि से सोचने का प्रयत्न किया फलतः वैयक्तिक वैचारिक स्वतंत्रता के लिये संघर्ष करने की प्रेरणा भी उन्हें मिली। इन सबका यह परिणाम निकला कि शताब्दियों से प्रचलित गतानुगतिकता, रूढ़िवाद एवं कुरीतियों के बंधनों से मुक्त होने के लिये उनका मन व्याकुल हो उठा हो।

यह सब कुछ होने पर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस विदेशी सम्पर्क का हम पर सर्वथा अनुकूल प्रभाव ही नहीं पड़ा, हममें अन्धानुकरण, परमुखापेक्षिता तथा स्वाभिमान शून्यता के भाव बढ़ने लगे। यद्यपि समाज में एक ऐसा वर्ग भी था जो अंधविश्वास, परम्परा पालन तथा वैचारिक जड़ता से चिपके रहने में ही अपना हित समझता था जबकि पश्चिमी सम्पर्क से प्रभावित नवयुवक वर्ग ने प्रत्येक स्वदेशी वस्तु को हेय मानकर प्रत्येक बात में अपनी अनुकरण वृत्ति को मुख्यता देते हुए विदेशी वर्ग की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखने में ही अपनी सार्थकता मान रखी थी।

पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव

पश्चिमी शिक्षा तथा ईसाई धर्म प्रचारकों के कार्य ने हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान को और भी कुचल डाला। विजयी राष्ट्रों की यह सदा की प्रवृत्ति रही है कि पराजित राष्ट्र को न केवल राजनीतिक दृष्टि से ही पंगु बनाया जाय, अपितु भाषा, भाव और आचार विचार का दासत्व भी उन पर थोप दिया गया। इसके लिये सर्वप्रथम वे पराजित राष्ट्र पर अपनी शिक्षा प्रणाली थोपते हैं। इसका सुनियोजित परिणाम थोड़े समय के भीतर ही प्रकट होने लगता है। अंग्रेजों ने भी भारत में यही किया। उन्होंने भारत को राजनीतिक दृष्टि से तो दास बनाया ही उनकी यह भी चेष्टा रही कि शिक्षा, सभ्यता, धर्म और विचारों की दृष्टि से भी भारतवासी अपने शासकों का मुंह जोहने वाले बन जायें। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये उन्होंने अंग्रेजी ढंग के स्कूल और कालेज स्थापित किये तथा उनमें पश्चिमी शिक्षा प्रणाली का प्रारम्भ कर भारतवासियों को हीन सत्व, स्वाभिमान शून्य तथा पाश्चात्य जीवन प्रणाली का अनुगामी बताया। लार्ड मैकाले द्वारा निर्धारित इस शिक्षा योजना ने भारतीयों के स्वात्म बोध को सर्वथा नष्ट कर दिया। जिस शिक्षा का उद्देश्य ही एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करना था जो आचार विचार बुद्धि और मन से अंग्रेज होने का दम भरे उससे अधिक आशा रखना ही व्यर्थ था। मैकाले के उस प्रसिद्ध पत्र की बहु उद्धृत पंक्तियों का उपर्युक्त भाव यह स्पष्ट सूचित करता है कि इस शिक्षा नीति के क्रियान्वयन में उसका मूल उद्देश्य क्या है।

लार्ड मैकाले को अपनी शिक्षा विषयक नीति की सफलता में पूर्ण विश्वास था। तभी तो अपने पिता को १८३६ ई० में लिखे गये एक पत्र में उसने यह विश्वास व्यक्त किया कि जो भी हिन्दू अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर लेता है वह अपने धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा और विश्वास खो बैठता है। कुछ केवल दिखावे के रूप में उसे मानते हैं, कतिपय अन्य ईसाई हो जाते हैं। वह मेरा सुनिश्चित विश्वास है कि यदि शिक्षा की हमारी यह योजना पूरी तरह काम से लाई गई तो अब से तीस वर्ष पश्चात् बंगाल के कुलीन वर्ग में कोई मूर्तिपूजक (हिन्दू) नहीं रहेगा।

इस प्रकार सरकारी शिक्षण संस्थाओं में जहां अंग्रेजी शिक्षा के कीटाणु भारतवासियों के जात्याभिमान और अस्मिता को नष्ट कर रहे थे वहां विदेशी शासकों की सहानुभूति और संरक्षण पाकर ईसाई धर्म प्रचारक भी धर्म प्रचार की ओट में उन्हें अधिकाधिक पश्चिमाभिमुख बनाने का प्रयास कर रहे थे। इन कथाकथित धर्म प्रचारकों ने जनमानस को हीनभाव से ग्रस्त तथा दुर्बल ही बनाया।

पुनर्जागरण के आन्दोलनों का प्रादुर्भाव

ऐसी ही परिस्थिति में देश में धार्मिक और सांस्कृतिक पुनजागरण के आन्दोलनों का उदय होना स्वाभाविक ही था। नवोदय के आन्दोलनों का उद्देश्य था भारतीय समाज में व्याप्त रूढिवादिता की व्याधि को समाप्त कर भारत की युवक शक्ति को पाश्चात्य सभ्यता के विनाशकारी प्रभाव से बचाते हुए देश की अस्मिता को सुरक्षित रखना। इन आन्दोलनों के द्वारा समाज में प्रचलित बाल, अनमेल और वृद्ध विवाह, विधवा विवाह निषेध, पर्दा प्रथा, समुद्र यात्रा अस्वीकार आदि सामाजिक रूढ़ियों और कदाचारों को उन्मूलित करने की चेष्टा की गई। समाज के क्षेत्र में ही नहीं, धर्म के क्षेत्र में भी मूल्यों का पुनर्विवेचन किया गया। उसे युग के अनुसार ढालने का प्रयास तो हुआ ही, साथ ही इस बात पर भी विचार किया कि क्या बाह्याचारों, रूढ़ियों और स्थूल कर्मकाण्डों को ही संज्ञा दी जा सकती है अथवा धर्म के उदात्त एवं महनीय तत्त्व और ही हैं जो सत्य, अहिंसा, क्षमा, करुणा, सर्वभूत हित जैसे दिव्य गुणों में विद्यमान रहते हैं।

भारतीय समाज को रूढ़ि मुक्त बनाने का एक उपाय यह भी था कि देशवासियों का ध्यान भारत के उस सुदूर अतीत की ओर खींचा जाय जो अत्यन्त प्रोज्ज्वल, सत्व प्रधान तथा वर्चस्व पूर्ण था। नवोदय वादियों ने यही किया। लगभग सभी नवोत्थानवादी नेताओं ने अतीत की स्वर्णिम पृष्ठभूमि पर ही नव निर्माण की बात कही। भारतीय नव जागरण के पितामह राजा राममोहन राय ने उपनिषदों में व्याख्यात अध्यात्म तत्व को अपने मनन और चिन्तन का आधार बनाया। पुनर्जागरण के सर्वाधिक

शक्तिशाली ज्योतिर्धर महर्षि दयानन्द ने भी वेदों की ओर लौटने की बात कही। वेदों की सुदृढ़ आधार भूमि पर ही उन्होंने हिन्दू समाज को संगठित करने का प्रयास किया। उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना कर भारतीय पुनर्जागरण को एक निश्चित दिशा प्रदान की।

आर्यसमाज के सिद्धान्त, कार्य और उपलब्धियां—विक्रम की बीसवीं शताब्दी में विज्ञान और बुद्धिवाद के आधार पर पुरातन आर्य धर्म और भारतीय संस्कृति की मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन करने के लिये जिन सुधार आन्दोलनों का भारत में जन्म हुआ, उनमें आर्यसमाज अन्यतम था। महर्षि दयानन्द ने अपने भक्तों और मित्रों के आग्रह पर चैत्र शुक्ला प्रतिपदा सं० १९३२ वि० के दिन गिरगांव बम्बई में पारसी डा० माणेकजी के उद्यान में आर्यसमाज की स्थापना की। समाज के सिद्धान्तों और विधान को २८ नियमों में निबद्ध किया गया। प्रारम्भ में ही महादेव गोविन्द रानाडे, गोपालराव हरिदेशमुख, सेवकलाल कृष्णदास, गिरधरलाल दयालदास कोठारी आदि कई प्रतिष्ठित पुरुष आर्यसमाज के सभासद बने। बम्बई के अनन्तर १८७७ ई० में लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हुई। यहां रा० ब० मूलराज तथा लाला सांईदास जैसे कर्मठ सहयोगी आर्यसमाज के संस्थापक को मिले। यहीं पर ही आर्यसमाज के नियमों और उद्देश्यों को उसके विधान से पृथक् किया गया और संगठन सम्बन्धी संवैधानिक धाराओं को उपनियमों के रूप में पृथक् किया गया। स्वामी दयानन्द के जीवन काल में ही आर्यसमाज का सार्वत्रिक प्रचार हुआ, देश के सभी भागों में उसकी शतशः शाखायें स्थापित हुईं और सहस्रों व्यक्ति आर्यसमाज के सभासद बने।

पुनरुत्थानवादी दृष्टि लेकर चलने वाला आर्यसमाज अपने समसामयिक (पूर्ववर्ती ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज तथा परवर्ती थियोसोफिकल सोसाइटी तथा रामकृष्ण मिशन) आन्दोलनों की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील एवं यथार्थवादी सिद्ध हुआ। आर्यसमाज ने वेदों के आधार पर धर्म के सिद्धान्तों की नवीन व्याख्या की और बताया कि धर्म का अभिप्राय केवल रूढ़िगत विचारों का अनुसरण करते हुए क्रियाकाण्डों के पालन में ही नहीं है, अपितु धर्म उन उदात्त गुणों की समष्ठि का नाम है जो मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान में सहायक होते हैं। आर्यसमाज की यह भी मान्यता रही है कि भारत के मूल निवासी आर्यों ने अपने ग्रन्थों में धर्म और नैतिकता के जिन सिद्धान्तों को सूत्रित किया था वे सर्वकाल और सर्वदेशों में उपयोगी हैं। अतः आर्यसमाज वेदों और उपनिषदों तथा अन्य ऋषि प्रोक्त ग्रन्थों में प्रतिपादित उस नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा का धर्म के नाम पर प्रचार करना चाहता है जिसमें विश्व बन्धुत्व तथा मानव प्रेम के सूत्र गुंफित है।

आर्यसमाज ने अपने सिद्धान्तों को देश और काल सापेक्ष नहीं बनाया। उसके छठे नियम के अनुसार संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य बताया गया है और मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आत्मिक उन्नति को सर्वोपरि लक्ष्य ठहराया गया है। मानव ही नहीं अपितु प्राणि मात्र के हित को अपना ध्येय मानते हुए भी आर्यसमाज की शिक्षाओं का राष्ट्रहित से कोई विरोध नहीं है। अपितु पुनर्जागरण के अध्येता विद्वानों का यही निश्चित मत है कि आर्यसमाज के द्वारा देश का जो व्यापक हित साधन हुआ है उसे ही उसकी लोक प्रियता तथा सफलता का मूल कारण समझा जाना चाहिये। ब्रह्मसमाज आदि संस्थायें जहां एक स्पष्ट राष्ट्रीय नीति के अभाव में काल कवलित हो गई वहां आर्यसमाज ने धर्माचरण तथा राष्ट्र सेवा को सदा अभिन्न समझा। देश के राष्ट्रीय जागरण और स्वाधीनता प्राप्ति के पुनीत कार्य में आर्यसमाज के अनुयायियों का उल्लेखनीय योगदान रहा है।

आर्यसमाज और समाज सुधार—इतिहास के अध्येताओं ने आर्य समाज का उल्लेख समाजसुधार क्षेत्र में कार्य करने वाली प्रमुख संस्था के रूप में किया है। आर्यसमाज के सुधार आन्दोलन ने उत्तर भारत के जन-जीवन को किस प्रकार और कहां तक प्रभावित किया है, इसका यथार्थ मूल्यांकन अभी होना शेष है। विवाह प्रथा में समुचित सुधार, वर्णाश्रम व्यवस्था की वैज्ञानिक व्याख्या, अस्पृश्यता निवारण, नारी शिक्षा कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें आर्यसमाज का कर्तृत्व अपने वस्तुनिष्ठ रूप में अभिव्यक्त हुआ है। विशेषतः हिन्दू समाज में व्याप्त अस्पृश्यता के अभिशाप को दूर करने तथा दलित एवं पिछड़ी जातियों को उच्च वर्ग के लोगों के समान स्तर पर लाने के लिये आर्यसमाज के प्रयास सर्वथा श्लाघनीय रहे हैं। स्वयं महात्मा गांधी ने ऋषि दयानन्द की अर्द्ध निर्वाण शताब्दी के अवसर पर यरवदा कारागार से प्रेषित अपने सन्देश में कहा था—ऋषि दयानन्द ने हमारे लिये जो मूल्यवान विरासतें छोड़ी हैं उनमें अस्पृश्यता के विरुद्ध उनका उद्घोष सर्वप्रमुख है।"

यद्यपि यह कहना कठिन है कि समाज सुधार का कार्य पूर्णतया समाप्त हो गया, तथापि यह निश्चित है कि जन सामान्य में समाज सुधार के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करना तथा लोगों के दृष्टिकोण में उदारता एवं प्रगतिशीलता संचरित करना आर्यसमाज की एक उल्लेखनीय उपलब्धि रही। आज भी सामाजिक वैषम्य समाप्त नहीं हुआ है, जातपांत के दलदल से निकल कर हिन्दू समाज अपने आपको सुसंगठित इकाई के रूप में प्रस्तुत नहीं कर सका है फिर भी आर्यसमाज ने जो कुछ किया, उसका महत्त्व सुस्थिर है। महर्षि दयानन्द ने जिस अज्ञान, अन्याय और अभावों से रहित, अंधविश्वास एवं मूढ़ आचार विचारों से सर्वथा मुक्त समाज की कल्पना की थी उसे चरितार्थ करने के लिए आर्यसमाज को एक बार पुनः तत्परता के साथ सुधार और संस्कार का कार्य अपने हाथ में लेना होगा। आज परिस्थितियां परिवर्तित हो चुकी हैं। आज के पचास वर्ष पूर्व अछूतोद्धार तथा नारी शिक्षा के लिये जहां आर्यसमाज को शास्त्रार्थ, उपदेश और बहस मुबाहिसे करने पड़ते थे वहां आज या कार्य जन शिक्षण तथा शासन के नियमों के आधीन हो रहा है परन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि नये-नये मत पंथ, आडम्बर तथा अंधविश्वासों का क्षितिज पूर्वापेक्षा अधिक

व्यापक ही हुआ है। महर्षि दयानन्द का स्वप्न तभी पूर्ण होगा जब आर्यसमाज वर्तमान युग में व्याप्त नाना साम्प्रदायिक वाह्याडम्बरों एवं मूढ़ विश्वासों को समाप्त कर सकने में समर्थ हो सकेगा।

आर्यसमाज और राष्ट्रीयता—आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द ने अन्य धर्माचार्यों से सर्वथा भिन्न अपने राजनैतिक एवं राष्ट्रीय विचारों को स्पष्ट रीति से अभिव्यक्त किया। वे मूलतः राष्ट्रवादी थे। उनकी राष्ट्रीय संवेदना की प्रशंसा करते हुए योगी अरविंद ने एक स्थान पर लिखा है—

"दयानन्द में राष्ट्रीय चेतना थी और वे उसे उदीप्त कर सके थे। सुप्रसिद्ध फ्रैन्च विद्वान् रोम्यां रोलां का भी यह दृढ़ विश्वास था कि दयानन्द भारत के पुनर्जागरण का अग्रदूत था और उसने भारत की राष्ट्रीय चेतना को जगाने का अद्भुत कार्य किया। होम रूल लीग की अध्यक्षा श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने तो यहां तक लिख दिया था कि ऋषि दयानन्द ने प्रथमतः भारत भारतवासियों के लिये है की घोषणा की।

अपने संस्थापक के स्वातन्त्र्य प्रेम तथा देशभक्ति के भावों से प्रेरणा लेकर आर्यसमाज ने अपने शैशव काल से ही भारत के स्वाधीनता संग्राम में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। यद्यपि आर्यसमाज एक विशुद्ध धार्मिक आंदोलन होने तथा अपनी सार्वभौम और सार्वकालिक संरचना को सुरक्षित रखने के कारण वह किसी देश विशेष की सामयिक राजनीति में प्रत्यक्षतः भाग नहीं लेता तथापि उसके अनुयायियों ने भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में सर्वात्मना भाग लेकर अपने आचार्य की भावनाओं का ही आदर किया है। श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला लाजपतराय, सूफी अम्बाप्रसाद, गेंदालाल दीक्षित, भगतसिंह, रामप्रसाद बिस्मिल आदि क्रान्तिकारी देशभक्त आर्यसमाज से ही प्रेरणा लेकर देश के लिये आत्म त्याग और बलिदान करने में समर्थ हुए थे। आज भी आर्यसमाज के साधारण सदस्य देशभक्ति और राष्ट्र सेवा में किसी से पीछे नहीं है। आर्यसमाज शताब्दी समारोह अमृतसर में भाषण देते हुए पंजाब के मुख्यमन्त्री ज्ञानी जैलसिंह ने ठीक ही कहा था कि जितने देशभक्त आर्यसमाज ने उत्पन्न किए हैं उतने किसी अन्य संस्था ने नहीं।

आर्यसमाज और शिक्षा—शिक्षा के क्षेत्र में भी आर्यसमाज का योगदान कम नहीं है। आर्यसमाज के संस्थापक ने अपने ग्रन्थों में शिक्षा विषयक जिस नीति का प्रवर्तन किया था उसे पुष्पित और पल्लवित करने का प्रयत्न कालान्तर में हुआ। डी० ए० वी० कालेज आन्दोलन का सर्वत्र प्रसार इस बात का द्योतक है कि आर्यसमाज ने शिक्षा विषयक पौरस्त्य और पाश्चात्य, शास्त्रीय और वैज्ञानिक दोनों दृष्टिकोणों के समन्वय का प्रयास किया है। महान् शिक्षाशास्त्री स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा गुरुकुल की स्थापना इस तथ्य का सूचक है कि दयानन्द निर्दिष्ट शिक्षा पद्धति केवल कल्पना अथवा अव्यावहारिक न होकर सर्वथा वास्तविक एवं व्यवहारोपयोगी है। वस्तुतः रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्व भारती, वाराणसी की काशी विद्यापीठ तथा असहयोग आन्दोलन के युग में स्थापित शिक्षण संस्थायें मूलतः गुरुकुलों के आदर्श पर ही स्थापित की गई थीं।

आज भी आर्यसमाज प्रतिवर्ष करोड़ों रुपया स्व संचालित शिक्षण संस्थाओं पर व्यय करता है। उसकी पर्याप्त शक्ति और श्रम गुरुकुलों तथा कालेजों के संचालन में लगता है, परन्तु इन शिक्षण संस्थाओं का आनुपातिक लाभ आर्यसमाज को नहीं मिल पाता। अतः आवश्यकता इस बात की है कि एक समन्वित शिक्षा पद्धति के रूप में आर्यसमाज अपनी शिक्षा नीति का पुर्निधारण करे। इनमें प्राचीन आश्रम प्रणाली अनुरूप छात्रों के वैयक्तिक, चारित्रिक गुणों का समुचित विकास जिस प्रकार अभीष्ट है, उसी प्रकार नवीन ज्ञान, विज्ञान और तकनीकी शिक्षण के महत्त्व को भी स्वीकार किया जाना आवश्यक है। आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं में विद्यार्थी की मातृभाषा तथा राष्ट्र भाषा हिन्दी को शिक्षा के माध्यम के रूप में सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई थी। अतः यदि आर्यसमाज अपने संस्थापक के शिक्षा विषय आदर्शों को वास्तविक रूप में क्रियान्वित करना चाहें तो यह अत्यन्त उपयुक्त होगा कि वह आर्ष ज्ञान के भाण्डागार संस्कृत वाङ्मय के अध्ययन और अध्यापन के साथ-साथ भौतिक विज्ञान (स्वामी दयानन्द के शब्दों में पदार्थ विद्या) की सभी शाखाओं के अध्ययन अध्यापन की एक समन्वित प्रणाली पर बल दे।

●●

भारत के उत्थान में आर्य समाज का हाथ

श्री सन्तराम बी० ए०

किसी राष्ट्र को उठाने के लिए उतनी राजनीतिक संग्राम की आवश्यकता नहीं होती जितनी कि उसकी सामाजिक बुराइयों को दूर करके उसे भीतर से सुदृढ़ करने की। इसीलिए आर्यसमाज के पूज्य प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने हिन्दूसमाज की सामाजिक त्रुटियों पर भारी बल लगाया।

नौवीं शताब्दी में अफगानिस्तान में भी पाल वंश के हिन्दू राजे राज करते थे। उस समय सारा अफगानिस्तान हिन्दू था। परन्तु आज अफगानिस्तान तो दूर आधापंजाब और आधा बंगला देश भी मुसलमान हो चुका है। दक्षिण में हिन्दू धड़ाधड़ ईसाई बन रहे हैं।

हिन्दुओं के राजपूत जितने वीर और लड़ाकू थे उतने उत्तर-पश्चिम से आक्रमण करने वाले मुसलमान नहीं। इसी प्रकार हमारे ब्राह्मण जितने विद्वान थे उसका पासंग भी मुसलमान पठान न थे। भारत के पतन का प्रधान कारण हिन्दुओं की भीतरी फूट के सिवा कुछ नहीं। यह फूट जिसका दूसरा नाम वर्ण-व्यवस्था या जात-पात है, सारे भारत को ही ले डूबी है। इसीने भगवान् के करोड़ों अमृत-पुत्रों से वह मानवी प्रतिष्ठा छीन ली है जिसके बिना यह जीवन जीने योग्य ही नहीं रह जाता। तुलसीदास जैसे कवि कहते थे:—

पूजिए विप्र शील गुण हीना।
शूद्र न गुणगण-ज्ञान प्रवीणा।।

इसीसे दुखी होकर अछूत और शूद्र, मुसलमान और ईसाई हुए। स्वामी दयानन्द ने जन्ममूलक वर्णव्यवस्था पर कुल्हाड़ा चलाया। बाद को जब उन्होंने अनुभव किया कि जन्म से हो या कर्म से यह वर्ण व्यवस्था समाज के लिए घोर हानिकारक है तो उन्होंने साफ कह दिया:—'यह वर्ण व्यवस्था तो आर्यों के लिए मरण व्यवस्था बन गई है देखें इस डाकिन से इनका पीछा कब छूटता है।"

जातपात को मिटाने के लिए अन्तर्जातीय विवाह होने चाहिए। आर्य-समाज ने इस ओर क्रियात्मक पग उठाया। पुण्यश्लोक महात्मा मुंशीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द) जी सबसे बड़े और पहले आर्यसमाजी थे जिन्होंने अपनों और परायों के घोर विरोध की परवाह न करके अपनी पुत्री का विवाह जातपात तोड़कर किया।

अछूतपन का मूल जात पात हैं। जात-पात को रखते हुए अछूतपन कभी मिटाया नहीं जा सकता। आर्य समाजियों ने तथाकथित् अछूतों और शूद्रों को शुद्ध करके महाशय और भक्त आदि नाम तो दे दिये पर उन्हें रोटी बेटी सम्बन्ध द्वारा आत्मसात नहीं कर पाए। इसलिए तथाकथित अछूत केवल नाम बदलकर ही गए वे हिन्दूसमाज में आत्मसात न हो पाए।

हिन्दू-समाज की दूसरी बुराई स्त्री और शूद्र को पढ़ने का अधिकार न देना थी। आर्यसमाज ने ही सबसे पहले लड़कियों की शिक्षा के लिए जालन्धर में कन्या महाविद्यालय खोला और अछूत बच्चों को अपने स्कूलों में पढ़ने की अनुमति दी। इससे पहले शंकराचार्य कहता था कि यदि शूद्र के कान में वेद का मन्त्र पड़ जाए तोउसके कान में पिघला हुआ सीसा भर देना चाहिए। और उसने नारी को नरक का द्वार कहा है। परन्तु आर्यसमाज ने इसका खण्डन करते हुए कहा:—

नारी निन्दा न करो, नारी नर की खान।
नारी से नर होत हैं, ध्रुव प्रह्लाद समान।।

आर्यसमाज से पहले लड़कियों का विवाह बारह वर्ष की आयु से पहले ही कर दिया जाता था। कहा जाता था कि लड़की की आयु बारह वर्ष से ऊपर हो जाने पर उसके विवाह का पुण्य माता-पिता को नहीं लगता। आर्यसमाज ने इस धारणा का खण्डन करके लड़कियों का विवाह बड़ी आयु में करने की प्रथा चलाई।

स्वामी दयानन्द जी जन्म से गुजराती थे परन्तु उन्होंने राष्ट्रीय एकता के लिए आर्य भाषा हिन्दी का प्रचार किया और अपना अमर ग्रन्थ (सत्यार्थप्रकाश) हिन्दी में ही लिखा।

सब मुसलमान शीया हो या सुन्नी एक ही अल्लाह को मानते हैं और एक ही मस्जिद में बैठकर नमाज पढ़ सकते हैं। इसी प्रकार सब ईसाई रोमन कैथोलिक हों या प्रोटैसटैण्ट, एक ही गिरजाघर में बैठकर प्रार्थना कर सकते हैं। सब मुसलमानों का एक ही धर्मग्रन्थ कुरान है। इसी प्रकार सब ईसाईयों का धर्मग्रन्थ एक 'अंजील' ही है। इसके विपरीत हिन्दू, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि तेंतीस करोड़ देवी-देवताओं को मानते और पीपल, तुलसी, गरुण, कैलाश, ज्वालामुखी और गंगा प्रकृति पेड़, पत्ती, पर्वत और

नदी-नालों आदि को पूजते हैं। इनके अठारह पुराण और कई स्मृतियां हैं। यह सब एक मन्दिर में बैठकर पूजा नहीं कर सकते। आर्यसमाज ने केवल वेद को धर्मग्रन्थ और 'ईश्वर' को पूज्य देव बताकर एकता का प्रचार किया। आर्यसमाज के मन्दिर में सवर्ण अवर्ण, तथाकथित अछूत और शूद्र सब इकट्ठे बैठ सकते हैं। सनातनी हिन्दू केवल ब्राह्मण जाति के व्यक्ति को ही मन्दिर का पुजारी और पुरोहित मानते हैं। आर्यसमाज ने शूद्र कहलाने वाले बढ़ई, नाई और कहार इत्यादि जाति के विद्वानों को भी अपने पुरोहित बनाया।

मुसलमान सब सलाम कहकर एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं, ईसाई गुडमोर्निंग या गुडइवनिंग कहकर, परन्तु हमारे हिन्दू लोग राम-राम, कोई जयहिन्द, कोई सतश्री अकाल और कोई राधेश्याम कहकर एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं आर्यसमाज ने एकता के लिए (नमस्ते) का प्रचार किया।

इस प्रकार आर्यसमाज ने सामाजिक फूट को दूर करके सारी जाति को एकता के सूत्र में लाने का यत्न किया। इसके प्रचार से प्रादेशिक भेदभाव भी दूर होता गया। परन्तु आज देश की रक्षक एकमात्र संस्था आर्यसमाज भी ढीला पड़ गया है। देखें कब कोई महापुरुष पैदा होता है ओर आर्य-समाज को फिर से मैदान में लाता है।

●●

(शेष पृष्ठ ५९ का)

उपरिलिखित पंक्तियां जितनी सरल हैं—उतनी ही भाव की दृष्टि से बहुमूल्य हैं। वस्तुतः इन पंक्तियों में धर्म की सम्पूर्ण व्याख्या को ऋषि ने "गागर में सागर" के समान भर दिया है।

इसी प्रकरण में महर्षि ने यजुर्वेद के

"ओजस्व, तेजश्व, सहश्च, बलं च० आदि मन्त्र की व्याख्या समाप्त करते हुए मन्त्र में आये धर्म शब्द का भाव इन शब्दों में प्रकट किया है:—

"(धर्मस्य) जो वेदोक्त न्याय से युक्त होके पक्षपात को छोड़ के सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का सदा त्याग करना है, तथा जो सबका उपकार करने वाला और जिसका फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है, उसी को धर्म और उससे उलटा करने को अधर्म कहते हैं। इन सम्पूर्ण सन्दर्भों से यह सिद्ध होता है, कि वैदिक धर्म का अर्थ, नैतिकता के वह सिद्धान्त हैं। जिनसे केवल मानव-समाज का ही कल्याण तथा उपकार नहीं होता, अपितु परमेश्वर की समस्त प्रजा-मानवों के अतिरिक्त सम्पूर्ण चेतन जगत् का भी कल्याण तथा उपकार होता है। इस प्रकार यह वैदिक धर्म एक सार्वभौम रूप में प्रकट होता है। चूंकि नैतिकता का सम्बन्ध किसी देश-जाति तथा काल से सम्बन्धित तथा प्रतिबन्धित नहीं होता। इसके विपरीत आचरण अधर्म कहलागा है। अधर्म का आचरण किसी भी दशा में मानव-समाज को स्वीकार नहीं हो सकता। अतः वैदिक धर्म ही अपनी व्यापकता से एक मात्र सार्वभौम धर्म स्वीकार किया जा सकता है।

●

आर्य समाज क्या है और उसने क्या किया ?

श्री पं॰ रघुनाथ प्रसाद पाठक

महर्षि दयानन्द

आर्य समाज के प्रवर्त्तक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) हैं जिनकी गणना संसार के महानतम शिक्षकों और उद्धारकों में होती है जिन्होंने संसार के लोगों को अंधकार से प्रकाश की ओर, असत्य से सत्य की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर जाने में सहायता की।

आर्य समाज नया पंथ नहीं

आर्य समाज कोई नया पन्थ, सम्प्रदाय अथवा धर्म नहीं है। उसके प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ने स्पष्टतः कहा है कि आर्य समाज की स्थापना करके उन्होंने कोई नवीन पन्थ नहीं चलाया अपितु प्राचीन वैदिक धर्म, वैदिक संस्कृति, सभ्यता और परम्परा की पुनः स्थापना की है। उन्होंने स्वमन्तव्या मन्तव्य प्रकाश में लिखा—

"मैं अपना मन्तव्य उसी को मानता हूं जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना व मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।"

उनका उद्देश्य केवल यह था कि समय बीतने के साथ-साथ सच्चे सनातन धर्म और उसके अनुयायियों में जो अवैदिक बातें, अन्ध परम्पराएं, रूढ़ियां और सामाजिक कुरीतियां आ गई हैं उन्हें दूर किया जाय और विशुद्ध वैदिक धर्म जन-साधारण के समक्ष रखा जाय। इसी कार्य की पूर्त्यर्थ महर्षि दयानन्द ने १८७५ ई॰ में बम्बई में प्रथम आर्य समाज की स्थापना चैत्र सुदि १ सम्वत् १९३२ में की।

उसके बाद स्वयं स्वामी जी ने लाहौर, फ़र्रूखाबाद, मेरठ, रुड़की, लखनऊ, दिल्ली, अजमेर, आदि में आर्य समाजों की स्थापना की। वह जहां जाते, व्याख्यान देते और शास्त्रार्थ करते थे वहीं समाज की स्थापना हो जाती थी। उनके निर्वाण के पश्चात् तो समाजों की स्थापना का तांता ही लग गया।

व्यापक क्षेत्र

महर्षि दयानन्द की एक बड़ी विशेषता यह थी कि वह प्रत्येक व्यक्ति और समाज की सर्वतोमुखी उन्नति चाहते थे। वह चाहते थे कि व्यक्ति और समष्टि के शरीर, मन और आत्मा सब स्वस्थ हों और सब एक ही परिवार के सदस्यों के रूप में प्रभु की छत्रच्छाया में मिलकर प्रेमपूर्वक रहें और एक-दूसरे की उन्नति योग-क्षेत्र और रक्षा में योगदान करते रहें। उन्होंने स्वयं इस बात पर बल दिया और बाद में आर्य समाज ने अपने धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक सभी प्रकार के कार्यक्रमों में और सुधारों में इस बात का ध्यान रखकर उसे मूर्त्त रूप देने का यत्न किया। इस प्रकार आर्य समाज को विश्व आन्दोलन का रूप मिला। स्वामी जी महाराज मुख्यतः देशवासियों को अपनी तथा देश की हर प्रकार की उन्नति और योग-क्षेत्र के लिए आर्य समाज में प्रविष्ट होने और उसके साथ मिलकर काम करने की प्रेरणा दिया करते थे। उन्हें आर्य समाज का भविष्य बड़ा उज्ज्वल दीख पड़ता था और उससे बड़ी-बड़ी आशाएं थीं।

आधार शिला

आर्य समाज की आधार-शिला वेद, वैदिक शिक्षाएं शाश्वत, वैज्ञानिक, दार्शनिक, सार्वभौम, उदात्त वैदिक सिद्धान्तों से समन्वित सत्यार्थप्रकाश तथा स्वामी जी के उपदेश व मन्तव्य हैं।

महर्षि ने 'वेदों की ओर चलो' का बिगुल बजाया था। हिन्दू जाति वेदों की भक्त थी। उन्हें ईश्वरकृत मानती थी पर वेद हैं क्या और उनमें है क्या? वह न जानती थी। एक विशेष वर्ग के अतिरिक्त न तो कोई उन्हें देख सकता था, न सुन सकता था। पढ़ने की बात तो अलग रही। स्त्रियां, शूद्र एवं तथाकथित पतित जन वेदों और यज्ञादि के पास न जा सकते थे। ऋषि को वेद बाहर से मंगाने पड़े। सायण, महीधर तथा पाश्चात्य विद्वानों ने उनके जो भाष्य किए और जिनका प्रचलन जारी था वे अश्लील, अनर्गल, काल्पनिक और भ्रान्त थे जिनसे वेदों की प्रतिष्ठा को बड़ा आघात लगा था। स्वामी जी ने उनका भाष्य किया जिसके विषय में योगी अरविन्द जी ने कहा था कि दयानन्द ने वेद भाष्य की कुंजी दी। उन्होंने वेदों में निहित समस्त ज्ञान-विज्ञान पर से पर्दा उठाया। इतना ही नहीं उन्होंने

वेदों के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ाकर नहीं अपितु कम करके ही दिखाया। वेदों का अन्तिम भाष्य कोई क्यों न हो उसकी विशिष्ट शैली प्रदान करने का सर्वप्रथम श्रेय दयानन्द को प्राप्त रहेगा। महर्षि ने वेदों के द्वार सर्वसाधारण के लिए खोले। इस महान कार्य का आदर करते हुए सुप्रसिद्ध फ्रेंच मनीषी रोम्यां रोलां ने ठीक ही कहा था कि वह दिन युगान्तरकारी था। जिस दिन एक ब्राह्मण (स्वामी दयानन्द) ने वेदों के बंद द्वार जाति, वर्ग, नस्ल, रंग, मज़हब, क्षेत्र और लिंग के भेद-भाव के बिना सब के लिए खोले थे। महर्षि तथा आर्य समाज के प्रचार के कारण आज कोई भी व्यक्ति वेद पढ़ सकता है, यज्ञोपवीत पहन सकता और यज्ञ कर सकता है। आर्य समाज के तीसरे नियम में ऋषि ने वेद का पढ़ना, पढ़ाना, सुनना, सुनना आर्यों का परम कर्म बताया है।

वैदिक धर्म

वैदिक धर्म ईमान का विषय नहीं है। यह जीवन की एक विशिष्ट पद्धति है। यह धर्म वैज्ञानिक व दार्शनिक है और एक मात्र कर्मकांड तक ही सीमित नहीं है। यह मानव की महत्ता और उपयोगी प्राणियों की रक्षा का विधान करता और वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक मानव जीवन के सभी पहलुओं के विकास और विशिष्टता का विधान करके लोगों को आर्य (श्रेष्ठ) बना के जो अपनी, परमात्मा और समाज की दृष्टि में ऊंचा उठा होता है संसार को सुखधाम बनाने की स्थिति पैदा करता है। वैदिक संस्कृति त्याग प्रधान है और उसका केन्द्र बिन्दु आत्मिक विकास और सौन्दर्य है।

आर्य समाज का स्वरूप

आर्य समाज एक आस्तिक समाज है जिसकी आस्था वेद के ईश्वर पर है। आर्य समाज के प्रथम नियम ईश्वर को सब जगत का मूल सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वज्ञ, सर्व व्यापक, सर्वशक्तिमान, अजर, अमर, दयालु, न्यायकारी आदि गुणों से युक्त बताते हैं। वह अभाव से सृष्टि की उत्पत्ति नहीं करता नाही अपने जैसे दूसरे ईश्वर की रचना करता और सृष्टि नियम के विरुद्ध कोई काम करता है।

आर्य समाज का आधार तर्क है इसलिए वह धार्मिक अंध-विश्वासों को नहीं मानता। वह अवतारवाद, मूर्ति पूजा, रूढ़िगत कर्मकांड, यंत्र, मंत्र, जादू, टोना, मौ जिज़े, कृत्रिम देवी देवताओं आदि में विश्वास नहीं रखता, आप्त, विद्वान एवं परोपकारी जनों को देवता मानता है। मुक्ति के लिए किसी बिचौलिए की आवश्यकता से इन्कार करके मनुष्य को अपने ही पुरुषार्थ से, निभ्रन्ति ज्ञान तथा शुद्धाचरण से मुक्ति प्राप्त करनी होती है। पापों की क्षमा नहीं मिलती। अच्छे बुरे कर्म का फल ईश्वर की व्यवस्था में भोगना ही पड़ता है। स्वर्ग नरक स्थान विशेष नहीं है। अत्यधिक सुख की अवस्था स्वर्ग और दुःख की अवस्था नरक है। तीर्थ, गुरुओं आदि से पापों का क्षय नहीं होता। जीवित माता-पिता की सेवा करना ही श्रद्धा है।

आर्य समाज का धर्म मन्दिरों तक ही सीमित नहीं है अपितु वह व्यक्ति और समष्टि के साथ सर्वत्र तथा सदा रहने वाली वस्तु है। आर्य समाज मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक स्थान और प्रत्येक दशा में धर्म का पालन करना चाहिए। सत्य उच्च आचरण का आधार है इसलिए ऋषि ने आर्य समाज के नियमों में कहा है कि सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदैव तत्पर रहना चाहिए। और सब काम धर्मानुसार सत्य और असत्य का विचार करके करने चाहिए।

सामाजिक क्षेत्र में आर्य समाज मनुष्य मात्र की आत्मिक समता में विश्वास रखता है। उसकी दृष्टि में जन्मना कोई किसी से ऊंचा या नीचा नहीं। प्रत्येक को उन्नति करने का अधिकार है। वर्ण व्यवस्था अन्यकारण से नहीं अपितु गुण कर्म से होती है। स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त कर उन्नति करने का पुरुषों के समान ही अधिकार है। अस्पृश्यों और दलितों को भी अन्यों के समान ही ऊंचा उठने का अधिकार है।

आर्य समाज का कार्य

स्त्रियों, अनाथों, दलितों और असहायों की रक्षा, सहायता, गुरुकुलीय तथा लोक शिक्षा प्रसार की दिशा में आर्य समाज ने प्रशंसनीय कार्य किया है। बाल-विवाह. अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह के उन्मूलन एवं वयस्क तथा विधवा विवाहों के प्रचलन में आर्य समाज का योगदान बड़ा महत्त्व पूर्ण रहा। अस्पृश्यता निवारण, स्त्रियों के उद्धार एवं शिक्षा प्रसार के कार्य का व्यापक रूप से आदर हुआ है। तभी श्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था।

"आर्य समाज ने लड़कों और लड़कियों की शिक्षा, स्त्रियों की दशा के सुधार और दलितों को ऊंचा उठाने की दिशा में बड़ा अच्छा कार्य किया।"

(डिस्कनरी आफ इन्डिया)

आर्य समाज पर आक्षेप किया गया कि इसने हिन्दू धर्म को संकुचित कर दिया है परन्तु महर्षि दयानन्द ने सुनिश्चितसिहस्त कायम करके उसके गौरव को बढ़ाया था। महर्षि और आर्य समाज के इस कार्य की प्रशंसा करते हुए सर हर्बट रिस्ले ने कहा था :—

"आर्य समाज शिक्षित हिन्दुओं के सामने सुनिश्चित सिद्धान्त प्रस्तुत करता है जिसका मूल स्रोत वेद और आर्य परम्पराएं हैं। आर्य समाज सामाजिक और शैक्षणिक उन्नति की ऐसी योजनाएं प्रस्तुत करता है जिसके बिना वास्तविक उन्नति संभव नहीं है।"

सुप्रसिद्ध शास्त्री श्री अमरनाथ झा ने आर्य समाज के शिक्षा कार्य का मूल्यांकन करते हुए डी० ए० बी० आन्दोलन और संस्कृत के पुनरुद्धार की दिशा में हमें आर्य समाज का योगदान अद्भुत बताया था। भारतियों के पश्चिम की विचारधारा और संस्कृति के प्रवल प्रवाह में बह जाने और उनके बौद्धिक संतुलन के लुप्त हो जाने के भय के निवारण में जबकि आधुनिक शिक्षा प्राप्त भारतीय संस्कृत, हिन्दी, हिन्दूदर्शन शास्त्र को बर्वर एवं

असभ्य काल की यादगार मानने लगे थे, आर्य समाज को एक देन बताकर उन्होंने उसके शिक्षा कार्य का निम्न प्रकार अभिनन्दन किया था :—

"यदि आज भारत के शिक्षित वर्ग में श्रद्धा की भावना और बौद्धिक कौतूहल की प्रवृत्ति पाई जाती है तो उसका बहुत बड़ा श्रेय आर्य समाज को प्राप्त है जिसने बड़े साहस के साथ मिशनरी भावना से अपना मार्ग बनाया है।

मानव कौन है इस प्रसंग में ऋषि दयानन्द द्वारा की गई मनुष्य की परिभाषा ध्यान देने योग्य है :—

मनुष्य उसी को कहना जो कि मननशील होकर स्वात्मवत दूसरों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान से भी न डरे और धर्मात्मा, निर्बल और गुणातीत क्यों न हो। उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती समर्थ, महाबलवान और गुणवान भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करें अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल का निराकरण सर्वदा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो। चाहे प्राण भले ही चले जावें परन्तु इस मनुष्य रूप में धर्म से पृथक कभी न होवे।" (स्वमन्त व्यामन्तव्य प्रकाश)

ऋषि ने आजीवन इसके अनुसार आचरण किया और आर्य समाज के अगणित कार्यकर्त्ताओं ने धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में इसके अनुसार आचरण करते हुए घोर यातनाएं सहीं, त्याग और बलिदान किए। अनेकों को मौत के घाट उतरना पड़ा। इन्हीं विशेषताओं और मिशनरी भावना के कारण अपने अस्तित्व की और अधिकारों की रक्षा के लिए आर्य समाज को पटियाला, धौलपुर, हैदराबाद और सिन्ध आदि में फिर भीषण परीक्षणों में से गुज़रना पड़ा उनमें वह सफल निकल सका। आर्य समाज में वर्चस्व और विस्तार में जो अमित वृद्धि हुई वह अलग रही।

राजनैतिक क्षेत्र आर्य समाज, यद्यपि, सार्वभौम आन्दोलन है तथापि हिन्दू समाज और भारत में उसका प्रादुर्भाव होने से इन दोनों के प्रति उसके विशेष दायित्व हैं। हिन्दू समाज को परिष्कृत करके उसे श्री राजगोपालाचार्य के शब्दों में भले व्यक्तियों के रहने योग्य बनाने का उसे श्रेय प्राप्त रहा। शुद्धि और दलितोद्धार एवं अस्पृश्यता निवारण के कार्य से उसके संघटन को दृढ़ किया गया। भारत भारतीयों का है और वह संसार का शिरमौर रहा है यह उद्बोधन देकर देश प्रेम की अमिट ज्योति जगाई।

राजनीतिक क्षेत्र में आर्य समाज 'स्वराज्य' का पक्षपाती है। स्वराज्य और स्वदेशी का नारा सर्वप्रथम आर्य समाज ने ही दिया था। आर्य समाज ऋषि के इस कथन में आस्था रखता है कि 'हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे भी होगा उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें इसलिए जैसा आर्य समाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है वैसा दूसरा नहीं हो सकता।"

"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। (सत्यार्थ प्रकाश ८वां समुल्लास)

भारतीय स्वराज्य की प्राप्ति में ऋषि का तथा आर्य समाज का योग-दान बेजोड़ रहा। उसने इस आन्दोलन में या इस महायज्ञ में जितनी आहुति दी उतनी अन्य कोई समाज न दे सका। देश को परखे हुए नेता कार्यकर्त्ता और क्रान्तिकारी देने में वह अग्रणी रहा। अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी, पंजाब केसरी लाला लाजपतराय जी, श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा, श्री रामप्रसाद बिस्मिल, श्री मदनलाल धींगरा, श्री भाई परमानन्द जी, सरदार भगतसिंह, गेंदालाल दीक्षित प्रभृति महानुभाव आर्य समाज की ही देन थे। तभी कांग्रेस के इतिहासकार श्री सीतामि पट्टारमय्या ने राष्ट्र सेवा के लिए महात्मा गांधी को राष्ट्रपिता और महर्षि दयानन्द को राष्ट्रपितामह की पदवी प्रदान की थी।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने आर्य समाज के तथा देश के दीवाने आर्यों का अभिनन्दन करते हुए कहा था —"संगठित कार्य, दृढ़ता, उत्साह, त्याग और समन्वयात्मकता की दृष्टि से आर्यजनों और आर्य समाज की समता और कोई नहीं कर सकता।"

आर्य समाज ने अपने संगठन को प्रजासत्तात्मक रूप देकर सदाचार और निष्काम भावना पूर्वक कार्य करने की परिपाटी डालकर जहां अपने संगठन को दृढ़ किया और उसे लोगों की स्पर्धा और प्रशंसा का पात्र बनाया वहां देश को विशुद्ध सार्वजनिक जीवन भी प्रदान किया। आर्य समाज ने उन सभी कार्यों का आयोजन किया जो भारत को स्वराज्य की ओर ले गए और उसे एक सुदृढ़ और समृद्ध राष्ट्र बना सकते हैं। राष्ट्रीय एकता के लिए आर्य समाज धर्म, सभ्यता, संस्कृति, और भाषा की एकता को आवश्यक समझता है उसकी मान्यता है कि बिना उनके राष्ट्र में ऐक्य नहीं हो सकता। आर्य समाज ने पश्चिमी सभ्यता के चकाचौंध में डालने वाले भौतिकवाद का त्यागवाद के समन्वय से दृढ़ता के साथ सामना किया। जन साधारण के सामने भोगवाद की पोल खोलकर रख दी और भारत को विधर्मियों तथा विदेशी संस्कृतियों के चंगुल में फंसने से बचाया और स्वराज्य की प्राप्ति में आत्मिक संकल्प की वरीयता प्रतिपादित थी। आर्य समाज ने ही महात्मा गांधी के मार्ग को प्रशस्त किया था। आर्य समाज के कार्यक्रमों का यथा राष्ट्रभाषा हिन्दी, अस्पृश्यता निवारण, दलितोद्धार, गो रक्षा, शराबबंदी आदि का भारतीय संविधान में स्थान प्राप्त होना क्या कम महत्व की बात है। हिन्दी को राष्ट्रसंघ की एक भाषा बनाने की संगठित मांग सर्व प्रथम आर्यसमाज ने ही उठाई है। (देखें सार्वदेशिक आर्य महा सम्मेलन मारीशस का प्रस्ताव अगस्त १९७३)

अन्यों की दृष्टि में श्री आर० एम० परनेल ने थियोसोफीकल न्यूज ऐंड नोट्स लंडन (जून १९५५) पत्रिका में आर्य समाज का परिचय इस प्रकार दिया था :—

आर्य समाज धर्म, शान्ति, सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य और निरामिष

भोजन पर अवलम्बित समाज रचना का प्रतिपादन करता है। दस नियमों को स्वीकार करने वाला और उन सिद्धान्तों को स्वीकार कर आचरण में लाने वाला (जिनकी स्वामी दयानन्द ने वेदों के आधार पर अपने ग्रन्थों में व्याख्या की है) कोई भी व्यक्ति आर्य समाज मे प्रविष्ट हो सकता है। वार्षिक चंदा सदस्यों की आय का शतांश होता है।

एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन्स में ई० रोमस्टल ह्राइक पृष्ठ १७६ पर आर्य समाज का परिचय इस प्रकार देते हैं :- –

स्वामी दयानन्द ने १८७५ मे बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की जो आस्तिक समाज है। दयानंद वेदों को निर्भ्रान्ति ईश्वरीय ज्ञान मानते थे। आर्य समाज का वैधानिक 'मन्तव्य ईश्वर सब सत्य विद्याओं का आदि मूल' है। ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निराकार, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और नित्य है। एकमात्र उसी की उपासना करनी चाहिए। वेद सत्य विद्याओं के ग्रन्थ हैं। आर्यजन विधवा-विवाह के पक्ष में हैं। बाल-विवाह, जात-पात, मांस, शराब नशे और मूर्तिपूजा के विरुद्ध हैं। हवन, यज्ञ आदि संस्कारों को कहते हैं। आर्य समाज में गुरुडम प्रचलित नहीं है।

आर्यसमाज 'वेदों की ओर चलो' आन्दोलन का प्रतिनिधित्व करता है जिसके संस्थापक वेदों से निकालकर ऐसी बातें प्रकाश में लाए हैं जिनको आधुनिक जगत् में मान्यता प्राप्त है। उन्होंने वेदों के आधार पर एकेश्वर वाद को सिद्ध कर दिया और विविध वैदिक देवताओं को सच्चे परमात्मा के ही विश्लेषण बताकर बहुदेवतावाद की मान्यता की निस्सारता प्रतिपादित कर दी है। आर्यसमाज कर्मफल और मुक्ति में विश्वास रखता है। आवागमन के चक्र से छूट जाना मुक्ति है।

दयानन्द उच्चकोटि के राष्ट्रवादी थे। उनका आर्यसमाज आन्दोलन भारत में आधुनिक राष्ट्रीयता का कारण और कार्य रहा है।

आर्यसमाज के प्रति लोगों के आकर्षण के निम्नलिखित कारण हैं:—

(१) वेदों की पुनः प्रतिष्ठा (२) एक परमात्मा की पूजा (३) वेदों की अपौरुषेयता (४) जन्मना जात-पात का खंडन (५) दलितोद्धार (६) समाज सेवा (७) अपने उद्योग से प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक ऊंचा उठने की मान्यता (८) भारत भारतीयों का है सर्व प्रथम इस आवाज़ का उठाना (९) देश-प्रेम के भावों को भरना।

प्रसार अपने अस्तित्व के अल्प समय में ही आर्यसमाज ने बड़े उत्साह से और लगन से काम करके अपने क्षेत्र और कार्य को सुदूर समुद्र पार तक विस्तार कर लिया हैं।

इस समय उसका विस्तार इस प्रकार है:—

(१) भारत और उसके बाहर ४००० से अधिक समाज हैं जिनमें से लगभग ३००० भारत में हैं (२) देश-विदेश में २२ प्रान्तीय समाज और लगभग १८० जिला उप समाज हैं (३) भारत, नेपाल, अफ्रीका, ट्रीनीडाड, फिजी, मारीशस आदि में आर्यवीरदल की लगभग ५४० शाखाएं हैं। (४) २०० से ऊपर आर्यकुमार व आर्य युवक सभाएँ हैं। (५) आर्यसमाज की ओर से ३००० के लगभग लड़कों और लड़कियों की शिक्षा संस्थाएं चलाई जा रही हैं जिनमें ३०० से अधिक डिग्री कालेज और हाई स्कूल हैं शेष विद्यालय व पाठशालाएं हैं। (६) ६० बालकों तथा बालिकाओं के गुरुकुल व संस्कृत पाठशालाएं हैं। (७) ४०० से अधिक अछूतों की पाठशालाएं हैं और १२ से अधिक टैक्नीकल संस्थान हैं (८) २०० से ऊपर अनाथालय, विधवाश्रम, धर्मार्थ औषधालय व गोशालाएं हैं (९) ५०० के लगभग अतिथि भवन और व्यायाम शालाएं है (१०) ५०० से अधिक प्रेस पत्र पत्रिकाएं, पुस्तकालय व वाचनालय हैं। (११) १००० से अधिक उपदेशक व्याख्याता प्रचारक हैं आर्य समाज की संस्थाओं में कई लाख बालक-बालिकाएं शिक्षा पाती हैं, और उन संस्थाओं पर वर्ष में कई करोड़ रुपया व्यय होता है। बाढ़, भूकम्पआदि से पीड़ितों एवं शरणार्थियों की रक्षा, सेवा, सहायता पर आर्य समाज करोड़ों रुपया खर्च कर चुका है और हजारों अनाथों, असहायदेवियों की रक्षा, विधर्मियों की शुद्धि तथा विधवा विवाह हो चुके हैं।

उपसंहार आर्य समाज ने भोग और त्याग, धर्म और बुद्धि, आदर्श और व्यवहार, लोक-परलोक, विश्वास एवं तर्क, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में समन्वय स्थापित करके व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को भव्य दिशा प्रदान की है और मनुष्य को सच्चे अर्थ में मनुष्य बनाने का सत्प्रयत्न किया और सुधार की भाषा में सोचना और करना सिखाया है।

आर्य समाज का मानव समाज को आह्वान है:—

'वैदिक तरु की शिशिरच्छाया के नीचे हे मानव आओ !
पीकर श्रुति पीयूष सनातन निज मानस के ताप मिटाओ !

———

"मही पै स्वर्ग लायेंगे"

श्री पं० सत्यव्रत शर्मा 'अजेय' एम० ए०, आयुर्वेदाचार्य

पाश में बंधे थे पराधीनता-पिशाचिनी के,
फंद में फंसे थे सब दुख और द्वन्द के।
तूर्ण तम तोम की तमिस्रा ने किये थे अन्ध,
मन्द थे प्रकाश हुये सूरज के चन्द के।।
यूरोपीय अनुवाद पढ़-पढ़ हम लोग,
भ्रमर कहाते रहे वैदिक मरन्द के।
सर्वथा स्वतन्त्र दिव्य नव्य भव्य भारत की,
कल्पना असम्भव थी बिना दयानन्द के।।

प्रेम की बहा के सुर-सरिता धरा पै ऋषि,
विकराल ज्वाल पाप ताप की बुझा गये।
भूत छुआछूत का भगा कर, सभी को वह,
वेद पढ़ने का अधिकार दिलवा गये।।
शत मत मतान्तर-कंटक उगे थे यहां,
काट-छांट उन्हें सत्य-पथ दिखला गये।
अखिल अविद्या का 'अजेय' अन्धकार मेट,
पुण्य का प्रभात भेंट जग को जगा गये।।

अज्ञ प्रज्ञ सभी हैं कृतज्ञ दयानन्द जी के,
लेकर प्रतिज्ञा आर्य विश्व को बनायेंगे।
उनसे प्रशस्त-मार्ग पर चल स्वयमेव,
संसृति समस्त उसी मार्ग पै चलायेंगे।।
पतितों को पावन बनायेंगे सदैव हम,
दलितों को दौड़-दौड़ गले से लगायेंगे।
वर्ग उपवर्ग की बहायेंगे मही पै धारा,
लायेंगे यहीं पै अभिनव स्वर्ग लायेंगे।।

दयानन्दतुल्यो महात्मा न कश्चित्

आचार्य श्री धर्मदेवो विद्यामार्तण्डः (वेदभाष्यकारः)

सदा सत्यमानी सदा सत्यवादी, सदा सत्यकारी परम आप्तवर्यः।
सुधीर्निर्भयः श्रौतसत्यस्य वक्ता, दयानन्दतुल्यो महात्मा न कश्चित् ।।१।।

भवेद् वेदधर्मस्य लोके प्रचारः, भवेयुः समस्ता जना देवभक्ताः।
इदं ध्येयमुद्दिश्यं यत्नं प्रकुर्वन्, दयानन्दतुल्यो महात्मा न कश्चित् ।।२।।

न चिन्ताकृता येन देहस्य काचित्, न चिन्ताकृता येन वित्तस्य काचित्।
स्थितप्रज्ञयोगी सदा ब्रह्मनिष्ठो, दयानन्दतुल्यो महात्मा न कश्चित् ।।३।।

विषं येन पीतं प्रदत्तं विमूढैः, परं सत्यमार्गं जहौ यो न जातु।
सदा सिंहवद् यो जगर्जात्र वीरो, दयानन्दतुल्यो महात्मा न कश्चित् ।।४।।

दया दर्शिता येन निजघातकेऽपि, धनं चापि दत्वा कृता प्राणरक्षा।
दयासागरो नित्यमानन्ददाता, दयानन्दतुल्यो महात्मा न कश्चित् ।।५।।

प्रभो तेऽभिलाषः सदा पूर्तिमेयात्, कृता देवलीला त्वयात्यद्भुतेयम्।
मुदा देहलीलां बुधो यः समाप्नोद्, दयानन्दतुल्यो महात्मा न कश्चित् ।।६।।

दया स्याद् दयालोः समेतस्य शिष्याः, भवेयुर्बुधाः श्रद्धया चोपपन्नाः।
द्रुतं येन वेदोक्तधर्मप्रचारः, समस्तेऽपि लोके प्रजायेत नूनम् ।।७।।

————

वेदपञ्चकम्

स्नातक श्री सत्यव्रत

सर्वदा स्वहितमादरणीयं,
धर्म तत्त्वममलीकरणीयम् ।
विश्वसिन्धु सलिलं तरणीय
वेदवर्त्म शरणीकरणीयम् ।।१।।

धर्म बन्धन मथा चरणीयं,
सर्वथाऽन्यहितमाचरणीयम् ।
सत्यमेव हृदये भरणीय,
वेदवर्त्म शरणीकरणीयम् ।।२।।

ज्ञानमेव विमलं वरणीयं,
ध्यानमीशपदतो धरणीयम् ।
अन्धबन्धनमपाकरणीयं,
वेदवर्त्म शरणीकरणीयम् ।।३।।

पूज्य भक्ति चरणं धरणीयं,
मानसं सुविमलीकरणीयम् ।
आर्य योजितपदं सरणीयं,
वेद वर्त्म शरणीकरणीयम् ।।४।।

सर्वथा भयमपाकरणीयं,
शास्त्रमेव नयनीकरणीयम् ।
धर्म कर्मणि तथा मरणीयं,
वेद वर्त्म शरणी करणीयम् ।।५।।

ज्योति :पुरुषः दयानन्द :विजयते

श्री शंकरदेव विद्यालंकार

प्रज्ञया प्रोज्ज्वलं स्वानां, आननं ब्रह्मवर्चसा ।
वाचायां वज्र-निर्घोष, निर्भयं प्रोन्नतं शिरः ।।

भारतं भारतीं चैव कीर्तयन् वेद-वीणया ।
वैतालिको दयानन्दः, कुंजे कुंजे महीपते ।।

वैजयन्तीं तु संस्कृत्याः दिगन्ते दोलयन् मुदा ।
बोधयन् भारत राष्ट्रं मुनिर्विजयतेतराम् ।।

प्रतीच्याः वात चक्रेण, विमूढी-कृत-मानसाः ।
विश्वव्वतां जनाः नीताः, आत्म-गौरव-शालिना ।।

वेद-मन्दाकिनी येन भारते संप्रवाहिता ।
अस्मिता निजसंस्कृत्याः, स्थापिता लोकमानसे ।।

ब्रह्मचर्य-प्रभावं वै, समीक्ष्य यस्य प्रोज्जक्तम् ।
वरुणस्य दृढाः पाशाः, अचिरं भस्मतां गताः ।।

यस्याऽभूत् करणं परोपकरणं, दृष्टि विवेकांचिता,
व्यक्तित्वे निलिले सदा मधुरिमा, संकल्प-दीप्तं मनः ।

आस्यं द्योतयति प्रसाद-विभवं, स्नेहांचिते लोचने,
तं वन्दे दयया प्लुतं मुनिवरं, क्षाके: निधानं परम् ।।

यस्मिन् विग्रहवान् बभूव सुभगं, धर्मस्य तत्वं महत् ।
मांगल्य जगतां च भावयति यः, कारुण्य-भद्रो मुनिः ।

प्रज्ञा-शील-गुणैः प्रबुद्ध-मनसां, पंथा प्रशस्तो भवेत् ।
बन्धुत्वं मुदिता तथा विलसतां, भव्या शुभा संस्कृतिः ।।

आर्य समाज की संसार को देन

• श्री पं० प्रकाशचन्द्र कविरत्न, (अजमेर)

अखिल जगत में अद्भुत क्रान्ति मचाई आर्य समाज ने।
जाग्रति की जनता में ज्योति जगाई आर्य समाज ने।।
बतलाया लोगों को धर्म विषय है बुद्धि आचरण का।
धर्म वही है जिससे हो कल्याण अखिल मानव गण का।।
बुद्धि विरुद्ध मजहबों ने ही लोगों को पथ भ्रष्ट किया।
धर्म तथा मज़हब के भारी अन्तर को भी स्पष्ट किया।।
होता था धर्म के नाम पर अनाचार पाखण्ड प्रबल।
ह्रास हुई उनकी गति दिन दिन, हुआ धर्म का रूपोज्ज्वल।।
लोगों को सत्ज्ञान तथा सत्कर्म प्रेरणा प्राप्त हुई।
सामाजिक धार्मिक उन्नति करने की रुचि पर्याप्ति हुई।।
हुई महत्ता स्थापित व्यापक निराकार प्रभु चेतन की।
खुली कलई अवतारवाद पाषाण मूर्ति के पूजन की।।
हुई निरुत्साहित अति दूषित अनात्मवाद नास्तिकता।
ज्ञान, कर्म औ उपासनामय विकसित हुई आस्तिकता।।
एक ईश की उपासना सिखलाई आर्य समाज ने।
अखिल जगत में अद्भुत क्रान्ति मचाई आर्य समाज ने।।१।।

किया क्रियात्मक समुचित वैदिक त्रैतवाद का प्रतिपादन।
ब्रह्म सत्य, जग मिथ्या मत का साबित किया खोखलापन।।
हुई प्रतिष्ठा फिर से पावन वेदों की जग में स्थापित।
खोल दिये वे बन्द द्वार फिर उनके मनुज मात्र के हित।।
मुक्ति प्राप्त हो सकती है सद्ज्ञान व सत्य आचरण से।
न कि गंगा के स्नान, तिलक, कण्ठी वा तीर्थ पर्यटन से।।
करता जैसे कर्म मनुज वैसा फल मिलता निश्चय है।
ज्योतिष फलित, क्षमा, तोबा से पाप नहीं होता क्षय है।।
जादू टोना, दिशा शूल, भूतों प्रेतों का भय संशय।
दूर किये लोगों के मन से बना दिये निश्चिन्त अभय।।
जीवित माता पिता तथा गुरुजन सेवा सविनय करना।
बतलाया मृत श्राद्ध आदि में कभी नहीं अपव्यय करना।

धूर्त ठगों के गढ़ की नींव हिलाई आर्य समाज ने।
अखिल जगत में अद्भुत क्रान्ति मचाई आर्य समाज ने।।२।।

किया नमस्ते सार्थक, सुन्दर अभिवादन घर घर प्रचलित।
हिन्दु शब्द की जगह किया प्रिय आर्य शब्द फिर सम्मानित।।
शुद्ध रूप यज्ञों का बतला कर उनकी विशेषतायें।
यज्ञ प्रचार बढ़ाया, कर नर पशु-बलि बन्द क्रूरतायें।
छुड़वाया मदिरा सेवन, मांसादि अभक्ष्य वस्तु भक्षण।
सिखलाया निर्दोषी गौ, पशु पक्षी का करना रक्षण।।
मनुजी के वचनानुसार सम्मानित हुई पुनः नारी।
वेद पठन पाठन के नारी शूद्र हुए फिर अधिकारी।।
बाल वृद्ध अनमेल विवाहों का भी किया प्रबल खण्डन।
ब्रह्मचर्य, परिपक्व आयु के किया विवाहों का मण्डन।।
खोल अनाथालय सहायता की अनाथ असहायों की।
स्थापित करके वनिता आश्रम रक्षा की विधवाओं की।।
पुनर्विवाह रचाकर लाज बचाई आर्य समाज ने।
अखिल जगत में अद्भुत क्रान्ति मचाई आर्य समाज ने।।३।।

जन्म जाति सम बुरी प्रथाओं का भी घोर विरोध किया।
ध्यानाकृष्ट जनों का वैदिक वर्ण व्यवस्था ओर किया।।
ऊंच-नीच का भेद मिटाया अति दूषित विनाशकारी।
किया शोषितों, दलितों का उद्धार यत्न करके भारी।।
शिक्षा हेतु पाठशालायें गुरुकुल कालिज खुलवाये।
छात्र जहां के योग्य नागरिक राष्ट्र हितैषी कहलाये।।
पाठ पढ़ाया स्वयंसंगठन से प्रजातन्त्र की पद्धति का।
मार्ग सुझाया स्वदेश की समुचित सर्वांगीणोन्नति का।।
मूल निवास स्थान आर्यों का है यही देश भारत।
बतलाया है द्रविड़ आदि भी आर्य जाति के अन्तर्गत।
भारत की प्राचीन गुणावलि, गौरव का करके वर्णन।
किया सञ्चरण पुनः निरन्तर जन जन में नूतन जीवन।।

आर्य संस्कृति की फिर धाक जमाई आर्य समाज ने।
अखिल जगत में अद्भुत क्रान्ति मचाई आर्य समाज ने॥४॥

वस्तु स्वदेशी के प्रयोग में लाने पर भी ज़ोर दिया।
तथा संस्कृत, हिन्दी भाषा का प्रचार पर्याप्त किया॥

स्वराज्य केवल नहीं साथ ही सुराज्य पर बल दिया अधिक।
जिसकी प्राप्ति हेतु बतलाया उन्नति करना चारित्रिक॥
किया सुशिक्षित, साधारण, जन गण हित सत् साहित्य सृजन।
पैदा किये अनेक सुधारक, धर्म प्रचारक विद्वद् जन।

उपदेशक, सद्ग्रन्थ प्रणेता, कर्मठ, मूर्धन्य नेता।
वेद-विज्ञ शास्त्रार्थ निपुण, साहित्यिक पुरुस्कार-जेता॥

सबसे अधिक किये पैदा त्यागी हुतात्मा बलिदानी।
सबसे अधिक जेल पहुंचे बनकर स्वतन्त्रता सेनानी॥

किया सामना साहस पूर्वक हुआ जहां भी दमन, अनय।
हैदराबाद, धौलपुर, पटियाला आदिक में हुई विजय॥

सहिष्णुता, निर्भयता अजब दिखाई आर्य समाज ने।
अखिल जगत में अद्भुत क्रान्ति मचाई आर्य समाज ने॥५॥

करके शुद्ध विधर्मी फिर से आर्य जाति में मिला लिये।
रामकृष्ण के भक्त देश के सच्चे प्रेमी बना दिये॥
जहां कहीं भी आई भीषण, बाढ़, अकाल, महामारी।
कर सहायता बहुविधि पीड़ित जन की व्यथा हरी सारी॥
बिगड़ी दान प्रणाली थी उसका पर्याप्त हुआ मार्जन।
सिखलाया लोगों को शुभ कर्मों में अर्पण करना धन॥

वातावरण नितान्त शान्त हो कहीं न रञ्च कष्ट होवे।
मानवता हो पूर्ण प्रतिष्ठित, दानवता विनष्ट होवे॥

हो सबके मन एक परस्पर में व्यवहार प्रेममय हो।
हरे न स्वत्व किसी का कोई हरेक प्राणी निर्भय हो॥

यह वेदों की वाणी दिव्य सुनाई आर्य समाज ने।
अखिल जगत में अद्भुत क्रान्ति मचाई आर्य समाज ने॥६॥

सत्य, न्याय का पक्ष असत अघ खण्डन करने के कारण।
दोष लगाते समाज को है निपट नासमझ स्वार्थी गण॥

अब भी धूर्त स्वार्थियों के चहुंदिश वितान हैं तने हुए।
भारत में भगवान अनेकों पाखण्डी हैं बने हुए॥

मानवता की घातक फैली विकट साम्प्रदायिकता है।
दूषित भौतिकवाद वर्दिनी पनप रही नास्तिकता है॥

आर्य समाज सँगठन ही इनका विनाश कर सकता है।
आर्य समाज संगठन की इसलिये बड़ी आवश्यकता है॥

शशि से रजनी की शोभा, जल से सरवर की शोभा है।
रवि से दिन की शोभा है नारी से नर की शोभा है॥

शोभा है दुग्ध से गाय की, सुत से घर की शोभा है।
आर्य समाज संगठन से हर ग्राम नगर की शोभा है॥

कर "प्रकाश", जनता की भूरि भलाई आर्य समाज ने।
अखिल जगत में अद्भुत क्रान्ति मचाई आर्य समाज ने॥७॥

———

दयानिधान दयानन्द

आचार्य श्री प्रियव्रत, विद्यालंकार 'प्रेमी'

यतिवर योगी राज महान्, दयानन्द तुम दया निधान।
अमर ज्योति अनुपम श्रुतिज्ञान, बाल ब्रह्मचारी बलवान ।।१।।
भारत को यों आरत जान, उपजा दिल में दुःख महान।
वार दिए तन मन धन प्रान, जय जय दयानन्द भगवान ।।२।।

दीन अछूतों की तुम जान, अबला बिधवाओं के प्रान।
प्रभु के बन आये बरदान, जय जय योगी राज महान ।।३।।
अपनी प्यारी देकर जान, बचा लिए घातक के प्रान।
तेरी दया की देखी शान, दयानन्द तुम दया निधान ।।४।।

वेदों का कर अमृतपान, गुंजा दिये पर्वत में गान।
खिला दिया भारत उद्यान, जय जय दयानन्द भगवान ।।५।।
उज्ज्वल किया गुरु का नाम, कुल गौरव की राखी आन।
जग गाता तेरे गुण गान, जय जय योगी राज महान ।।६।।

दिव्य दिवाली रात, हुआ पावन तेरा निर्वाण।
अमर हुआ तेरा बलिदान, दिव्य दयानन्द देव महान ।।७।।
विश्व वन्द्य विद्या की खान, सन्त साधु जन के सम्मान।
"प्रेमी" के गुरुदेव महान, जय जय दयानन्द भगवान ।।८।।

राष्ट्रभाषा सम्मेलन या अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन ?

• डा० वेदप्रताप वैदिक

भाषा के प्रश्न पर आर्य समाज को नये सिरे से विचार करने की जरूरत है। हम यह देख रहे हैं कि आर्य समाज के हर बड़े उत्सव पर राष्ट्र-भाषा सम्मेलन का आयोजन किया जाता है तथा आर्य समाज के अलावा अन्य कई संस्थाएं भी हिंदी या राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिए कटिबद्ध हैं तथापि स्वतन्त्र भारत में हिंदी का प्रभाव दिनोदिन गिरता जा रहा है। इसका क्या कारण है? इस कारण को यदि नहीं खोजा गया तो अगले हजार बरस तक राष्ट्रभाषा सम्मेलन करने के उपरांत भी हिंदी अपने स्थान से एक अंगुल आगे नहीं बढ़ेगी।

वास्तव में राष्ट्रभाषा का प्रचारक यह नहीं जानता कि उसका असली दुश्मन कौन है ? यह है—अंग्रजी ! जब तक अंग्रेजी का दबदबा खत्म नहीं किया जायेगा, हिंदी कभी आगे नहीं बढ़ेगी। हम लोग हिंदी चलाने की बात करते हैं लेकिन अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम की पाठशालाओं में भेजना पड़ता है, नौकरी प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी का इस्तेमाल करना पड़ता है और देश में चलनेवाला सारा ऊंचा काम-काज अंग्रेजी में होता है। अब आप हिंदी की जय बोलते रहिये लेकिन हिंदी जहां है, वहीं रहेगी।

आज हिंदी को चलाने के बजाय अंग्रेजी को हटाने की जरूरत है। अंग्रेजी हटाओ का मतलब यह कतई नहीं है कि हमें अंग्रेजी से नफरत है। किसी भी भाषा या साहित्य से कोई मूर्ख ही नफरत कर सकता है। यदि कोई स्वेच्छा से अंग्रेजी या दुनिया की अन्य भाषाएं पढ़ना चाहे, उनके माध्यम से ज्ञान का दोहन करना चाहे तो हमें प्रसन्नता ही होगी। लेकिन आपत्ति तब उपस्थित होती है जब ज्ञान के एक साधन को रुतबे का, विशेषाधिकार का, शोषण का हथियार बना लिया जाय।

अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन अंग्रेजी का नहीं, बल्कि उसके रुतबे का, विशेषाधिकार का, उसकी शोषणकारी प्रवृत्ति का विरोधी है। इसलिए हमने कहा 'अंग्रेजी हटाओ' हमने यह कभी नहीं कहा कि 'अंग्रेजी मिटाओ'। अब सवाल यह है कि अंग्रेजी कहां से हटे ? न्यायालय से हटे, राजकाम से हटे, कारखानों से हटे, फौज से हटे, अस्पताल से हटे, पाठशाला प्रयोगशाला से हटे, घर-द्वार-बाजार से हटे। हट कर कहां जाय ? पुस्तकालयों में जाए, विदेशी भाषा-शिक्षण संस्थानों में जाए। वहां भी सारी जगह घेरकर पसरे नहीं। दुनिया की अन्य भाषाओं के लिए भी थोड़ी-थोड़ी जगह खाली करे। हटना उसे सभी जगह से पड़ेगा। कहीं से थोड़ा, कहीं से ज्यादा।

लुधियाना के कुछ आर्य समाजी बंधुओं ने मुझ से कहा कि 'अंग्रेजी हटाओ' में निषेधात्मकता की गंध आती है। यह 'निगेटिव' नारा है। मैंने पूछा, अहिंसा क्या है, अस्तेय क्या है, अपरिग्रह क्या हैं, ब्रह्मचर्य क्या है ? क्या ये सब निषेध के सिद्धांत नहीं हैं ? आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने पाखंड-खंडिनी पताका फहराकर बुराइयों को टक्कर मारकर गिराने का जो साहस पैदा किया, क्या वह निषेधात्मक नहीं है ? सत्यार्थप्रकाश के आखिरी चार समुल्लासों में क्या स्वामी जी ने पाखंडों को बेरहमी से नहीं ढहाया है ? महात्मा गांधी का 'असहयोग' क्या था ? इंदिरा गांधी का 'गरीबी हटाओ' क्या है ? यह नारा निषेधात्मक ही नहीं है, बल्कि 'अंग्रेजी हटाओ' की भोंडी-सी नकल भी है (क्योंकि गरीबी तो मिटाई जानी चाहिए)। निषेध से डरिए मत। सृष्टि के नियम को समझिए। बिना ध्वंस के निर्माण नहीं हो सकता। छोटा-सा मकान भी बनाना हो तो नींव खोदनी पड़ती है। जो खुदाई के डर से नींव नहीं डालता, उसके मकान का अंजाम क्या होगा ? वही होगा जो पिछले पच्चीस वर्षों में हिंदी का हुआ। हिंदी वाले लोग अंग्रेजी को हटाये बिना हिंदी को लाना चाहते थे। नतीजा क्या हुआ ? अंग्रेजी अपने स्थान पर जमी रही और हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में एक नकली लड़ाई चल पड़ी। अंग्रेजी हटाओ आंदोलन इस नकली लड़ाई का विरोध करेगा। वह समस्त भारतीय भाषाओं को अंग्रेजी के वर्चस्व के विरुद्ध एक सशक्त चट्टान की तरह खड़ा करना चाहता है। जब तक अंग्रेजी नहीं हटती, भारतीय भाषाएं एक नहीं होंगी।

अंग्रेजी हटाओ आंदोलन और हिंदी चलाओ आंदोलन में भी बुनियादी फर्क है। हिंदी आंदोलन वाले लोग चाहते हैं कि अंग्रेजी का स्थान हिंदी ले ले ! उन्हें इस बात की चिंता नहीं है कि अंग्रेजी की तरह हिंदी भी शोषण का, विशेषाधिकार का और रुतबे का हथियार बन सकती है। अगर हिंदी के आने का नतीजा यह हो कि अन्य भाषावालों के लिए नौकरियों का,

अवसरों का, आगे बढ़ने का मार्ग दुर्गम हो जाए तो फिर हिंदी को लाने से फायदा क्या हुआ ? वह भी अंग्रेजी की तरह देश में गैर-बराबरी को बढ़ाएगी। फर्क इतना होगा कि आज अंग्रेजी के कारण जहां दो प्रतिशत लोग सारे देश को रौंद रहे हैं, वहां ३० प्रतिशत लोग बाकी ७० प्रतिशत लोगों के साथ अन्याय करेंगे। आर्य समाजियों को हर अन्याय के विरुद्ध लड़ना चाहिए। चाहे वह छोटा हो या बड़ा। मैं नहीं चाहता कि मेरी मातृ-भाषा वही घिनौना कार्य करे जो कि अंग्रेजी कर रही है। इसीलिए हम सारे देश में हिंदी को थोपने के विरोधी हैं।

इसका मतलब यह नहीं है कि हमने सारे देश को जोड़नेवाली भाषा के सवाल पर विचार नहीं किया है। सारे देश को जोड़नेवाली भाषा कोई भी भारतीय भाषा हो सकती है। लेकिन इस काम के लिए हिंदी सबसे अधिक अनुकूल भाषा होगी क्योंकि किसी भी एक भाषा की तुलना में इसके बोलने वाले सबसे ज्यादा हैं, इसकी लिपि—देवनागरी—सरल और वैज्ञानिक है तथा यह भाषा भारत के सबसे बड़े इलाके में बोली जाती है। जहां तक हिंदी देशकीसारी भाषाओंकोजोड़ती है, वहां तक हिंदी को लाने में हमें कोई एतराज नहीं है। लेकिन हिंदी अन्य भाषाओं का हक मारे, यह उचित नहीं है। हर प्रदेश में, उस प्रदेश की भाषा पूरी तरह से चलनी चाहिए। केंद्र में भी प्रदेशों से आने वाले लोगों को अपनी-अपनी भाषा के जरिए नौकरी पाने, संसद में बोलने, न्याय पाने और शिक्षा पाने का पूरा अधिकार होना चाहिए। उन्नति के अवसरों में हिंदी को आड़े नहीं आना चाहिए। हिंदी का काम केवल विभिन्न भाषा-भाषियों के बीच संपर्क स्थापित करना है। केंद्रीय सरकार और केंद्रीय संस्थाओं का अपने तई सारा काम काज केवल हिंदी में चल सकता है, चलना चाहिए। लेकिन प्रदेशों से उनकी भाषा में आनेवाले पत्रों को केंद्र के द्वारा न केवल स्वीकार किया जाना चाहिए बल्कि उन्हीं की भाषा में उन पत्रों का जवाब दिया जाना चाहिए। किसी व्यक्ति, संस्था या प्रादेशिक सरकार को इसलिए घाटे में नहीं रखा जाना चाहिए कि वह हिंदी में प्रवीण नहीं है।

इस कार्य को कम खर्चीला और सुगम बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हर सरकारी विभाग के साथ कुछ अनुवादक संलग्न कर दिये जायं। ऐसे अनुवादक भी हो सकते हैं, जो कि तीन-तीन, चार-चार, पांच-पांच भाषाएं एक साथ जानते हों। इन अनुवादकों पर होनेवाला खर्च अनिवार्य अंग्रेजी को चलाए रखने के लिए होने वाले खर्च से निश्चित रूप से कम होगा।

सोवियत संघ और यूरोप के उन देशों में जहां अनेक भाषाएं बोली जाती हैं वहां ऐसा ही किया जाता है। कोई भी देश अनुवाद के खर्चे के डर से किसी विदेशी भाषा को अपने आप पर नहीं लादता। देशी भाषाओं की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एक होने के कारण उनमें परस्पर अनुवाद करना इतना सरल होता है कि कुछ ही वर्षों में बहुत से लोग अपने आप कई भाषाएं सीख जाते हैं और फिर अनुवादकों की जरूरत नहीं रहती, जैसा कि स्विटजरलैंड और यूगोस्लाविया में हुआ है।

इस बात पर यह आपत्ति की जा सकती है कि सरकार अपना समय राजकाज में लगाये या वह इन भाषाओं के चक्कर में पड़ जाए। मैं पूछता हूं कि अगर जनता से सीधे उसकी जुबान में उसके दुःख दर्द नहीं सुनोगे और सीधे उसकी जुबान में उसकी समस्याओं का समाधान नहीं दोगे तो अच्छा और सच्चा राज-काज कैसे चलाओगे ? नकली समस्याओं और उनके नकली समाधानों का राज-काज तो इस देश में पिछले पच्चीस साल से चल ही रहा है। अगर आप देश के एक औसत आदमी को यह विश्वास दिलायेंगे कि बड़े से बड़े स्तर परभीउसकीभाषा कोनीचा नहीं देखना पड़ेगा तो काम-चलाऊ हिंदी सीखने में उसे जरा भी एतराज नहीं होगा। आज दक्षिण का आदमी हिंदी का विरोध क्यों करता है ? सिर्फ इसलिए कि उसे डर है कि उसकी नौकरियां चली जायेंगी। वह अवसरों की दौड़ में पिछड़ जायगा। हिंदी आंदोलन ने 'हिंदी-हिंदी' चिल्लाकर इस डर को बढ़ाया है इस डर को पुख्ता तौर पर खत्म किया जाना चाहिए। यह डर तभी खत्म होगा जब कि अंग्रेजी हटेगी। अंग्रेजी हटेगी तो उत्तर भारत के लोग दक्षिण की भाषाएं सीखेंगे। अंग्रेजी रहती है तो उत्तर भारत के लोग सोचते हैं कि तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम सीखकर क्या करेंगे ? अंग्रेजी में ही बात कर लेंगे। इसी प्रकार दक्षिण वाले भी सोचते हैं। जब अंग्रेजी में काम चल जाता है तो हिंदी क्यों सीखें ? इस प्रकार अंग्रेजी की कृपा से उत्तर-दक्षिण के बीच सच्चा मेल-मिलाप ही नहीं होता। अंग्रेजी के जरिये जो नकली मेल-मिलाप होता है, वह भी कितने लोगों का ? २ प्रतिशत लोगों का भी नहीं। इन्हीं दो प्रतिशत लोगों का काम चल रहा है। बाकी ९८ प्रतिशत लोगों का काम ठप्प है। उनके जीवन में अँधेरा ही अँधेरा है। अँधेरे वाले लोगों में दक्षिण और उत्तर की सभी साधारण जनता शामिल है। अंग्रेजी हटाओ आंदोलन देश के करोड़ों लोगों को अँधेरे से उजाले की ओर ले जायेगा। वह उत्तर और दक्षिण में, पूरब और पश्चिम में कोई भेद नहीं करेगा। उसके लिए सारे देश की गरीब, ग्रामीण, दमित, पीड़ित, विपन्न जनता एक है। वह इस सामान्य जनता की भाषाओं को आगे लायेगा और एक छोटे से छोटे आदमी के दिल में भी यह अहसास पैदा करेगा कि वह अपनी भाषा के जरिये बड़े से बड़े पद पर पहुंच सकता है। इसी आधार पर मैं कहता हूं कि अंग्रेजी हटाओ मनुष्य मात्र की मुक्ति का आंदोलन है।

इस संक्षिप्त लेख में मैंने अंग्रेजी हटाओ आंदोलन पर मोटे तौर से विचार किया है। (इस विषय पर मेरे विचार विस्तार पूर्वक जानने के लिए पढ़िये—'अंग्रेजी हटाओ : क्यों और कैसे ? पुस्तक') अच्छा तो यह हो कि अपनी जन्म शताब्दी के अवसर पर आर्य समाज अंग्रेजी हटाओ आंदोलन को सारे देश में फैलाने का संकल्प करे। शुरुशुरू में चार-पांच बड़े-बड़े काम किये जायें। जैसे :

(शेष पृष्ठ ८२ पर)

महर्षि निर्वाण

• श्री पं० लक्ष्मीनारायण चतुर्वेदी, एम० ए०, साहित्यचार्य

आह ! ३१ अक्टूबर सन् १८८३ का ६ बजे का समय भी कैसा निर्मम था, जिसने विश्व की विभूति और आर्यजनों के प्राणभूत मूर्त महर्षि को सर्वदा के लिए छीन लिया। भारत के सौभाग्य ने अपने प्रभूत प्रभाव को जिस भव्यता के सन्मुनत शिखर पर पहुंचाया था, न जाने क्यों उसका औचित्य इस बली काल को फूटी आँख भी नहीं सुहाया।

आर्यजन अविलम्ब ही निरवलम्ब हो गये क्योंकि उनका आराध्य देव अनन्त समाधि साधना की आराधना में आबद्ध हो गया। सहृदयों के अन्तर्हृदय का हर्ष उस दुष्ट वर्ष की बलि चढ़ गया। आर्य-विचारों का प्रचार चिन्ता की चिता पर लेट गया। वेदभाष्य नैराश्य की आसन्दिका पर आसीन हो गया। सत्यासत्य अन्वेषण का भूपण न जाने किधर खो गया। विधाता का क्रूर कटाक्ष अपनी कक्षा से निकल कर आर्यत्व की रक्षा के पक्ष पर ही टूट पड़ा। कोटि-कोटि जनता की भाव-नाओं का केन्द्र-बिन्दु अदृश्य हो गया। ब्रह्मचर्य व्रत का अनवरत सर्वोच्च आदर्श केवल स्मृति के श्यामपट्ट पर ही अंकित रहने के लिए एकाकी पड़ गया। आर्य-ग्रन्थों का उद्धार हार खाने के लिए खुला छोड़ दिया गया। ऋषि-मुनियों की परम्परा का खुलता हुआ द्वार दुर्दैव के लिए एक ही वार से ध्वस्त हो गया। वैदिक विज्ञान का सूर्य उदय होने से पूर्व ही राहु-ग्रस्त हो गया। एक ओर भारतीय संस्कृति की आंखों में आंसू छलक आये, तो दूसरी ओर भारतीय सभ्यता का गला ही रुँध गया।

विधवाओं का करुण-क्रन्दन जिसका वन्दन करता था, अनाथों का चीत्कार जिसके सौहार्द का अभिनन्दन करता था, गो-रक्षा का आन्दोलन जिसकी अन्तः अनुकम्पा का पुनीत पर्व था और गुरुकुलीय शिक्षा का अक्षीण कोष ही जिसका सर्वस्व था, आः वह मंगलात्मक अभ्युदय भी विधाता को सहन न हुआ !

आर्य-भाषा की महत्त्वपूर्ण परिभाषा जिस आशा का दीप प्रदीप्त कर-के लाई थी, दीपावली ने उसे महाबली छली काल की निराली गति को सौंप दिया।

स्वराज्य का प्राज्य विज्ञान जब नैतिक साहस की हीनता के कारण अपने दुर्दैव के निवारण की भिक्षा मांग रहा था, उसकी झोली में उलझी "समझ बूझ की गुत्थी सुलझने वाला" जैसे ही कुछ डालने को हुआ कि डाइन-हृदय समय के चक्र ने अपनी कुचाल चलने में स्वल्प भी संकोच नहीं खाया।

स्वदेश का वह भव्य प्रदेश, सदाचार, सद् विचार, सद्-भाव का साक्षात् स्वभाव, सुरीतियों, सुनीतियों का महान उन्नायक, कुप्रथाओं, दलितदीनों की व्यथाओं का उन्मन्थक, सहिष्णुता प्रभविष्णुता और जिष्णुता का निष्णात विष्णु न जाने किधर अन्तर्ध्यान हो गया। न जाने कितने युगों के अनन्त ब्रह्मचर्य व्रत को एक अखण्ड व्रती मिला था, जिसने हनुमान्, भीष्म, बुद्ध आदि महान् मनस्वियों के महत्त्व से भी ऊपर उठकर हठात् कठोर और अकुण्ठित आदर्श को प्रतिष्ठित किया था, किन्तु कर्कश और जिस किसी के भी प्राणाकर्षक उद्धत विधाता को इससे क्या प्रयोजन ?

कुमार मार्गण के मानव मृग वाम-मार्गी जब वाम मार्ग के प्रसार का जटिल पाश लेकर समस्त जनसमुदाय को विभ्रान्त करने का षड्यन्त्र रच रहे थे, उनके कुचक्र को चकनाचूर करने वाला एकसर्वोच्च विचारक आह! देखते-देखते ही छीन लिया गया। हिन्दुत्व के ह्रास को जब सहिष्णुता की सीढ़ी से उतरकर आर्तनाद करने के लिए उकसाया गया, तो मूर्खता की प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व भी देखिए कैसी विडम्बना थी।

पाखण्ड-खण्डिनी पताका का पता कानों-कान जिस प्रकार फैल रहा था, उसका अन्तिम फल विफल करने के लिए ही सम्भवतः पक्षपाती ने फाँसी का फंदा फेंका होगा।

अद्वैतवाद का विवाद त्रैतवाद से भिड़कर, अवतारवाद का मण्डन अवतारवाद के खंड़न से खंडशः होकर, निरीश्वरवाद का प्रसार सेश्वरवाद से निरस्त होकर जब अन्तिम घड़ियां गिन रहे थे, उसी समय दैव के अनभ्र वज्रपात ने अपना अट्टहास करने की ठानी।

जड़-पूजा, जड़-विश्वास और जड़-सिद्धान्तों का अध्याय जब सर्व-साधारण की जड़-बुद्धियों के पृष्ठों पर बढ़ता ही जा रहा था-तब एक ही धीर की सुधी सुबोध साधना का चित्र खींच रही थी, जिसका कि अकथ-नीय कौशल भी सनकी काल को नहीं सुहाया।

आह दैव ! तुम्हें झूठे कर्मकाण्डियों के द्वारा यज्ञों में पशु-बलि स्वीकार

करना तो भाता रहा, किन्तु जीव मात्र के परम हितैषी याज्ञिक की अहिंसक यज्ञ प्रक्रिया पर भौंहें तानने का ताव चढ़ गया।

हा विधातः! जैन, बौद्ध, चार्वाक, पौराणिक, ईसाई, यवन आदि की विभ्रान्त साम्प्रदायिक पद्धतियां तो तुम्हारे गले उतरती रही? किन्तु वेदोदित सार्वभौमाभिराम सिद्धान्त सिद्धियां तुम्हारे धवल ध्येय की आराधना में साधना का काम न दे पाई।

आः विश्व नियति के निर्णायक! विश्व को अनार्यत्व की सृष्टि में बसाने वाले अपनी अनीतियों और अनर्थों में फूलते-फलते रहें और आर्यत्व को आप्रलय अमर बनाने का अवसर ढूंढ़ने वाले मृत्यु की विमूढता पर ढकेल दिये जायें? सामान्य जनता के निर्मम प्रवञ्चक ज्योतिर्विदाभासों की आशाओं पर तुषारपात करने के लिए उस शूर-सेनानी का शिशिर काल बनकर आना भी क्या कोई अपराध था?

सहशिक्षा की दीक्षा देने वाले पण्डितम्मन्यों की मनमानी पर गतिरोध का अंकुश लगाना भी क्या कोई अकार्य था? गुरुकुलीय पद्धति द्वारा गुरु-शिष्य परम्परा की प्रवृत्ति का उद्धार करना भी क्या कोई भीषण षड्यन्त्र था।

स्त्री जाति की अशिक्षा के कुलक्ष्य पर अक्षीण प्रहार करना भी क्या आक्रान्ता की कोटि में गिना जाएगा? ओ विधाता! कुछ तो बताओ? क्या तुम्हारा यह अभिप्राय है कि मानव मात्र को मानवता का अधिकार दिलाने वाली वराकी वर्ण व्यवस्था सिसकती ही रहती? प्राणी मात्र को परम पावन परम प्रभु काम पर पुनीत वेद ज्ञान जड़ पुस्तकों के जड़ पन्नों पर ही पड़ा-पड़ा सड़ता रहता? ऊंच-नीचता के भेद भावों को भुलाने वाली भारतीयता अपने भाग्य को कोसती ही रहती? धर्म के नाम पर धर्म की धज्जियां उड़ाने वाली धर्माभास धर्मधम्मियों की अधीर धारणायें इस धरा धाम पर पूर्ण विश्राम करती रहती?

बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह की अविहित विधि अविरत अमूल्य जीवनों से खिलवाड़ करने के लिए छोड़ दी जाती? सच तो बताओ, क्या तुमने उस समय की अराजकता की स्वच्छन्दता को अपनी छत्र छाया देकर मानव जीवन की शान्ति के साथ अन्याय नहीं किया? और थोड़ा इधर भी देखिए विचारी, आश्रम व्यवस्था, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास के उज्ज्वल स्वरूप को सजाने के लिए हाथों में प्रसाधन लिए-लिए ही आंसू बहा रही है। आर्य संस्कारों की विशुद्ध सरणि कीट दष्ट अरणि के समान प्रकाश दिखाने में हतप्रभ हो रही है। आर्य जाति के जीवन घुन के समान लगे व्यसनों को दो-दो हाथ दिखाने की क्षमता मुंह छिपाकर आत्म-हत्या करने पर उतारू हो रही है। आर्य राज्य का स्वप्न मौन होकर अपने महत्व के अहंकार पर पश्चात्ताप करने की सोच रहा है।

यदि इतने पर भी दैव तुम्हें सन्तोष नहीं तो क्या उन दिनों के देखने के लिए फिर छाती पर पत्थर रखना पड़ेगा। जब ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र और विश्वामित्र तथा श्रीकृष्ण आदि मनस्वी महात्माओं को चारित्रिक लाञ्छन लगाकर उसके पीछे पाशविक इच्छा पूर्ति का उपक्रम प्रयुक्त करते हुए लक्षों होनहार युवक और युवतियों तथा कुल क्रम से प्राप्त कुलीन कुलों से संकुल समाज व्यवस्था को आमूल विच्छिन्न कर देने का कमाल किया था? और क्या फिर वही युग आना चाहिए जब वेदों में महीधर आदि भाष्यकारों द्वारा सत्रीक यजमान को यज्ञशाला में आकर पशु अश्व के माध्यम से प्रजननार्थ निर्लज्जता को भी तिलांञ्जलि दिलाने का विधान प्रस्तुत किया गया था? और क्या फिर वही अन्धकार छा जाना चाहिए जब गौतम पत्नी अहिल्या से इन्द्र के बलात्कार की पौराणिक गाथा को मन्त्रार्थ की निष्पत्ति से जोड़ दिया गया था? और क्या अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि साधने वाला धर्म फिर उसी अज्ञान कूप के कूड़े में धकेल दिया जाना चाहिए जहां तू ब्रह्म और मैं ब्रह्म का नारा लगाकर उद्दाम वासनाओं की दिशा में कामातुरता के नाटक खेले जायें? क्या फिर अपनी पुनीत संस्कृति अपना अपनत्व त्यागकर धूर्त भण्ड और निशाचरों की पैशाचिक प्रवृत्ति का कोश बन जाये?

तब हे प्रगति युग के प्रतिस्पर्धिन् विधे! अहिंसा को साहस प्रदान करने वाला, सत्य को सान्त्वना देने का व्रती, सत्य को एवस्ति कहने वाला, ब्रह्मचर्य व्रत को अविरत समृद्धि देने का धनी, अपरिग्रह को विग्रह से बचाने वाला शौचाचार के प्रचार में विचक्षण, सन्तोष सन्तति का सन्तत विस्तारक, तपोदीक्षा का अक्षीण शिक्षण कर्त्ता, वैदिक स्वाध्याय का आराध्य देवता और ईश्वरप्रणिधान का वास्तविक सन्निधान—बताओ किधर भेज दिया।

आः सत्य सिद्धान्तों के आधार! यह धरा अब अधरा हुई जा रही है। वह देखो तुम्हारे पाद पद्मों से ठुकराई गई उदयपुर राज्य की गद्दी आज भी तुम्हारे अद्भुत् त्याग की मूकभाषा में ही गाथा गा रही है।

अपने विषदाता को भी कैद से छुड़ाने की भावनाभिव्यक्ति से अद्भुत तुम्हारी शिलोच्चय के समान अविचल सहिष्णुता को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि रोमाञ्चों से वञ्चित बिचारा शेषनाग केवल अपनी उज्ज्वल फणामणियों की श्रेणी से आरती उतारने तक ही सीमित रह गया है। कांच पिलाने वाले को भी आंच न आने देने के लिए अशर्फियों की थैली देने वाले! प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो कहकर मृत्यु को भी आशीर्वाद देने वाले अद्भुत् स्वरूप! नयनाभिराम! तुम्हें शत-शत प्रणाम है। निर्भय आचरण के आचार्य! इस अकिञ्चन का अश्रु बिमिश्रित चरणस्पर्श स्वीकार हो। अस्खलित तपोव्रत के निकुञ्ज! वैदिक आदर्शों के पुंज! यह मनोगुञ्जित तुम्हारी यशः प्रशस्ति गान की झंकृति अनहंकृति के ध्वनियंत्र (रेडियो) से रिस-रिसकर सर्वदा प्रसारित होती रहे, ऐसा वरदान दे दो।

दीपावली की प्रदीप्त दीपमाला को अपनी उज्ज्वल ज्योति देकर गीर्वाणगीर्गुणगणार्जित निर्वाण की महिमा का प्रभुत्व बढ़ाने का तुम्हारा उद्देश्य विश्व को सुमार्ग दिखाता रहे, यह हमारी आकांक्षा क्षीण न होनी चाहिए।

वैदिक समाज व्यवस्था

• डा० दिलीप वेदालंकारएम. ए., पी-एच. डी.

पूंजीवादी समाज-व्यवस्था एवं उसके भयंकर दुष्परिणाम

इस समय विश्व में पूंजीवाद, साम्यवाद, समाजवाद, राष्ट्रीय समाजवाद आदि अनेक आन्दोलन चल रहे हैं। व्यक्ति स्वातन्त्र्यवादी कहते हैं कि व्यक्तियों से समाज व राष्ट्र का निर्माण होता है। व्यक्ति की उन्नति से समाज और राष्ट्र की उन्नति होती है। अतः अपनी उन्नति करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। मनुष्य को स्वतन्त्रता न रही तो मानव व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो सकता। दूसरी ओर पूंजीवादी व्यवस्था है जिसमें समाज की व्यवस्था ऐसी है कि पूंजीपति मजदूर से मजदूरी कराते हैं और स्वयं निठल्ले रहकर भी उसकी कमाई का बड़ा हिस्सा स्वयं खा जाते हैं। एक ओर तो वे लोग हैं जो गगनचुम्बी राज-प्रासादों में रहते हैं और दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जिन्हें पौष की कड़कड़ाती सर्दी, ज्येष्ठ की तपती दुपहरी और सावन की झड़ी से सिर छिपाने के लिए फूस की झोंपड़ी भी नसीब नहीं होती। एक ओर वे लोग हैं जो चांदी और सोने के बर्तनों में दिन में कई बार राजसी आहार द्वारा अजीर्ण के शिकार बने रहते हैं तो दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जिनको अपना पेट भरने के लिए मुट्ठी भर दाने भी नसीब नहीं होते। पूंजीवादी कहता है कि उसने पूंजी लगाई है और इसलिए कमाई का असली हकदार वह है। इस प्रकार की पूंजीवादी व्यवस्था मजदूर और पूंजीपति इन दोनों की ही आत्मा का पतन करती है। इस व्यवस्था में जहां करोड़ों लोग गरीबी के अवर्णनीय कष्ट भोगते हैं, वहां अनेक बार वे गरीबी से तंग आकर धर्म, नैतिकता व सत्य का मार्ग छोड़ कर चोरी, डाके, ठगी व लूटपाट प्रारम्भ कर देते हैं। दूसरी ओर धनपति वर्ग अपनी पूंजी को निरन्तर बढ़ाने के नशे में अपनी विक्रय वस्तुओं की कीमतों को मनमाने ढंग से बढ़ाते जाते हैं। स्टाक जमा करके नकली अभाव और अकाल उत्पन्न करते हैं। जरूरत मंद गरीब लोगों को ऋण देकर भारी ब्याज वसूल करते हैं। भौतिकतावादी समाज व्यवस्था में व्यक्ति की भांति ही समाज और राष्ट्र की वृत्ति भी इसी प्रकार शोषण द्वारा धन कमाने की होती है। धन के लोभी लोग राष्ट्र रूप में संगठित होकर दूसरे दुर्बल देशों पर आक्रमण करके उन्हें निरन्तर शोषण द्वारा सर्वथा पंगु बना देते हैं। विजेता राष्ट्रों द्वारा विजित राष्ट्रों पर किए गए अन्याय और अत्याचारों की दुःख भरी कहानी से इतिहास भरा पड़ा है। सिकन्दर महमूद एवं नैपोलियन का युग और बड़े-बड़े राज्यों का वाणिज्य व्यापार से रुपया कमाने का युग—ये दोनों पूंजीवाद के युग हैं। राजा लोगों का फौजें लेकर लूट के लिए निकल पड़ना और अंग्रेज व्यापारियों का उपनिवेशों द्वारा धन इकट्ठा करना, ये दोनों ही पूंजीवादी विचार धारा के प्रमाण हैं। पिछले दो महायुद्धों के मूल में भी वस्तुतः यही धन, लिप्सा एवं दूसरे को हड़प लेने की प्रवृत्ति रही।

साम्यवादी समाज-व्यवस्था

पूंजीवादी समाज व्यवस्था के भीषण वैषम्य और अमानवीय अत्याचारों के विरुद्ध जर्मनी के महाचिन्तक कार्ल मार्क्स ने आवाज़ बुलन्द की। कार्ल मार्क्स द्वारा बताए गए साम्यवाद या कम्यूनिज्म का उद्देश्य है मनुष्य जाति में वह अवस्था उत्पन्न कर देना जो कुटुम्ब में होती है। अर्थात् हर व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार काम करे, अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोग करे, किसी की अपनी सम्पत्ति न हो और समस्त सम्पत्ति में सबका साझा हो। यह अवस्था कुटुम्ब की होती है, और जो सम्प्रदाय समस्त मानव जाति में यह अवस्था उत्पन्न कर देना चाहता है उसे कम्युनिस्ट या साम्यवादी कहेंगे।

साम्यवाद विश्व में कुटुम्बवादी व्यवस्था उत्पन्न करना चाहता है। कुटुम्ब में उसका स्वामी दिन भर अथवा परिश्रम कर के पैसा कमाता है। उसकी पत्नी घर के कामों में दिन-रात लगी रहती है। उनके बूढ़े मां-बाप से कुछ होता ही नहीं। छोटा बच्चा भी असमर्थ होने के कारण कुछ नहीं करता। बड़ा भाई यह शिकायत नहीं करता कि उसका छोटा भाई तो दिन भर खेलता ही रहता है और कुछ नहीं कमाता है। कुटुम्ब के इस नियम को कहते है 'शक्त्यनुपातीश्रम' अर्थात् हर व्यक्ति को उतना काम अवश्य करना चाहिए जितना करने की उसमें शक्ति है। (From every body according to his capacity) आवश्यकतानुपाती और शक्त्यनुपाती श्रम (Enjoyment according to needs and work according to

capacity) ये दो मौलिक नियम हैं जिन पर कुटुम्ब की आधार शिला रखी गयी। कम्यूनिज़्म कहता है कि यह बात संसार भर की मानव जाति पर लागू होनी चाहिए। अर्थात् मानव जाति का एक बड़ा कुटुम्ब है। इसमें हर मनुष्य को उतना काम करना चाहिए जितनी उसमें शक्ति है। और उसके उपभोग की वह समस्त सामग्री उसके लिए उपलब्ध होनी चाहिए जो उसके सुखपूर्वक जीवन के लिए आवश्यक है।

कुटुम्ब में तीसरी बात यह है कि कोई किसी पर शासन नहीं करता। इस प्रकार कुटुम्ब के दो भाग नहीं होते—एक शासक वर्ग दूसरा शासित वर्ग। एक राजा, दूसरी प्रजा। एक प्रबन्धक तो होता है। वह कुटुम्ब की सम्पत्ति का प्रबन्ध करता है। सम्पत्ति समस्त कुटुम्ब की होती है, एक व्यक्ति की नहीं। इसी प्रकार हमारे मनुष्य-समाज में कोई साम्राज्य या सम्राट नहीं होना चाहिये, कोई व्यक्ति सम्पत्ति न रखे। सम्पत्ति राष्ट्र भर की हो। राष्ट्र प्रबन्ध कर्त्ताओं को चुन देवे। वे समस्त सम्पत्ति का प्रबन्ध करें। उसी सम्पत्ति में से सब को आवश्यकतानुसार खाना कपड़ा मिलता रहे।

कुटुम्ब में चौथी बात यह होती है कि काम तो अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार सब करते हैं, परन्तु उस काम का पारिश्रमिक समस्त कुटुम्ब का धन समझा जाता है, केवल कमाने वाले व्यक्ति का नहीं। कल्पना कीजिए कि कुटुम्ब में चार भाई है। एक खेत करके १०० मन अन्न उत्पन्न करता है। दूसरा बजाज है और ५००/- मासिक कमाता है। तीसरा डाक्टर है और २०००/- मासिक पा जाता है, चौथा क्लर्क है और उसे केवल ८०/- मिलते हैं। इन चारों की रुचि भिन्न-भिन्न, शक्ति भिन्न-भिन्न और कमाई भिन्न-भिन्न। परन्तु यह सब कमाई कुटुम्ब की है, किसी की अपनी नहीं। कम्यूनिज़्म की मांग है कि यही अवस्था समस्त देश की या समस्त जगत् की होनी चाहिए। आय समस्त देश की हो, किसी एक की नहीं, काम सब करें और खायें भी सभी। परन्तु सम्पत्ति का स्वामी कोई एक न हो।

साम्यवादियों का कथन है कि पूंजी सब बुराइयों की जड़ है। अतः मनुष्य जाति को पाप-पंक से मुक्त करना है तो इसका एक मात्र उपाय यह है कि सम्पत्तिशून्य, सम्प्रदायशून्य, वर्गशून्य, साम्राज्यशून्य, साम्यवादी समाज की स्थापना करनी चाहिए।

साम्यवाद की उपर्युक्त धारणा आपाततः बहुत उदात्त एवं सुन्दर प्रतीत होती है। किन्तु साम्यवाद के प्रतिबन्ध केवल भौतिक हैं। वे केवल-मात्र कानून पर आधारित हैं। साम्यवाद का ध्यान केवल भौतिक धन सम्पत्ति पर है, मनुष्य की आत्मा पर नहीं। साम्यवाद का व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार न करना भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा अव्यावहारिक है। साम्यवादी राष्ट्रों में काम कम होता है, समय अधिक लगता है तथा निर्माण घटिया ढंग का होता है। सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और अधिकार सर्वथा ही न रहने रहने देने का यह साम्यवाद का आदर्शवाद साम्यवाद के सबसे बड़े पोषक रूस में भी अपने शुद्ध रुप में स्थिर न रह सका। पहले रूस में कर्मचारियों को वेतन नहीं मिलता था। काम के बदले पर्चियां ही दी जाती थीं, जिन्हें दुकानों पर देकर व्यक्ति उनके बदले में अपनी खाने-पीने व पहिनने आदि की आवश्यकताओं को पूरा कर सकते थे। परिणाम यह हुआ कि कर्मचारी सामर्थ्य से काम कम करने लगे। अतः रूस में कर्मचारियों को फिर से वेतन देने की पद्धति प्रारम्भ करनी पड़ी, और वेतन का आधार भी काम के महत्त्व तथा कर्मचारी की कुशलता को आंक कर होने लगा। रूस में आमदनी का अनुपात लगभग एक और अस्सी का है। इतना ही नहीं, कर्मचारियों से अधिक काम कराने के उद्देश्य से आज रूस में भी कर्मचारियों से ठेके पर भी काम करा लिया जाता है। अब वहां भी लोग बैंकों में अपना हिसाब रख सकते हैं अपने बचाये रुपये को उत्तराधिकार में देने की सुविधा भी वहां अब कर दी गई है।

साम्यवाद और प्रकृतिवादी है। किन्तु यदि जड़ प्रकृति के ही रूपान्तर का नाम जीवन है तो मनुष्य और पशु में इतना ही भेद है जितना कुर्सी और मेज में, यदि सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा ज्ञान के लक्षण वाली कोई सत्ता सिद्ध नहीं होती तो दुःखी सुखी मनुष्यों के दुःख निवारण और सुख प्राप्ति की ऊहापोह भी व्यर्थ है। जड़वाद का पहला परिणाम यह है कि आचारशास्त्र की जड़ काट दी गयी। दया, क्या वस्तु है? जैसे किसी कुर्सी के चार पाएं तोड़ देने से या उसको जला देने से कुर्सी की कोई हानि नहीं होती, इसी प्रकार प्राणी हत्या भी कोई दूषित कर्म नहीं। जिसको चाहो मार डालो, जिसको चाहो जीवित रखो। इसी भौतिक दृष्टिकोण के कारण ही १९१७ की क्रान्ति के पश्चात् लाखों जमींदारों को गोली के घाट उतार दिया। अनुमान लगाया गया है कि इस प्रकार मौत के घाट उतारे गये जमींदारों की संख्या ७० लाख तक पहुंच गई होगी और इस गड़बड़ के कारण खेती ठीक न हो सकने से जो अकाल पड़े उनमें भी लगमग ५० लाख व्यक्तियों की बलि हो गई। इसके अतिरिक्त रूस में ५० लाख से भी अधिक ऐसे व्यक्तियों का सफाया कर दिया गया जो साम्यवाद से भिन्न राजनीतिक विचारधारा रखते थे। इसी प्रकार चीन में भी भयंकर नरसंहार में करोड़ों लोगों की बलि दी गई। साम्यवादी देशों में लोगों को सोचने-विचारने, कहने और करने की स्वतन्त्रता का सर्वथा लोप किया जाता है। इस परम्परा में अहिंसा, सत्य, त्याग, न्याय, दया, आदि नैतिक व चारित्रिक गुणों का सर्वथा लोप हो जाता है।

वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था: व्यष्टि एवं समष्टि की उन्नति का उपाय

वस्तुतः आज के पूंजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। ऐ एक ही भौतिकतावादी व्यवस्था के चट्टे-बट्टे हैं। तीनों का उद्देश्य पैसा और अधिकार है। तीनों मनुष्य की असली समस्या को पैसे से सम्बद्ध समझते हैं। इसके विपरीत वैदिक संस्कृति द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम की पद्धति पर आधारित समाजव्यवस्था व्यक्ति और समाज को भौतिक व आत्मिक दोनों प्रकार की भूख-प्यास शान्त करती है। हम जब

तक भौतिकतावादी बने रहेंगे तब तक विश्व-शान्ति और विश्व-प्रेम का नाम भर लेते रहेंगे, इन्हे प्राप्त नहीं कर पाएंगे। वैदिक संस्कृति का आध्यात्मवाद यह नहीं कहता कि हमें शरीर को भूल जाना है या हमें मनुष्य की आर्थिक समस्या को हल नहीं करना। सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखने वाले ऋषि शरीर को घृणा की दृष्टि से कैसे देख सकते थे? वैदिक संस्कृति भौतिकवाद का तिरस्कार नहीं करती: उसे विकास के मार्ग में अपना साधन समझती है, क्योंकि इस संस्कृति के दृष्टिकोण में शरीर आत्मा की तरफ से जाने का साधन है, प्रकृति परमात्मा की तरफ ले जाने का साधन है। हम शरीर से चलें परन्तु तब रुक न जाएं। प्रकृति से चलें परन्तु प्रकृति पर न रुक जाएं—यही आज के युग को वैदिक संस्कृति का सन्देश है। इसी अभ्युदय और निःश्रेयस् के लिए व्यष्टि और समष्टि के पूर्ण विकास के लिए वैदिक ऋषियों ने वर्णाश्रम व्यवस्था प्रारम्भ की थी। वेद सब मनुष्यों को उसी परम पिता परमेश्वर की सन्तान मान कर सब में समदृष्टि रखने का उपदेश देता है। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये सब मनुष्य भाई हैं, इनमें से कोई जन्म से बड़ा नहीं और कोई छोटा नहीं, इस समानता के भाव को धारण करते हुए सब ऐश्वर्य या उन्नति के लिए मिल कर आगे बढ़ते हैं। वेद के अनुसार व्यक्ति समाज का एक अंग है और इसलिए समाज की उन्नति के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को लगा देना उस का प्रधान धर्म है। वेद में मनुष्य के लिए 'व्रात' शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ समुदाय अथवा संघप्रिय है। इससे मनुष्य सामाजिक प्राणी है इस प्रसिद्ध उक्ति का ही समर्थन होता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के अन्तिम सूक्त में संगतिककरण अथवा संघ बनाकर उन्नति करने का अत्युत्तम उपदेश किया गया है, जिनमें मिल कर जाने अर्थात् उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए सामूहिक यत्न करने, परस्पर मधुर वाणी बोलने और मन की उत्तम शिक्षा के द्वारा सुसंस्कृत करने व ज्ञान-सम्पन्न बनाने का भाव पाया जाता है। वैदिक समाज-व्यवस्था का दूसरा आधार है त्याग-पूर्वक उपभोग। संसार के उपभोग के दो प्रकार हैं, एक तो उसमें लिप्त होकर और दूसरा उससे अलिप्त रहकर। संसार में लिप्त रहने से अन्त में दुःख और उससे अलिप्त रहने से सुख मिलता है। इसलिए वेद कहता है अलिप्त रहकर उपभोग करो। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वैदिक ऋषियों ने मानव-जीवन को चार आश्रमों तथा मानव-समाज को चार वर्णों में विभक्त किया था तथा इन आश्रमों और वर्णों के कर्त्तव्य निश्चित किये थे। यही वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था सब प्रकार के वर्ग भेदों को समाप्त कर लोक-संग्रह और व्यष्टि को सर्वविध उन्नति के मार्ग खोलती है।

●●

(पृष्ठ ७८ का शेष)

(१) संघ तथा प्रादेशिक लोक-सेवा आयोगों की परीक्षा से अंग्रेजी की अनिवार्यता समाप्त करवायें।

(२) अंग्रेजी माध्यम वाले स्कूलों को बंद करवायें।

(३) स्कूलों और कालेजों में अंग्रेजी की अनिवार्य पढ़ाई खत्म करवायें।

(४) न्यायालयों और विधान सभाओं में अंग्रेजी के प्रयोग को अवैधानिक घोषित करायें।

(५) बाजारों और घरों पर लगे अंग्रेजी नामपटों को पोतें।

इन सब कार्यों को करने के लिए आर्य समाज को पत्र-व्यवहार, वार्ता, प्रचार, प्रदर्शन, सत्याग्रह, धरना, घेराव तथा अन्य अहिंसक कार्यों के लिए तैयार होना पड़ेगा। हैदराबाद और पंजाब के सत्याग्रहों की भावना को जगाना होगा। यदि आर्य समाज इस महत् कार्य का बोझ अपने कंधों पर उठा ले तो एक बार फिर लाखों नौजवान उसके आक्रोड़ में आ जायेंगे।

———

देव दयानन्द की दिव्य-देन

• श्री ज्ञानी पिण्डीदास

महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी के प्रादुर्भाव से पूर्व चारों ओर घटा-टोप अन्धकार का दृढ़ साम्राज्य था; सांसारिक और पारमार्थिक अथवा इह-लौकिक विषयों पर किसी का ध्यान ही नहीं था। या यूं समझिये कि आध्यात्मिक सन्दर्भ में गाढ़ अज्ञान की प्रगाढ़ तमिस्रा चहूँ ओर व्याप्त थी। असीम अज्ञान के कारण समूची मानव-सन्तति इतस्ततः भटकती फिरती थी। धर्म के वास्तविक कल्याणकारी स्वरूप को कोई जानता ही नहीं था। रूढ़िवाद की निकृष्टतम भावनाओं से आच्छादित ज्ञान-विज्ञान लुप्त-प्राय हो गये थे अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान, प्राकृतिक-विज्ञान अथवा लोक-कल्याण का मार्ग किसी को भी सूझ नहीं पा रहा था। जातीय-निर्माण तथा राष्ट्रोत्थान को प्रायः विस्मृत किया जा चुका था और येन-केन प्रकारेण 'रोटी, कपड़ा और मकान' की उपलब्धि ही मानव-प्राणी का अन्तिम ध्येय निर्धारित किया जा चुका था।

भारतवर्ष और विशेषतः आर्य (हिन्दू) जनता तो वेद-ज्ञान, शास्त्र-चर्चा, आध्यात्मिक ऊहा-पोह तथा वैज्ञानिक सत्पथ से पूर्णतः भ्रष्ट हो चुकी थी। सदसद्विवेक के सीधे-सरल मार्ग से च्युत होकर पौराणिक मतवाद के गहरे-गर्त में ऐसी गर्क़ हुई थी कि इसके निस्तार-उद्धार का कोई मार्ग किसी को भी सूझ नहीं पा रहा था। ऐकेश्वरवाद के वैदिक सिद्धान्त का स्थान तेंतीस-कोटि देव-समूह ने छीन रक्खा था, अकाय, अव्रण, अनादि, अनन्त, अजन्मा, अद्वितीय, अजर, अमर, अभय सच्चिदानन्द प्रभु को मच्छ, कच्छ, वराह, नृसिंह आदि निकृष्ट योनियों में अवतार लेकर भटकते फिरने वाला बना दिया गया था; मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम और योगीराज भगवान् श्रीकृष्ण को अवतार घोषित करके उनका अनुसरण करना मानव-मात्र के लिये असम्भव समझा जाने लगा था; पत्थरों और विविध आकार-प्रकार के शिलाखण्डों को परमेश्वर समझकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा की जा रही थी; वेद-ज्ञान के देदीप्यमान भुवन-भास्कर को पौराणिक-मतवाद ने ढाँप रखा था, जिससे चारों ओर अन्धेरा छा गया था; वैष्णव शैव-शाक्त तथा गाणपत्य आदि सम्प्रदायों के दिग्गज विद्वान् पण्डित प्रच्छन्न वाम-मार्गानुयायी बन चुके थे और वे लोग निम्न तन्त्र-त्रिलोक की विस्तृत-व्याख्या का रूप धारण कर चुके थे कि—

अन्तः शाक्ताः बहिर्शैवाः सभायाँ वैष्णवाः मता।
नाना रूप धराः कौलाः विचरन्ति महीतले॥

अर्थात्—वे लोग मन से शाक्त, दिखावे के शैव और सभाओं में वैष्णव धर्मानुयायी होने का दम्भ करते हुए जगती-तल पर विचरते दृष्टिगोचर होते थे। जीवित माता-पिता का निर्लज्जतापूर्वक तिरस्कार करने वाले बर्खुरदार, उनकी मृत्यु के पश्चात् श्राद्ध का ढोंग रचकर, ब्राह्मण-नामधारी व्यक्तियों के पेट-रूपी लैटर-बक्सों में डाला हुआ खाद्य-पेय और उण्डेली हुई पायस (खीर) को उनकी तृप्ति का कारण समझ रहे थे। गंगा-यमुना आदि नदियों और हरिद्वार, काशी, प्रयाग आदि तथा-कथित तीर्थ-स्थानों पर विशेष परिस्थितियों और पर्वों में स्नान-मात्र से मुक्ति मानी जा रही थी। वैदिक 'अध्वरों की हिंसा-रहित परिपाटी समाप्त प्राय होकर, निपट निरीह पशु-पक्षी बली का रूप धारण कर चुकी थी। सदाचार, शालीनता, सद्व्यवहार और आत्मगौरव आदि सद्गुण तो मानो पंख लगाकर उड़ ही गये थे और "मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और "मैथुन" आदि वाम मार्ग के पञ्चमकारों ने मुक्ति के साधन-पञ्चक के रूप में मानव मस्तिष्क पर आधिपत्य परिस्थापित कर रखा था। तथा-कथित शूद्रों को वेदोच्चारण पर जिह्वा-छेद, वेद-श्रवण पर सीसे और लाख द्वारा औज परिपूर्ण और वेद-धारण पर शरीर-भेद (मृत्यु) के दण्ड का विधान बना हुआ था। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:" की स्वस्थ भावनाओं को तिलाञ्जलि देकर नारी जाति को "नरकस्य द्वार" माना जा रहा था। "स्त्री शूद्रौ नाधीयताम्" की मन-गढन्त रट लगाई जा रही थी; वर्णा-श्रम की वैदिक-मर्यादा लुप्त हो चुकी थी,—काला अक्षर भैंस-बराबर समझने, बर्तन-भांडे मलने, पानी ढोने-पिलानेवाले और घरेलू भृत्य-वृत्ति अपनाने वाले व्यक्ति केवल ब्राह्मण कुलोत्पन्न होने के कारण पूजनीय समझे जा रहे थे; चुहिया और चिड़ियों की चूं-चूं से भयभीत होकर सातवीं

कोठरी में दुबक जानेवाले बहादुर, क्षत्रिय होने का दम भर रहे थे; सात जन्म के कंगाल, कौड़ी-कौड़ी पर धर्म-धन, आत्म-सम्मान और राष्ट्र गौरव को बेच-खाने और व्यापार-धन्धे की कला से नितान्त अनभिज्ञ व्यक्ति, स्वयं को कुबेर का वंशज और भामाशाह का नाती होने का दावा कर रहे थे और अपने दस-नाखूनों की कमाई द्वारा परिवार परिपालन करने वाले धर्म-भीरु, सदाचार सम्पन्न सज्जनों को शूद्र, अछूत, अन्त्यज,नीच, हरिजन और जाने क्या-क्या कह-कहकर दुत्कारा-फिटकारा जा रहा था; अक्षत-योनि बाल-विधवाओं को बलात् पुनर्विवाह से वञ्चित करके उन्हें ज़बर-दस्ती देव-दासियों के रूप में मन्दिरों के पापी-पण्डा-पुजारियों और तथा-कथित देवस्थान-प्रेमियों-श्रद्धालुओं की वासनापूर्ति का साधन बनाया जा रहा था; कई बेचारी विधवाओं को रस्सों से जकड़कर मृत-पति के शव के साथ धधकती अग्नि ज्वालाओं में जल मरने पर विवश करके उन्हें स्वर्ग का सीधा 'पासपोर्ट' दिया जा रहा था। इन घृणित अत्याचारों और अमानुषिक दुर्व्यवहारों के द्वारा असंख्य आर्य ललनाओं को आचार-हीन मुल्ला-मुलण्टों और गृध्र-दृष्टि पापी-पादरियों की ललचाई नज़रों का शिकार बनकर धर्मच्युत होने पर मजबूर किया जा रहा था। विविध मतवादों, परस्पर के कलह-क्लेशों, आपसी फूट और परस्पर के वैर-विरोधों के फल-स्वरूप काश्मीर से कन्याकुमारी और अटक से कटक तक समुच्चय भारत देश पर विदेशी-विधर्मी सत्ता का निष्कण्टक और निर्द्वन्द्व प्रभुत्व जम चुका था; लोग गौरांग महाप्रभुओं की जी-हजूरी, चाटुकारिता चापलूसी और खुशामद करते रहना, उनके गुण-गान तथा स्तोत्र-स्तवन को अपने जीवन का ध्येय समझने में ही गौरवान्वित होना ही मानने लगे थे; आत्म-विश्वास आत्मावलम्बन, आत्मगौरव एवं आत्म निर्भरता अतीत की कहानियाँ समझी जाने लगी थीं। विधर्मी मुस्लिम-मौलवी और ईसाई पादरी, आर्य धर्म, आर्य सभ्यता, आर्य संस्कृति, आर्य मर्यादा, आर्य-रीति-नीति, आर्य परम्पराओं, आर्य इतिहास, आर्य वाङ्मय और आर्य पुरुषाओं की भर-पेट निन्दा और आलोचना-प्रत्यालोचन तथा नुक्ताचीनी करके अच्छी फसल काट रहे थे, परन्तु कोई भी माई का लाल अथवा समाज या संगठन उनका भयानक मुँह बन्द करने और विषैले नौकीले दाँत खट्टे करने का साहस ही नहीं बटोर पा रहा था। मुसलमान और ईसाई दिन-दिहाड़े आर्यों के धर्म-धन और संस्कृति सम्पदा पर डाके डालते और उन्हें मुहम्मद की उम्मत अथवा ईसा की भेड़ों में सम्मिलित करके निरन्तर उनका धर्म ही परिवर्तन नहीं करते थे, प्रत्युत उनका राष्ट्र भी परिवर्तित करके उन्हें देश-द्रोही, राष्ट्र-घातक और जाति-विरोधी बनाये चले जा रहे थे; यहाँ तक कि बंगाल के राजाराममोहनराय का सुधारवादी ब्रह्म समाज जो ईसाइयों से आर्यों को सुरक्षित रखने के लिए स्थापित किया गया था, बाबू केशवचन्द्र के समय में ईसाइयत की एक शाखा-मात्र का रूप धारण कर चुका था।

विभ्रम की ऐसी दुर्दशा के दिनों प्रायः आज सहस्र वर्षों की दीर्घ अवधि के अनन्तर महर्षि दयानन्द का आगमन हुआ। आप अपने सद्गुरु, भारतीय स्वतन्त्रता के अग्रदूत, प्रज्ञाचक्षु, आचार्य श्री स्वामी विरजानन्द सरस्वती के आदेश से प्रेरित होकर सत्य सनातन वैदिक धर्म-प्रचार, पाखंड-प्रपंच प्रहार, दलित-पतितोद्धार, स्वदेश-निस्तार एवं विद्या-विस्तार को लक्ष्य रखकर कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और स्वयं वेद-ज्ञान के अद्भुत आलोक से आलोकित होकर पौराणिक-पद्धति, मतवाद की भीषण-विभीषिका, प्रचण्ड पाखण्ड की झञ्झावात, पशु-पक्षी-बलि की पतित प्रथा, वाम-मार्ग के कुत्सित कृत्यों, पत्थर-पूजा के विधि-विधानों अवतारवाद सदृश विनाशकारी सिद्धान्तों, मानव-मानव में असमानता, अपूज्यों की पूजा और पूज्यों के तिरस्कार, बहु-देवतावाद, साकारवाद, एकदेशीय, बैकुण्ठ-गोलोक-निवासवाद, स्वर्ग-नरक-बहिश्त-दाफ़ख़वाद, क्षीरसागर-अर्थ-असमानवाद तथा शफ़ाअत-सिफ़ारिशवाद आदि अगणित मिथ्यावादों, झूठे-झमेलों, भौंडी-भ्रान्त-भावनाओं और ढिल-मिल ढकोसलों का घोर खण्डन किया; सद्धर्म के सत्य स्वरूप को जनता के समक्ष उपस्थित करके देवी-देवता, ग्रह-नक्षत्र, जल-स्थल-यात्रा अथवा सागर, नदी, तड़ाग बावड़ी में स्नानमात्र से सायुज्य-सामीप्य,-सालोक्य मुक्ति प्राप्ति, पाखण्डी गडरिये गुरुओं के आतंकित रखनेवाले कुप्रभाव को समाप्त प्राय कर दिया। अपने विधर्मियों के मान्य ग्रन्थों में वर्णित वेद-विरोधी, बुद्धि-विरोधी, प्राकृतिक-नियम-विरोधी, मानवता-विरोधी छल-छद्म, पाखण्ड-प्रपंच पर आधारित कुत्सित कुप्रथाओं एवं गर्हित गति-विधियों की युक्ति-युक्त, प्रमाण-पोषित बुद्धिग्राह्य छीछा-लेदर करके सद्धर्म के जिज्ञासुओं के लिये सन्मार्ग प्रशस्त कर दिया। "सब सत्य विद्या और जो पदार्थ, विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है" (नियम १) और "ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि,अनुपम, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, अजर, अमर, अभय, नित्य, सर्वान्तर्यामी, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसीकी उपासना करनी योग्य है" (नियम २) की शिक्षा देकर अनूठी आस्तिकता, भवन्निष्ठा और प्रभु-प्रेम की परम पराकाष्ठा का प्रचार-प्रसार और ईश्वर-स्वरूप सम्बन्धी समस्त प्रचारितभ्रान्त-भावनाओं का पूर्ण परिहार करके मुमुक्ष-महानुभावों के लिये मुक्ति का राजपथ खोल दिया। "वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है" (नियम ३) और "अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये" (नियम ४) के नियमों का प्रचार करके अपने, सद्विद्या के अन्तिम स्रोत तक पहुँचाकर मानवमात्र के लिये सत्शिक्षा का सरल-सीधा सत्पथ प्रशस्त कर दिया। 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये" (नियम ४) का उद्घोष करके मानव-मस्तिष्क में व्याप्त रूढ़िवाद' मतवाद, व्यर्थ के बन्धनों की संकीर्णतामय साङ्कलों को छिन्न-भिन्न करके हमें सान्त्वनाप्रद सुखद समीर में श्वास ले सकने के योग्य बनाया। "सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिएँ" (नियम ५) का सदुपदेश देकर हमें सत्य-निष्ठा पर प्रत्येक स्थिति में डटे रहने की सुशिक्षा प्रदान की। "संसार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना" (नियम ६) की परिस्थापना करके तो मानो विश्व-बन्धुत्व का परम प्रशस्त लक्ष्य हमारे सामने उपस्थित कर दिया। "सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य बर्तना चाहिये" (नियम ७) के थोड़े से शब्दों में मानों सागर

को गागर में बन्द करके समुच्चय संसार को सुखी, सन्तुष्ट, समृद्ध जीवन यापन करने का गौरवमय गुर समझा दिया। "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए" (नियम ९) और "सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालन में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें" (नियम १०) का शंखनाद करके व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सामाजिक सुसंगठन के सूत्र का निर्माण कर दिया।

संक्षेपतः यह कि भगवान् दयानन्द ने हमें सच्चिदानन्द जगदीश के वास्तविक स्वरूप और उसकी परम कल्याणी शाश्वत वाणी का ज्ञान कराया; आध्यात्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में पथ-प्रदर्शन किया; भौंडी-भ्रान्त भावनाओं का परिहार करके हमें वेद-प्रदर्शित अभ्युदय तथा निःश्रेयस का सरल-सीधा सत्पथ सुझाया; तिरस्कृत मातृशक्ति के उत्थान, सम्मान द्वारा राष्ट्र के निर्माण का गौरवमय मार्ग दिखाया; अवहेलित-पददलित, अपमानित मानव मात्र के पुनरुद्धार का आग्रहपूर्वक आदेश-निर्देश दिया; स्वदेश, स्वदेशी, स्वतन्त्रता, स्वाधीनता; आत्मगौरव और स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाया; मानव-समाज में उत्कृष्टता अथवा ऊँच-नीच की भेद-भावना की इतिश्री करके देश-काल-प्रान्त-भाषा आदि की विघटनकारी दुर्लङ्घ्य दीवारों को मलिया-मेट करके प्राणी-प्रेम, विश्व-बन्धुत्व एवं सार्वजनिक सौहार्द का उच्च आदर्श हमारे समक्ष उपस्थित करके अपने दुर्लभ मानव-जीवन को सफल बनाने का ढंग हमारे हृदयपटल पर दृढ़तापूर्वक अंकित कर दिया। कहाँ तक वर्णन करें "देव दयानन्द की दिव्य-देन अनन्त है, असीम है। इसीलिये कवि का निम्न कथन वास्तविकता का द्योतक है—

गिने न जाएँ मुमकिन है बालू के ज़र्रे, समुन्दर के क़तरे, फलक के सितारे।
मगर तेरे एहसान स्वामी दयानन्द न गिनती में आयें कभी हमसे सारे॥

इसलिये आइये सब हृदय की विमलतम भावनाओं से बोलें—

मूकं करोति वाचालं, पंगुं लंघयते गिरिम्॥
यत्कृपा तमहं वन्दे, दयानन्द ऋषीश्वरम्॥

अथवा—

मूक होहिं वाचाल, पंगू चढ़हि गिरिवर गहन।
जासु कृपा सु दयाल, दयानन्द दनुता दलन॥

(पृष्ठ ४७ का शेष)

आचरण में आये इन पर विश्वास कठिन है। संयम सिद्ध हो जाने पर यह कुछ भी न मिले तो इन्हें अलीक कहा जा सकता है। ३६ घण्टे की अक्षुण्ण समाधि को संयम कहा गया है। उसके आयत होने पर यह सब होता है। ऋषियों ने इसी समाधि ज्ञान से सब जाना, सब विषयों पर प्रामाणिक शास्त्र लिखे। फिर इन्हें अब असत्य कैसे कहा जा सकता है।

४. **प्रकृति जय**—५ भूत वश में हो जाते हैं ३.४८। उनसे परमात्मा की नाईं सब बना सकने में समर्थ हो जाता है। सर्वदेश में नहीं एक देश में। बिना सिद्धियों के बद्धजीवन में भी बहुत कुछ रचना कार्य कर ही लेता है। फिर उसके विकास पर रोक क्यों ?

५. **पर वैराग्य से मुक्ति**—सब सामर्थ्य आ जाये तो प्रकृति का अनुराग जाता रहता है ३.५०। अविद्या आदि पाँचों क्लेश सर्वथा निवृत्त हो हो जाते हैं ४.३०। पूर्ण विवेक हो जाता है। ४.३१। जीवन मुक्ति रह पूर्ण मुक्ति लाभ होती है। यह सब युक्ति युक्त, तर्क संगत, योग सम्प्रदाय-सम्मत है।

इनमें से यदि कोई ऋषियों की बात गले से नीचे नहीं उतरती न सही। उसे छोड़ दीजिए। जितनी समझ में बैठती है, उतनी कीजिये। उनमें सफलता मिलने पर सब पर ही स्वतः विश्वास हो जायगा। 'स्थाली पुलाक-न्याय' से ही सब जाना जाता है। एक चावल गल गया सब चावल गल गये। यह परख हो जाती है पर सब ही चावलों को मल कर देखा जाये तो भात नहीं रहेगा। माण्ड ही माण्ड शेष रह जायगा।

श्रद्धया सत्यमाप्यते—सत्य की धारण करने से ही सत्य प्राप्त होता है। संशयालु को कुछ भी हाथ नहीं लगता। वहाँ तो नाश ही नाश है। भगवान् व्यास ने योग सूत्र-भाष्य में बड़े मार्के की गम्भीर बात कहते हैं—

"तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेश प्रत्यक्षत्वे सति सर्वं सूक्ष्मविषयमपि आ अपवर्गात् श्रद्धीयते। एतदर्थमेवेदं चित्त-परिकर्म निर्दिश्यते"

— योग-शास्त्र में उपदिष्ट प्रक्रिया की साधना से एक अंश के प्रत्यक्ष हो जाने पर सारा ही सूक्ष्म विषयों में, यहाँ तक कि अपवर्ग में—मुक्ति में भी श्रद्धा हो जाती है। इस लिए ही यह 'मैत्री करुणा १-३३ से 'परमाणु महत्तत्त्वान्तो' १-४० तक यम नियम से युक्त-चित्त का परिकर्म-चित्त को ठहराने के साधनों का उपदेश किया गया है।—भाष्य विवरण १।३३-३५॥ इस प्रकार संक्षेप से योग का दर्शन और क्रियात्मक दृष्टिकोण उपस्थित किया।

भारत के युवा वर्ग को महर्षि दयानन्द का आह्वान

• साधु श्री टी० एल० वासवानी

दयानन्द मानवीयता के प्रेमी थे। उनकी मानवीयता कोरी कल्पना मात्र न थी। उनका संदेश आर्य जाति और भारतीय राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित था। प्राचीन मंत्रों की ध्वनि उनके हृदय की स्पंदन थीं। मातृ-भाषा, आर्य संस्कृति, मातृभूमि ये तीनों ही उनके आशीर्वाद के स्रोत थे। इन्हें अपने हृदय में अभिषिक्त करो।

कितने लोग जानते हैं कि स्वामीजी ने स्वराज्य का प्रयोग उन महान देशभक्तों—दादाभाई नौरोजी और लोकमान्य तिलक—से भी पहले किया था? उन्होंने प्रजातांत्रिक संविधान सबसे पूर्व उस समाज को प्रदान किया जिसकी उन्होंने 'आर्य समाज' के नाम से स्थापना की। उनके राजनीतिक विचार प्रजातांत्रिक भावना से ओतप्रोत थे। यजु० १७-२४ पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा है कि "प्रजाजन यह देखें कि उनका देश अकेले व्यक्ति से नहीं अपितु सभाओं से प्रशासित हो"। सत्यार्थ प्रकाश के एक महत्त्वपूर्ण अध्याय में उन्होंने इस आर्य-भाव का विश्लेषण किया है कि "राजा को अपनी प्रजा का संरक्षक होना चाहिए"। वह कहते हैं—"आप कुछ भी कह लें, स्वदेशी स्वशासन कहीं अधिक सर्वश्रेष्ठ है। विदेशी शासन धार्मिक द्वेषों से ऊपर, देशवासियों और विदेशियों के लिए माता-पिता तुल्य निष्पक्ष, दयालु और हितकारी हो सकता है, फिर भी वह प्रजा को पूर्ण प्रसन्न नहीं बना सकता"। क्या महर्षि द्वारा सन् १८८२ में लिखित ये शब्द हमारे स्वराज्य के दर्शन का वही आशय प्रकट नहीं करते कि स्वशासन सुशासन से श्रेष्ठतर है? स्वामीजी ने भारत के अधःपतन के कारणों का भी विश्लेषण किया है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है—

"स्वयंभव से लेकर पांडवों के समय तक आर्य, विश्व की सर्वश्रेष्ठ शक्ति थे तत्पश्चात् परस्पर कलह से उनका विनाश हुआ"।

इससे उनके अति उच्च ऐतिहासिक ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। पुनश्च :—

जब भाई-भाई आपस में लड़ते हैं तभी बाहर का कोई मध्यस्थता के लिए आता है। परस्पर चिरस्थायी कलह ने भूतकाल में कौरवों, पांडवों तथा यादवों का विनाश किया था। यह रोग हमें अब भी ग्रस रहा है।

बिखराव के रोग को स्वामीजी ने "भयंकर", दुर्योधन का विक्षिप्त मार्ग", "हमारी समस्त प्रसन्नताओं" को छीनने वाला, और हमें "यातनाओं के गहरे गर्त में" डुबोने वाला कहकर बार-बार भर्त्सना की है। स्वामी जी ने अपने देशवासियों की बुराइयों को छिपाया नहीं है। हमारे ऊपर ब्रिटिश शासन क्यों? दयानन्द ने इस प्रश्न का उत्तर ब्रिटिशों की देशभक्ति, त्याग, शिक्षा और अनेकों अच्छी सामाजिक प्रथाओं की ओर मोड़कर हमारा ध्यान दिया है। सत्यार्थ प्रकाश में स्वामीजी ने लिखा है—

यूरोप वालों में बाल-विवाह की प्रथा नहीं है। वे अपने बालकों और बालिकाओं को उच्च प्रशिक्षण और शिक्षा देते हैं। वे अपने जीवन-साथी चुनते हैं। ऐसे विवाह स्वयंवर कहलाते हैं। वे विषय पर पहले स्वयं विचार-विमर्श करने और उन्हें अपनी प्रतिनिधि सभाओं को सौंपने के बाद ही उन पर अमल करते हैं। वे अपने राष्ट्र पर सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं। वे आलसी नहीं हैं। वे सक्रिय जीवन जीते हैं। वे अपने वरिष्ठों की आज्ञा का पालन करते हैं। वे अपने देश की स्वयं सहायता करते हैं। भारतीयों में से बहुतों ने उनकी वेशभूषा की नकल की है। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति दूसरों की नकल नहीं करेगा। केवल ऐसे श्रेष्ठ गुणों के धारण करने और ऐसे कर्म करने से ही यूरोप वाले इस अग्रणी स्तर तक पहुंचे हैं।

एक और लेख में स्वामीजी ने लिखा है कि "भारत में विदेशी सत्ता के कारण हैं—" परस्पर फूट, बाल-विवाह, ऐसे विवाह जिनमें दोनों पक्षों को अपने जीवन-साथी चुनने की कोई स्वतंत्रता न हो, वासना तृप्ति, असत्यता, दुर्व्यसन, वेदों की उपेक्षा और अन्य पाखण्डपूर्ण मिथ्याचार"। ऋषि ने

ऋग्वेद के एक मंत्र पर टीका करते हुए लिखा है —"लोग सम्माननीय, न्यायप्रिय और सत्य पर बने रहकर ही राजनीतिक रूप से महान बन सकते हैं। जैसे ही वे विक्षिप्त और अन्यायी हुए कि उनका पूर्ण विनाश अवश्यम्भावी है"।

उस समय के समस्या-प्रधान लेखकों में भी दयानंद ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी या "आर्य-भाषा" को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने के लिए वकालत की।

वह हाथ में डंडा लेकर उपद्रवियों को ललकारते थे। वे इस "शक्ति पुरुष" पर काबू नहीं पा सकते अतः भाग खड़े होते।

वह बनावटी ढंग से नहीं बोलते थे। यह आध्यात्मिक पहलवान उपद्रवी कायरों के बीच खड़े होकर भी ठेठ सत्य ही बोलता था। शक्तिशाली तक के मुँह पर सत्य का ही तमाचा मारते थे। एक भारतीय राजकुमार की उपस्थिति में सभा में बोलते हुए उन्होंने श्रोताओं से कहा था—"राजा होकर भी जो वेश्या रखता है वह स्वयं उसी की जाति का है"।

राजकुमार ने कहा—"तुमने मुझे भी नहीं छोड़ा"।

दयानंद ने उत्तर दिया—"मैं प्रत्येक के बारे में सत्य बोलता हूं, किसी का पक्षपात नहीं करता। यही मेरा धर्म है"। वह रूखेपन के लिये भी सच्चे थे और यही कारण है कि विनम्र आलोचकों ने उन्हें असहिष्णु कहा है। दयानन्द जिसे अन्धविश्वास और पाखण्ड समझते थे उसी के प्रति असहिष्णु थे। वह सुविधा के लिए कष्ट में हेरफ़ेर या कमी सहन नहीं कर सकते थे। वह स्वयं कष्ट भोगते किन्तु कोई शिकायत न करते। वह योद्धा की भाँति प्रसन्नतापूर्वक कष्ट उठाते थे।

दूसरी ओर, इसी पाषाण हृदय वाले पुरुष में गरीब और दलित के लिये कितनी संवेदना और प्यार था। उन्होंने इस ग़रीब की बिरादरी में सम्मिलित होने के लिए अपने पिता की सम्पत्ति और सुख सम्पन्न घर को त्याग दिया। उन्होंने अपने आपको कठोरता सहन करने का प्रशिक्षण दिया। वह कई-कई दिन तक उपवास करते थे। ईंटों का तकिया बनाकर नंगी भूमि पर सोते थे। अपने शरीर पर केवल लंगोटी धारण कर वर्षों तक स्थान-स्थान का भ्रमण किया। राजप्रासाद को छोड़ ग़रीब की कुटिया में रहना श्रेयस्कर माना। निम्न और दलित वर्ग को हृदय से लगाया। नीच जाति कहलाने वाला व्यक्ति उनके खाने के लिए चावल और कढ़ी लाता। दयानन्द इसे सप्रेम स्वीकार करते। समय पर उपस्थित एक ब्राह्मण ने दयानंद से कहा—"आप भ्रष्ट हो गये, क्योंकि आपने इस व्यक्ति द्वारा लाया हुआ भोजन खाया है"। दयानन्द ने कहा—"भोजन दो प्रकार से भ्रष्ट होता है—या तो वह दूसरे की आत्मा को दुखाते हुए बल पूर्वक छीना गया हो अथवा उसमें कुछ गंदी वस्तु मिला दी गई हो। किन्तु यह तो ग़रीब आदमी है जो अपने पसीने की कमाई खाता है। उसका भोजन सर्वश्रेष्ठ है"। वह स्वयं को "वर्णरहित" घोषित करते हैं और अपने "समाज" में अनाथ, बहिष्कृत, विधवा, अकाल पीड़ित, सभी जातियों और सम्प्रदायों के निम्न से निम्न ग़रीबों को सम्मिलित करते थे।

आज यदि वह हमारे बीच जीते जागते होते तो भारत को किस रूप में देखते ? एक समय जो आर्यावर्त कहलाता था उसी में आज मंदिरों और पाठशालाओं, ग्रामवासियों और दलित वर्गों एवं पीड़ित स्त्री समाज की दुर्गति देखते ? उन्होंने अपने पीछे जो संदेश छोड़ा वह केवल एक समाज के लिए नहीं अपितु पूरे राष्ट्र के लिए है। यह मानवता, "बल" और शक्ति का संदेश है। उन्होंने अपने वेदभाष्य में लिखा है—"यह आवश्यक है कि मनुष्य को ईश्वर की सहायता और धर्म की भावना से अपने शरीर विद्या और आत्मबल का विकास करना चाहिये ? पुनश्च, जब तक मनुष्य ईश्वर भक्त और बलवान न होगा तब तक उन्हें सत्ता प्राप्त नहीं होगी"। यह शक्ति का संदेश बलिदान का संदेश है। यह बलिदान आर्यावर्त में यज्ञ कहलाता था। महर्षि ने सतर्कता पूर्वक यह कहा है कि "इस यज्ञ में पशु-बलि का कोई स्थान नहीं"। यह तो हमारे अंदर का पशु है जिसकी बलि दी जानी चाहिये। हमारी भोग-वासनाएं समाप्त होनी चाहिये। ये पृथकता उत्पन्न करती हैं। हमें ग़रीब और दलित वर्ग की मित्रता पाने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। यही वह यज्ञ है जिसके लिए स्वामी दयानंद ने भारत के युवा वर्ग का आह्वान किया है। युवा और राष्ट्र-सेवा से इच्छुकों ! तुम सादा और दृढ़ बनो और उन ग्रामवासियों के पास जाओ जो आशा और विश्वास का एक शब्द सुनने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। शक्ति का संदेश लेकर जाओ ! जाओ ! और इस राष्ट्र का अन्धकार दूर करने के लिये अपने हाथों में भावना के प्रकाश की मशाल लेते जाओ।

□

आर्यसमाज का त्रैतवाद

• आचार्य श्री वैद्यनाथ शास्त्री

त्रैतवाद का सिद्धान्त जगत् की मूल सत्ताओं से सम्बद्ध होने से सत्ता-शास्त्र (Ontology) से अपना सम्बन्ध रखता है। जगत् के चाक-चक्य के पीछे कौन-सी सत्तायें कार्य कर रही हैं इसका विचार जगत् के निरीक्षण, परीक्षण और विश्लेषण से निश्चित किया जा सकता है। हम यहाँ दर्शन-शास्त्र की और गुत्थियों पर जो इस विषय से सम्बद्ध है यहां पर विचार नहीं करेंगे। केवल मूल सत्ताओं पर विचार करेंगे।

जगत् के देखने से उसमें चेतन अचेतन अनेक पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। जड़ पदार्थों में पहाड़, नदी, समुद्र, पानी, आग, लोहा, ताँबा, रेत आदि सभी दृष्टि में आते हैं। इनका यदि विश्लेषण किया जावे तो ये अपने किसी मूल कारण की कहानी का संकेत करेंगे। मूल कारण को ढूँढा कैसे जावे ? संसार में सब कुछ अटल नियम देखे जाते हैं। हम देखते हैं कि गेहूँ से गेहूँ और चने से चना ही पैदा होता है। यही दृढ़ विश्वास है कि किसान खेती में प्रवृत्त होता है। यदि इसमें विपर्यय होता होता तो कोई नियम न रहने से खेती करने में किसी की प्रवृत्ति ही न होती। किसान को दृढ़ विश्वास है गेहूँ गेहूँ ही उत्पन्न करेंगे और चने चने उत्पन्न करेंगे। चने गेहूँ नहीं पैदा करेंगे और गेहूँ चने नहीं उत्पन्न करेंगे। इसी प्रकार हम और भी एक नियम देखते है कि तिल से तेल निकलता है परन्तु रेत से नहीं। दूध से दही बनता है परन्तु पानी से नहीं। इन आधारों से हम निम्न परिणाम पर पहुँचते हैं—

१. किसी भी उत्पन्न वस्तु का कोई न कोई कारण होगा।
२. बिना कारण के कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होगी।
३. जिस कारण से जो कार्य पदार्थ उत्पन्न होगा उस कार्य के गुण उसके कारण में किसी न किसी रूप में अवश्य होंगे।
४. कारण-कार्य का व्यवहार जब भी पाया जावेगा किसी सत्ता वाली वस्तु में ही पाया जावेगा।
५. अभाव में कारण होने की शक्ति नहीं और अभाव में किसी प्रकार की विशेषता नहीं आ सकती है।

इन आधारों पर यह सरलता से आकूतित एवं अनुमित किया जा सकता है कि जगत् जो एक उत्पन्न वस्तु है उसका भी कोई कारण होगा। चूँकि जगत् में सूर्यादि लोक लोकान्तर तथा अनेक विशाल लघु लोक तथा तांबा, सोना और रेडियम जैसी वस्तुयें हैं अतः इसका कारण भी इतना व्यापक होगा कि जिसमें इनका परिवेषण हो सके।

जगत् के विषय में

कई लोग यह मानते हैं कि जगत् अभाव से उत्पन्न हुआ है परन्तु यह इस लिए खण्डित हो जाता है कि अभाव के साथ उत्पत्ति आदि शब्दों का सम्बन्ध नहीं बन सकता है। जो है ही नहीं उससे जो है, वह किसी भी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि जगत् पैदा ही नहीं हुआ है, वह स्वयं से सदा से विद्यमान है। यह कल्पना भी ठीक नहीं है। जगत् के पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश देखे जाने से उन्हें अनुत्पन्न कहना व्यर्थ है। जब अवयव में उत्पत्ति विनाश है तो समस्त जगत् में भी होगा।

कुछ लोग कहते हैं कि जगत् भ्रम से भासित हो रहा है और वह मिथ्या है। यह भी विचार संगत नहीं। भ्रम भी तो किसी वस्तु में ही किसी वस्तु का ही होगा। मिथ्या कहने से जगत् की सत्ता का विरोध नहीं होता है केवल प्रकटीकरण वाले स्वरूप का विरोध होता है। जगत् के पदार्थों की पुनरावृत्ति, वास्तविकता और यथापूर्व तो इस बात के प्रमाण हैं कि जगत् मिथ्या नहीं सत्य है।

कारणों का स्थिरीकरण

जगत् का कारण है इस विचार के निश्चित होते ही यह प्रश्न उठता है कि जगत् में वर्तमान नियमों को देखकर कितने कारण इसके माने जावें ? कुछ विचारकों का कथन है कि जगत् में कंजूसी का नियम कार्य कर रहा है अतः उसका कारण न्यूनतम होना चाहिए और वह केवल एक ही होना चाहिए। दूसरे कहते हैं कि जगत् में आधिक्य का नियम कार्य कर रहा है अतः अधिकतम कारण होने चाहिए। परन्तु विचार करने पर ऐसा ज्ञात होता है कि जगत् में न कंजूसी का नियम कार्य करता है और न आधिक्य का बल्कि पर्याप्तता का नियम कार्य कर रहा है। यदि एक हाथ में दस अंगुलियाँ नहीं तो तीन या दो या चार भी नहीं हैं, पांच हैं। अतः जगत् का

कारण न न्यूनतम होगा, न अधिक होगा बल्कि उतना होगा जितना होना पर्याप्त हो।

न्यूनतम कारणवादी एक ही कारण मानते हैं और नास्तिक केवल जड़ प्रकृति मात्र को मानते हैं जब कि नवीन वेदान्ती केवल चेतन ब्रह्म को एक मात्र कारण मानते हैं। परन्तु इनका सिद्धान्त ये स्वयं खण्डित कर देते हैं। जड़-कारण मानने वाले यह मानते हैं कि चेतन से जड़ नहीं पैदा हो सकता है, जड़ से चेतन हो सकता है। परन्तु चेतनावादी जो एक ब्रह्म को ही कारण मानते हैं वे स्वीकार करते हैं कि जड़ से चेतन नहीं पैदा हो सकता है चेतन से ही जड़ पैदा होता है। दोनों का पक्ष यदि विचारा जावे तो पता यह चलेगा कि चेतन से जड़ और जड़ से चेतन नहीं उत्पन्न हो सकते। इन दोनों में एक दूसरा एक दूसरे से खण्डित होता है। अतः ऐसी स्थिति में जगत् का का कारण न एक जड़ प्रकृति हो सकती है और केवल चेतन ब्रह्म हो सकता है। प्रकृति और ब्रह्म एवं अचेतन और चेतन दोनों ही कारण होने चाहिएं।

ब्रह्म और प्रकृति दो कारणों का क्रमशः चेतन और जड़ हैं चेतना और जड़ता के प्रतिनिधि कारण मानने पर भी विवाद शान्त नहीं होता है। क्योंकि जगत् में देखा जाता है कि जड़ता सभी जड़ पदार्थों की एक-सी है परन्तु चेतना के विषय में ऐसा नहीं है। चेतनता अनेक जीवों की भी है और चेतनता ब्रह्म की भी है। जीव चेतन एक देशीय परिच्छिन्न और अल्पज्ञ हैं जब कि ब्रह्म चेतन सर्वव्यापक, सर्वदेशीय और सर्वज्ञ है। अतः चेतन कारण भी दो प्रकार के हुए —एक तो नानाजीव और दूसरा एक मात्र ब्रह्म। इसमें कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर या ब्रह्म के मानने की आवश्यकता नहीं, जीव ही सिद्धियों से ब्रह्म बन जाता है। नवीन वेदान्ती जो केवल ब्रह्म को ही मानते हैं, कहते हैं कि जीव के पृथक् अस्तित्व मानने की आवश्यकता नहीं ब्रह्म ही अविद्या से जीव बन जाता है। परन्तु विचार करने पर परिणाम यह निकलता है कि कितनी भी सिद्धि प्राप्त हो जावे परन्तु जीव कभी भी ब्रह्म नहीं बन सकता है क्योंकि सिद्धि से पूर्व वह ब्रह्म नहीं था। अतः सिद्धियों के हटने के बाद भी वह ब्रह्म नहीं रहेगा। ब्रह्म में अविद्या आ ही नहीं सकती है क्योंकि वह सर्वज्ञ है अ्रतः ब्रह्म कभी जीव नहीं बन सकता है। ऐसी स्थिति में निष्कर्ष यह निकला कि न केवल प्रकृति कारण है, न केवल ब्रह्म कारण है बल्कि जगत् के तीन कारण हैं—प्रकृति, जीव और ब्रह्म। इस प्रकार जगत् के तीन कारण हुये—ईश्वर, जीव और प्रकृति। चूंकि ये कारण मात्र हैं इनका कोई कारण नहीं अतः ये तीनों अनादि कारण हैं।

कारणों का वर्गीकरण

जब तीन सत्तायें कारण रूप से निश्चित हो गई तो फिर कारणों के भेद का विषय भी समक्ष उपस्थित होता है। पहला वर्ग उपादान कारण का है। प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। उपादान कारण वह है जिससे कार्य उत्पन्न होता है अथवा जो स्वयं कार्य रूप में परिणत होता है। उपादान कारण में निम्न बातें पाई जाती हैं—

१. उपादान कारण परिणामी नित्य, व्यापक और जड़ होगा। चेतन कभी भी उपादान कारण नहीं हो सकता है।
२. उपादान कारण के गुण कार्य में किसी न किसी रूप में आते हैं।
३. उपादान कारण अपने कार्य मात्र में व्यापक होता है।
४. उपादान कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है और उसी में लीन भी होता है।
५. उपादान बनाने से कार्य रूप में बनता है और न बनाने से नहीं बनता है।
६. उपादान कभी भी केवल एक गुण का तथा एक मात्र नहीं होगा। वह त्रिगुणात्मक और बहुत्वपाती एकता वाला होगा।
७. उपादान कारण, असत्य, मिथ्या और अभाव रूप नहीं होगा।

ये सभी बातें प्रकृति में पायी जाती हैं अतः प्रकृति जगत् का उपादान कारण है।

दूसरा कारण निमित्त कारण है। ब्रह्म व ईश्वर इस जगत् का निमित्त कारण है। निमित्त कारण वह है जो स्वयं कार्यरूप में बनता नहीं है बल्कि उपादान को कार्यरूप में बनाता एवं परिवर्तित करता है। निमित्त कारण चेतन, ज्ञान वाला और क्रियावाला होता है। उसमें निम्न बातें पाई जाती हैं:—

१. निमित्त कारण बनाई जाने वाली वस्तुयें और उनके कारणों तथा तत्सम्य की अन्य विषयों का ज्ञाता होता है।
२. निमित्त कारण कभी स्वयं कार्य नहीं बनता है, वह बनाता मात्र है।
३. वह कभी भी किसी का उपादान कारण आदि नहीं होता है।
४. वह निमित्त और उपादान दोनों नहीं होता और न अभिन्न निमोत्तोपादान ही बन सकता है।
५. उसमें इच्छापूर्वक कर्त्तव्य पाया जाता है।
६. निमित्त कारण का स्वरूप कार्य में नहीं आया करता है।

इस प्रकार ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है। वही जगत् का कर्त्ता है, धर्त्ता है और प्रलयकर्त्ता भी है। उसकी निमित्तता में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों ही समन्वित हैं।

तीसरा कारण साधारण कारण हैं। इसमें आकाश, दिशा और साधन आदि सभी आ जाते हैं। जीवों का सन्निवेश इसमें हो जाता है। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि परमात्मा ही जगत् का कर्त्ता है परन्तु परमात्मा के बनाये जगत् में जीव भी जो कुछ बनाता बिगाड़ता है उसका वह निमित्त कारण होता। परन्तु वह अपनी निमित्तता से जगत्कर्त्ता की निमित्तता का का उल्लंघन आदि नहीं कर सकता है।

इस प्रकार जगत् के मूल में तीन पदार्थ आदि सिद्ध होते हैं और वे हैं प्रकृति, जीव तथा ईश्वर। प्रकृति परमाणुमय है, परिणामी है, व्यापक है। वह जड़ है और सबका उपादान कारण है। सत्व, रजस्, और तमस् उसके तीन गुण और द्रव्य है। जीव जगत् में दृष्टा, कर्त्ता और भोक्ता है। जगत् उसका दृश्य है। यह जगत् रूपी दृश्य जीव के भोग और मोक्ष के लिए है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है और कर्म का फल भोगने मे ईश्वर की व्यवस्था के परतन्त्र है। ईश्वर जगत् का कर्त्ता है। वह इसका धारक पालक और संहारक भी है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वाधार, सर्वान्तिर्यामी, अनन्त और सच्चिदानन्दादि लक्षणों से युक्त है। वह कभी न जन्म लेता है और न मरण में आता है।

तीन पदार्थों की सिद्धि

प्रकृति की सिद्धि में निम्न प्रकार ध्यान के योग्य है—

१. अभाव से भाव उत्पन्न नहीं होता है और जगत् भाव है अतः उसका कारण भाव होना चाहिए और वह प्रकृति है।
२. जगत् का सर्वथा अभाव कभी होता नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ऐसा ही सिद्ध है और जगत् कि दृष्ट कारण से उत्पन्न नहीं अतः इसका कारण जो सदा रहे और अदृष्ट हो वह प्रकृति ही हो सकती है।
३. जगत् रूपी कार्य के देखने से भी प्रकृति ही उसका उपादान कारण ठहरती है।
४. जगत् में जड़ वस्तुओं की उत्पत्ति में उपदान का नियम अटूट है अतः प्रकृति रूपी उसका उपादान सिद्ध है।
५. शक्ति कारण से ही कार्य की शक्यता पाई जाती है अतः प्रकृति रूपी शक्त कारण का होना ठीक है।
६. कार्य अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है अतः जगत् कार्य की विद्यमानता जिसमें है वह प्रकृति है।
७. कार्य अपने उपादान में लय को प्राप्त होता है अतः जगत् का उपादान कारण प्रकृति होना ही चाहिए।
८. बीज और अंकुर की भाँति भी विवेचन करने पर प्रकृति की सिद्धि पाई जाती है।

जीव—जीव की सिद्धि के नीचे लिखे प्रकार पाये जाते हैं :—

१. भोग अचेतन होता है और भोक्ता चेतन होता है अतः भोग, शरीर, इन्द्रिय आदि से जीव भिन्न है।
२. संहत अर्थात् कई खण्डों आदि से सयुक्त होकर व मिल कर वने हुए पदार्थ दूसरे के लिए होते हैं अतः जीव उनका भोक्ता उनसे भिन्न है।
३. कोई भी भोग अपना भोक्ता स्वयं नहीं हो सकता है अतः जीव का अस्तित्व उससे भिन्न है क्योंकि वही भोक्ता है।
४. जड़ का प्रकाशक जड़ से भिन्न होता है अतः शरीर इन्द्रिय आदि को प्रकाश देने वाला जीव उनसे भिन्न है।
५. जागृत, स्वप्न, और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का अभाव मानना पड़े यदि जीव का पृथक अस्तित्व न माना जावे। परन्तु ये होती हैं अतः जीव का अस्तित्व सिद्ध है।
६. मरण से त्रास पाये जाने से भी जीव शरीर आदि से पृथक् है।
७. मोक्ष की प्रवृत्ति पाये जाने से भी जीव प्रकृति से भिन्न है।
८. प्रत्येक कार्य में 'अहम्' की प्रतीति भी जीव की पृथक् सिद्धि करती है।
९. जन्म-मरण आदि की व्यवस्था से जीव शरीर आदि से पृथक् है और जीव बहुत हैं।
१०. भोग, मोक्ष, जन्म-मरण, अल्पज्ञता-परिच्छिन्नत्व आदि के कारण जीव प्रकृति और परमेश्वर से भिन्न सत्ता है।
११. इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान आदि से भी जीव प्रकृति से भिन्न सिद्ध है।
१२. कृत कर्म के फल की प्राप्ति और अकृत के फल की अप्राप्ति की व्यवस्था को कायम रखने के लिए भी जीव का अस्तित्व प्रकृति से भिन्न है।

ईश्वर—ईश्वर की सिद्धि में निम्न प्रकार पाये जाते हैं :—

१. जगत् के पदार्थ पृथ्वी, सूर्य आदि सभी कार्य हैं अतः उनका कोई कर्त्ता होना चाहिए और वह ईश्वर ही हो सकता है अन्य नहीं।
२. जगत् के धारय उसके सूर्यादि पदार्थों का कोई मनुष्य कर्त्ता और धारक नहीं हो सकता है क्योंकि मनुष्य अल्पज्ञ और अल्पशक्ति है तथा एक देशीय है अतः उनका कर्त्ता, धर्त्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक शक्ति होनी चाहिए और वह ईश्वर ही है।
३. जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के तर्क से भी ईश्वर की सिद्धि होती है।
४. जीवों के किये हुए कर्म न स्वयं फल दे सकते हैं और न स्वयं जीव ही फल की व्यवस्था अपने आप कर सकते हैं अतः ईश्वर की सिद्धि कर्मफल के दाता के रूप में भी है।
५. संसार में ज्ञान किस प्रकार आता है इस विचारणा से भी ज्ञान के दाता आदि गुरु ईश्वर की सिद्धि होती है।
६. जगत् में नियम देखा जाता है अतः उसका नियामक ईश्वर सिद्ध है।
७. जगत् में योजना और अन्तिम उद्देश्य पाये जाते हैं अतः उनके संचालक और निर्धारक ईश्वर का होना सिद्ध हैं।

बाधकवादों का निराकरण

१. शून्यवाद ठीक नहीं क्योंकि उसके ज्ञाता का अस्तित्व बताना पड़ेगा। यदि ज्ञाता है तो शून्य अपने आप खण्डित है।
२. अभाववाद इसलिए संगत नहीं है कि इसका कभी भी भाव नहीं हो सकता है। जगत् में सभी वस्तुयें भावात्मक है।
३. क्षणीकवाद इसलिए ठीक नहीं कि इसमें पूर्व देखे का बाद में स्मरण होना नहीं बनता। जब कि जगत में यह उदाहरण सदा घटित होता है।
४. जगत् की बाह्यता का अभाव नहीं हो सकता है क्योंकि बिना उसके किसी वस्तु में भार का होना और उसके ज्ञान का होना आदि नहीं वन सकता है।
५. भ्रमवाद और विवर्त्त इसलिए ठीक नहीं कि इसके कार्य पदार्थ में सत्ता नहीं आ सकती है। परन्तु कार्य पदार्थ सत्ता से युक्त है।
६. ज्ञान मात्र की ही पदार्थता इसलिए सिद्ध नहीं होती कि ज्ञेय के बिना ज्ञान ही फिर किसका ?
७. इन्द्रियों का ज्ञान भ्रान्त है —यह भी ठीक नहीं क्योंकि सत्य ज्ञान भी उन्हीं से होता है। **(शेष पृष्ठ ९८ पर)**

हे महान

• श्री वैद्य निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार

आज अलखनन्दा विशाल।
क्यों खडा थामकर मग्न भाल ।।
वह मुकुट भव्य क्यों उछाल।
तू छीन ले गया कुटिल काल ।।

तुम किधर आर्य-गौरव-प्रदीप।
हे परिव्राट कुल के महीप ।।
तज कर यह कातर जम्बु द्वीप।
कर चले भाग्य इसका प्रतीप ।।

यह क्या कहता हूँ मैं हताश।
उस मृत्युंजय का क्या विनाश ?
जिस के लोचन का लख प्रकाश।
भुलसे जाते ये वरुण पाश ।।

फिर हे यतीन्द्र तू महाप्राण।
अब किधर बैठ कर रहा ध्यान ?
तुझ से जो पाकर जगे ज्ञान।
शिशु वे तेरा जप रहे नाम ।।

क्या कहीं आज फिर एक बार।
तू प्रस्तर के शिव को निहार ।।
विस्मय का लेकर मधुर भार।
चल दिया खोज में हर-छार ।।

या अमर-मन्त्र का ले प्रसाद।
उसका देने को मधुर स्वाद ।।
रति चन्द्र लोक में निष्प्रमाद।
तू भ्रमण कर रहा हे अबाध ।।

तू था अखंड हे ब्रजसार।
तेरी भृकुटी पर बल न भार ।।
फिर भी त्रिनेत्र सम निर्विकार।
तूने दिखलाया मदन भार ।।

फिर महाकाल सम ले त्रिशूल।
तूने खल दल पर हूल हूल ।।
रच सर्वनाश कर धूल धूल।
पल में ला पटका प्रलय कूल ।।

क्षण में थर्रा कर आसमान।
तूने झट गाया सामगान ।।
तू झंझा तू मलय प्राण।
था विरंचि शंभू समान ।।

तू महारौद्र भीषण विषाद।
तेरा कौतुक था बज्रनाद ।।
होकर विह्वलमय क्रांतिवाद।
था विजय रूप तू अगाध ।।

जग की प्रतिहिंसा को न मान।
तूने कर डाला अश्रुदान ।।
शंकर बन करके गरल पान।
तू किधर जा छिपा हे महान ।।

यह शोकतप्त मानस अधीर।
अंखिया ये भर कर तरल नीर ।।
कब से चिन्तित सी लिये पीर।
क्या तू दर्शन देगा न वीर ??

महर्षि दयानन्द और कार्लमार्क्स

• डा० राधामोहन

कार्लमार्क्स (१८१८-१८८३) और स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२५-१८८३) १९वीं शताब्दी के वे दो महान् ऋषि हैं, जिन्हें समाज की धारा को बदलने का सबसे अधिक श्रेय है। दोनों मानवतावाद से प्रेरित थे। दोनों ने धर्म के विकृत रूप को देखा था। दोनों समाज के पतन व शोषण से दुखी थे। दोनों ने अपना जीवन समाज से अन्याय को हटाने में लगाया। दोनों पूर्ण विज्ञ थे। दोनों का स्वाध्याय बड़ा व्यापक था। दोनों पुनर्निर्माण के उत्साही पैगम्बर थे। दोनों ने अपने सारे अध्ययन का यह उद्देश्य रखा था कि उनके ग्रन्थों से पीड़ित मानव समाज को प्रेरणा मिले, वह उठे, जगे और नये युग में प्रवेश करे। दोनों ने जिस आन्दोलन को जन्म दिया वह आज भी अमर है और उनसे प्रेरित है और उन्हें अपना जन्मद स्वीकार करता है।

पर दोनों के दर्शन व सिद्धान्त भिन्न हैं। दोनों ने जिस आन्दोलन को चलाया उसकी दिशायें परस्पर विरोधी हैं। उनमें कहीं भी साम्य नहीं है। परस्पर विरोध की मात्रा इतनी अधिक है कि कदाचित एक को दूसरे के द्वारा चलाये आन्दोलन की मृत्यु पर प्रसन्नता भी हो।

कार्लमार्क्स का जन्म एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। पहले वह पत्रकार बना। समय पाकर उसने हीगेलवाद का अध्ययन किया। मानवतावाद की प्रेरणा से वह श्रमिक आन्दोलन में अग्रसर हुआ। गरीबी की हालत में आर्थिक कष्ट से पीड़ित उसके हृदय में पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति ईर्ष्या व द्वेष पैदा हुआ। उसने अर्थ का व्यापक महत्व देखा और श्रमिकों को पूंजीवादी व्यवस्था, धर्म और राज्य से शोषित पाया। उसने 'पावर्टी ऑफ़ फिलासफ़ी', 'मैनिफेस्टो ऑफ़ कम्युनिस्ट पार्टी', 'दी क्रिटीक ऑफ पोलिटिकल एकानेमी', 'दास कैपिटल', 'दी गोथा प्रोग्राम' आदि पुस्तकें लिखी। उसके समस्त साहित्य का उद्देश्य यही था कि शोषित मज़दूर वर्ग संगठित हो, उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति में विश्वास पैदा हो, वे अपनी दासता की शृंखला तोड़ें और एक ऐसे सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का मार्ग प्रशस्त हो जो संक्रमणाकालिक हो और जिससे वर्ग का अन्त हो और वर्ग विहीन, शोषण रहित ऐसे समाज का जन्म हो जहां न राज्य हो, न धर्म, न सम्पत्ति और मनुष्य पूर्णतया स्वतन्त्र हो। उसके दर्शन को कहते हैं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या ऐतिहासिक भौतिकवाद और उसके इतिहास की व्याख्या का मूल आधार है वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त।

स्वामी दयानन्द का जन्म टंकारा (गुजरात) में उस समय हुआ था जबकि भारतीय सभ्यता व संस्कृति समाप्त प्रायः थी, लोग नाना प्रकार के पाप कर्म और पाखण्ड में लिप्त थे, स्त्री जाति की दशा बड़ी शोचनीय थी और उसे नरक का द्वार माना जाता था तथा समाज छूतछात, अन्धविश्वास, भूत-प्रेतादि, मत-मतान्तरादि दोषों में लिप्त थी। ऋषि दयानन्द ने इन सबका प्रबल विरोध किया। उन्होंने ऋग्वेदादि भूमिका, भाष्य ऋग्वेद भाष्य, यजुर्वेद भाष्य, वेदान्त-ध्वान्त निवारण, संस्कार-विधि, सत्यार्थ प्रकाश, कामिक, निघण्टु आदि ग्रन्थ लिखे और १८७५ ई० में आर्य समाज की स्थापना की। उनके समस्त लेखन का उद्देश्य यही था कि लोग सत्य को ग्रहण करें और यह समझें कि मनुष्य शरीर नहीं है, शरीर का स्वामी आत्मा है और मुक्ति का साधन है ईश्वरोपासना अर्थात योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ। उन्होंने ईसाइयत व पश्चिमी सभ्यता के मुख्य हमले से भारतवासियों को सावधान किया, धर्म जागृति बढ़ाई, आर्य संस्कृति का गौरव स्थापित किया, अस्पृश्यता के कलंक को धोने का प्रयत्न किया। उनका अटूट विश्वास था कि वेद सभी सत्य विद्याओं की पुस्तक है और उसका पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सभी आर्यों का परम धर्म है। 'वेद' ज्ञान के प्रचार के अतिरिक्त मनुष्य जाति की उन्नति का कोई अन्य साधन नहीं है। उनके त्याग से भारत में सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ और राष्ट्रीयता का जन्म।

कार्लमार्क्स व दयानन्द के दर्शन व सिद्धान्तों में हम तीन प्रमुख अन्तर

पाते हैं :—

प्रथम, मार्क्सवाद का आधार बहुत कुछ विकासवाद है। अधिकांश यूरोपीय विचारक विश्व के घटनाचक्र में एक प्रबल 'विकास' (प्रोग्रेस) देखते हैं। इतिहास प्रगति व विकास की कहानी है। यहां विकासवादियों की तीन शाखायें हैं—सृष्टि विकास, जीव विकास व ज्ञान विकास पर दो रूप। एक तो वे हैं जो विश्व का विकास पदार्थ, मुद्गल, गति या यांत्रिक शक्ति से मानते हैं और दूसरे वे जो विश्व को चेतन सत्ता की अभिव्यक्ति मानते हैं और साथ ही विकास में एक प्रयोजन, व्यवस्था भी देखते हैं। स्पेंसर पहली विचारधारा का समर्थक है और हीगेल, ग्रीन आदि दूसरी विचारधारा के। मार्क्स ने हीगेल की विचारधारा को स्वीकार किया है पर एक महत्वपूर्ण संशोधन के साथ। जबकि हीगेल ने विश्व के मूल में केवल एक ही तत्त्व 'विश्वात्मा' (जीस्ट) माना है जिसके द्वन्द्वात्मक विकासवाद, प्रतिवाद तथा संवाद की प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप नाना रूपमय इस सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण हुआ है, मार्क्स ने इस दृश्य जगत् के मौलिक तथ्य के रूप में आत्मा के स्थान पर पदार्थ (मैटर) को स्वीकार किया है। प्रकृति एकत्रित की हुई वस्तुओं का संग्रह नहीं है। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त प्राकृतिक एकता का स्पष्ट कारण है। प्रकृति का प्रत्येक कण गतिशील है। मात्रात्मक परिवर्तन से ही गुणात्मक परिवर्तन होते हैं। परिवर्तन द्वन्द्व के कारण हैं। परिवर्तन की वही तीन अवस्थायें हैं जिनका उल्लेख हीगेल ने किया था पर प्रतिवाद वाद का निषेध है और संवाद निषेध का निषेध, वाद तथा प्रतिवाद की संयुक्त स्थिति नहीं। आन्तरिक विरोध अन्तर्निहित है और इतिहास सदा विरोध के कारण आगे बढ़ता है और उसकी हर मंजिल पिछली मंजिल से विकसित होती है। पूंजीवाद के पतन और समाजवाद के आगमन के पीछे उसकी यही धारणा थी। भारतीय विचारधारा विकास के इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता। इतिहास केवल सीधी या ऊँची उठती रेखा में घटनाओं का वर्णन नहीं है। यह उत्थान की भी कहानी है और पतन की भी। सृष्टि में विकास के साथ ह्रास (डीजेनरेशन) का नियम भी चालू है। सृष्टि में कर्तृत्व, उद्देश्य और सामंजस्यता देखा जाता है जो विकासवाद के सर्वथा ही प्रतिकूल है। वैदिक परम्परा में सृष्टि में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का एक चक्र है जो प्रत्येक पदार्थ में देखा जाता है। यह वस्तुतः अवस्थाओं का परिवर्तन है। परन्तु इसके अन्दर महान् उद्देश्य और नियम कार्य कर रहा है। ईश्वर की निमित्तता से प्रकृति से आकाश उत्पन्न होता है। आकाश से वायु। वायु से अग्नि और अग्नि से जल। जल से पृथ्वी और पृथ्वी से औषधियाँ। इनसे अन्न और अन्न से पुरुष। यह एक वैज्ञानिक क्रम है जो उपनिषद् में वर्णित है।[१] पर वेद या आर्यसमाज यह स्वीकार नहीं करता कि हम बन्दरों की औलाद हैं। वह सभी योनियों को स्वतन्त्र मानता है। साथ ही वह यह भी मानता है कि भारत, जिसे प्राचीन काल में आर्यावर्त्त कहा जाता था, ही मानव सभ्यता का केन्द्र रहा है और तिब्बत में जिसे पहले त्रिविष्टप कहते थे मानव सृष्टि की आदि अवस्था में युवा उत्पन्न हुआ।[२] उनमें ऋषि भी थे। ये वाणी की विविध शक्तियों से युक्त थे।[३] वेद इनका धर्म था। ऋषि वेद मन्त्रों के कर्त्ता नहीं, अर्थ द्रष्टा है और आज तक जगत् की उत्पत्ति और वेदों के प्रकाश में आये १९७२९४९०७५ वर्ष हुए हैं। जिस समय मनुष्य उत्पन्न हुआ उसी समय उसे वेद का ज्ञान मिला। अथर्ववेद के एक मन्त्र के अनुसार सृष्टि की सारी आयु एक सहस्र चतुर्युगी है।[४] कलियुग के वर्षों की संख्या ४३२००० वर्ष है। दूने का नाम द्वापर, तिगुने का नाम त्रेता और चतुर्गुण से सत्युग की अवधि क्रमशः ८६४०००, १२९६०००, १७२८००० वर्ष है। एक चतुर्युगी इस प्रकार ४३२०००० वर्षों की होती है और पूरी सृष्टि ४३२०००००० वर्ष की। इन युगों का भी एक चक्र है। सत्युग के बाद त्रेता फिर द्वापर और अन्त में कलियुग और पुनः सत्युग और वही चक्र। सृष्टि का यह सिद्धान्त विकासवाद से भिन्न है। इसमें विकास के साथ ह्रास का एक चक्र चलता है व उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय का क्रम निश्चित है।

दार्शनिक दृष्टि से कार्लमार्क्स का सिद्धान्त जबकि विशुद्ध जड़ाद्वैतवादी हैं, आर्यसमाज व ऋषि दयानन्द का नहीं। दयानन्द ने त्रैतवाद की प्रतिष्ठा की है।[५] वह जगत् के मूल में तीन मूल सत्तायें स्वीकार करते हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति। ईश्वर में तीन गुण हैं—सत्, चित और आनन्द। यह जगत् का निमित्त कारण है, निरीह है, निष्काम है, अजर है, अमर है, अभय है, सर्वाधिष्ठाता है, किसी का पुत्र नहीं, किसी का सेवक नहीं, किसी पर निर्भर नहीं, निराकार व निर्विकार है। जीव में दो गुण हैं—सत् व चित। यह भोक्ता व साधारण कारण है अमर है, जलता नहीं, कटता नहीं, मरता नहीं पर इसका चेतन परिधिमय है, अल्प ज्ञानवान है। यह जन्म-मरण रूपी कालचक्र से आबद्ध है। प्रकृति में केवल एक गुण है—सत्। यह जगत् का उपादान कारण है। प्रकृति सनातन है और अनादि है। प्रकृति जगत् को अपने अन्दर से प्रकट करती है और प्रलय में अपने अन्दर ले लेती है।[६] ऋग्वेद १।१६४।२० मन्त्र में त्रैदवाद की प्रतिष्ठा की गयी है और कहा गया है कि प्रकृति रूपी वृक्ष पर जीवात्मा और परमात्मा नाम के दो पक्षी बैठे हुए हैं। जीवात्मा उसके फलों को खाता है। परन्तु परमेश्वर न खाता हुआ साक्षी मात्र होकर देखता है।[७] अतः जगत् न विकास का परिणाम है और न उसकी वास्तविक एकता उसकी भौतिकता में है। जगत् स्वयं सत्य है और प्रत्येक कल्प में संसार के समस्त पदार्थ एक से ही होते हैं। वह काल चक्र के आधीन है और उसके मूल तत्त्व तीन हैं। स्वामी दयानन्द की यह धारणा मार्क्स से भिन्न ही नहीं, उल्टी है।

द्वितीय, मार्क्स ने इतिहास की भौतिक व्याख्या की है। जबकि हीगेल के अनुसार 'इतिहास ईश्वर की आत्मकथा है', मार्क्स के अनुसार वह वर्ग संघर्ष की कहानी। उनके अनुसार "समाज में व्याप्त उत्पादन व्यवस्था में लगे हुए मनुष्य निश्चित सम्बन्ध स्थापित करते हैं जो कि निर्धारित रहते हैं—अर्थात् वे मनुष्यों की इच्छा पर निर्भर नहीं होते—ऐसे उत्पादन सम्बन्ध जो कि उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की निश्चित अवस्था के अनुसार होते हैं। इन्हीं उत्पादन सम्बन्धों के योग से आर्थिक प्रणाली बनती है जो कि वह वास्तविक आधार होती है जिस पर वैधानिक व राजनीतिक भित्ति का निर्माण होता है।"[८] यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि समाज की राजनीतिक व्यवस्था, उसकी न्याय प्रणाली, उसके धार्मिक व आध्यात्मिक विचार आदि आर्थिक ढांचे पर निर्भर हैं, और यह ढांचा स्वयं उत्पादन सम्बन्धों के योग से बनता है। उत्पादान की शक्तियों

के विकास के साथ-साथ समाज की आर्थिक प्रणालियाँ बदलती हैं और हर आर्थिक प्रणाली के बदलने से दो आधारभूत वर्ग जिनके सम्बन्ध सदैव एक दूसरे के विरुद्ध रहते हैं। मार्क्स के अनुसार इतिहास छः युगों में विभक्त है। मानव समाज की आदिम व्यवस्था सहयोग पर आधारित थी। आगे चल कर व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय होने पर पहले दासता, फिर सामन्तशाही और अन्त में पूंजीवाद का जमाना आता है। इन तीनों युग में क्रमश: स्वामी और दास, सामन्त और कृषकदास, पूंजीपति और मज़दूर ये परस्पर विरोधी आधारभूत वर्ग पाये जाते हैं। पांचवां युग सर्वहारा के अधिनायकत्व का होगा जबकि आर्थिक व्यवस्था, समाज व राज्य की बागडोर श्रमिकों के हाथ में होगी। यह समाजवादी एवं शोषण रहित युग होगा। इसके मानव समाज छठे व अन्तिम युग में प्रवेश करेगी। समाज से वर्ग समाप्त हो जायेंगे और चूंकि राज्यादि संस्थाएं वर्ग संस्थायें हैं, वे भी लुप्त हो जायेंगी। उस समय पहली बार मानव पशु तुल्य जीवन त्याग कर मनुष्योचित जीवन शुरू करेगा। वास्तविक स्वतन्त्रता तभी होगी। वह स्वर्ण युग होगा।

स्वामी दयानन्द इतिहास की भौतिक व्याख्या स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार वेद ईश्वरीय ज्ञान है। उसमें सभी विद्याओं का समावेश है। दर्शन, विज्ञान, समाज शास्त्र, अर्थ शास्त्र आदि सभी सत्य विद्याओं को बीज रूप में हम उसमें देख सकते हैं। वेद को प्रकाश में आये उतना ही समय हुआ जितना कि मानव को जन्मे। वेद युगों की कल्पना को स्वीकार नहीं करता। युग कल्पना निरी कल्पना है। यह कहना ठीक नहीं है कि मानव असभ्यता की अवस्था से उन्नत होकर सभ्यता की अवस्था तक पहुँचा है। वैदिक काल में ही हम पूर्ण उन्नत अवस्था में थे। प्रागैतिहासिक युग होता ही नहीं, उसकी कल्पना व्यर्थ है। वेद से पूर्व न कोई मनुष्य जाति थी, न कोई ज्ञान, भाषा व संस्कृति। न कोई पाषाण युग हुआ, न कांस्य युग न लौह युग। मनुष्य सृष्टि के प्रारम्भ से ही सोचने, चलने और रक्षा करने में समर्थ है। वह तभी से कृषि, उद्योग और संस्कृति से संस्कृत है। उसमें विकास का कोई स्थान नहीं है।

वेद अर्थ के महत्व को स्वीकार करता है पर केवल अर्थ नहीं। भूखा भोजन का महत्व समझता है, प्यासा पानी का। आर्थिक कष्ट से पीड़ित मार्क्स ने अर्थ के महत्व को समझा। उसे ब्रह्म, चेतन, आत्मा, श्रेष्ठ मनुष्य, धर्म, सामाजिक शाश्वत नियम—सभी महत्वपूर्ण वस्तुएं अर्थ के सामने नगण्य जंची। पर यह सत्य नहीं है। सामान्य मनुष्य ही अर्थ का दास होता है। समर्थ, त्यागी, तपस्वी पुरुष तो इतिहास की धारा ही बदल देते हैं। यह एक सत्य है। और यदि हम मानव जीवन की कामनाओं का विश्लेषण करें तो वेद के अनुसार वे चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। अर्थ का फल काम है और धर्म का फल मोक्ष। अतः दो प्रमुख हैं—धर्म व अर्थ की प्राप्ति। बिना धर्म के अर्थ अनर्थ मूलक है। अतएव जीवन में धर्म की प्रधानता है। धर्म से ही अर्थ की प्राप्ति करनी चाहिये। वेदानुकूल कर्म करना जीवनयापन करना ही धर्म है। और वेद का सन्देश है कि आयु, मन, आत्मा और यज्ञ से पूर्ण हो।[९] सभी कर्म करें पर उसमें कोई लिप्त न हो।[१०] वह लालच न करे, धन है ही किसका।[११]

वेद को वर्ण स्वीकार है, वर्ग नहीं। वर्ण और वर्ग में भेद है। दो आधारभूत वर्गों का जन्म उत्पादन व्यवस्था से होता है और उनमें सम्बन्ध सदैव शोषक शोषित का होता है। वर्ण व्यवस्था का आधार है गुण और कर्म। इसमें कार्य चुनने की आजादी है। सामाजिक संगठन के लिए उसकी आवश्यकता है। वेद के अनुसार परमात्मा ने ही अपने विराट् स्वरूप को चतुर्भागों में बांटा है।[१२] विराट पुरुष में ज्ञानी ब्राह्मण मुखवत् हैं, क्षत्रिय बाहुतुल्य, वैश्य जंघा तुल्य और शूद्र पैरवत्। चारों अंग शरीर का कार्य करते हैं। उनका लक्ष्य एक है। यह एक आङ्गिक सिद्धान्त का प्रतिपादन है। वर्ण वर्ण में वैमनस्य, शोषक-शोषित का भाव नहीं है। सबमें परस्पर प्रेम व सामंजस्य है। सब मिलकर एक लक्ष्य की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था संसार को मधुमय बनाने की व्यवस्था है न कि द्वेषमय।

तृतीय, मार्क्स वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता है। उसके अनुसार समाजवाद का ध्येय एक ऐसे वर्गविहीन प्रजातन्त्र की स्थापना है जिसमें स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप में लाया जा सके। जब तक वह आर्थिक आधार कायम है जो शोषक-शोषित वर्गों को जन्म देता है तब तक ऐसे प्रजातन्त्र का आना सम्भव नहीं। समाज के आधारभूत आर्थिक रचना में परिवर्तन क्रान्ति द्वारा होती है और सामाजिक क्रान्ति वर्ग संघर्ष की चरम सीमा पर ही घटित होती है। इसलिए यदि समाज के घातक वर्ग भेद को मिटाना है व समाजवादी व प्रजातान्त्रिक समाज कायम करना है तो उन्हें एक जुट होना पड़ेगा तथा वर्ग संघर्ष के साधन को अपनाना पड़ेगा। ऋषि दयानन्द ने वैदिक समाजवाद का समर्थन किया है। वैदिक समाजवाद मार्क्सवादी समाजवाद से मूलरूप में तीन प्रकार से भिन्न है :—

(क) ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों में हमें मिल के दर्शन अधिक होते हैं, मार्क्स के कम। मिल के अनुसार सत्य किसी की बपौती नहीं है और प्रत्येक को अपने विचार को प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। साथ ही उसका यह भी कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति स्व-सम्बन्धी (सेल्फ रिगार्डिंग) कार्यों में स्वतंत्र है पर-सम्बन्धी (अदर रिगार्डिंग) कार्यों में नहीं। ये दोनों सिद्धान्त आर्य समाज के दस नियमों में स्वीकार किये गये हैं। चौथा नियम कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति को सत्य को ग्रहण करने के लिये तथा असत्य को छोड़ने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए और दसवें नियम के अनुसार सब मनुष्य सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालन करने में परतन्त्र है और प्रत्येक हितकारी नियम में स्वतंत्र। यह व्यक्तिवाद का पोषण है न कि समाजवाद का।

(ख) ऋषि दयानन्द ने कभी भी धर्म व ईश्वर का विरोध नहीं किया। उन्होंने ईश्वर को सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टि कर्ता कहा और कहा है कि उसी की उपासना करनी योग्य है।[१३] उन्होंने धर्म जागृति बढ़ाई। जब

मार्क्स ने धर्म के विकृत रूप को देख कर उसे मिटाने का प्रयास किया, स्वामी दयानन्दने उसे सुधारने का। मार्क्स का दृष्टि-कोण निराशावादी था। धर्म मिटाये से मिटता नहीं। यह आत्मा की भूख है और जगत् का आधार। और यही कारण है कि साम्यवादी जगत् में उसकी पुस्तक 'दास कैथिटेल' ने बाइबिल व कुरान का स्थान ले लिया है और उसके सिद्धान्त उससे भी ज्यादा कट्टरवादी बन गये हैं जितने कि प्राचीन धर्मों के न थे। दयानन्द ने अंधविश्वास व कुरीतियों का विरोध कर धर्म के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा की। अध्यात्मवाद उनके समाजवाद की विशेषता है। यही कारण है कि वे अर्थ को जीवन में महत्व देते हैं पर धर्म की मर्यादा के साथ। धर्म से विमुख मनुष्य आवश्यकताओं (नीड्स) की पूर्ति के चक्कर में लोभ (ग्रीड्स) के वशीभूत हो जाता है। धर्म विमुख मनुष्य समाजवाद की प्राप्ति नहीं कर सकता। त्याग, अध्यात्म, धर्म वैदिक समाजवाद के आधार हैं, मार्क्सवादी समाजवाद के नहीं।

(ग) वैदिक समाजवाद उस सिद्धान्त का समर्थन करता है जिसे महात्मा गांधी ने 'ट्रस्टीशिप' (न्यास-प्रथा) का नाम दिया। इस समाजवाद का मूल मंत्र है—"ईशावास्यमिद सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् तेन त्यक्तेनभुञ्जीथा या गृधः कस्य स्विद्धनम्।"[१४] 'दुरितानि परासुव', अपरिग्रह। इसमें किसी को मिटा देने की बात नहीं है। इसमें न किसी से द्वेष है, न विरोध न संघर्ष। इसके मूल मंत्र हैं—तू मनुष्य बन, जाग्रत हो, शिव संकल्प कर, श्रम कर, पुरुषार्थ कर, त्यागी बन, लोभ मत कर, यज्ञ कर जो हमसे द्वेष करते हैं और जिनसे हम द्वेष करते हैं उस द्वेष को ईश्वर के ऊपर छोड़ और व्यवहार में उल्लू, भेड़िया, सुपर्ण, गृध, श्वान व कोक न बन। इसकी शिक्षा यह है कि मनुष्य जब तक कर्मशील और ईश्वरोन्मुख नहीं होगा तब तक न वह मनुष्य बनेगा और न समाजवाद की प्रतिष्ठा होगी।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यद्यपि मार्क्स और स्वामी दयानन्द दोनों ही महान् मनीषी हैं पर दोनों के विचारों व सिद्धान्तों में महान् अन्तर है। मार्क्स वस्तुतः मजदूरों का पैगम्बर है और दयानन्द मानवता का। मार्क्स का सन्देश है—क्रान्ति, विद्रोह, संघर्ष। दयानन्द का सन्देश है—शान्ति, प्रेम, सहयोग। शान्ति के वह इतने बड़े समर्थक हैं कि वह प्रत्येक मनुष्य से प्रातः और संध्या शान्तिपाठ करने के लिए और ईश्वर से यह प्रार्थना करने के लिये कहते हैं कि औषधियां, अन्न व पूर्ण विश्व मधुमय बने। वस्तुतः मार्क्स ने केवल वर्गीय साहित्य का निर्माण किया है और केवल वर्तमान की समस्याओं का हल देने का प्रयत्न किया है। उसकी दृष्टि पैनी है पर एकांगी और यही कारण है कि जिस वर्ग, शोषण, राज्य, धर्म आदि को मिटाने की उसने चेष्टा की वह आज समाजवादी व साम्यवादी जगत् में नये रूप लेकर पैदा हो गयी है। ऋषि दयानन्द का दर्शन समग्र जीवन का दर्शन है। आवेश में उनकी दृष्टि संकुचित न हुई। इसका कारण था उनकी साधना, तपस्या व वेदों का अध्ययन जोकि सब विद्याओं की पुस्तक है।[१५]

---

१. तैत्तिरीयोपनि० ब्रह्मानन्दव० अनु० १, उद्धृत सत्यार्थ प्रकाश ८ समुल्लास।
२. ऋ० ५।६०।५
३. अथर्व० १२।१।४४
४. अथर्व० १०।७।९
५. सत्यार्थ प्रकाश—८ समुल्लास।
६. यजु० २३।५६
७. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाक शीति ॥
(ऋ० १।१६४।२०)
८. कार्लमार्क्स—ए क्रिटीक ऑफ पोलिटिकल इकानेमि।
९. यजु० २२।३३
१०. यजु० ४०।२
११. यजु० ४०।१
१२. यजु० ३१।११
१३. आर्य समाज का दूसरा नियम।
१४. ईशो० १
१५. आर्य समाज का तीसरा नियम।

परमाणु आयुधों के प्रबल समर्थक

महर्षि दयानंद : एक पुनर्मूल्यांकन

• श्री हरिश्चन्द्र विद्यालंकार

आज का भारत जिन समस्याओं और रोगों से पीड़ित है, उनका समाधान और इलाज : "स्वतन्त्रता-आन्दोलन" के आदि-उद्बोधक, सर्वतोमुखी, कर्मठ नेता, अमर-शहीद स्वामी दयानन्दजी के ग्रन्थों में इतने स्पष्ट और विस्मयजनक रूप में उल्लिखित मिलता है कि जैसे उन्होंने आज से ९० साल पहले ही इन आनेवाली समस्याओं और रोगों का 'पूर्व'—दर्शन कर लिया था। उनकी जन्मतिथि : १२ सितम्बर : पर प्रस्तुत इस लेख में स्वामीजी के उन विचारों का कुछ परिचय पाठकों को मिलेगा, जिन पर चलने से आज भी भारत ओजस्वी और महान राष्ट्र बन सकता है।

भारत परमाणु-बम बनाये या न बनाये :

आज हमारे देश की जनतन्त्र-व्यवस्था : क : स्वार्थ-पूर्ति को ही सर्वप्रथम स्थान देनेवाले, : ख : नम्बर-२ का स्थान भी देश के हित को न देकर अपने दल, सम्प्रदाय या गुट को देनेवाले, और, : ग : इस प्रकार राष्ट्र-हित को 'तीसरा या अंतिम स्थान 'देनेवाले, राजनीतिज्ञों के' 'खिलवाड़ की वस्तु' बन गयी है। धर्म और नैतिक मूल्यों को तिरस्कृत करके 'राजनीतिक के दूषित खेल'—: पालिटिक्स इज़ ए डर्टी गेम :—के ये खिलाड़ी हमारे देश पर हावी हो गये हैं। और, इस प्रकार हमारा देश राजनीति के दलदल' में फंस गया है। क्या इस दुर्व्यवस्था से उबरने और बचे रहने का कोई स्थायी उपाय है।

इन दो प्रमुख प्रश्नों की अक्सर चर्चा होती रहती है।

मार्ग दर्शन

महर्षि स्वामी दयानन्दजी (जन्म : १८२४–मृत्यु : १८८३ ईसवी) ने अपने ग्रन्थों में इन प्रश्नों के उत्तर इतने स्पष्ट रूप में लिखे हैं कि मानों, उन्होंने आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व इन कठिनाइयों को पहले से ही भाँप लिया था। यहाँ हम उन्हीं के ग्रन्थों से उद्धरण और हवाले दे-देकर उपर्युक्त प्रश्नों पर उनके : स्वामी दयानन्द जी के : विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

परमाणु-बम ही नहीं, हाइड्रोजन-बम भी

इससे पहले कि हम परमाणु-बम : एटम बम : के विषय को लें, पाठकों को कुछ 'पृष्ठभूमीय जानकारी' होनी चाहिये। तभी वे यहाँ दी जानेवाली बातों को आसानी से समझ सकेंगे।

क—'तापाणविक अग्नि,

हाइड्रोजन बम के बारे में वैज्ञानिकों की यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है :—हाइड्रोजन-बम इज़ ए मिनिएचर सन :—' अर्थात् हाइड्रोजन-बम सूर्य का अति लघु रूप है। इसका अभिप्राय यह है—सूर्य में अति-उच्च : लाखों डिग्री ऊँचे : तापांश पर जो 'तापाणविक अग्नि' : न्यूक्लिअर फायर : प्रज्वलित है—'तापाणविक अग्नि' जलने की 'प्रक्रिया' हो रही है—अर्थात्, सूर्य में जो तापाणविक अग्नि' जलने की जो परमाणु-संघटन-प्रक्रिया : फ्यूजन : हो रही है—वही प्रक्रिया हाइड्रोजन बम में होती है :—-अंतर

केवल इतना है कि सूर्य बहुत बड़ा है और हाइड्रोजन-बम 'बहुत ही छोटा' होता है।',

ख—हाइड्रोजन-बम में परमाणु-बम का रहना अनिवार्य

हाइड्रोजन-बम के विषय में दूसरी जानने लायक बात यह है :—

हाइड्रोजन-बम को 'चलाने' के लिये—उसमें 'परमाणु-संघटन-प्रक्रिया 'शुरू करने के लिये, इतने अधिक ऊँचे तापांश की जरूरत होती है, कि उतना ऊँचा तापांश हमें केवल, 'परमाणु-बम के विस्फोट' से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये प्रत्येक हाइड्रोजन-बम में उसके एक पुर्जे के रूप में परमाणु बम भी रहता है। पहले परमाणु-बम का विस्फोट होता है, फिर बाद में इस प्रथम विस्फोट के अति तीव्र ताप से हाइड्रोजन बम का विस्फोट होता है।

इससे यह स्पष्ट है कि यदि किसी देश के पास हाइड्रोजन-बम है, तो निश्चय ही उसके पास परमाणु-एटम बम भी है।

अब मूल विषय पर आयें। प्रश्न यह उपस्थित है कि भारत परमाणु-बम बनाये कि नहीं।

इस विषय में स्वामी दयानन्दजी का कहना है :—

क—भारत 'हाइड्रोजन-बम'—स्वामीजी के शब्दों में, सूर्य की किरणों के समान आग्नेय अस्त्र' : बनायें। यहाँ 'सूर्य की किरणों' से अभिप्राय है—"सूर्य के विकीरण" का—अर्थात् "सूर्य की अग्नि" का।

ख—जैसा अभी ऊपर बताया गया है—हाइड्रोजन-बम के निर्माण में परमाणु-बम का निर्माण सन्निविष्ट है। इसलिए स्वामीजी के शब्दों की व्याख्या आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से यह हुई कि भारत न केवल परमाणु-बम बनाये, बल्कि हाइड्रोजन-बम भी बनाये।

ग—अन्य भी अनेक परमाणु-अस्त्र :—

स्वामीजी को इतने से ही सन्तोष नहीं। वे कहते हैं—"परमाणु-बम और हाइड्रोजन-बम के अलावा अन्य भी अनेक प्रकार के 'परमाणु-अस्त्र' बनाये जाने चाहिये। स्वामीजी ने यह नहीं लिखा—सूर्य की किरणों के समान आग्नेयादि अस्त्र"। उन्होंने 'आदि' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि अन्य भी अनेक प्रकार के 'परमाणु-अस्त्र' भारत को बनाने चाहिये।

वैज्ञानिक व्याख्या

पृष्ठभूमीय जानकारी :—'परमाणु'को पहले 'अखण्ड्य लघुतम कण 'माना जाता था, परन्तु ज्यों-ज्यों परमाणु-विज्ञान प्रगति करता जा रहा है, हमें परमाणु के भीतर उपस्थित नये-नये "परमाणु कणों' का पता लगाया जा रहा है—जैसे :— इलेक्ट्रान, प्रोटोन' न्यूट्रान, पाजिट्रान, न्यूट्रिनों, मिसान आदि। इन्हें "परमाणु कण" : एटामिक पार्टिकल : कहा जाता है। लगभग ५० तरह के 'परमाणु-कणों' का हमें पता लग चुका है और यह संख्या अनु-संधान-प्रतिअनुसंधान से बढ़ती जा रही है। जिस तरह ये 'परमाणु-कण' 'परमाणु भट्टी' : एटामिक रिएक्टर : की 'अग्नि में पाये जाते हैं, स्पष्ट है कि उसी तरह ये 'सूर्य की अग्नि' में भी विद्यमान हैं।

इन परमाणु कणों' में से न्यूट्रानों' को जिस तरह वैज्ञानिकों ने 'युद्धास्त्र' बनाने के लिये प्रयुक्त कर लिया है, उसी तरह, अन्य भी कई 'परमाणु-कणों' का उपयोग 'युद्धास्त्र' बनाने के लिये हो सकता है।

व्याख्या :—स्वामीजी के "सूर्य की किरणों के समान आग्नेयादि : आग्नेय आदि अस्त्र" इस 'पंक्ति' में जो 'आदि' शब्द प्रयुक्त किया गया है, उसका अभिप्राय यह हो सकता है कि "भिन्न-भिन्न परमाणु-कणों के उप-योग से भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक अस्त्र बनाये जायं।

अस्त्र-वाहक विमान भी

घ—स्वामीजी ने इस शक्तिशाली अस्त्रों के साथ-साथ इनके प्रयोग के लिये विमानों का भी जिक्र किया है, जिन विमानों से इन घातक अस्त्रों को शत्रु पर 'चलाया' जा सके।

ये चारों बातें क, ख, ग, और घ,—स्वामीजी ने "ऋग्वेद" के एक मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखी हैं। मन्त्र है :—

सं वो मदासो अग्मतेन्द्रेण च मरुत्वता।
आदित्येभिश्च राजभिः ।।

—ऋग्वेद; मण्डल-१; सूक्त-२०; मंत्र-५

उद्धरण

इस मन्त्र का भावार्थ स्वामीजी ने अपने "ऋग्वेद भाष्यम् में—जिसे उन्होंने विक्रमी संवत् १९३४ : ईस्वी सन्—१८७७ में प्रारम्भ किया था—संस्कृत भाषा में इस प्रकार लिखा है :—

भावार्थ :—ये विद्वांसो वायु-विदुयुद्धविद्याम् आश्रित्य सूर्यकिरणैः आग्नेयास्त्रादीनि शस्त्राणि, यानानि च निष्पादयन्ति तदा शत्रून जित्वा राजानः सन्तः सुखिनो भवन्ति, इति। "—देखें स्वामीजी का ऋग्वेद भाष्यम्," प्रथम भाग; विक्रमी संवत् २०११ में, वैदिक, यन्त्रालय, अजमेर, द्वारा मुद्रित तृतीय आवृत्ति, पृष्ठ-२५१।

इस ग्रन्थ में पृष्ठ २५२ पर स्वामीजी ने इसी मन्त्र का भावार्थ हिन्दी भाषा में इस प्रकार लिखा है :—

भावार्थ : —जो विद्वान लोग जब वायु : गैस अवस्था में उपस्थित पदार्थों : और विद्युत का आलम्ब लेकर सूर्य की किरणों के समान आग्नेय आदि अस्त्र और आदि शस्त्र और विमान आदि यानों को सिद्ध करते हैं, तब वे शत्रुओं को जीत राजा होकर सुखी होते हैं।"

नोट :—कोष्ठक में दिये गये शब्द स्वामीजी के नहीं हमारे हैं, और ये 'वायु' शब्द के एक विशिष्ट तथा विस्तृत अर्थ को प्रकट करते हैं।

इन उद्धरणों से हमारी उपर्युक्त चारों बातें पुष्ट हो जाती हैं।

विशेष उल्लेखनीय

यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जब स्वामीजी ने इस प्रकार के 'अस्त्रवाहक' विमानों का जिक्र किया, उस समय पश्चिम के बैलूनों में ही उड़ रहे थे। उन्होंने पहली यान्त्रिक उड़ान १७ नवम्बर १९०३

को की थी और वह उड़ान सिर्फ १२ सेकेण्ड की तथा १२० फीट लम्बी थी। इससे कोई २६ साल पहले स्वामीजी ने अनेक प्रकार के विमानों का वेदों के आधार पर वर्णन किया है।

अब दूसरी समस्या लीजिये।

राजनीतिज्ञ देश पर हावी न होने पायें

हमारी दूसरी समस्या यह है कि आज हमारे देश पर सत्ता-लोलुप और अपने स्वार्थों को राष्ट्रहित से ऊपर रखनेवाले हावी हो गये हैं। उनकी स्वार्थ-केन्द्रित विकृत राजनीति ने देश को गहरे दलदल में फंसा दिया है। क्या, ऐसी विकृतियों, विकारों या हानिकारक प्रवृत्तियों से देश को बचाने, या देश के बचे रहने का कोई प्रभावकारी और स्थायी उपाय है।

स्वामीजी ने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में छठे समुल्लास के हिन्दी में लिखे गये दूसरे पैरे में ही वह उपाय प्रस्तुत कर दिया है।

इस छठे समुल्लास में 'राजधर्मों' की चर्चा की गयी है।

तीन सभाएँ

स्वामीजी कहते हैं कि सुखी रहें, इसके लिये तथा जनता में ज्ञान विज्ञान की वृद्धि होती रहे इसके लिये अर्थात् देश की प्रगति-उन्नति—सुख-समृद्धि और उनमें सब तरह के ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के लिये 'शासन का संचालन' तीन सभाओं द्वारा किया जाय ये तीन सभायें हैं :—

१. **विद्या-सभा** :—इसके सदस्य होने चाहियें देश भर के चोटी के विद्वान और अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ।

२. **धर्म-सभा** :—इसके सदस्य वे सज्जन होने चाहियें, जिनको धर्मशास्त्रों, विश्वजनीन मानवधर्म तथा नैतिक मूल्यों की पूरी समझ हो और जो आचरण से भी धार्मिक हों।

३: **राजसभा** :—राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ इस सभा के सदस्य होने चाहियें।

राजनीतिज्ञ अल्पमत में

इस प्रकार जब तीनों सभाएँ मिलकर और समन्वित होकर 'सरकार' को चलायेंगी, तब राजनीतिज्ञ अल्पमत में : एक-तिहाई : होने के कारण कभी देश के शासन-तन्त्र पर हावी नहीं हो सकते।

और स्वामीजी की व्याख्या के अनुसार तीनों समाजों के समन्वित रूप में कार्य करने से देश की योजनाएँ सुविचारित रूप से तैयार होंगी और उनके ईमानदारी पूर्वक कार्यान्वय से देश की सभी दिशायें योजनाओं के सुन्दर कार्यों-फलों-परिणामों से अलंकृत होंगी।

स्वामीजी ने अपने इस विचार की पुष्टि में ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के ३८ वें सूक्त का ६ ठा मन्त्र उद्धृत किया है। मन्त्र यह है :—

त्रीणि राजाना विदथे
पुरूणि परि विश्वानि
भूषथः सदांसि।

इसमें 'त्रीणि सदांसि' इन शब्दों में उपर्युक्त तीन सभाओं (तीन संगठनों) का उल्लेख है।

इस प्रकार स्वामी दयानन्दजी के, मानो आज से लगभग एक शताब्दी पहले हमारी इन समस्याओं के हल प्रस्तुत कर दिये थे। ऐसे दूरदर्शी महर्षि की जन्मतिथि पर हम उन्हें अपनी 'श्रद्धांजलि प्रस्तुत करते हैं।

(पृष्ठ ९० का शेष)

८. अनिवर्चनीय कारणवाद इसलिए ठीक नहीं कि सत् असत् से विलक्षण कोई अनिवर्चनीय कोई वस्तु नहीं हो सकती है।

९. केवल आत्यैकवाद इसलिए सिद्ध कहीं कि जड़ का फिर अभाव होगा।

१०. केवल जड़ कारणवाद इसलिए ठीक नहीं क्योंकि फिर चेतना का अभाव होगा।

११. जगत् का मिथ्या होना इसलिए ठीक नहीं कि वह प्रत्येक कल्प में वैसा ही होता है।

१२. केवल ज्ञान में ही पदार्थ की सत्ता मानना भी ठीक नहीं क्योंकि फिर आग कहने व उसके ज्ञान से मुंह जलने की स्थिति होगी।

इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन अनादि पदार्थ हैं। इस वाद का नाम त्रैतवाद है और आर्यसमाज इसे स्वीकार करता है। वेद भी त्रैतवाद का ही प्रतिपादन करता है—

त्रय शशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वयत एक एषाम्।
विश्वमेको अभिचष्टे शचीमिध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्।।
ऋ० १।१६४।४४

बालादेकमणीयस्कम् उतैकं नैव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया।।
अथर्व० १०।८।२५

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्पाद्वत्यनश्नन्यो अभिचाकशीति।।
ऋ० १।१६४।२०

असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदिते रुपस्थे।
अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषमश्च धेनुः।।
ऋ० १०।५।७
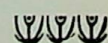
ऋषि दयानन्द की वेदार्थशैली के मौलिक सिद्धांत

• आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति,

ऋषि दयानन्द के आगमन से पूर्व सैकड़ों, बल्कि हजारों, शताब्दियों में वेदों का जो स्वाध्याय होता रहा वह बहुत ही उथले ढंग का और वेदों के वास्तविक अभिप्राय को अधिकाधिक छिपाने वाला ही होता था। इस प्रकार के स्वाध्याय के परिणामस्वरूप सायण, महीधर, उव्वट आदि के जो भाष्य वेदों पर मिलते हैं उन्हें देखकर, मनु, व्यास और शङ्कराचार्य आदि के ग्रन्थों के पढ़ने से उत्पन्न होने वाली यह धारणा कि वेद अनेक विद्या-विज्ञानों से युक्त हैं, उनमें सञ्चित ज्ञान की दृष्टि से वे सर्वज्ञ जैसे हैं, प्रदीप की भांति सब पदार्थों को वे प्रकाशित करने वाले हैं और सर्वज्ञान के आगार हैं, शिथिल हो जाती हैं। सायण आदि के भाष्य अधिकांश में अर्थ-हीन याज्ञिक कर्म-काण्ड, पौराणिक किस्से-कहानियों और जादू-टोनों से भरे पड़े हैं। इन भाष्यों में वेद के महत्त्व के अनुरूप कुछ भी नहीं है। इन भाष्यों को पढ़कर वेद पर श्रद्धा होनी तो दूर रही, उल्टा वेद निहायत मूर्खता की बातों से भरे हुए दीखने लगते हैं और उन पर अश्रद्धा होने लगती है। जिन नियमों के अनुसार इस काल में वेदों के अर्थ किये जाते रहे वे नियम वेदों का सही अभिप्रायः समझने के लिए ठीक नियम न थे। इसलिए ये भाष्यकर वेदों में उस प्रकार की विद्या-विज्ञान की कोई बात न दिखा सके जिस प्रकार की बातों का वेदों में होना मन आदि प्राचीन विद्वान् देखते थे।

यह थी अवस्था वेद के स्वाध्याय की जब भारतवर्ष के रंगमंच पर ऋषि दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। ऋषि दयानन्द उन महापुरुषों में से थे जो कभी युगों के पीछे उत्पन्न हुआ करते हैं। वे प्राचीनकाल के महर्षियों की श्रेणी के महर्षि थे। वे संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पंडित थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य की सब शाखा-प्रशाखाओं का गहरा आलोडन किया था। वेदों, उनके ब्राह्मणों और अङ्गों-उपाङ्गों पर तो उनका पूरा आधिपत्य था। वेद और वैदिक साहित्य का बड़ा भाग उन्हें कण्ठाग्र था। वेद के अध्ययन में सहायक व्याकरण और निरुक्त आदि शास्त्र उनकी जिह्वा पर नाचते थे। उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर और पैनी थी जो कि वस्तु की तह में जाकर उसके असली रूप को पकड़ने की क्षमता रखती थी। उनकी प्रतिभा सर्वतो-मुखी थी। वे खरे-खोटे की पहिचान करने में बड़े दक्ष थे। उनका शरीर और मन तपस्या और ब्रह्मचर्य से सधा हुआ था। वे पहुंचे हुए योगी थे। अठारह-अठारह घण्टे की समाधि में बैठे हुए उन्हें लोगों ने देखा था। वे ईश्वर में श्रद्धा रखने वाले पूर्ण आस्तिक थे। उनका जीवन यम-नियमों[1] के सेवन से पूर्ण पवित्र बन चुका था। वे आजन्म ब्रह्मचारी थे। उनकी तर्क शक्ति, जिसे यास्क ने निरुक्त में ऋषि[2] करके लिखा है, बड़ी प्रबल थी। इतनी तैयारी और साधना के अनन्तर ऋषि दयानन्द ने वेदों के स्वाध्याय और प्रचार को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था। इस प्रकार वेदों का स्वाध्याय करके उसने उनके महत्त्व का प्राचीन शङ्ख फिर से फूंका। उसने फिर से गम्भीर घोषणा की कि वेदों में सब विद्याओं का मूल है। उसने फिर से महाराज मनु, महर्षि व्यास, आचार्य शंकर तथा दूसरे आचार्यों और ऋषि-मुनियों की आवाज में आवाज मिलाकर कहा—वेद अनेक विद्याख्यानोपबृंहित, अनेक विद्या-विज्ञानों से युक्त, प्रदीपवत सर्वार्थविद्योती सर्वज्ञकल्प और सर्व-ज्ञान के आकार हैं। लोगों ने कहा—सायण आदि पिछले भाष्यकार और पाश्चात्य विद्वान् जो रूप वेदों का दिखाते हैं वह तुम्हारी बात का विरोध करता है। उसने उत्तर दिया—ये लोग जिन नियमों का आश्रय लेकर वेदों को समझना चाहते हैं उन नियमों से वेदों के मर्म को नहीं समझा जा सकता। ये लोग मध्यकालीन भारतीय साहित्य के अनेक अंशों में बहुत निकृष्ट अंग पुराणों और याज्ञिक विनियोगपरक ग्रन्थों के पीछे चलकर वेदों को समझने का प्रयत्न करते हैं। ये लोग इन

---

१. नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, ये पांच । यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच !

२. निरुक्त १३ । १२ ।

ग्रन्थों से प्रभावित होकर मन्त्र में आये विशेष्य की अपनी एक पूर्व-कल्पित मूर्ति को सामने रखते हैं और उसके अनुसार विशेषण-शब्दों को तोड़ते और मरोड़ते हैं। इससे अर्थ का अनर्थ हो जाता है। और भी कितनी ही बातों का, जिन्हें वेद के अर्थ करते हुए ध्यान में रखना चाहिए, ये लोग बिल्कुल ध्यान नहीं रखते हैं। इस कारण ये लोग वेद के मर्म को समझने में असमर्थ रह गये हैं।

ऋषि दयानन्द ने ब्राह्मण, निरुक्त, महाभाष्य तथा दूसरे प्राचीन ग्रन्थों का गहरा स्वाध्याय करके उनमें पड़े हुए वेदार्थ-शैली के सूक्ष्म तत्त्वों को खोज निकाला। स्वयं वेद के गम्भीर पारायण ने वेदार्थ-शैली के इन तत्त्वों को पता लगाने में ऋषि दयानन्द की सहायता की। ऋषि दयानन्द के ग्रंथों में वेदार्थ करने की सही शैली के इन तत्त्वों की ओर स्थान-स्थान पर निर्देश किया गया है। उनके ग्रन्थों के स्वाध्याय से वेदार्थ-शैली के जो मुख्य-मुख्य सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१—वेद ईश्वरीय ज्ञान है इस बात को वेदार्थ करते हुए सदा ध्यान में रखना चाहिए।

२—वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण उनमें कोई बात ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के विपरीत नहीं हो सकती। इसलिए वेद-मन्त्रों का ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता जो ईश्वर के सत्य, न्याय, दया, संयम, पवित्रता और सर्वज्ञत्व आदि गुणों के विपरीत जाने वाली बातें बताता हो।

३—और इसीलिये वेद में कोई ऐसी बात भी नहीं हो सकती जो सृष्टि-क्रम के विरुद्ध हो। वेद-मन्त्रों का ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता जो परमात्मा के सृष्टि-चक्र में काम कर रहे नियमों के विरुद्ध जाता हो। परमात्मा की सृष्टि में जो वैज्ञानिक नियम काम रहे हैं उनके प्रतिकूल अर्थ वेदमन्त्रों का नहीं हो सकता।

४—वेद का ज्ञान परमात्मा ने मनुष्यों को उन्नति करने में सहायता देने के लिए दिया है। इसलिए वेद के अर्थ ऐसे होने चाहिए जो मनुष्य को वैयक्तिक रूप में, कौटुम्बिक रूप में, सामाजिक रूप में, आर्थिक रूप में, राजनीतिक रूप में, सहायता देने वाले हों।

५—वेद का अर्थ सचाई जानने के साधन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के अनुकूल होना चाहिये। वेद का अर्थ तर्कानुमोदित, युक्ति-युक्त और बुद्धि-संगत होना चाहिए।

६—वेद नित्य परमात्मा का नित्य ज्ञान है। इसलिए उसमें किन्हीं अनित्य व्यक्तियों का इतिहास नहीं हो सकता। अतः वेदों का अर्थ करते हुए उनमें किसी भी प्रकार का इतिहास और किस्से-कहानियाँ नहीं खोजनी चाहिएं। वेद तो त्रैकालिक सत्यसिद्धान्तों का ज्ञान देते हैं। इसके अनुसार ही वेद का अर्थ किया जाना चाहिये।

७—विनियोगवाद से वेद को स्वतन्त्र रखना चाहिये। विनियोग पीछे की चीज है। वेद पहले हैं। विनियोग को सर्वथा भुलाकर वेद मन्त्रों का अपना स्वतन्त्र और स्वाभाविक अर्थ देखना चाहिये। मन्त्र के अपने स्वतन्त्र अर्थ से विनियोग की युक्ति-युक्तिता परखनी चाहिये। विनियोग के आधार पर मन्त्र का अर्थ नहीं बदलना चाहिये।

८—मन्त्रों में आने वाले इन्द्र आदि विशेष्य-वाची पदों का, वर्णनीय वस्तु को बताने वाले पदों का, अर्थ उनके विशेषणों के आधार पर निश्चित करना चाहिये। पुराणों या दूसरे ग्रन्थों में कल्पित इन्द्र आदि की मूर्ति के आधार पर मन्त्र के इन्द्र आदि के विशेषण-शब्दों का अर्थ नहीं बदलना चाहिये। उदाहरण के लिए, यदि इस प्रकार के विशेषणों के, या उसके वर्णनों के, आधार पर इन्द्र का अर्थ वेद में देखा जाये तो किन्हीं मन्त्रों में इन्द्र परमात्मा को कहता हुआ मिलेगा। किन्हीं में जीवात्मा को, किन्हीं में राजा को और किन्हीं में विद्युत को कहता हुआ मिलेगा। और भी कई अर्थ इन्द्र के मिलेंगे। इस प्रकार इन्द्र अनेक अर्थों को देने लगेगा जिससे वेद में वर्णित अनेक विधाओं की सूचना मिलेगी। यही बात अग्नि, वरुण आदि विशेष्य-पदों के सम्बन्ध में भी है। वेद के इन्द्रादि के लिए प्रयुक्त "देवता" शब्द से भ्रान्ति में नहीं पड़ना चाहिये। वेद मन्त्रों में वर्णित की जाने वाली वस्तु का, प्रतिपाद्य विषय का, पारिभाषिक नाम देवता[1] है।

९—वेद में अनेक विद्या-विज्ञानों का वर्णन है। इन विभिन्न विद्या-विज्ञानों को बताने के लिए वेद-मन्त्रों के आदिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भेद से अनेक होते हैं। वेद के सीमित संख्या के मन्त्रों से अनेक विद्या-विज्ञानों का बोध तभी हो सकता है जब वेद-मन्त्रों के अनेक अर्थ किये जायें। यह तभी हो सकता है जब वेद के शब्दों को रूढ़ि न मानकर यौगिक माना जाये। इसलिए वेद का अर्थ यौगिकवाद के आधार पर किया जाना चाहिये। इस पद्धति से एक से वेद मन्त्र क्षेत्रभेद से अनेक अर्थ देने लगेगा। केवल इतना ध्यान रखना चाहिये कि एक अर्थ दूसरे अर्थ का विरोधी न हो। ऋषियों ने जो वेद को अनन्त[2] कहा है वह इसी यौगिक-वाद की पद्धति से बन सकता है।

१०—वेद व्याख्याता को संस्कृत-भाषा का अच्छा ज्ञाता तो होना ही चाहिये। संस्कृत व्याकरण तथा निरुक्त आदि का उसका अध्ययन गहरा होना चाहिये। साथ ही उसे अन्य अनेक विद्याओं और शास्त्रों आ ज्ञाता भी होना चाहिये। वेद में वर्णित अनेक विद्या-विज्ञानों को समझने के लिए व्याख्याता को जितनी अधिक विद्यायें आती होंगी उतना ही अधिक उसे लाभ रहेगा। आदिम ऋषियों को तो स्वयं परमात्मा ने वेद में वर्जित विद्या-विज्ञानों का साक्षात्कार करा दिया था। उस परम्परा से वेदों का पठन-पाठन विलुप्त हो गया। अब तो हम तर्क और शास्त्रों के ज्ञान के आधार पर ही वेद को समझने में समर्थ हो सकते हैं।

११—वेद का यदि ध्यानपूर्वक गम्भीरता से स्वाध्याय किया जाये तो पता लगता है कि बहुत स्थानों पर वेद ने अपने आशय को स्वयं स्पष्ट कर दिया है। वेद का अर्थ करने में वेद के इस प्रकार के स्थलों से भी पूरी सहा-सहायता तो लेनी चाहिये। वास्तव में वेद के इस प्रकार के स्थल वेद को समझने में सबसे अधिक उपयोगी हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद १-१६४-४६, यजुर्वेद ३२-१, ऋग्वेद १०-८२-३ और अथर्व० २-१-३ मन्त्रों में—"इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि उसी को कहते हैं, वही दिव्य गुणों वाला सुपर्ण और गरुत्मान् कहलाता है, उसी को यम और मातरिश्वा कहते हैं,

---

१. या तेनोच्यते सा देवता। ऋक्सर्वानुक्रमणी।
२. अनन्ता वै वेदाः। तै० ब्रा० ३ | १० | ११ | ३,४

उस एक को ही विप्र-गण बहुत नामों से कहते हैं[1]" "वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है और वही चद्रमा है, वही शुक्र, वही ब्रह्म है, वही आपः है और वही प्रजापति है[2]", "जो हमारा पिता है, उत्पन्न करने वाला है, जो सबको बनाने वाला सब स्थानों और लोकों को जानता है, जो सब देवों के नामों को धारण करने वाला एक ही है, उस पूछने योग्य, जानने योग्य की ओर ही सब लोक जा रहे हैं, उसी की ओर संकेत कर रहे हैं[3]।" "वही हमारा पिता है, उत्पन्न करने वाला है, और वही हमारा बन्धु है, वह सब स्थानों और लोकों को जानता है, जो सब देवों के नामों को धारण करने वाला एक ही है, उसे पूछने योग्य, जानने योग्य की ओर सब लोक जा रहे हैं, उसी की ओर संकेत कर रहे हैं[4]।" —यह कहकर इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि वेद में इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि नाम उसी एक परब्रह्म के हैं। उसी एक के भिन्न-भिन्न गुणों और शक्तियों को बताने वाले ये अनेक नाम हैं। इस प्रकार बहु-देव—पूजावाद और जड़—पूजावाद आदि वेद पर थोप दिये गये वादों का खण्डन स्वयं वेद कर देते हैं। वेद में तो एक परब्रह्म की ही पूजा और उपासना बतायी गयी है। इन्द्रादि नाम किन्हीं अलग देवों के नहीं है जिनकी अलग से पूजा करनी चाहिये। ये तो उसके भिन्न-भिन्न गुणों को बताने वाले उसी परब्रह्म के नाम हैं। और इस प्रकार वेद की अपनी साक्षी के आधार पर वेद का आध्यात्मिक-भाष्य एकेश्वरपरक किया जाना चाहिये।

१२—वेद के व्याख्याता को तपस्वी, संयमी, पवित्र जीवन वाला और ईश्वर का श्रद्धालु होना चाहिये। ये गुण व्याख्याता में ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न कर देते हैं जो वेद को समझने में बहुत अधिक सहायक होती हैं।

ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में वेदार्थ-शैली के इन मौलिक सिद्धान्तों की पुष्टि में वेदों, ब्राह्मणों, महाभाष्य और निरुक्त आदि से यथेष्ठ प्रमाण दिये हैं। इन मौलिक सिद्धान्तों के अनुसार यदि वेदों का स्वाध्याय और अर्थ किया जायेगा तो वे लौकिक और आत्मिक ज्ञान के खजाने दीखने लगेंगे।

---

१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः ससुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्याग्निं यमं मात रिश्वानमाहुः ।। ऋग्: १।१६४।४६

२. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदु बायुस्तदु चन्द्रमाः
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।। यजु/०३२।१"

३. यो नः पिता जनिता पो विधाता धामनि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देबानां नामधा एक एव तं सं प्रश्नं भुवना पन्त्यन्या ।। ऋग्० १०।८२।३

४. स नः पिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुपनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं सं प्रश्नंभुवना यान्तिसर्वो ।। अथर्व० २।१।३

वैदिक धर्म और विज्ञान

• आचार्य श्री रामानन्द शास्त्री धर्माधिकारी

आज धर्म से मानव-समाज को घृणा हो रही है। इस समय धर्म विश्व के लिए अभिशाप बन गया है। मेरा तात्पर्य धर्म के मौलिक नियमों से नहीं है, इन्हें तो सब मानते हैं। दया, करुणा, मैत्री आदि को तो सब स्वीकार करते हैं, किन्तु यहाँ हमारा प्रयोजन व्यक्ति विशेष द्वारा संचालित मत, मजहब अथवा फिरका से है, जिनके कारण विश्व में सुखपूर्वक जीवनयापन करना दूभर हो गया है। इस्रायल (यहूदी) फिलिस्तीनी (मुसलमानों) की लड़ाई धार्मिक है। तेल अबीब के हवाई अड्डे पर गोली मार कर निरीह लोगों की हत्या की गई; इसलिए कि — ये यहूदी हैं, मूसा को अपना पैगम्बर मानते हैं, तौरत इनकी धर्म पुस्तक है। लीबिया के छापामार दस्ते ने इस्रायल के गाँवों में घुस कर १०-११ वर्षों के बच्चों की मार्मिक हत्या की, जिसे सुन कर मानवता काँप उठती है। बेरुत में ईसाई और मुसलमानों के रक्त से सड़क गीली हो गई है। आयरलैण्ड में प्रोटेस्टैण्टों और कैथौलिकों का युद्ध शान्ति का नाम ही न ले रहा है। उसी प्रकार पाकिस्तान में शिया सुन्नी का द्वन्द्व तथा बेचारे अहमदिया मुसलमान, गैर मुसलिम घोषित हो गए हैं। क्योंकि उनका अपराध यह है कि उन्होंने हजरत मुहम्मद को अन्तिम 'नवी' नहीं स्वीकार किया है। अमेरिका में राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या भी मजहवी ज़हर है।

उपर्युक्त घटनाएँ तो इस युग की हैं। सेमेटिक विचारधारा का पुराना इतिहास तो निरीह मानव के रक्त से रंजित है, जो बिना कारण धर्म के नाम पर मारे गए। यह मतमतान्तर विज्ञान की प्रगति में भी बाधक रहा है। ब्रूनो, गैलेलियो आदि की निर्मम यातनाएँ सत्य के प्रकाश के कारण हुईं। अरब के खलीफा ने रेखागणित की पढ़ाई इसलिए बन्द कर दी, क्योंकि पॉइन्ट (बिन्दु) की परिभाषा खुदा से मिलती है। स्पेन के कारडोवा विश्वविद्यालय में बीजगणित की पढ़ाई बन्द कर दी गई, क्योंकि यह जादू-टोना मालूम पड़ता है। उस समय स्पेन में जादू-टोना धर्म-कानून के विरुद्ध था।

इन सबों का कारण व्यक्ति विशेष द्वारा स्थापित 'मत' 'मज़हब' है। यद्यपि इन मजहबों के संस्थापकों का उद्देश्य पवित्र था वे उस समय की परिस्थिति में मानवता का उपदेश कर चले गए। किन्तु पश्चात् उनके अनुयायियों ने उपदेश को न समझ कर व्यक्तिपूजा में विरत हो अनेक प्रकार का अत्याचार तथा अनाचार का सृजन किया।

इसका कारण व्यक्तिपूजा (पर्सनल कल्ट) ही है। तर्कबुद्धि को तिलांजलि देकर व्यक्ति-विशेष को अतिमानव मानना तथा विज्ञान विरुद्ध चमत्कारों में विश्वास करना है। विश्व के सम्पूर्ण धर्म प्रचारकों ने यद्यपि स्वीकार किया है कि मैं कोई नयी शिक्षा का उपदेश नहीं दे रहा हूँ, तथापि अपने अनुयायियों को अपना भक्त बनाने का प्रयास किया है।

श्री कृष्ण ने कहा है (मदयाजी मां नमस्कुरु) अर्थात् मेरे साथ चलो, मेरी पूजा करो—"अहम् त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः"—अर्थात्—मैं तुम्हारे सारे पापों को धो डालूंगा मत चिन्ता करो। ईसामसीह की भी यही घोषणा थी—तुम्हारे सारे पापों को लेकर शूली पर चढ़ रहा हूँ। मुझ पर विश्वास करो, स्वर्ग का राज्य मिलेगा। भगवान् गौतमबुद्ध ने मृत्यु के समय रोते हुए अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा कि—मेरे मरने के बाद मेरा उपदेश ही तुम लोगों के लिए दीपक का काम करेगा। मूसा और जरथुस्त्र ने इसी प्रकार का आदेश अपने अनुयायियों को दिया था। सिख गुरुओं के अनुयायी तो उनके ग्रन्थों को ही साक्षात गुरु मान कर पूजा करते तथा पंखा झलते हैं। बाइबिल कहती है —

"धन्य वे हैं, जो अपने वस्त्र धो लेते हैं, क्योंकि उन्हें जीवन के पेड़ के पास आने का अधिकार मिलेगा, और वे फाटकों से होकर नगर में प्रवेश

करेंगे। पर कुत्ते, टोन्हे और व्यभिचारी और हत्यारे और मूर्तिपूजक और हर एक झूठ चाहने वाला और गढ़ने वाला बाहर रहेगा।

"प्रकाशित वाक्य"

किन्तु आज ईसाई सबसे अधिक मूर्तिपूजक है किन्तु केवल मसीहा की मूर्ति के। हजरत मुहम्मद ने एक खुदा का उपदेश दिया, बुतपरस्ती का प्रबल विरोध किया। एक अल्लाह का उपदेश दिया, किन्तु कलमा में अल्लाह के साथ अपना नाम जोड़ दिया, बिना मुहम्मद के कलमा पूर्ण नहीं माना जाएगा। उसका परिणाम यह हुआ कि नई मूर्तिपूजा—कब्र की पूजा होने लगी, मुहम्मद के कब्र पर सबसे अधिक रतू चढ़ाये गये हैं।

इनमें महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ऐसे हैं जिन्होंने कहा कि— हमारा कोई अपना मत नहीं है, तुम से कोई पूछे कि तुम्हारा क्या धर्म है, तब कहो मेरा धर्म वेद है। वेद का अर्थ ज्ञान होता है, वैदिक धर्म का अर्थ ज्ञान का धर्म अर्थात् वैज्ञानिक धर्म है।

महाभारतकार कहते हैं—

सर्वं विदुः वेद विदो
वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
वेदे हि निष्ठा सर्वस्य
यद् यदस्ति च नास्ति च।
शान्ति पर्व

मनु ने कहा है—

सर्वं वेदाद् हि निर्भभौ।

इसलिए वैदिक धर्म विज्ञान का विरोधी कभी न रहा न वह विज्ञान की प्रगति में बाधक ही बना। गणित, ज्योतिः रेखागणित, बीजगणित, वैशेषिक (रसायन, भौतिकी) आयुर्वेद आदि शास्त्रों का उद्गम वेद ही है ऐसा उपरोक्त शास्त्रकार प्रतिपादन करते हैं।

नारद ने सनत्कुमार से कहा—

ऋग्वेदं भगवोध्येमि, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणाम् चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्म् राशिं दैवं निधिं, वाकोवाक्यम् एकायनम् देवविद्याम् ब्रह्मविद्याम्, भूतविद्याम्, क्षत्रविद्याम्, नक्षत्रविद्याम् सर्पदेव जन विद्याम् एतद् भगवोऽध्येमि सोऽहं भगवो मन्त्र विदेवोस्मि नात्मवित्। श्रुतं ह्येव मे भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयत्विति तं हो वाच। यद्वै किञ्चैतद् अध्यगीष्ठा नामैवदद्। छान्दोग्य उपनिषद्।

यहाँ पर नारद ने १४ विद्याओं का उल्लेख किया जिन्हें वे जानते हैं किन्तु सनत्कुमार से प्रार्थना करते हैं कि महाराज! मैं मन्त्रविद् हूँ किन्तु आत्मविधा जानना चाहता हूँ अतः मुझे आत्मविद्या का उपदेश कीजिए।

स सर्वविद्या प्रतिष्ठा मधवीय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह-मुराऽकोपहि।

अर्थात्—उन्होंने सारी विद्याओं का आधार ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। यहाँ पर ब्रह्मविद्या को सारी विद्या का आधार कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक धर्म विज्ञान की प्रगति का बाधक नहीं रहा है। और मज़हबों का कहना है कि मज़हब में अकल का दखल नहीं है। वैदिक धर्म तो तर्क द्वारा खरा उतरने वाले को ही धर्म मानता है।

मनुमहाराज कहते हैं—

यस्तर्केणातु सेधत्ते, स धर्मं वेद नेतरः।

अर्थात्—जो तर्क से अनुसंधान करता है, वही धर्म को जानता है। गीताकार की उक्ति है—

तं विद्धि प्रणिपातेत परि प्रश्नेन सेवया।

अर्थात् —तुम उस तत्त्व को प्रश्न और प्रश्न पर प्रश्न कर समझो—

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तया कुरु।

अर्थात्—विचार कर जैसा चाहो वैसा करो।

विज्ञान का उद्देश्य सत्य की खोज है, वैदिक धर्म का भी उद्देश्य सत्य की खोज एवं उसकी प्राप्ति है। अतः वैदिक धर्म विज्ञान का विरोधी नहीं अपितु पूरक है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि वैदिक युग में काफी तर्क एवं विचार विमर्श के बाद तत्त्व का निर्णय होता था। वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य एवं मैत्रेयी का सम्वाद सर्वविदित है जिसमें प्रत्येक जनपद के दार्शनिक एकत्र हो तत्त्व का निर्णय करते थे।

निरुक्त में लिखा है कि ऋषियों के दिवंगत हो जाने के बाद तर्क ही ऋषि है। अतः धर्म और विज्ञान में साम्य है।

स्वामी दयानन्द ने इसी वैदिक धर्म की ओर लौटने का आदेश दिया। जहाँ पर जात-पांति, काला, गोरा, देश अथवा विदेश का भेद नहीं है। मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्—मित्र की दृष्टि से सारे प्राणियों को देखो।

स्वामी ने इसी वैदिक धर्म के प्रचारार्थ आर्य समाज की स्थापना की। आर्य का अर्थ होता है, प्रगतिशील, ज्ञानी—आर्य समाज का अर्थ ही प्रगतिशीलों तथा ज्ञानियों का समाज है।

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।

आर्यसमाज भारत राष्ट्र का निर्माण करे

• श्री अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

"मह्यं नमन्ता प्रदिशः चमक्षुः ।।"

आर्यसमाज के जीवन के सौ साल पूरे हो गए। सौ सालों में इसने क्या किया इसकी तुलना ब्रह्म समाज, थियासिफिल सोसाइटी, प्रार्थना समाज आदि से नहीं की जा सकती। क्योंकि इनमें से किसी ने भारत राष्ट्र के ज्ञान-विश्वकोष (वेद), भारत राष्ट्र को अक्षय ज्ञान निधि की रक्षा और उसके प्रचार का बीड़ा नहीं उठाया था। ये संस्थाएं भारत-भूमि व प्रतिभक्ति और निष्ठा को उत्पन्न करने और बढ़ाने के लिए स्थापित नहीं हुई थी। आर्यसमाज की तुलना करनी हो तो संयुक्त राज्य अमेरिका से करनी चाहिए। इस देश व राष्ट्र का १४ जुलाई, १९७६ को पूरे सौ साल हो जाएंगे। आर्यसमाज ने क्या भारत को विश्व-व्यापी साम्राज्य स्थापित करने की शक्ति दी? महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज को विरासत में यह कार्य सौंपा है। ऋषि ने लिखा है :

सृष्टि से लेकर पाँच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एक मात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे।

स्वायंभ्रव राजा से लेकर पाण्डव पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा।

अघ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाचन्द्रधैराश्चक्वर्सिनः केचिम् सुरचुम्न भूरि दयुम्नेन्द्र द्युम्न कुवलायाश्वयतोवनाश्ववद् घ्य्श्वाश्वपति शशविन्द्र हरिश्चन्द्राम्बीसननवतु सर्यातियथात्यनरण्याक्षसेनादयः। अथ मरूत भरत प्रभृतयो राजानः ।।

(मैत्र्युपनि ५१। १०४)

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्यकुल में ही हुए थे। अब इन सन्तानों का अभाग्योदय होने से राजभ्रष्ट होकर विदेशियों से पदाक्रान्त हो रहे हैं। ऋषि ने यह वेदोक्त सत्य कहा है। यथा—

अथर्ववेद बताता है कि सर्वप्रथम भारत में आर्य (हिन्दू) ही बसे। आर्य उस समय भारत में आकर बसे जब भारत भूमि समुद्र से निकलनी शुरू हुई थी। यथा—

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीक्ष्या मायाभिरन्वचरन्म नीसिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येना वृतममृंत पृथिव्याः।।
साना भूमिस्त्विर्सि बल राष्ट्रेदधातूत्तमे। (अ० १२। १। ८)

सात सौ साल से निरन्तर पराजित होने वाली विजय आकांक्षा से शून्य जाति और देश में नूतन प्राण का संचार करना चाहा था। पराजय को अपमानजनक माना जाता। पराजित होकर जीवित रहना और राज-सिंहासन पर गौरव विनाशक माना जाता था। स्रबक्तगोन (गौरीशासक) से पराजित काबुल नरेश जयपाल ने राज्य सिंहासन अपने पुत्र अनंतपाल को दे दिया और स्वयः सुसानि में जल कर प्राणोत्सर्ग कर दिया। राजा जयपाल ने यह सिद्ध कर दिया कि यह सत्य है।

कीर्तियस्य स जीवति।

गीता कहती है :

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादति रिच्चते।

आत्मा को अजर अमर माननेवाला देश ऋषि के समय पराधीन था। मृत्यु से डरता था। उसको अभय दिया और दिया वेद ज्ञान। वेद ने स्पष्ट कहा : यह भूमि मैंने (परमात्मा) आर्यों (हिन्दुओं) को दी है।

अहं भूमिमददाम् आर्याय अहं दृष्टि वाशुसे मर्त्याय।
अहंपयो धनय वावशानाः मम देवायो अमुयेद्धप आयन् ।।

(ऋ० ८। २६। २)

परन्तु हम आज क्या सुनते हैं। यूगोस्लेविया के मार्शल टीटो के प्रतिपक्षी नेता डिलास कहते हैं २००५ में विखण्डित भारत और भी विखण्डित होगा। क्या यह एक कल्पना है?

मराठा इतिहास के लेखक एल० फिंस्टन ने लिखा है कि दूसरे बाजीराव पेशवा की पराजय और मराठा राज्य की समाप्ति के साथ १८१८ में भारत की आबादी लगभग १८ करोड़ थी ब्रिटिश शासन ने पहली जनगणना १८८१ में कराई। इस साल पंजाब में (पंजाब सीमाप्रान्त और बिलो-चिस्तान को मिला कर पंजाब प्रान्त था। पंजाब से सीमाप्रान्त १९०५ में लार्ड कर्जन ने अलग किया।) आर्य समाज की स्थापना १८७५ में ६ साल पहले हो चुकी थी। परन्तु आर्य समाज की स्थापना ने और भारत को विजयी राष्ट्र बनाने के लिए सतत संघर्ष करने की प्रेरणा नहीं दी।

वेद को खोने भुलाने से यह देश यह भी भूल गया था: हमें आज ही विजयी होना है और विशुद्ध होना है। पराजित अनायास पापरहित नहीं हो सकता। विजयी होने के लिए उच्च चरित्र का होना आवश्यक है। अतः वेद कहता है:

अजेस्मासना मादय। भूमानागसोवयम्॥
(अथर्व १६।६।१)

इसी उद्दीप्त भावना से ऋषि कह सकता था: भारत! तू सब का भरण करता है। मुझ पर यह सारा विश्व निर्भर है। यथा

श्रेष्ठ यविष भारताऽग्ने क्षुमन्तमा मा।
वसो पुरूस्पृहंरयिम् (ऋ० २।७।१)

पर भारतीय के लिए ऋषि कहता है: भारतीय सर्वत्र भारत भूमि को देखता है और उस की ही स्तुति वन्दना और अर्चना करता है।

य इमे गेदसि उमे अहभिन्द्रुमतुस्टवम्।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेन्द्र भारत जनम॥
(ऋ० ३।५३।१२)

क्या आज यह देश 'भारत' के नाम से दुनिया के किसी कोने में जाना जाता है? क्या विश्वामित्र रक्षित भारत भूमि की स्तुति वन्दना और अर्चना होती है?

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिर्भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितय स्तेसु चारुवदेम ते॥
(अथर्व १२।१।५६)

भारत भूमि मां है, माता है। यह मानने पर ही भारत सन्तान उससे दूध पाने की आशा कर सकती है।

यामश्विनावमिमातां विष्णु यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽन मित्ता शचीयतिः।
सानो भूमि विसृजतां माता प्रताय मे पयः॥

कभी भारत गान ऋषि की इस पवित्र वाणी से भरित और पूरित था। हम अजेय अहत हो इस पृथ्वी के शासक हों।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं से पृथिवी स्योनमस्तु।
वसुंब्रुणां रोहिणी विश्वरूपां ध्रुवां भूमि पृथिवीभिन्द्रगुप्ताम्॥
अजीनोऽहतो अक्षतोऽध्यस्टा पृथिवीमहम॥(अथर्व १२।१।११)

अजेय होने का प्रयत्न करना पड़ता है। नेता जी सुभाषचन्द्र बोस ने कोहिमा और इम्फाल में मोर्चा लिया था क्योंकि उनको भारतीय होने का गर्व था। वेद का कहना है: हमारे शत्रु नष्ट हों और हम शत्रु रहित हो।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूत्यां मायां त्येलवा:
युध्यन्ते यस्यामादुन्दो यस्यां वदति द्रन्द्रभिः।
सानो भूमिः पुणुवतः सपत्वानमपत्नं मा पृथिवी वृणमेसु।
(अथर्व १२।१।४१)

परन्तु हम इस ऋषि वाणी को भूल गए।

वेद के इस आदेश की पालना हो इसकी व्यवस्था करने की शक्ति क्या और किसी में है? जो वेद को भारत का असध्य ग्रन्थ नहीं मानता क्या वह कभी इसका पालन करेगा? ऋषि भारत की सीमा बताता है:

यस्य इमें हिमवन्तो महित्वा यस्य समुदं रसया सह आहुः।
यस्य इमाः प्रदिशो यस्य वाहू कस्मैदेवाय हविषा विधेम॥
(ऋ० १०।१२।४)

रसा— कथं रसायाः अतरः पयांसि से (ऋ० १०।१०८।१)

भगवान वेद व्यास ने भी इसी के अनुसार कहा है:

यथहि समुद्रो भगवान्
यथा हि भगवान् हिम गिरि।
ख्याता उभौ रत्ननिछत
तथा भारतमुच्यते॥

अतः आर्य समाज वस्तुतः चाहता है: ये वेद मंत्र भारतीय जनता के वास्ते कुछ अर्थ रखें तो उसको सर्वप्रथम भारत भूमि को शत्रु विहीन, भारत द्रोहियों से शून्य बनाना चाहिए। अन्यथा यह मंत्र भारतीय जनता के लिए अर्थविहीन, अर्थशून्य रहेंगे। इनका पाठ बेमतलब होगा क्योंकि जिसका कहना है:

स्थाणुः अयं भारहारः विल अभूद् गधीत्य वेद न विजानाति योर्धेऽम्।
यो अर्थज्ञः इन सकलं भद्रम् अश्नुते नाकम् एति ज्ञान विधूत याप्मा॥
(निरुक्त १।१८)

मंत्रों को सार्थक बनाना आर्यसमाज का कार्य है।

यहाँ एक विचारणीय प्रश्न उठता है सिन्ध नदी के समानान्तर बहने वाली नदी सरस्वती ने अपना मार्ग कब बदला और क्यों बदला? त्रिवेणी संगम कब बना? क्या यह शोध भारतीयों के सिवाय क्या और कोई करेगा? यह परिवर्तन जितना प्राचीन माना जायगा उतना ही प्राचीन भारत राष्ट्र का जीवन माना जायगा। भारत राष्ट्र विश्व का सर्वाधिक प्राचीन राष्ट्र है। क्या यह अभिन्न गौरव उत्पन्न किए बगैर भारत राष्ट्र विश्वविजयी राष्ट्र हो सकेगा? भारत विश्व विजयी राष्ट्र हो यह महान कार्य वेद भक्त आर्य समाज के सिवाय क्या कोई और कर सकता है? यह सम्भव है। क्या मार्च, १९१९ से पहले किसी ने कल्पना की थी कि दिल्ली के जामामस्जिद से अमर आर्य संन्यासी को प्रवचन करने का निमंत्रण दिया जाएगा। वह महान भारतीय भारत भक्त आर्य सन्यासी जामामस्जिद के मिम्बर पर से—

स्वं हि नः पितावसो स्वं माता शतक्रमो बभूविथ
अधाते स्रम्नम्र ई मेह॥ (ऋ० ८७।९८।११)

और इसको सुनने के लिए जामा मस्जिद के सामने के मैदान में जितनी मुस्लिम जनता एकत्र हुई थी उतनी फिर १९७४ तक नहीं जमा हुई। क्या

यह कल्पनातीत दृश्य नही है ? इसी समय लेनिन ने रूस में कम्युनिज्म की पताका फहराई क्योंकि लेनिन विश्व विजय का कृतसंकल्प था। यदि आर्य सन्यासी भी विजय की महती आकाँक्षा से युक्त होकर और आगे बढ़ता तो क्या भारत राष्ट्र के शत्रु आज महान भारत को बौना बताते व नपुंसक बना पाते। क्या इस मूल का परिमार्जन आर्य समाज को न करना चाहिए? निस्संदेह संख्या में बल है। परन्तु वास्तविक शक्ति संकल्प लक्ष्य की एकता और योग्य भारत भक्त दृढ़ निश्चयी नेता की संगठन शक्ति और नेतृत्व में है। चंगेज खाँ ने विश्व विजय किया। रोम का पोप शान्ति की और रक्षा की मांग करने आया। विश्व-विजेता चंगेज खाँ का जवाब था। मंगोलों की अधीनता स्वीकार करो। यह तलवार तुम्हारी रक्षा करेगी। यदि यह मंजूर नहीं तो ईसाई नर मुण्डों से यह पृथिवी पट के रहेगी।

मंगोलों की क्या संख्या थी ? ये फिरडर चरवाहे थे। मध्य एशिया में उस समय इनका कोई राज्य न था। हाँ ये अच्छे घुड़सवार थे। चंगेज खां ने इन एक लाख मंगोलों को कहा :

विजय का डंका बजाओ। कूच करो। तुम्हारा जन्म विश्व विजय के लिए हुआ है। सारा विश्व उनके चरणों में झुक गया। वह चले थे यह कहते हुए चारों दिशाएं मेरे सामने झुकें और मुझ को नमस्कार करें। चीन की खड़ी दीवार बता रही है कि मंगोलों की तलवार के आगे दुनिया ने अपना शीश झुका दिया। चंगेज खाँ का स्थापित साम्राज्य तीन पीढ़ी तक चला। टूटा तो विजयोन्माद और आपसी फूट से।

अतः आर्य समाज भारत को महान् करने का दृढ़ संकल्प करे। वेद की शक्ति और प्रभाव का यह जीता जागता प्रदर्शन होगा।

राजसूय यज्ञ में जैसे इन्द्रप्रस्थ आया था और उसने कहा था हम बलि लाए हैं स्वीकार की जाय।

बलिहृत स्याम।

वैदिक ऋषि की कल्पना का भारतीय महिमा मण्डित विश्व विजयी है वह भारत माता को विश्वास दिलाता है : मैं विश्व विजयी हूं। दसों दिशाओं को जीतने में समर्थ हूँ। आप भी संकल्प कीजिये।

अहमास्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अमीषाऽस्मि विश्वासाऽऽशामभाशा विसासद्धिः॥
(अ० १२। १। ५४)

आर्य समाज यही संकल्प लेकर १०१ वें वर्ष में आगे बढ़े यह सर्व नियन्ता का उसको आदेश है।

एस आदेशः। एस पन्थः। यह है वैदिक मार्ग। ऋषि ने कहा है।

इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्य : (ऋ० १०। १४। १५)
पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः॥ (अथर्व १८। २। २)

इस मार्ग पर साहस के साथ आगे बढ़े। ऋषि का यह आशीर्वाद पूर्ण सफल होगा, हृदय में विश्वास रखें :

इत्तो जयंतो विजय संजय जय स्वाहा। (अथर्व ८। ८। २४)
पूर्ण जय हो।

यह होने पर ही यह राष्ट्रीय आशीर्वाद सत्य होगा :

अभि वर्धता पयसामि राष्ट्रेण वर्धेताम्।
रय्या सहस्रुवर्चं सेमौ स्तामनु पक्षितौ॥
(अ० ६। ७८। २१)

क्या आर्य समाज इस राष्ट्रीय आशीर्वाद को पाने के योग्य भारत को बनाना अपना कर्तव्य न मानेगा ?

प्रतिज्ञा

डा० सुरेश शास्त्री 'विश्वयात्री'

ज़माने के साँचे में ढलता नहीं हूँ,
ज़माने को हरदम बदलता रहूँगा।
विपुल जोश लेकर कुटिल काल की भी,
करतूत काली कुचलता रहूँगा॥
भले ज़िन्दगी के रँगीले गगन पर,
विपत्ति के निरे मेघ मँडरा रहे हों।
खिले चन्द्र को कर ग्रसित राहु क्षण को,
विजय केतु ले केतु इतरा रहे हों॥
प्रलय राग गाती चली आ रही हों,
अधम आँधियों पर न परवाह मुझको।
निशा नाशिनी चीर काला उढ़ाकर,
करे राह से रोज गुमराह मुझको॥
उषा के सिन्दूरी संदेशे सजाकर,
सुबह सूर्य स्वर्णिमि निकलता रहूँगा।
ज़माने के साँचे में ढलता नहीं हूँ,
ज़माने को हरदम बदलता रहूँगा॥
नेकी धरा पर बराबर करूँगा,
बदले में चाहें बदी मिल रही हो।
निजी बोटियों का चढ़ा तेल दूँगा,
किसी दीप की रोशनी बुझ रही हो॥
अमर साधना की धवल धारणा का,
जगत कर रहा हो निरादर निरन्तर।
भला औ बुरा सब मुझे कह रहे हों,
इरादे बने हों सरासर भयंकर॥
मगर मंजिलों का अटल ध्येय लेकर,
कठिन कंटकों पर टहलता रहूँगा॥
असल न्याय का अब तराजू नहीं है,
मेरी लेखनी साफ लिखती रहेगी।
मुझे डाल दो काल की कोठरी में,
मेरी जीभ तो साफ कहती रहेगी॥
चलूँगा सुपथ पर, बढ़ूँगा प्रलय सा,
मेरी चाल कोई, नहीं रोक सकता।
अमर क्रान्ति का खून मेरी नशों में,
अनिल क्या, अनल, भी नहीं सोख सकता॥
महाक्रान्ति का सत्य संदेश लेकर,
विजय गीत गाता मचलता रहूँगा॥
मनुज को मनुज भूलता जा रहा है,
दनुज-द्वेष की कल्पनायें फली हैं।
मिटीं हैं परस्पर भली भावनायें,
प्रणय की सभी योजनायें जली हैं॥
यहाँ निर्बलों का नहीं है ठिकाना,
गरीबों की पीड़ा बढ़ी जा रही है।
तड़पते निरे भूखों से रोज प्राणी,
गरीबी सिरों पर चढ़ी आ रही है॥
दशा देखकर दीन दुखियों की दारुण,
सदा मोम बनकर पिघलता रहूँगा॥
भले काम में विघ्न बेहद बढ़ेंगे,
इसे भी भली भाँति मैं जानता हूँ।
पाना नहीं, किन्तु खोना पड़ेगा,
यही ज़िन्दगी की विजय मानता हूँ॥
दुखी के लिए, यदि चली देह जाये,
खुशी से लुटा दूँ नहीं मोल लूँगा।
किसी में पड़ें प्राण मेरे रुधिर से,
बता दो अभी खाल को खोल दूँगा॥
गरल भी सरल, देशहित में समझकर,
दयानन्द सा मैं निगलता रहूँगा॥

ब्राह्मण साहित्य का सामान्य परिचय

• डॉ० कृष्ण कुमार

भारतीय, धर्म, सभ्यता और संस्कृति के प्राणभूत तत्व वेद एवं इनके व्याख्यान ग्रंथ हैं। वेद अपौरुजेय हैं और सृष्टि के आदि में स्वयं भगवान् की प्रेरणा से ऋषियों के हृदयों में इनका प्रादुर्भाव हुआ था। इन वेदों की संख्या चार है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

वेदों के व्याख्यान ग्रन्थों के रूप में ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् साहित्य का आविर्भाव हुआ था। यद्यपि वेदों की व्याख्या के रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों का सबसे अधिक महत्त्व है, तथापि इनका उतना प्रचार नहीं हुआ, जितना कि उनके उत्तरवर्ती तथा अङ्गभूत साहित्य उपनिषदों का प्रचार हुआ क्रियात्मक दृष्टि से यदि देखा जावे तो हिन्दू धर्म का मुख्य स्रोत ब्राह्मण ग्रन्थों को समझा जा सकता है। अतः प्रत्येक हिन्दू को या आर्य को ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वल्प परिचय अवश्य होना चाहिए। प्राचीनता और मान्यता की दृष्टि से ब्राह्मणों का स्थान वैदिक संहिताओं के बाद का है तथा प्राचीन ऋषियों और भाष्यकारों ने इनको भी वेद नाम दे दिया था।[1]

ब्राह्मण शब्द का अर्थ—

ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द नपुंसकलिग में प्रयुक्त होता है तथा इसका अर्थ है—'ब्राह्मणेन प्रोक्तम् = ब्राह्मणाम्।" मेदिनीकोष में ब्राह्मण की व्याख्या है—"ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्।" 'ऐतरेय ब्राह्मण' ने ब्राह्मण शब्द की निम्न प्रकार से व्युत्पत्ति बताई है—

"इति ह ब्राह्मणं, तस्योक्तं ब्राह्मणम्।"

इसका अर्थ यह भी ग्रहण किया जाता है—"यज्ञ और कर्मकाण्डों की व्याख्या करने वाले ब्राह्मणों द्वारा जिस ग्रन्थ को कहा गया है, वह ब्राह्मण है।

ब्राह्मण शब्द की व्युत्पत्ति 'ब्रह्मन्' से भी कही जाती है। जिन ग्रन्थों में 'ब्रह्मणन्' का स्वरूप बताया गया है, उनको ब्राह्मण कहते हैं। ब्रह्म का अर्थ यज्ञ भी है। यज्ञ के प्रतिपादक ग्रन्थ ब्राह्मण हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों का वेदों से सम्बन्ध—

वेदों के अर्थों का प्रतिपादन करने तथा उनकी व्याख्या करने के लिए ही ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई थी। किसी युग में वेद की प्रत्येक शाखा का एक ब्राह्मण था, जिसमें कि उसके मन्त्रों की व्याख्या की गई थी। कहा जाता है कि प्राचीन युग में वेदों की ११३० शाखायें थीं और प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित एक ब्राह्मण ग्रन्थ था। इस प्रकार उस युग में ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या भी ११३० रही होगी। परन्तु इनमें से अधिकांश ब्राह्मण ग्रन्थ अप्राप्य हैं और हमें इस समय उनके नाम भी विदित नहीं हैं। इस समय जो ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वेदों के साथ सम्बन्ध के अनुसार उनके नाम निम्न हैं—

ऋग्वेद—ऐतरेय और कौषीतकि।
शुक्ल यजुर्वेद—शतपथ।
कृष्ण यजुर्वेद—तैत्तिरीय।
सामवेद—ताण्डय (पञ्चविंश, षड्विंश, मन्त्र, छान्दोग्य), आर्षेय, वंश, संहितोपनिषद्, जैमिनीयोपनिषद्, सामविधान और दैवत।
अथर्ववेद-गोपथ।

इन ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वल्प परिचय क्रमशः दिया जा रहा है—

---

१. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्॥ तन्त्रवार्तिक १.३.१०॥ तथा आपस्तम्ब—परिभाषा॥

(१) ऐतरेय ब्राह्मण–

'ऐतरेय ब्राह्मण' का सम्बन्ध 'ऋग्वेद' की शाकल शाखा से है। इस ब्राह्मण को महीदास ऐतरेय की रचना कहा जाता है। कुछ समालोचकों का अभिमत है कि यह ब्राह्मण महीदास की स्वयं की रचना न होकर उनके द्वारा किया गया संकलन है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' ४० अध्यायों में विभक्त है और इन ४० अध्यायों का वर्गीकरण ८ पञ्चिकाओं में किया गया है। प्रत्येक पञ्चिका में ५ अध्याय हैं। ये अध्याय पुनः कण्डिकाओं में विभक्त हैं। परन्तु इन कण्डिकाओं की संख्या कोई निश्चित नहीं है। प्रत्येक अध्याय में ६-१२ कण्डिकायें हैं। पूरे ब्राह्मण में २८५ कण्डिकायें हैं।

'ऐतरेय ब्राह्मण' में मुख्य रूप से सोमयाग का वर्णन किया गया है तथा राजसूय यज्ञ, राज्याभिषेक आदि की विधियों का विस्तार से उल्लेख है। है। इस ब्राह्मण के पहले १६ अध्यायों में एक दिन में सम्पाद्य अग्निष्टोम सोमयागों का, १७-१८ अध्यायों में ३६० दिन में सम्पाद्य गवामयन याग का और १९-२४ अध्यायों में द्वादशाह याग का वर्णन है। इसके बाद के अध्यायों में अग्निहोत्र की चर्चा के साथ-साथ राजसूय यज्ञ और राज्याभिषेक की विधियों का वर्णन किया गया है। इस ब्राह्मण के अन्तिम दस अध्यायों में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के परस्पर सम्बन्धों का एवं क्षत्रियों द्वारा किये जाने वाले यज्ञों का विस्तार से वर्णन है। इन अध्यायों में अनेक आख्यान भी दिए गए हैं, जो अत्याधिक रोचक एवं शिक्षाप्रद हैं। इनमें राजा हरिश्चन्द्र और शुनःशेप की कथा बहुत प्रसिद्ध है। इसका संक्षेप से वर्णन करना उपयोगी होगा —

इक्ष्वाकुवंशी राजा हरिश्चन्द्र की कोई सन्तान नहीं थी। वरुणदेव की उपासना करके उनके वरदान से राजा ने एक पुत्र प्राप्त किया। परन्तु पुत्र का वरदान इस शर्त पर मिला कि राजा उसकी बलि दे देगा। पुत्र का नाम रोहित रखा गया। बहुत समय तक पुत्र की बलि की बात को राजा टालते रहे तथा रोहित युवा हो गया। अब उसकी बलि के लिए जब यज्ञ होने लगा तो रोहित जंगल में भाग गया। कुपित वरुण के शाप से राजा उदर-व्याधि से पीड़ित हुआ। पिता के रोग का समाचार पाकर रोहित लौट आया। अब वरुण के परामर्श से राजा ने रोहित के स्थान पर बलि देने के लिए अजीगर्त नाम के ब्राह्मण से उसके पुत्र को खरीद लिया। यज्ञीय स्तूप में बँधे हुए शुनःशेप का वध करने के लिए जब कोई तैयार नहीं हुआ तो धन के लोभ से उसके पिता ने ही पुत्र को मारने के लिए शस्त्र उठाया। उस समय अजीगर्त ने वरुण देव की स्तुति की। प्रसन्न वरुण ने शुरःशेप को मुक्त करके राजा हरिश्चन्द्र को भी प्रतिज्ञा से मुक्त कर दिया। शुनःशेप ने अपने पिता का परित्याग कर दिया और यज्ञ के होता ऋषि विश्वामित्र ने उसको अपने पुत्र के रूप में स्वीकार किया।

(२) कौषीतकि ब्राह्मण—

'ऋग्वेद' का दूसरा उपलब्ध ब्राह्मण 'कौषीतकि' है। यह 'ऋग्वेद' की वाष्कल शाखा का ब्राह्मण है। 'ऋग्वेद' की इस शाखा की संहिता तो उपलब्ध नहीं है, परन्तु ब्राह्मण मिलता है। इस ब्राह्मण को 'शांखायन ब्राह्मण' भी कहते हैं। कुछ समालोचकों का विचार है कि पहले शांखापन और कौषीतकि अलग-अलग ग्रन्थ थे।

'कौषीतकि ब्राह्मण' में ३० अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में ५-१७ खंड हैं एवं पूरे ब्राह्मण में २२६ खण्ड हैं। इसके पहले छः अध्यायों में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दार्शपौर्णमास और चातुर्मास्य का वर्णन किया गया है। इसके ७-३० अध्यायों में सोमयागों का विस्तृत वर्णन है। इस ब्राह्मण में एक महान् यज्ञ के किए जाने का वर्णन आता है, जो कि नैमिषारण्य में किया गया था।

(३) शतपथ ब्राह्मण—

'शतपथ ब्राह्मण' को ब्राह्मण साहित्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इसका सम्बन्ध 'शुक्ल यजुर्वेद' से है। इस ब्राह्मण में १०० अध्याय होने से इसका नाम शतपथ प्रसिद्ध हुआ।

'शुक्ल यजुर्वेद' की दो शाखायें प्रसिद्ध हैं—'वाजसनेयि' और 'काण्व'। इनके दो अलग-अलग 'शतपथ ब्राह्मण' उपलब्ध होते हैं। इनमें भी 'वाजसनेयि', जिसको कि 'माध्यन्दिन' भी कहते हैं, शाखा के 'शतपथ ब्राह्मण को अधिक मान्यता मिली है। यद्यपि इन दोनों ब्राह्मणों की विषय-वस्तु प्रायः एक ही है, तथापि वर्णनक्रम और अध्यायों के क्रम में कुछ भिन्नता है।

वाससनेयि शाखा के 'शतपथ ब्राह्मण' में १४ काण्ड, १०० अध्याय, ६८ प्रपाठक, ४३८ ब्राह्मण और ७६३४ कण्डिकायें हैं। काण्व शाखा के 'शतपथ ब्राह्मण' में १७ कान्ड, १०४ अध्याय, ४३५ ब्राह्मण और ६८०६ कण्डिकायें हैं।

'शतपथ ब्राह्मण' के रचयिता याज्ञवल्क्य ऋषि हैं। इसमें वैदिक धर्म का स्वरूप विशेष रूप से निर्धारित किया गया है। आर्यों की जिन धार्मिक परम्पराओं, आचार-विचारों आदि का विकास हुआ, उस पर इस ब्राह्मण का बहुत अधिक प्रभाव है। इसमें यज्ञों की विधियों, आध्यात्मिक चिन्तन, ईश्वर की उपासना, सृष्टि-उत्पत्ति, मोक्ष आदि की विस्तृत व्याख्या की गई है।

'शतपथ ब्राह्मण' के पहले ९ काण्डों में 'शुक्ल यजुर्वेद' के पहले १८ अध्यायों की क्रमशः व्याख्या की गई है। इसके साथ विविध यज्ञों का भी वर्णन है। १०-११ काण्डों में अग्नि का रहस्य, पञ्च महायज्ञ, दर्शपूर्णमास आदि का विधान है। १२वें काण्ड में नित्य-नैमित्तिक कर्मों के न करने के दोष और उनके प्रायश्चित्तों का, द्वादश सत्र का, तथा संवत्सर सत्र आदि का वर्णन है। १३वें काण्ड में अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध और पितृमेध यज्ञों की विधियां हैं। अन्तिम १४वां काण्ड प्रवर्ग्य से सम्बन्धित है तथा इसमें आरण्यक भाग है।

'शतपथ ब्राह्मण' में केवल धर्म का ही उपदेश नहीं है, अपितु विषय को अनेक रोचक कथाओं से समझाया भी गया है। इसमें माधव विदेघ की एक कथा है, जिससे विदित होता है कि किस प्रकार आर्य संस्कृति का पूर्व की ओर मिथिला और बिहार में प्रसार हुआ। इस ग्रन्थ में अनेक ऋषियों और राजाओं के नाम भी आते हैं। दुष्यन्त-शकुन्तला-भरत की कथा, सत्रजित् और धृतराष्ट्र की कथा, पुरुरवा-उर्वशी की कथा आदि इसमें

दी गयी हैं। सृष्टि-उत्पत्ति को रोचक कथाओं से समझाया गया है। इनमें मनु-मत्स्य कथा बहुत रोचक है तथा इसको संक्षेप से प्रस्तुत करना उपयोगी होगा—

मुख धोने के लिए लाये गए जल में मनु ने एक छोटी सी मछली को देखा। मछली द्वारा प्रार्थना करने पर मनु ने उसकी रक्षा की। वह क्रमशः बड़ी होती गई तथा मनु क्रमशः उसको बड़े जलागार में डालते गये। अन्त में उन्होंने उसको समुद्र में डाल दिया। उस मछली ने भविष्य में होने वाले जल प्रलय से मनु की रक्षा करने की प्रतिज्ञा की। मछली की आज्ञा से मनु ने एक बड़ी नौका बनवाई। जल प्रलय होने पर मछली उपस्थित हुई तथा मनु ने उसके सींग से अपनी नौका को बाँध दिया। वह मछली नौका को उत्तर पर्वत के शिखर पर ले गई। सब प्राणियों के उस जल प्रलय में नष्ट हो जाने पर भी मनु सुरक्षित रहे। उन्होंने मानव सृष्टि का प्रवर्तन किया। मनु की सन्तान होने के कारण ही इस संसार के जन मनुष्य या मानव कहलाये।

(४) तैत्तिरीय ब्राह्मण—

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' का सम्बन्ध 'कृष्ण यजुर्वेद' की तैत्तिरीय शाखा से है। वस्तुतः यह ब्राह्मण 'कृष्ण यजुर्वेद' का एक भाग समझना चाहिए। 'कृष्ण यजुर्वेद' के गद्य भाग को ही ब्राह्मण कह दिया जाता है। 'कृष्ण-यजुर्वेद' की अन्य शाखाओं के ब्राह्मण उपलब्ध नहीं होते।

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' तीन काण्डों में विभक्त है। इन काण्डों को अष्टक नाम भी दिया गया है। इन काण्डों का विभाजन प्रपाठकों में है। पहले और दूसरे काण्ड में ८-८ प्रपाठक हैं और तीसरे काण्ड में १२ प्रपाठक हैं। इसमें कुल २८ प्रपाठक हैं। ये प्रपाठक अनुवाकों में विभक्त हैं तथा पूरे ब्राह्मण ३०८ अनुवाक हैं।

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' के प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि और राजसूय यज्ञों का विवरण दिया गया है। दूसरे काण्ड में अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणि, बृहस्पतिसव, वैश्यसव आदि का वर्णन है। तीसरे काण्ड में नक्षत्रेष्टि, अश्वमेध आदि यज्ञों के सम्बन्ध में विस्तार से बातें बताई गई हैं। इसमें यह भी बताया गया है कि यज्ञों में किस प्रकार की भूलें हो सकती हैं और उनको किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' का अन्तिम अंश 'तैत्तिरीय आरण्यक' कहलाता है तथा इसका भी अन्तिम अंश 'तैत्तिरीय उपनिषद्' है।

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में भी अनेक कथायें हैं। इनमें अहिल्या, शुनःशेप, नचिकेता, प्रजापतिकन्या-सोम आदियें अधिक प्रसिद्ध हुई हैं।

(५) सामवेद के ब्राह्मण—

सामवेद की तीन शाखाओं की संहितायें उपलब्ध होती हैं—कौथुमी, जैमिनीय और राणायणीय। इन शाखाओं के अनेक ब्राह्मण उपलब्ध हैं। इनमें 'ताण्डच ब्राह्मण' सबसे प्रमुख है।

'ताण्डच ब्राह्मण' का सम्बन्ध 'सामवेद' की कौथुमी शाखा से है। इस ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं तथा विभिन्न अध्याओं को अलग-अलग नामों से जाना जाता है। इस ब्राह्मण की रचना तण्डि ऋषि के पुत्र ताण्डच ने की थी।

'तापडच ब्राह्मण' के १-२५ अध्याय 'पञ्चविंश ब्राह्मण' या 'ताण्डच महाब्राह्मण' के नाम से भी जाने जाते हैं। इसके १-३ अध्यायों में विविध स्तोमों का वर्णन है। ४-२५ अध्यायों में सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के किनारे होने वाले विविध यज्ञों का वर्णन किया गया है। इनमें व्रात्य स्तोम एक रोचक प्रकरण है, जिसमें बताया गया है कि किस प्रकार आर्येतर व्रात्यों को शुद्ध करके वैदिक धर्म में दीक्षित किया गया था।

'ताण्ड्य ब्राह्मण' के २६-३० अध्यायों के भाग को 'षड्विंश ब्राह्मण' कहा जाता है। इसमें अनेक प्रकार के अनुष्ठानों का और आधिभौतिक आधिदैविक एवं आध्यात्मिक विषयों का वर्णन है। इसका प्रारम्भ 'सुब्रह्मण्या' ऋचा की व्याख्या से किया गया है, अतः यह 'पञ्चविंश ब्राह्मण' का ही आगे का भाग प्रतीत होता है। इस ब्राह्मण में एक दिन में सम्पन्न होने वाले यज्ञों एवं अभिचार की क्रियाओं का भी वर्णन है।

'ताण्डच ब्राह्मण' के ३१-३२ अध्याय 'मन्त्र ब्राह्मण' कहे गये हैं। इनमें गृहस्थों की दैनिक क्रियाओं और अनुष्ठानों का विस्तृत विवरण है।

'ताण्डव ब्राह्मण' अन्तिम आठ अध्यायों, ३३-४० अध्यायों को 'छांदोग्य ब्राह्मण' कहा जाता है। इसी को 'छांदोग्य उपनिषद्' भी कहा गया है। इसमें अनेक रोचक विषय हैं।

'सामवेद' का एक अन्य ब्राह्मण 'आर्षेय' है। यह तीन प्रपाठकों और ८२ खण्डों में विभक्त है। इस ब्राह्मण का उपयोग 'सामवेद' की आर्षानुक्रमणी को जानने के लिए हैं। इसमें साम के उद्भावक ऋषियों के नाम दिये गये हैं।

'वंश ब्राह्मण' एक छोटा-सा ग्रन्थ है तथा तीन खण्डों में विभक्त है। इसमें 'सामवेद' के आचार्यों की वंश-परम्परा दी गई है।

'सामवेद' के 'संहितोपनिषद् ब्राह्मण' में पाञ्च खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड को सूत्रों में विभक्त किया गया है। सामगायन को प्रस्तुत करने की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

'सामवेद' का 'जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण' अति विशाल परिमाण वाला है। यज्ञों के अनुष्ठानों को जानने के लिए यह अत्यधिक उपयोगी है।

'सामविधान ब्राह्मण' 'सामवेद' का विशेष ब्राह्मण है। इसका विषय अन्य ब्राह्मणों से बहुत भिन्न है। इसमें जादू-टोना करने, शत्रुओं को भगाने, उपद्रवों को शांत करने आदि के अनुष्ठानों का वर्णन सामगानो के साथ किया गया है। इस ब्राह्मण में तीन प्रकरण हैं। पहले प्रकरण में व्रत आदि का वर्णन है। दूसरे प्रकरण में तांत्रिक विधियाँ बताई गई हैं और अन्य पूजा की विधियां हैं। तीसरे प्रकरण में आयुष्य सम्बन्धी विविध अनुष्ठानों का, शत्रुओं के मारण का, इस प्रकार की अनेक तांत्रिक विधियों का वर्णन है।

'सामवेद' का एक अन्य छोटा-सा ब्राह्मण 'दैवत ब्राह्मण' है यह ग्रन्थ भी तीन खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में साम देवताओं के नाम दिये गये हैं

दूसरे खण्ड में छन्दों के देवता बताये गये हैं। तीसरे खण्ड में छन्दों की। निरुक्तियां दी गई हैं।

(६) गोपथ ब्राह्मण—

'अथर्ववेद' का केवल एक ही ब्राह्मण उपलब्ध होता है और इसका नाम 'गोपथ ब्राह्मण' है। इसके रचयिता गोपथ ऋषि थे, जिनका नाम अथर्व-वेदीय ऋषियों की नामावलि में आता है। इस ब्राह्मण में 'अथर्ववेद' की महिमा विशेष रूप से गाई गई है।

'गोपथ ब्राह्मण' के दो भाग हैं—'पूर्व गोपथ' और उत्तर गोपथ'। 'पूर्व गोपथ' में ५ अध्याय या प्रपाठक हैं तथा इनमें १३५ कण्डिकायें है। 'उत्तर गोपथ' में ६ प्रपाठक और १२३ कण्डिकायें हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्राह्मण में ११ प्रपाठक और २५८ कडिण्कायें हैं।

'गोपथ ब्राह्मण' का बहुत-सा हिस्सा दूसरे ब्राह्मणों से लिया गया प्रतीत होता है। 'पूर्व गोपथ' में तो अधिकतर भाग मौलिक रूप में है और कुछ ही अंश अन्य ब्राह्मणों से गृहीत है, किन्तु 'उत्तर गोपथ' का अधिकांश अन्य ब्राह्मणों से लिया गया है। अधिकांश रूप में 'ऐतरेय' और 'कौपीतकि ब्राह्मण' इसके उपजीव्य है, परन्तु 'तैत्तिरीय', 'शतपथ', 'पञ्चविंश आदि ब्राह्मणों का भी इसकी रचना में उपयोग है।

'पूर्व गोपथ' में विशेष रूप से ब्रह्म की प्रशंसा की गई है और 'उत्तर गोपथ' विभिन्न यज्ञों की प्रक्रियाओं का वर्णन है। 'पूर्व गोपथ' के पहले प्रपाठक में 'अथर्ववेद' की की उत्पत्ति, प्रशंसा एवं ओंकार और गायत्री की महिमा का वर्णन है। दूसरे प्रपाठक से ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। तीसरे प्रपाठक में होताओं और अन्य व्यक्तियों द्वारा वेदों के अध्ययन की विधि को बताया गया है। ऋत्विजों के सम्बन्ध की भी कुछ कथायें इसमें हैं। चौथे प्रपाठक में ऋत्विजों की दीक्षा का वर्णन है। पांचवें प्रपाठक में संवत्सरसत्र तथा अन्य अश्वमेध आदि यज्ञों का विधान है।

'उत्तर गोपथ' का विषय-वर्णन इतना व्यवस्थित नहीं है। पहले प्रपाठक में यज्ञ के भाग के लिए रुद्र के युद्ध का वर्णन है। दूसरे प्रपाठक में विविध देवताओं के लिए हवियों को अर्पित करने का उल्लेख है। तीसरे प्रपाठक में वषट् और हिंकार के अर्थों के रहस्य का वर्णन किया गया है। चौथे, पांचवें और छठे प्रपाठक में प्रातः, मध्याह्न और सायं समयों में होने वाली धार्मिक क्रियाओं का उल्लेख है। विविध प्रकार के यज्ञों और उनसे संबंधित आख्यानों के कारण यह भाग काफी रोचक हो गया है। गोपथ ब्राह्मण' की यज्ञीय प्रक्रियाओं को देखकर अनेक समालोचकों की यह धारणा बनी है कि यह ब्राह्मण पहले ब्राह्मणों एवं सूत्र साहित्य के मध्य की कड़ी है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय—

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयों का विस्तार इतना अधिक है कि उनका एक महान् ग्रन्थ में भी समावेश करना कठिन है। परन्तु दिग्दर्शन के रूप में अति संक्षेप से कुछ तथ्यों का उल्लेख करना ज्ञानवर्धक होगा।

ब्राह्मण ग्रन्थ मुख्य रूप से ब्रह्म की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ हैं। ब्रह्म परमात्मा की ही दूसरी संज्ञा है और ब्राह्मण ग्रन्थों में उस परमात्मा के स्वरूप की व्याख्या की गई है। ब्रह्म वेद को भी कहा जाता है तथा ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान मात्र हैं। यज्ञ को भी ब्रह्म नाम दिया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों का विस्तृत प्रतिपादन है। इनमें यज्ञों के सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुष्ठानों का और विधियों का विस्तृत वर्णन है। अग्नि की स्थापना कैसे करनी चाहिए, कब करनी चाहिए, घी आदि की आहुतियाँ किस प्रकार डालनी चाहिएँ, वेदि को किस प्रकार बनाना चाहिए, उस पर दर्भों को किस प्रकार बिछाना चाहिए, इत्यादि यज्ञीय तत्त्वों का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तार से है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के कार्य को सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। 'शतपथ ब्राह्मण' में प्रजापति, आदित्य आदि देवता यज्ञ कहे गये हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार यज्ञ पापों से छुटकारा प्रदान करते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है कि अश्वमेध यज्ञ करने वाला व्यक्ति अपने सभी पापकर्मों को और ब्रह्महत्या को दूर भगा देता है। अग्निहोत्र करने से सभी पाप दूर हो जाते हैं।

यज्ञ क्या है? इस प्रश्न का उत्तर श्रौत सूत्रों में दिया गया है—अग्नि, विष्णु, सोम, इन्द्र, आदि देवताओं के उद्देश्य से अग्नि में जो पुरोडाश आदि द्रव्य डाले जाते हैं, वही यज्ञ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्हीं यज्ञों का प्रतिपादन है। इनमें यज्ञों की आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक मीमांसा भी की गई है।

यज्ञ तीन प्रकार के होते हैं—इष्ट, हौत्र और सौम। इनमें दर्शपौर्ण-मास आदि यज्ञ इष्ट हैं, अग्नि होत्र आदि हौत्र हैं और अग्निष्टोम, अश्व-मेध आदि यज्ञ सौम हैं।

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म की, वेद-मन्त्रों की और यज्ञों की व्याख्या करना है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में समाज की व्यवस्था, वर्णव्यवस्था आदि का सुन्दर प्रतिपादन है। इनमें नैतिकता और सामाजिक सदाचार के सुन्दर उपदेश हैं और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर भी विचार किया गया है।

ब्राह्मण ग्रंथों में समाज का विभाजन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णों में करके उनके कर्त्तव्यों का उपदेश किया गया है। ब्राह्मणों को देवतास्वरूप माना गया है। वे विद्वान्, तपस्वी, यज्ञों के सम्पादक तथा समाज के नेता थे। उनका बल उनकी वाणी में था। क्षत्रिय समाज और राष्ट्र के रक्षक थे और वैश्य समाज की वृद्धि करने वाले थे। शूद्रों का प्रधान धर्म समाज की सेवा करना था।

ब्राह्मण ग्रन्थों में नैतिकता और सामाजिक सदाचार का सुन्दर उपदेश है। इनमें सत्य के व्यवाहर पर बहुत बल दिया गया है और असत्य बोलने वाले की निन्दा की गई है। असत्य बोलने वाले को अपवित्र और यज्ञ के अयोग्य कहा गया है। इस सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रंथों के कुछ वचन इस प्रकार हैं—

(क) अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति ।।शतपथ ब्राह्मण ३.१.३.१८।।
वह पुरुष अपवित्र है, जो झूठ बोलता है।

(ख) एतद् वाचश्छिद्रं यदनृतम् ।।ताण्डच ब्राह्मण ८.६.१३।।
यह वाणी का दोष है, जो झूठ है।

(ग) ऋतेनैव स्वर्गलोकं गममति ।।ताण्ड्य ब्राह्मण १८.२.९।।

सत्य के द्वारा ही स्वर्गलोक को प्राप्त कराता है।

मनुष्य की दीर्घ आयु के लिए ब्राह्मण ग्रंथों में प्रार्थनायें की गई तथा उनके लिए १०० वर्ष की आयु की कामना की गई है—

"अपि हि भूयांसि शताद् वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति।"

पुरुष को बहुत से सौ वर्षों तक जीवित रहना है।

ब्राह्मण ग्रंथ मनुष्य को सदा क्रियाशील रहने तथा आगे बढ़ने का उपदेश देते हैं—

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्।।

निरंतर गतिशील रहने वाला मनुष्य ही मधु अर्थात् सुख को प्राप्त करता है। निरन्तर गतिशील रहता हुआ ही मनुष्य स्वादिष्ट उदुम्बर को को अर्थात् सांसारिक भोगों को प्राप्त करता है। सूर्य की श्रेष्ठता को देखो, जो बिना आलस्य किये निरन्तर चलता रहता है।

ब्राह्मण ग्रंथों में स्त्रियों और पुरुषों के सम्बन्ध पर भी विचार किया गया है। पत्नी से रहित पुरुष को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है। पत्नी अर्धाङ्गिनी और लक्ष्मीरूपिणी होती है। इस लोक में सुख को पाने के लिए और स्वर्गलोक में जाने के लिए पत्नी का होना आवश्यक बताया गया है। 'शतपथ ब्राह्मण' में उस स्त्री को श्रेष्ठ बताया गया है, जो स्थूल जांघों वाली, कंधों और छाती के भाग में उससे कुछ कम स्थूल तथा पतली कमर वाली हो।

ब्राह्मणों के अनुसार स्त्री के लिए पातिव्रत्य धर्म का पालन अनिवार्य है। व्यभिचार उसके लिए वर्जित है तथा ऐसा करने पर वह वरुण द्वारा दण्डनीय होती है—

वरुण्यं वा एतत् स्त्री करोति यदन्यस्य सती अन्येन चरति।
वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो भवति।।
शतपथ ब्राह्मण १२.७.२.१७।।

जो स्त्री एक की पत्नी हुई दूसरे से व्यभिचार करती है, वह पाप करती है। जो पाप से गृहीत होता है, वरुण उसको पकड़ लेता है।

ब्राह्मण ग्रंथों में स्त्रियों के दुर्गुणों और बुद्धिहीनता को भी बताया गया है। वे निरर्थक बातों की ओर जाती हैं। जो नाचता और गाता है, वे उसी की हो जाती हैं—

मोघसंहिता एव योषा। तस्माद् य एव नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैता निमिश्लमता इव।।शतपथ ब्राह्मण ३.२.४.६।।

ब्राह्मण ग्रंथों में उस युग के विकसित विज्ञानों—गणित, ज्योतिष, शस्त्रविज्ञान, आयुर्वेद आदि का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है। परन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन ग्रंथों की प्रतिपाद्य वस्तु इतनी विशाल है कि एक छोटे से लेख में उसका विस्तृत परिचय देना सम्भव नहीं है।

वैदिक संहिताओं के पश्चात् आर्य साहित्य में ब्राह्मणों का ही सबसे अधिक महत्त्व है। ऋषियों ने ब्राह्मण ग्रंथों को वेदों का ही रूप स्वीकार किया था। आलोचनात्मक दृष्टि से ये ग्रंथ हिंदू धर्म या आर्यों के प्रथम धर्मग्रंथ हैं। वैदिक संहिताओं और उपनिषदों के अध्ययन पर बहुत अधिक बल दिया गया है तथा वर्तमान समय में इन्हीं का अध्ययन अधिक प्रचलित है। ब्राह्मण ग्रंथों का भी अध्ययन कुछ अंश में प्रचलित है, परंतु बहुत कम। इनके अध्ययन की ओर भी अधिक बल दिया जाना आवश्यक है।
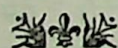
श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीस्वामिनो वेदभाष्यस्य वैशिष्ट्यम्

• श्री युधिष्ठिरो मीमांसकः

विलसत्सु विविधेषु प्राचीनेष्ववर्वा चीनेषु च वेदभाष्येसु श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीपादानां वेदभाष्ये किमस्ति वैशिष्ट्यमित्येस प्रश्नः प्रायेणोत्पद्यत एव बहूनां विपश्चितां स्वान्तेसु। अत एतत् प्रश्न समाधानायैवेह कश्चित् प्रयासः क्रियते—

बेदानां प्रादुर्भावेन सहैव मन्त्रार्थप्रवचनस्य या प्रवृत्तिः प्रार्वतत सैव शाखाब्राह्मणवेदाङ्गादिप्रवचनरूपेणाऽऽभारतयुद्धकालम् अबाधमाना प्रावहत्। तदुक्तं भगवतां यास्केन—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात् कृतधर्मम्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च इति (निरुक्त १/२०)।

इयमेव वेदार्थप्रवचनधारोत्तरोत्तरं विपरिणमती अद्ययावद् वेदभाष्यप्रणयनरूपेण प्रवहति।

तन्नादिकाले कीदृशी मन्त्रव्याख्यानपद्धतिरासीदित्यस्य साक्षात् परिचायको यद्यपि कश्चिद् ग्रन्थो नोपलभ्यते, तथापि प्राचीनानां विविधविषयाणां शास्त्राणां परिशीलनेनैक तथ्यमनायासेनैव विज्ञायते यत् पुराकल्पे 'वेदाः सर्वविद्यानां भूतभव्यभविष्योपयोगिनां ज्ञानानामाकारग्रन्थाः' इत्यमन्यन्त। एतस्यातिप्राचीनस्य मतस्य निदर्शनायेह कानिचित् प्राचामाचार्याणां वचनानि प्रस्तूयन्ते। तत्र—

१. समाजशास्त्रविधानस्य प्रथमप्रवक्ता भगवान् स्वायम्भुवो मनुराह—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति॥
(मनु १२। १००, ९७) इति।

भगवता मनुनाऽन्यत्रापि वेदमधिकृत्य महता कण्ठेनोक्तम्—
सर्वज्ञानमयो हि सः (२। ७) इति।

अयमेव राद्धान्तस्तत्र भवता कृष्णद्वैपायनेनाऽपि प्रतिपादितः—

यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्च प्रवृत्तयः।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्॥
इति। (महाभारत अनु० १२२। ४)

तथाऽन्यत्राप्युक्तम्—

वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य···।
(महा० शान्ति० २८४। ९२) इति।

परं ब्रह्मिष्ठेन भगवता याज्ञवल्क्येनाऽप्युक्तम्—

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्॥ इति।

अपिच, य इदानी शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्दो-ज्योतिष-धर्मशास्त्र-पदार्थविज्ञान-साहित्य-कला-शिल्प-राजनीति-आयुर्वेद-धनुर्वेद-गन्धर्ववेद-वास्तुशास्त्रादीनाम् आकारग्रन्था उपलभ्यन्ते, ते सर्वेऽपि स्वस्वविषयस्य वेदमूलकतां महता कण्ठेनोद्घोषयन्ति।

पदार्थविज्ञानप्रतिपादकस्य वैशैषिकशास्त्रस्य प्रवक्ता भगवान् कणादो वेदस्य प्रामाण्यमपि तस्य पदार्थविज्ञानप्रतिपादकत्वादेवमनुते। अतएवाह—

तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्।
(वैशेषिक १। १। ३) इति।

अस्यायमर्थः—तच्छब्देन 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' इत्येवं पूर्वं प्रतिज्ञातो वैशेषिक-शास्त्र प्रतिपाद्यो पदार्थधर्मः परामृष्यते। तस्यैव पदार्थधर्मस्य प्रतिपादनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यं भवति, नेतरथेति।

अत्रेदमपि ज्ञेयं यद् भगवान् कणादो न केवलं 'वेदाः पदार्थधर्मप्रतिपादकाः' प्रतिज्ञामात्रमेव कृतवान् अपितु तत्तत्प्रकरणे तत्तत्पदार्थधर्मप्रतिपादनाय श्रुतिप्रमाणमपि महता कण्ठेनोदाहृतवान्।

तथा—

हिमकरकादीनामुत्पत्तिरप्सु तेजः संयोगाद् भवति इति प्रतिपाद्य

दिव्यास्वप्सु तेजः संयोगो भवतीति प्रतिपादयन् 'वैदिकं च' (५ । २ । १०) इति सूत्रेण वैदिकवचनमपि प्रमाणयति । यथा—

या अग्निं गर्भं दधिरे विश्वरूपा ता न आपः शं स्योना भवन्तु (तै. सं. ५ । ६ । १) इति ।

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् (ऋ. १० । १२१ । ७) इति ।

वृषाऽग्निं वृषनं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम् (यजु० १५ । ४६) इति ।

योऽनिध्मो दीद्यद् अप्स्वन्तः (ऋ. १० । ३० । ४६)

इत्येवमादीनि बहूनि वचनानि वेदेषूपलभ्यन्ते ।

एवमेव शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं चेति विवृण्वन् अतीन्द्रियमयोनिजं शरीरं प्रतिपादयन 'वेदलिङ्गाच्च' (४ । २ । ११) इति सूत्रेणायोनिजशरीरप्रामाण्याय वैदिकं लिङ्गमुपस्थापयति ।

अनेनातिसंक्षिप्तेन निदर्शनेन पुराकल्पे वेदः सर्वविद्यानामाकरग्रन्थाः स्वीक्रियन्तेस्मेति विस्पष्टं विज्ञायते । तथासति तस्मिन् काले वेदव्याख्यानान्यपि सर्वविद्याद्योतकान्येव विधीयन्तेस्मेत्यप्यञ्जसा शक्यतेऽनुमातम्, अन्यथा सर्वाविद्या वेदादेव प्रादुर्भूता इति प्राचां मतं समूलखातमुत्खन्येत ।

उत्तरकालं यदा मनुषामायुषो मेधायाश्च ह्रासः समजनि तदा सुसूक्ष्मस्य सृष्टिविज्ञानस्य व्याख्यानायाऽञ्जसा ग्रहणाय च यज्ञानां प्रक्रिया समुद्भाविता, प्राचीनायाश्च सर्वविद्योपबृंहिकाया विविधाया वेदार्थप्रक्रियाया आध्यात्मिकाधिदैविकाधियज्ञविषयकासु त्रिविधासु प्रक्रियासु संक्षेपोऽकारि । चिरन्तनकालेन त्रिविधा वेदार्थप्रक्रियेति' राद्धान्तो लोके प्रसिद्धिंगतः । कालान्तरे तास्वपि त्रिविधासु प्रक्रियासु याज्ञिकप्रक्रियैव प्राधान्यमलभत । तथासति आध्यात्मिकाधिदैविकवेदार्थप्रक्रिये विरलप्रचारे अभूताम् । तत्राद्याया प्रक्रियाया निदर्शनमुपनिषत्सु, अपरस्याश्च निरुक्तशास्त्रे क्वचित् ब्राह्मणग्रन्थेषु च दर्शनं जायते ।

सम्प्रति यावानपि वैदिको वाङ्मय उपलभ्यते स सर्वोऽपि प्रायेण यज्ञप्रक्रियामेव केन्द्रीकृत्य प्रवृत्तः । अतएव 'वेदा यज्ञार्थमेव प्रवृत्ताः' इति वैदिकानां राद्धान्त एव समजनि । तत्रापि च मन्त्राणां यज्ञप्रक्रियासु कस्मिंश्चित् कर्मणि विनियोगमात्रमेव प्रयोजनम् । तदाह सायणः—

तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ, कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च । बृहदारण्याख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद् व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम् । तत्रोभयत्राग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात् । (काण्वसंहिताभाष्योपोद्घाते) ।

सायणादिभाष्यकाराणां काले निरुक्तशास्त्रादिप्रतिपादितो वेदार्थप्रक्रियाया आधिदैविकपक्षस्तु शशशृङ्गायित-एवाभूद इत्युक्तवचनेनैव विस्पष्टं भवति । अतएवाधिदैविकप्रक्रियापरस्य निरुक्तशास्त्रस्य व्याख्याने प्रवृत्ता वैदिकास्ततस्थानाम् आधिदैविकप्रक्रियानुसारं व्याख्यातानां मन्त्राणां व्याख्यानमपि बलाद् याज्ञिकमतमनुसृत्येव विहितवन्तः ।

वैक्रमस्यैकोनविंशशताब्धा अन्ते यदा पाश्चात्यविदुषां वैदिकवाङ्मयेन परिचयोऽभूत्, तदा तत्र प्रवेशाय सायणीयं वेदभाष्यमेवैकं प्रधानं द्वारमभूत् । तदाश्रयेण च यथाबुद्धि वेदान् विज्ञाय पाश्चात्या मैक्समूलरप्रभृतयः 'वेदाः परमबालिशा जटिला अधामः साधारणाः कुरानबाइबलप्रभृतिभ्योऽपि हीनाः, तत्र ग्राम्याणां गोपालाविपालानां गीतिभ्यो न किञ्चिद् वैशिष्ट्यम्, वैदिकाह्यार्याः प्राकृतानेव पदार्थान् पूजयामासुः, न ते परमेश्वरं विविधान् विदुः' इत्येवमादीन् मतान् घोषयाञ्चक्रुः ।

एतादृशे सर्वतोऽन्धेतमसि निमग्ने वैदिकविज्ञानविरहिते काले तत्र भवन्तः श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः संस्कृतवाङ्मयं तत्रापि च विशेषतो प्राचीनमार्षं वाङ्मयं सम्यगवगाह्य विज्ञातवन्तो यद् वेदाः सर्वविद्यानामाकरभूताः परमविज्ञानसमन्विताः सन्ति । एतेषां विषये प्राचीनानां स्वायम्भुवमनुप्रभृतीनां मतमेव सत्यं वर्तते । न द्रव्यमयज्ञमात्रमनुरुध्यव्याख्यातॄणां एवमेव पाश्चात्यैर्मैक्समूलरप्रभृतिभिर्वेदविषये यन्मतं प्रख्यापितं तन्न केवलं भ्रान्तिमूलकम् अपितु ईसाई यहूदीमतपक्षपातसमन्वितं चास्ति । वस्तुतः प्राचीनं वेदविषयकं मतं विस्मृत्याऽऽध्यात्मिकाधिदैविकप्रक्रिये चोत्सृत्य केवलं याज्ञिकप्रक्रियामेवावलम्ब्य वेदास्तादृशीमधोगतिं प्रापिता येन न केवलं तेषां माहात्म्यमेव नष्टम् अपितु तेषां ज्ञानप्रदत्वेन मानुषजीवनन सह यः साक्षात् संबन्ध असीत् सोऽपिविनाशं गतः ।

तदेवं भगवद्दयानन्दपादाः प्राचीनं वैदिकवाङ्मयं सम्यगनुशील्य प्राचां मतानुसार वेदविषयकान् यान् राद्धान्तान् स्थिरीचक्रुस्त इमे—

१. वेदशब्दो मन्त्रसंहितानामेव वाचकः ।

२. वेदोऽपौरुषेयः, स्वायम्भुवो मनीषिणः कवेः काव्यं वा, देवाधिदेवस्य दैवीवाग्वा, ज्येष्ठस्य ब्राह्मणो ब्राह्मी वाग्वा, प्रजापतेः श्रुतिर्वा, महतोभूतस्य निःश्वसितं वा वर्तते । अत एव—

३. वेदा अजरा अमरा नित्याः सन्ति । अत एव—

४. वेदेषु कस्यचिदपि देशस्य जातेर्व्यक्तेर्वेतिवृत्तं न विद्यते । अत एव—

५. सर्वेऽपि वैदिकाः शब्दा यौगिका एव सन्ति, न रूढाः । अत एव—

६. वैदिकाः शब्दाः सामान्यार्थस्य वाचका महार्था वा सन्तः सर्वविधप्रक्रियानुगामिनो भवन्ति । अत एव—

७. वेदाः सर्वज्ञानमयाः सन्ति । अत एव—

८. वेदेषु सर्वविधमाधिदैविकमाध्यात्मिकं च विज्ञानं सूत्ररूपेण विद्यते । अध्यात्मदृष्ट्या च

९. वेदानां वास्तविकं तात्पर्यमध्यात्मज्ञान एव विद्यते । अतो नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रे त्यागः संभवति । अत एव—

१०. वेदेषु प्रयुक्ता अग्निवाय्विन्द्राश्विमित्रावरुणादित्यादयो यावन्तो देवतावाचका शब्दास्त उपासनाप्रकरणे परमेश्वरस्यैव वाचका भवन्ति ।

यज्ञप्रक्रियाया अवसानमप्याधिदैविके आध्यात्मिके वाऽर्थे भवति । अत एव—

११. युक्ति प्रमाणसिद्धो याज्ञिकक्रियाकलापो मन्त्रार्थानुसारीविनियोगस्तदानुसारी च वेदानां याज्ञिकार्थोऽपि ग्राह्यो वर्तते ।

स्वायम्भुवो मनीषिणः कवेः काव्यत्वाद्

१२. बुद्धिपूर्वावाक्यकृतिर्वेदे वर्तते । अत एव—

१३. वेदेषु भौतिकपदार्थेभ्योऽभिलषितार्थयाचना, अश्लीलता, वर्गद्वेषः, पशुहिंसा, असम्भवदोषग्रस्ता अनर्थकारिणो वा विषयास्तत्र न

सम्भवन्ति ।

१४. वेदाः स्वतः प्रमाणानि सन्ति । अन्यः सर्वोऽपि वैदिको लौकिको वा वाङ्मयस्तदनुकूलतयैव प्रामाण्यं भजते । अत एव—

१५. वेदव्याख्याने शाखाः ब्राह्मणानि आरण्यका उपनिषदः पदपाठाः धनुर्वेदादय उपवेदाः कल्पसूत्रादीन्यङ्गानि प्रातिशाख्यादीनि लक्षणानि मीमांसादीन्युपाङ्गानि इत्येवमादेः समस्ताद् वैदिकाद् वाङ्मयाल्लौकिकाच्च साहाय्यं शक्यते ग्रहीतुम्, न त्वेतेषाम् अनानुकूल्याद् वैपरीत्यमात्रेण वा न तावन्मन्त्रार्थः शक्यते परित्यक्तुम्, यावत्स वेदादेव विपरीतो न भवेत् ।

एतान् प्राचीनैर्ऋषिमुन्याचार्यवर्यैः स्वीकृतान् वेदविषयकान् राद्धान्तान् अनुसृत्य भगवद्दयानन्दपादैर्वेदभाष्यप्रणयनात् प्राक् चतुर्णामपि वेदानां प्रतिवर्गं प्रतिसूक्तं प्रतिदशति प्रत्यध्यायं वा यथायथं विषयनिर्देशपुरःसरं चतुर्वेदविषयानुक्रमामा स्वल्पकायः परन्तत्वतिमहत्त्वपूर्णो ग्रन्थो निर्मितः । स चाद्य यावत् परोपकारिणीसभायाः संग्रहे सुरक्षितो वर्तते । यद्यय ग्रन्थः प्राकाश्यं प्रकाश्यं गच्छेत्तर्हि वैदिकविदुषां महान् उपकारो भवत् ।

चतुर्वेदविषयानुक्रमग्रथनानन्तरमाचार्यपादा वेदभाष्यप्रणयने प्रवृत्ताः । तत्र ब्राह्मणग्रन्थान् विशेषतो निरुक्त व्याकरणं चाग्रे कृत्वा प्रतिमन्त्रं प्रतिपदं तादृशि निर्वचनानि निर्दशितानि यानि सर्वप्रक्रियास्वञ्जसा संगच्छन्ते । अतस्तदीयं भाष्यं परोक्षरूपेण सर्वप्रक्रियाद्योतकमिति शक्यते वक्तुम् ।

बहवो वैदिका ब्रुवते श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीभिः याज्ञिकप्रक्रियानुसारि व्याख्यानम कृत्वा यज्ञानां समस्तस्य वैदिकवाङ्मयस्य चावहेलना कृता । परन्त्वेतत् कथनँ सत्यापदेतं वर्तते । एतद्विषये भगवत्पादैः स्वीयर्ग्वेदादिभाष्यभूमिकायामेवं प्रत्यपादि—

परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्रयत्राग्निहोत्राश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरशो न वर्णयिष्यते । कुतः कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थ विनियोजितत्वात् । पुनस्तत् कथनेनानृषिग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेणदोषापत्तेश्चेति । ऋभाभू पृ० ३६२ ।

भगवद्दयानन्दसरस्वतीपादानां वेदभाष्येऽस्त्येकमेतादृग् वैशिष्ट्यं यदन्यवेदभाष्येषु क्वचिदपि नोपलभ्यते । तच्चास्ति मन्त्राणां व्यावहारिकार्थविधानम् । अनेनैव च वेदानां मनुष्यजीवनोपयोगित्वं व्याख्यातं भवति । एतेन च व्यावहारिकेणार्थेन साधारणा अपि जना वैदिकशिक्षानुकूलं स्वजीवनं श्रेष्ठं सुखिनं च सम्पादयितुं समर्था भवन्ति । व्यावहारिकार्थविधानमपि नाचार्यपादैः स्वमनीषयोपकल्पितम् अपितु तत्राप्यस्ति प्राचामाचार्याणां संकेतग्रहः ।

एतद्विषये मीमांसायाः प्रथमाध्यायस्य तृतीय पादस्य तृतीयसूत्रस्य शबरस्वामिनो भाष्यं द्रष्टव्यम् ।

सम्प्रति यावन्त्यपि वेदभाष्याण्युपलभ्यन्ते तेषु 'वेदानां मनुष्यजीवनेन सह कः साक्षात् सम्बन्धः' यद्वा 'वेदानां मनुष्यजीवने कः साक्षाद् उपयोग इति प्रश्नस्य उत्तरं नैव प्राप्यते । अस्मिन्नंशे दयानन्दीय वेदभाष्यं सर्वाण्यपि वेदभाष्याण्यतिशेरते ।

बहवो वैदिका सायणभाष्यं तदीयं पाण्डित्यं चातितरां प्रशंसन्ति, परन्तु ततः प्राचीनानां वेदभाष्याणां परिशीलनेन विज्ञायते यत् सायणीये भाष्ये न किमप्यस्ति नवीनत्वम् । सर्वत्र हि प्रायेण प्राचामनुकरणं संग्रहो वा विद्यते । केचन विद्वांसस्तदीयर्ग्भाष्ये व्याकरणप्रक्रियामुपलभ्य तद्व्याकरणपाण्डित्यं प्रशंसन्ति । परन्त्वत्रापि स प्राचीनं भट्टभास्करकृतं तैत्तिरीयसंहिताभाष्यमेवानुकरोति । यत्र हि स तदनुकरणं विहाय किञ्चिदपि स्वेच्छया लिखति तत्रैव स पथभ्रष्टः सन् स्वस्य व्याकरणप्रक्रियानभिज्ञत्वमेव द्योतयति । ऋग्वेदस्य प्रथमसूक्तस्य नवानां मन्त्राणां व्याख्याने स उपदशं कृत्वा भ्रान्तः । निदर्शनायेह प्रथमयन्त्रे पुरोहितरत्नधातमशब्दयोर्प्याकरणप्रक्रियोद्भ्रियते—

'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् (अष्टा. ५ । ३ । ३९) इति पूर्वशब्दादस्प्रत्ययः पुरादेशश्च । ततोऽत्र प्रत्ययस्वरः । धात्रोनिष्ठायां 'दधातेर्हि' (७ । ४ । ४२) इत्यादेशे सति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो हितशब्दः । तत्र समासान्तोदात्तत्वे प्राप्ते तदपवादत्वेन 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' (६ । २ । २) इत्यादिना अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्' इति ।

इह सायणो द्विभ्रान्तः । तथाहि-पुरस् अव्ययस्य हितशब्देन सह केन सूत्रेण कस्मिन्नर्थे कश्च समास इति न किमप्युक्तम् । 'तत्पुरुषे' इति सूत्रनिर्देशेन तत्पुरुष समास इहेष्यत इतिज्ञायते, स च न केनापि सूत्रेण प्राप्नोति । न चेह 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' इति सूत्रस्य कथंचित् प्रवृत्तिः सम्भवति, 'अव्यये नञ्कुनिपातानाम्' इति वार्तिककारेण परिगणनात् । नह्यत्र 'पुरोऽव्ययम्' (१ । ४ । ६७) इत्यनेन निपातसंज्ञां विधायसूत्रं शक्यं प्रवर्तयितुम् । तथासति परत्वात् गतिरनन्तरः (६ । २ । ४९) इति सूत्रस्य प्रवर्तनात् । अपि च 'यद्वा' इत्युक्त्वा पक्षान्तरे गतिसंज्ञाविधायकस्य गतिरनन्तरः इति स्वरविधायकस्य च सूत्रस्योपस्थापनात् पूर्वत्र गतिसंज्ञानेष्यत् इत्यस्य ज्ञापनाच्च ।

एवमेव 'रत्नधा' इत्यत्र रत्नाति दधातीति विग्रहः । समासत्वादन्तोदात्तो रत्नधाशब्दः' इत्युक्तम् । एतदप्यविचारितरमणीयम् । यतोहि रत्नानि दधातीति विग्रहे परत्वात् 'गतिकारकोपपदात् कृत् (६ । २ । १३९) इत्येव प्रवर्तते न 'समासस्य' (६ । १ । २२३) इति सूत्रम् ।

यद्यपि गच्छतः स्खलनं न दोषायेति न्यायेन सायणीयाः प्रमादाः शक्या उपेक्षितुम् तथापि ये नाम सायणीयभाष्यस्यैव सर्वश्रेष्ठत्वं प्रामाणिकत्वं चोद्घोषयन्ति तेषां कृते वस्तुस्थितिनिदर्शनायैवेह व्याकरणप्रक्रियाया भ्रान्तयो निदर्शिताः ।

अन्ते तत्रभवतां दयानन्दसरस्वतीपादानां वेदभाष्यविषये योगिराजस्यारविन्दस्य सम्मतिमुद्धृत्य विरम्यते । अरविन्दः सायणभाष्यस्यालोचनां विधायाह—

'एतस्मिन् विषये दयानन्दसरस्वतीस्वामिनो विचाराः सुस्पष्ठाः, तस्याधारशिलाऽभेद्या वर्तते । वैदिकसूक्तानि विभिन्नैर्नामभिरेकं परमेश्वरम् एव संबोध्य गीतानि । विप्रा अर्थाद् ऋषय एकं परमेश्वरमेव अग्नीन्द्रयमवायुमातरिश्वादिशब्दैर्बहुधावदन्ति……। एतस्य विज्ञानात् दयानन्दस्य मौलिकसिद्धान्तस्य स्वीकरणात्, वैदिकानामृषीणां सर्वे देवता

(शेष पृष्ठ १४६ पर)

वैदिक शाखाओं का स्वरूप

• श्री जयदेव आर्य,
एम. ए., वेदाचार्य, विद्यावाचस्पति

संसार के समस्त विद्वान् इस बात को एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि वेद संसार के पुस्तकालय में सब से प्राचीन पुस्तक हैं। ऐसी अवस्था में उनके तत्त्व के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद का होना स्वाभाविक ही है। वेद के विषय में जो अनेक समस्याएं हैं, उनमें वेद की 'शाखाओं का स्वरूप' भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या है, जिस पर विभिन्न विद्वानों के विभिन्न विचार हैं। सामान्य रूप से बहुत समय से यह धारणा चली आ रही है कि प्रत्येक शाखा अपने आप में पूर्ण वेद है। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में वेद की ११३१ शाखाओं का उल्लेख किया है और इस धारणा के अनुगामी विद्वानों के मतानुसार इन ११३१ में किसी को मूल और किसी को पश्चाद्वर्ती अथवा किसी अन्य मूल का व्याख्यान नहीं कहा जा सकता। इसमें से प्रत्येक का महत्त्व एक समान है। ऐसी स्थिति में जब दयानन्द ने अपने विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थों 'सत्यार्थ प्रकाश' एवं 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में ४ शाखाओं को मूल ईश्वरदत्त वेद कह कर अन्य ११२६ को उन चार का व्याख्यान प्रतिपादित किया तो तथाकथित उन अनेक विद्वानों ने उनकी इस मान्यता को निराधार, मनगढ़न्त और प्राचीन ऋषियों की मान्यता के विरुद्ध कह कर त्याज्य ठहराया और अपने ग्रन्थों एवं लेखों द्वारा इस मान्यता का कड़े शब्दों में खण्डन किया। इस अवस्था में हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस विषय का सम्यक् प्रकार से आलोडन कर तथ्य जानने का प्रयत्न करें।

सर्वप्रथम हमें यह देखना चाहिए कि वेद और उनकी शाखाओं के सम्बन्ध में प्राचीन ऋषियों एवं विद्वानों की धारणा क्या रही है। महाभाष्यकार वेद की वर्णानुपूर्वी को भी नित्य मानते हैं, "स्वरो नियताम्नायेऽस्य वामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियतास्यवाम शब्दस्य ॥महा० ५।२।५६॥ परन्तु शाखाओं की वर्णानुपूर्वी को अनित्य मानते हैं और अर्थ को नित्य, "योऽसावर्थः स नित्यः, या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या ।।" वे स्पष्ट रूप से शाखाओं के कुछ नाम गिनाते हैं। 'तेन प्रोक्तं' सूत्र का भाष्य निम्न है, "या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद्भवति काठकं, कालापकं, मोदकं, पैप्पलादकमिति ।।" यहाँ काठक, कालापक आदि शाखाओं को प्रोक्त माना है। इस प्रोक्त पर न्यासकार कहते हैं, "तेन व्याख्यातं तदध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते ।।" अतः शाखाएं ऋषियों द्वारा प्रोक्त अर्थात् व्याख्यात अध्यापित वेदों का ही नाम है, किन्हीं स्वतंत्र मूल वेदों का नाम नहीं। पूर्व मीमांसा में पूर्व-पक्षी वेदों को पौरुषेय सिद्ध करने के लिए उनके विभिन्न नामों को हेतु के रूप में उपस्थित करता है, "वेदांश्चैके सन्निकर्ष पुरुषाख्या" अर्थात् वेदों की शाखाओं का नाम विभिन्न ऋषियों के नामों के साथ सम्बद्ध है अतः वेद पौरुषेय हैं। इस पर उत्तर है, "आख्या प्रवचनात्" अर्थात् काठक नाम शाखा का इसलिये है कि कठ ने उसका प्रवचन किया है अतः मूल ग्रन्थ जो प्रवचन से भिन्न है, वह वास्तविक वेद है और वही अपौरुषेय है। महाभाष्यकार 'अनुवादे चरणानाम्' २।४।३ पर भाष्य करते हैं, "अनुवदते कठः कलापस्य" अतः ये शाखाएं न केवल वेद का व्याख्यान हैं अपितु कुछ शाखाएं तो अन्य शाखाओं का भी व्याख्यान हैं। ऐसी अवस्था में यदि उसका मूल वेदों से बहुत अधिक भेद हो गया हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं क्योंकि प्रथम मूल का व्याख्यान कलाप ने किया और फिर उसका अनुवाद कठ ने। मैत्रायणी शाखा भी काठक के समान ही है। विश्वरूप बालक्रीड़ा में लिखा है, "नहि मैत्रायणी शाखा कांठ कस्याऽत्यन्त विलक्षणा।"

यास्क भी वेद की आनुपूर्वी को नित्य तथा शाखाओं की आनुपूर्वी को अनित्य मानते हैं, "नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति।" परन्तु यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकं, यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्।" इस पर दुर्ग लिखते हैं "स एवाऽर्थः, केवलं शाखान्तरमन्यत्।" अर्थात् अर्थ तो वही है, शब्दों में ही शाखान्तर में भेद हो गया है। और

स्पष्टतः यह भेद वाली शाखाएं मूल वेद नहीं कही जा सकतीं क्योंकि वेद की आनुपूर्वी नित्य है। शाखाओं में भेद का उदाहरण महाभाष्यकार भी देते हैं। 'छन्दसि क्रमेके' सूत्र पर, "कई तो शाखाओं में 'असिक्रयस्योषध्ये' पढ़ते हैं और कई 'असितास्योषधे' ऐसा।" अतः ये वेद नहीं।

वायुपुराण ६१/७५ में शाखाओं को विकल्प कहा गया है, "प्राजापत्या श्रुतिनित्या, तद्विकल्पास्त्विमे स्मृताः।" शंकरादि से पूर्व ही मान्यता प्राप्त नृसिंह पूर्वतापिनी उपनिषद् शाखाओं का निर्देश वेदों से पृथक् करती है, "ऋग्यजुः सामाथर्वाण श्चत्वारो वेदाः साङ्गः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति।" यही बात वृहज्जालोपनिषद् में भी है, 'ऋचोऽधीते स यजूंषि अधीते···स शाखा अधीते" आदि। स्कन्द शिष्य हरिस्वामी ने वेद का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार किया है पर शाखाओं का परतः प्रामाण्य और यह उसकी ही मान्यता नहीं है अपितु बादरायणादि द्वारा प्रतिपादित है, "वेदस्या पौरुषेयत्वेन स्वतः प्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्वेतुत्वात् प्रामाण्यमिति बादरायणादिभः प्रतिपादितम्"।

भरत नाट्य शास्त्र का भाष्यकार अभिनवगुप्त नाट्यशास्त्र के कर्तृत्व का प्रतिपादन करते हुए प्रसंगवश उदाहरण रूप में काठक आदि शाखाओं से सम्बद्ध कठ आदि ऋषियों को उन-उन शाखाओं का प्रवक्ता कहता है, "तत्र नाट्य शास्त्र शब्देन चेदिह ग्रन्थस्तद्ग्रन्थस्येदानीं करणं, न तु प्रवचनम्। तद्धि व्याख्यान रूपं करणाद्भिन्नंम्। कठेन प्रोक्तमिति यथा।" यहां प्रवचन को व्याख्यान रूप कहा है और दयानन्द भी शाखाओं को वेदों का व्याख्यान कहते हैं।

वायु पुराणकार अन्यत्र अध्याय ६१ में सब पुराणों का आधार एक पुराण को तथा इसी प्रकार सब वेद शाखाओं का मूल आधार भी किन्हीं मूल वेदों को कहता है—

सर्वास्ता हि चतुष्पादाः, सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः।
पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा।५६।

अतः जिस प्रकार पुराणों के पाठान्तर व्याख्यानार्थ सरलीकरण करने के लिए किए गए, उसी प्रकार वेदों की शाखाओं में भी सरलता के लिए पाठान्तर किए गए परन्तु मूल वेद संहिताएं उसी प्रकार बनी रहीं।

इतना ही नहीं, ब्राह्मण ग्रन्थ शाखाओं के पाठ को मानुष पाठ मानते हैं और मूल वेद के पाठ को दैव पाठ। शतपथ कहता है, "तदुहैकेऽन्वाहुः। होता यो विश्ववेदस इति।···तदु तथा न ब्रूयात् मानुषं हते यज्ञे कुर्वन्ति··· यथैव ऋचाडनुक्तमेवाऽनुब्रूयाद्धोतारं विश्ववेद समिति।" यहां सायण कहते हैं, होता या इति पाठ विपरिणामस्य मनुष्यबुद्धिप्रभवतया मानुषत्वम्। यथैव वेदे पठितं तथैवाऽनुवक्तव्यमित्युपसंहरति तस्मादिति। कीदृग्विधं तर्हि वेदे पठितमिति तदाह होतारमिति।।" शत० सा० भा० १।४।१।३५।। 'होता यो विश्ववेदस' पाठ यद्यपि किसी उपलब्ध शाखा में प्राप्त नहीं है पर है यह किसी लुप्त शाखा का ही जिसे मानुष कहा गया है और सायण ने स्पष्ट ही 'होतारम्' वाले पाठ को वेद का पाठ कहा है। यह पाठ माध्यन्दिन वाजसनेय (शुक्ल यजुर्वेद) संहिता का है जिसे ऋषि दयानन्द ने मूल वेद स्वीकार किया है। 'होतायो विश्ववेदस' पाठ के शाखा-पाठ होने में हेतु पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु यह देते हैं कि इस पाठ को उद्धृत करते समय शतपथकार ने 'तदुहैकेऽन्वाहुः' ऐसा निर्देश किया है और ऐसा निर्देश वे शाखाओं के पाठ के साथ ही करते हैं जैसे अन्यत्र, "उपायव स्थ-इत्यु है के आहुः" में उद्धृत 'उपायव स्थ' पाठ तैत्तिरीय शाखा का है। अतः शतपथ-कार को शाखाओं का पाठ वेद पाठ के रूप में अभिमत नहीं है।

इतना ही नहीं अपितु स्वयं शाखाओं में भी मूल वेद के पाठ को 'इति' के साथ प्रतीक रूप में रख कर उद्धृत किया है। काठक संहिता १०/५ में लिखा है। "वामदेवस्यैत् पञ्चदशं रक्षोघ्नं सामिधेन्यो भवन्ति···स वामदेव उख्यमग्निम-विभस्तमवैक्षत स एतत सूक्तमपश्यत्—"कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथीवीमिति"। अतः इस सूक्त वाला ग्रन्थ अर्थात् मूल वेद इस संहिता के निर्माण के पूर्व विद्यमान था जहाँ से इस संहिता के प्रवक्ता ऋषि ने व्याख्यान करते समय लेकर यहां उद्धृत कर दिया।

वेंङ्कटमाधव ने भी वेद भाष्य में शाखाओं की उपयोगिता को माना है और उनके मन्त्रों को 'विस्पष्टार्थ' कहा है क्योंकि वे वेद के व्याख्यान ही हैं यथा,—

अध्यवस्यन्ति मन्त्रार्थानवें मन्त्रान्तरैरपि।
शाखास्वन्यासु पठितैर्विस्पष्टार्थै मनीषिणः।।

और इन शाखाओं की तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की वेद भाष्य में उपयोगिता का सर्वाधिक और वास्तविक लाभ उठाया दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में जबकि वेंङ्कट प्रतिज्ञा करके भी ऐसा कर न सके।

इन इतने प्रमाणों से यह बात स्पष्ट रूप से हृदयङ्गम हो जाती है कि शाखाओं को वेद-व्याख्यान मानना दयानन्द की अपनी कपोल-कल्पना नहीं अपितु स्वयं शाखाओं से लेकर अभिनव गुप्त जैसे लौकिक साहित्यकारों द्वारा स्वीकृत एक तथ्य है।

अब प्रश्न है कि वे मूल चार वेद कौन से हैं ? सो दयानन्द के अनुसार ऋग्वेद की शाकल शाखा, यजुर्वेद की शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यान्दित वाज-सनेय संहिता, सामवेद की कौथुम शाखा एवं अथर्ववेद की शौनक शाखा ही मूल वेद हैं तथा शेष शाखाएं उनके व्याख्यान हैं।

अब इस मान्यता पर उचित रूप से एक आक्षेप हो सकता है कि जब ये चारों उपर्युक्त संहिताएं भी किन्हीं विशिष्ट ऋषियों के नाम के आधार पर शाखाएं कही जाती हैं तो ये भी सब प्रोक्त ही ठहरती हैं, अतः इन्हें मूल ईश्वरीय ज्ञान-रूप वेद कहना असङ्गत होगा। इसके समाधान के लिए हमें शाखा का स्वरूप भी समझ लेना होगा। इसके सम्बन्ध में डॉ० सुधीर कुमार गुप्त का कहना है, "The nature of a Shakha-text can, thus, be finally described as, "the annotated, adapted, simplified, sometimes also enlarged edition of the whole or a part of the original text of the Veda to which it belongs," अर्थात् "सम्बन्धित मूल वेद के सम्पूर्ण अथवा एक भाग का व्याख्यान, भाष्य (शब्द), परिवर्तन द्वारा सरलीकृत और कई बार परि-वर्द्धित संस्करण भी शाखा नाम से अभिहित हुआ है।" (देखिए :— Nature of the Vedic Shakhas by S.K. Gupta) परन्तु शाखा का एक और रूप भी है जिसका संकेत पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने स्व-सम्पादित दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य पर लिखित अपनी भूमिका में किया है, और

वह रूप है—मूल वेद में कोई भी परिवर्तन किए बिना उसका स्वतन्त्र रूप से पद-पाठ मात्र कर देना। भट्टभास्कर तैत्ति० सं० भाष्य भाग १ —तैत्ति० काण्डानुक्रम पृ० ६, श्लोक २६,२७ में लिखा है :—

उखः शाखामिमां प्राह, आत्रयाय यशस्विने।
तेन शाखा प्रणीतेयमात्रयीति च सोच्यते॥
यस्याः पदकृदात्रयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः।

अर्थात् उख ने तैत्तिरीय संहिता आत्रेय को पढ़ाई। उस द्वारा प्रणीत यह शाखा आत्रयी कहलाती है जिसका पदकार आत्रेय है और वृत्तिकार कुण्डिन है। बस शाकल आदि शाखाओं के विषय में हमें यही स्थिति समझनी चाहिए कि ये चारों मूल वेद हैं। तत्तत् आचार्यों ने उनमें किसी भी परिवर्तन के बिना केवल उनका पदपाठ मात्र स्वतन्त्र रूप से किया अतः आदरार्थ उनके नाम इनके साथ जोड़ दिए गए और उन के गुरुकुलों में ये मूल वेद ही उनके किए पदपाठ सहित पढ़ाए जाते रहे। निरुक्त में हम शाकल्य के पदपाठ का निर्देश पाते हैं। सम्भव है यही शाकल्य इस शाकल शाखा नाम वाले मूल ऋग्वेद के पदपाठकार रहे हों। यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के भी कई ऐसे हस्तलेख प्राप्त हैं जिनके अन्त में इसका नाम केवल 'वाजसनेय संहिता' लिखा है और माध्यन्दिन नहीं लिखा है। इस प्रकार सम्भव है कि माध्यन्दिन ही इसके पदकार रहे हों और उनके नाम से भी यह शाखा प्रसिद्ध हो गई हो। इसके मूल वेद होने में एक बड़ा प्रबल प्रमाण मिलता है जिसे पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने स्वसम्पादित दयानन्द कृत यजुर्वेद-भाष्य की भूमिका में उद्धृत किया है। द्वितीय संस्करण की भूमिका के पृष्ठ ४० पर वे लिखते हैं :—गवर्नमेंट औरियण्टल लाइब्रेरी मद्रास के सूचीपत्र भाग III, पृ० ३४२६, ग्रन्थ नं० २४४६ पर 'माध्यान्दिन शाखा विषयः' नाम से एक ग्रन्थ का उल्लेख है। यह उस ग्रन्थ का वास्तविक नाम नहीं है। पुस्तक का आद्यन्त खण्डित होने से उसका नाम अज्ञात है। इस पुस्तक का कुछ पाठ उपर्युक्त पृष्ठ पर निम्न प्रकार उद्धत है—"अथ पञ्चदश शाखासु माध्यन्दिन शाखा मुख्येति वेदितव्या। यदुक्तं बृहन्नारदीये—'यजुर्वेदमहाकल्पतरोरेकोत्तरं शतम्। शाखा तत्र शिखाकारा दशपञ्चाथ शुक्लगाः। तथा चेदं होलीरभाष्यम्—यजुर्वेदस्य मूलं हि भेदी माध्यन्दिनीयकः। सर्वानुक्रमणी तस्याः कात्यायनकृता तु सा।'

तस्मान्मध्यन्दिनीय शाखा एवं पञ्चदशषु वाजसनेय शाखासु मुख्या सर्वसाधारणा च। अतएव वसिष्ठेनोक्तम्—'माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा।'

यह उपर्युक्त ग्रन्थ लगभग ४०० वर्ष प्राचीन होगा। इसमें उद्धृत होलीर भाष्य यजु सर्वानुक्रमनी का भाष्य है।"

इसी शाखा के मूलवेदत्व के प्रमाण में "वैदिक सम्पत्ति" में पं० रघुनन्दन शर्मा द्वारा जो विचार किया गया है, वह भी महत्त्वपूर्ण है और विद्वानों के विचार का विषय है। यहां इस लेख के कलेवर की वृद्धि के भय से हम उसको उपस्थित नहीं करते। इस उपर्युक्त विचार के आधार पर हम सामवेद तथा अथर्ववेद के भी मूलत्व का कुछ अनुमान कर सकते हैं।

ऋषि दयानन्द की इस बात को न मानने में एक बड़ी भ्रान्ति भी बहुत बड़ा कारण है और वह है 'व्याख्यान' शब्द का अर्थ। जब हम 'व्याख्यान' शब्द को सुनते हैं तो हमारे आगे या तो एक उस प्रकार के भाषण का स्वरूप उपस्थित होता है जैसा कि हम वेदि से वेद मन्त्र की व्याख्या के रूप में सुनते हैं अथवा सायण आदि के भाष्य का चित्र हमारी आंखों के आगे खिंच जाता है। ऐसी अवस्था में जब हम अपने इस काल्पनिक चित्र को वेदों की शाखाओं में ढूंढने का प्रयत्न करते हैं तो स्वभावतः ही हमें निराश होना पड़ता है। तब हम परिणाम निकाल लेते हैं कि दयानन्द का कथन निस्सार है। पर बात ऐसी नही है। यदि हम आधुनिक भाष्यकारों के भाष्यों से प्रारम्भ कर प्राचीन से प्राचीनतर भाष्यों का अवलोकन करें तो पता लगेगा कि जो भाष्य जितने अधिक प्राचीन हैं, वे प्रायः उतने ही अधिक संक्षिप्त हैं। वेंकट माधव का भाष्य यहां तक संक्षिप्त है कि वह मूल शब्दों को रखे बिना ही उनके पर्यायवाची रखता चला जाता है। जहां मूल शब्द सरल है, वहां उसे ही रहने देता है। पर जहां मूल अथवा पर्याय से कार्य न चले वहां अध्याहार भी करके अर्थ को पूरा करता है। ये शाखाएं उससे भी अति प्राचीन हैं और परिणामस्वरूप संक्षेप की चरमसीमा को पहुंची हुई है। उदाहरण रूप में वेद के इस मन्त्र को लीजिए :—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं, न तस्य वाच्यापि भागोऽस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति, नहि प्रवेद सुकृतस्य पंथाम्॥

इसी मन्त्र को जब शाखा में पढ़ा गया तो बिना किसी भी अन्य परिवर्तन के केवल 'सचिविदं' के स्थान पर 'सखिविदं' कर के अपना लिया गया। इस मन्त्र में यतः यही एक शब्द था जिस के अर्थ में शंका हो सकती थी अतः इसके स्थान में स्पष्टार्थक शब्द रख कर शेष मन्त्र को अपरिवर्तित ही रहने दिया गया। अन्य विद्वान् इस परिवर्तन को 'पाठभेद' मानते हैं तो दयानन्द 'सचिविदं' का व्याख्यान मानते हैं। इसी प्रकार माध्यन्दिन संहिता के 'भातृव्यस्य वधाय' पाठ के स्थान पर काण्व संहिता में 'द्विषतो वधाय' पाठ है और स्पष्ट ही उसका सरलीकरण है। एक यजुर्वेदीय पाठ की अन्य शाखाओं के पाठों से पं० भगवद्दत्त ने बड़ी महत्त्वपूर्ण तुलना अपने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' प्रथम भाग के पृष्ठ १७६ पर की है जिससे इन शाखाओं की वास्तविकता पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। यजुर्वेद ६/४० का पाठ है 'एष वो अमी राजा'। यह पाठ सार्वभौम है क्योंकि इसमें किसी प्रदेश विशेष का नाम नहीं लिया गया है। इस मन्त्र को 'ऊह' पूर्वक किसी भी प्रदेश में राज्याभिषेक के समय प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके विपरीत जिस-जिस प्रदेश में जो शाखा प्रचलित हुई, उस-उस शाखा में उसी प्रदेश का नाम 'अमी' सर्वनाम के स्थान पर जोड़ दिया गया जिससे 'ऊह' करने में कोई भ्रान्ति न हो। अतः कुरुपंचाल प्रदेश की काण्व शाखा में 'एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला राजा', तैत्ति० में 'में 'एष वो भरता राजा', गणराज्यों में प्रचलित काठक एवं मैत्रायणी संहिताओं में 'एष ते जनते राजा' पाठ कर दिया गया। बस यही इस व्याख्यान का स्वरूप है।

हम देखते हैं कि जब कोई कवि अपनी कविता सुनाता है तो लोगों को समझाने के लिए कहीं-कहीं अपनी कविता के अंशों को पर्यायवाची शब्द रख कर दुहराता है और शेष भाग को अपरिवर्तित रखता है। कहीं किसी पुस्तक के संक्षिप्त संस्करण निकलते हैं तो कहीं केवल कठिन शब्दों को सरल बना कर ज्यों का त्यों किसी पुस्तक को प्रकाशित किया जाता है।

अध्यापक भी पढ़ाते समय अनेक सरलीकरण की विधियां निकालता है। कई स्थानों पर टिप्पणियां लिखवाता है। कहीं कोई टीकाकार टिप्पणी को मूल के साथ ही रखता चलता है और कहीं दोनों को पृथक् पृथक् रखता है। समय पाकर मूल और टिप्पणी ऐसे मिल जाते हैं कि कोई भेद नहीं रहता। निरुक्त के भी कई स्थलों पर, विद्वानों का विचार है कि अध्यापकों की लिखी हुई टिप्पणी या अध्याहृत अंश मूल के साथ ही मिल गए हैं। और अब वे अंशमूल ही समझे जाने लगे हैं। उदाहरण के रूप में 'यस्यागमादर्थ-पृथक्त्वमह विज्ञायते, न तु औद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात्, स कर्मोपसंग्रहः' इस पाठ में समझा जाता है कि 'नतु···पृथक्त्वात्' पाठ किसी अध्यापक ने समझाने के लिए हाशिए पर लिखा होगा जो कालान्तर में मूल के साथ समझ लिया गया। इसी प्रकार शाखाओं में अनेक कारणों से भेद बढ़ता गया और कालान्तर में जब विद्या का ह्रास हुआ तो सब शाखाओं वाले अपनी-अपनी शाखा को श्रेष्ठ और दूसरे की शाखा को हीन समझने लगे। इस प्रकार अनेक शाखाध्यायी लोग अपनी अपनी शाखाओं के पढ़ने में ही पुण्य मानने लगे जैसा कि ऊपर पूर्वोद्धृत बृहज्जालोपनिषद् के वचन में इस उपनिषद् के पढ़ने से ही सब वेदों का पढ़ लिया जाना बतलाया गया है। इस प्रकार के व्याख्यानों में सर्वाधिक हेर फेर और आमूल चूल परिवर्तन अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में पाया जाता है। डा० सुधीर कुमार के अनुसार वहां एक ही विषय के बिखरे मन्त्रों को एकत्रित करने का प्रयास दीख पड़ता है। आधुनिक काल की पं० सातवलेकर द्वारा सम्पादित 'दैवत-संहिताएं' इसी प्रकार का प्रयास कही जा सकती हैं। इसके साथ ही वहां स्थान-स्थान पर प्रकरण से सम्बद्ध उद्धरण ऋक्०, तै० ब्रा०, तै० आर०, कौशिक सू०, मैत्रायणीय सं०, शुक्ल यजुः, काठक संहिता एवं कुछ दूसरी वैदिक कृतियों से ले लिए गए हैं। इस प्रकार इन दोनों, शौनक एवं पैप्पलाद, संहिताओं में भारी अन्तर दीख पड़ता है।

तैत्ति० प्रातिशाख्य के अनुसार अनेक शाखाएं केवल उच्चारण भेद से ही बन गई हैं। एक मन्त्रांश के तीन पाठ उपलब्ध हैं यथा १. सर ट् ढ वा अश्वस्य। २. स रट् ह वा अश्वस्य। ३. सर ट् ढ् ह वा अश्वस्य। (वैदिक वाङ्मय का इतिहास)

अब विभिन्न शाखाओं के कुछ पाठ-भेदों की तुलना हम डा० सुधीर कुमार के अनुसार करते हैं जिससे इन व्याख्यानों की प्रकृति एवं वेदार्थ में इन शाखाओं का उपयोग स्पष्ट होते हैं। मा० माध्यन्दिन और का० काण्व के लिए समझें। मा० १/४ का 'आतनच्मि रक्ष' का० में नियमित रूप होकर 'आतनक्मि रक्षस्व' आया है। मा० १/१६ का 'संघातं संघातं' का० १/२४ में संघाते संघाते हैं' जिससे भाव स्पष्ट होता है। मा० २/२ 'भुवपतये' का० २/३ में 'भूपतये'। मा० २/६ 'प्रियं सद आ सीद' का० २/८ में 'प्रिये सदसि सीद'। म० २/१७ 'मेत्त्वदपचेतयाता अग्नेः' का० २/३४ में 'नेत्त्वदपचेतयाते अग्नेः' है। मा० २/२१ 'वित्त्वा' का० २/३६ में 'इत्त्वा' है और इण गतौ से गत्यर्थक सभी अर्थ इस 'विद्' धातु के लेने चाहिएं, ऐसा संकेत मिलता है। मा० ४/११ 'वर्चोधाम्' का ४/१५ में 'वर्चो दाम्', मा० ४/१५ 'आगन्' का० ४/२० में 'आगात्', मा० ४/३३ 'उस्रावेतं धूर्षाहौ' का० ४/४५ में 'उस्रा एतं धूर्वाहौ,' मा० ५/४ 'आपतये त्वा परिपतये गृहणामि' का० ५/५ में 'आपतये त्वा गृहणामि परिपतये त्वा गृह्णामि', मा० ५/५ 'शक्वने' का ५/५ में 'शक्मन्' है। इनके देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि काण्व संहिता में रखे गए पर लौकिक संस्कृत के नियमों के अनुसार दिखलाई पड़ते हैं और अधिक स्पष्टार्थक हैं। इसी प्रकार मा० १/१-३ को काण्व १/१-६ में विराम स्थलों के अनुसार व्यवस्थित रूप दिया गया है। यही अवस्था मा० १/८-११ की का० १/११-१५ में है। मा० ४/१७ का० ६/६२ में पुनर्व्यवस्थित किया गया है, सन्धिच्छेद कर दिया गया है और पदपूरण आदि कुछ अनावश्यक शब्द हटा दिए गए हैं।

अब अथर्व की शौनक शाखा का पाठ १.१.१ ,तन्वो अद्य दधातु' में पैप्पलाद १.६.१ में 'तन्वमध्यादधातु में' है। इस पाठ से मन्त्र के ठीक अन्वय में सहायता मिलती है। 'तेषां तन्वः बला' ऐसा अन्वय ने होकर 'तेषां बला मे तन्वः' ऐसा होना चाहिए और 'शरीर में' ऐसा 'तन्वः' का अर्थ होना चाहिए। शौनक २.२८.४ 'अदितेरुपस्थे' पै० १.१२.३ में 'ऋत्या उपस्थे' है अतः 'अदितेः' और 'ऋत्याः' समानार्थक हैं। शौ० १.३०.१. 'सनाभिः' प० १.१४.१. में 'समानः' है। शौ० १.१४.१ 'महाबुघ्न' पै० १.१५.१ में 'महामूल' है जो पूर्ण स्पष्ट है। शौ० १.१९.३ 'यो नः स्वो यो अरणः सजात' पै० १.२०.३ में 'यस्समानो योऽसमानो' है। उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति' में 'निष्ट्यः' के स्थान पर 'अमित्रः' तथा 'अभिदासति' 'जिघांसति' है।। शौ० १.३२.२ 'स्थाम' पै० १.२३.२ में 'स्थानं' है। १.१५.३ 'ये नदीनां स्रवन्त्युत्सासः' १.२४.३. में 'ये नदीभ्यास्स्रवन्तिः' है। शौ० ६.२७.१ 'बलासस्य विसल्पकस्य' पै० १.६०.१ में 'असितस्य विकल्पकस्य' है। शौ १६.२०.४, 'क्रन' पै० १·१०८.४ में 'कृण्वन' है और ७.४२.१ 'दूरं निर्ऋतिम्' १.१०६.१ में 'द्वेषो निर्ऋतिम् च' है। अतः यहां 'दूरं' 'द्वेषः' के अर्थ में है, जो अन्य प्रकार से नहीं जाना जा सकता। शौ० १६.५८.१ 'समना सदेवा' पै० १.११०.१. में 'सुमनास्सुदेवाः' १६.३६.२ 'तत्नति' २.२७.२ में 'तरति', ६.४०.४ 'मन्युः' १.२७.३. में 'मृत्यु' है। शौनक ६./६१/१-२ में 'रपः' शब्द आया है जहां 'यक्ष्मनाशनम्' देवता है। सायण तथा यास्क के अनुसार 'रपः, रिप्रम्' पाप को कहते हैं। परन्तु यहां पाप की बजाए 'विष' अर्थ अधिक उत्तम है जो कि यक्ष्मा का कारण है, और यक्ष्मा-नाश के लिए उसका विनाश आवश्यक है। ठीक यही 'विष' पाठ पै० १.१११.१. में है जबकि किसी भी अन्य साधन से 'रपः' का अर्थ 'विष' नहीं जाना जा सकता। इस प्रकार शाखाओं के पाठ विस्पष्टार्थक होते हैं।

इसी प्रकार शौ० ६.२१.२ 'सोम' पै० १.३८.२ में 'यज्ञ' है और शतपथ ३.६.४.२३ में सोम का नाम यज्ञ बतला कर उसकी 'व्युत्पत्ति' भी दी गई है। शौ० १.३३.१ का 'सविता अग्निः' पै० में 'कश्यपः इन्द्रः' है। शत० ७ ५.१.५-६ में कश्यप, कूर्म, प्रजापति और आदित्य एक हैं तो ताण्ड्य १६.५.१७ में प्रजापति ही सविता है। गोपथ १.१.३३ में अग्नि और आदित्य सविता हैं और शत० ८/५/३/२ में आदित्य इन्द्र है। इन सब को मिलाने से अग्नि, आदित्य, इन्द्र सविता, कश्यप आदि सब का नाम एक ही के सिद्ध होते हैं जिसे ऋग्वेद 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' मन्त्र के द्वारा और यजुर्वेद 'तदेवाग्निस्तदादित्यः' के द्वारा और निरुक्त 'एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते !' के द्वारा स्वीकार करते हैं तथा शाखाएं इस रहस्य को खोलने में सहायता देती हैं। इस प्रकार शाखाओं को मूल वेदों का व्याख्यान उचित रूप से कहा जा सकता है।

दीप जले: पर दीप जलाने वाला रूठ गया

• श्री विमलचन्द्र 'विमलेश'

ओ दिन के अवसान ! धरा पर दीवाली लाये ।
हर घर में, पथ में, निर्जन में हरियाली लाये,
बाल हँसते मुस्काते हैं ।
युवा अनेकों दीपों में तन्मय हो जाते हैं ।
आरती सी नव बालायें ।
दीप ज्योति में ढूंढ रहीं अपनी अभिलाषायें,
मिला क्या हमसे छूट गया ॥ दीप जले···॥१॥
कल कोमल किसलय जिस पर आंचल फैलाते थे,
आ-आ कर मदमत्त मधुप गण गायन गाते थे ।
फूला-फूला था उपवन में ।
सौरभ बिखरा था निर्जन में, नील गगन, घन में,
बहारें आँख मिलाती थीं ॥
आ-आकर तितली मादक मकरन्द लुटाती थीं,
आज चुपके से सूख गया ॥ दीप जले···॥२॥
होता प्रातःकाल सदा ही संध्या आती है,
कभी हँसाती पगली जग को कभी रुलाती है ।
जिन्दगी के चौराहे पर,
कुछ ही हँस पाते, अक्सर जाते आँसू लेकर ।
मनुज का आना सुख देता ।
पर उसका प्रस्थान नयन में सावन भर देता,
तार वीणा का टूट गया ॥ दीप जले···॥३॥
अक्तूबर इकतीस, ८३ सन्, संध्या वेला,
रूठा मानव एक! लगा था दुनिया का मेला ।
आज विश्राम दिवस आया ।
जीवन भर संघर्षों से ही घिरी रही काया ॥
उठो ! अजमेर नगर वालो ।
बिन घर वाला चला जा रहा ऊँचे घर वालो ॥
मनुज का साथी छूट गया ॥ दीप जले··॥४॥

'हो तव इच्छा पूर्ण पिता, माता, प्रभु जगदीश्वर'
सुने शब्द पंछी भागा तज कर नश्वर पंजर ।
दिवाली हँसी मकानों में ।
जाते-जाते ज्योति जली तेरी श्मशानों में ॥
दीप मत तुम यों बुझ जाना ।
हँसते रहना सदा, सिखाया स्वामी ने गाना,
आज अमृत घट फूट गया । दीप जले···॥५॥
काँच दूध में पिलवाकर आशिष लेने वालो ।
अंतिम बार वार कर लो गाली देने वालो ।
पिन्हा लो साँपों की माला ।
लाओ विष यह चला जा रहा विष पीने वाला ।
न कल तुम से मिल पायेगा ।
कल जग कह स्वर्गीय नयन से अश्रु बहायेगा,
न कहना छिप कर दूर गया ॥ दीप जले···॥६॥
कंधा देकर पहुँचा आये तुमको मरघट पर ।
रोई उस दिन धरती, थर-थर काँप उठा अंबर ॥
दीपकों की बाती रोई ।
पहली बार तभी भारत माँ की छाती रोई ॥
पुत्र की चिता जलाने पर ।
मैंने देखा फट जाते चट्टानों के अंतर ॥
भाग्य धरती का फूट गया ॥ दीप जले···॥७॥
तू जीवन भर लड़ा धरा पर नूतन दीप जले ।
वर्षों से पददलित देश को शुभ स्वातंत्र्य मिले ॥
न तम जीवन में रह पाये ।
सहज ज्ञान की ज्योति मनुज अंतर में भर जाये ।
हटाये दुःख, असत्य, बंधन ।
किया सत्य का अर्थ प्रकाशित वसुधा पर स्वामिन् ।
सभी कुछ देकर दूर गया ॥ दीप जले···॥८॥

('ऋषिगाथा' महाकाव्य से)

युगद्दृष्टा : दयानन्द

• श्री राजपालसिंह शास्त्री, सम्पादक "मधुर-लोक' दिल्ली-६

आदर्श सर्वतोमुख सुधारक परमश्रद्धेय दयानन्द बड़े उदार विचारों के व्यक्ति थे। उनमें साम्प्रदायिक द्वेष व संकीर्णता का लवलेश भी न था। इसीलिये सब जातियों के उदार विद्वान् उनका मान करते थे।

१—अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के संस्थापक सर सय्यद अहमद खां ने--

महर्षि दयानन्द जी के ३० अक्टूबर, सन् १८८३ को बलिदान के ठीक पश्चात् ६ नवम्बर सन् १८८३ के अलीगढ़ इंस्टीट्यूट मैगजीन में लिखा था कि—

"निहायत अफसोस की बात है कि स्वामी दयानन्द साहेब ने जो संस्कृत के बड़े आलम (विद्वान्) और वेद के बहुत मुहक्किल (समर्थक) थे ३० अक्टूबर ७ बजे शाम को अजमेर में इन्तकाल किया। इलावा इल्मो फजल (उत्तम विद्या के अतिरिक्त) निहायत नेक और दरवेशसिफ्त (साधु स्वभाव) आदमी थे। इनके मोहतकिद (अनुयायी) इनको देवता मानते थे और बेशक वे इसी लायक थे। वे सिर्फ ज्योतिस्वरूप निराकार के सिवाय दूसरे की पूजा जायज (विहित) नहीं रखते थे। हम से और स्वामी दयानन्द मरहूम (स्वर्गीय) से बहुत मुलाकात थी। हम हमेशा इनका निहायत अदब (आदर) करते थे कि हरेक मजहब वाले को इनका अदब लाजिमी (आवश्यक) था। बहरहाल ऐसे शख्स थे जिनका मसल (उपमा) इस वक्त हिन्दुस्तान में नहीं है और हर एक शख्स को उनकी वफात (मृत्यु) का गम (शोक) करना लाजमी है कि ऐसा बेनजीर शख्स (अनुपम मनुष्य) इनके दरमियान से जाता रहा।"

(अलीगढ़ इंस्टीट्यूट ६-११-१८८३)

सर सय्यद अहमद खां जैसे सुप्रसिद्ध मुसलमान नेता की ओर से ऐसी श्रद्धाञ्जली अर्पित की जानी महर्षि दयानन्द की असाम्प्रदायिकता का ज्वलन्त प्रमाण है। इससे उन लोगों की आंखें खुल जानी चाहिये जो उन्हें मुसलमानों का शत्रु समझते हैं। महर्षि दयानन्द का वैयक्तिक जीवन बहुत ही उच्च कोटि का था। साथ ही वे बड़े कर्मयोगी, सुधारक थे। जातिभेद और अस्पृश्यता आदि बुराइयों को दूर करने का उन्होंने घोर परिश्रम किया था। स्त्रियों की शोचनीय अवस्था को दूर करने के लिए भी उनका प्रयत्न प्रशंसनीय था।

२—इस विषय में जगद्विख्यात विचारक श्री रोम्या रोला ने ठीक ही लिखा है कि—

"Dayananda transfused into the languid body of India his own formdable energy, his certainty, his loin's blood.

Dayananda Saraswati was a personality of the highest order. This man with the nature of a lion is one of those men whom Europe apt to forget when she Judges India and whom she will probably be forced to remember to her cost, for he was the rare combination, a thinker of action with a genius for leadership." (Life of Rama Krishna P. 146)

अर्थात् ऋषि दयानन्द ने भारत के शक्तिशून्य शरीर में अपनी अजेय शक्ति अविचल कर्मण्यता तथा सिंह के समान पराक्रम फूंक दिये। स्वामी दयानन्द उच्चतम व्यक्तित्व-सम्पन्न पुरुष थे। कर्मयोगी, विचारक और नेता के उपर्युक्त प्रतिभा, ये सभी प्रकार के दुर्लभ गुण उनमें विद्यमान थे। यह सिंह-समान व्यक्तियों में से एक हैं जिसे यूरुप भारत के विषय में निर्णय करते हुए संभवतः भूल जाए किन्तु जिसे शायद उसे याद करने को बाधित होना पड़े क्योंकि उसमें कर्म के विचारक और प्रतिभाशाली नेतृत्व का दुर्लभ मिश्रण था।

आगे उन्होंने लिखा है कि—

"Dayananda would not tolerate the abominable injustice of the existence of untouchables and nobody has been a more ardent champion of their outraged rights."

अर्थात् स्वामी दयानन्द ने अस्पृश्यता के अन्याय को भी सहन नहीं किया। उनसे अधिक अस्पृश्यों के अपहृत अधिकारों का उत्साही समर्थक

दूसरा कोई नहीं हुआ।

भारत में स्त्रियों की शोचनीय दशा को सुधारने में भी दयानन्द ने बड़ी उदारता व साहस से काम लिया। वास्तव में राष्ट्रीय भावना और जन-जागृति के विचार को क्रियात्मक रूप देने में सबसे अधिक प्रबल शक्ति उन्हीं की थी।

"He (Swami Dayananda) was one of the most advent prophets of re-construction and of national Organisation."

अर्थात् वे पुनर्निर्माण और राष्ट्रीय संगठन के उत्साही अग्रगामियों में से थे।

स्वामी दयानन्दजी ने सोते हुए भारतवासियों को जगाया। अन्धकार में ठोकरें खाते हुए को मार्ग दिखाया। अज्ञान को दूर करके ज्ञान की ज्योति को जगाया। इस प्रकार वे सच्चे मार्गदर्शक थे।

३—नोबल पुरस्कार विजेता जगत् प्रसिद्ध कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जिन्हें महात्मा गांधी जी भी गुरुदेव के नाम से पुकारते थे, महर्षि दयानन्द को गुरु के रूप में स्मरण किया।

उन्होंने अपनी श्रद्धांजली इन स्वर्णिम शब्दों में अर्पित की—

'मेरा प्रणाम हो उस महान् गुरु दयानन्द को जिसकी दृष्टि ने भारत के आध्यात्मिक इतिहास में सत्य और एकता को देखा। जिसके मन ने भारतीय जीवन के सब अङ्गों को प्रदीप्त कर दिया। जिस गुरु का उद्देश्य भारतवर्ष को अविद्या, आलस्य और प्राचीन ऐतिहासिक तत्त्व के अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता की जागृति को लाना था, उसे मेरा बार-बार प्रणाम है।'

'मैं आधुनिक भारत के मार्गदर्शक उस दयानन्द को आदर पूर्वक श्रद्धांजली अर्पित करता हूं कि जिसने देश की पतितावस्था में भी हिन्दुओं को प्रभु की भक्ति और मानव-समाज की सेवा के सीधे वा सच्चे मार्ग का दिग्दर्शन कराया।'

महर्षि दयानन्द आदर्श ब्रह्मचारी थे। उन्होंने पूर्ण पवित्रता और क्रियात्मक सुधार का उत्तम आदर्श समस्त जनता के समक्ष रखा जिसने सबको प्रभावित किया।

४—विश्ववन्द्य महात्मा गांधी जी ने महर्षि दयानन्द के विषय में लिखा था कि महर्षि दयानन्द के विषय में मेरा मन्तव्य यह है कि वे हिन्द के आधुनिक ऋषियों में, सुधारकों, श्रेष्ठ पुरुषों में से एक थे। उनका ब्रह्मचर्य, उनकी विचार स्वतन्त्रता उनका सबके प्रति प्रेम, उनकी कार्यकुशलता आदि सबको मुग्ध करते थे। उनके जीवन का प्रभाव हिन्दुस्तान पर बहुत पड़ा है।'

आदर्श योगी दयानन्द

महर्षि दयानन्द अपने समय के सबसे बड़े योगी थे। उनका स्थान संसार के सर्वोच्च योगियों और विद्वानों में हैं। उनकी शक्ति अद्भुत थी। उनका हृदय बड़ा विशाल था।

५—सुप्रसिद्ध योगी श्री अरविन्द जी ने महर्षि दयानन्द के पवित्र चरित्र का चित्रण इस प्रकार के शब्दों में किया है—

'दयानन्द दिव्य ज्ञान का सच्चा सैनिक तथा विश्व को प्रभु की शरण में लाने वाला योद्धा था। वह मनुष्यों और संस्थाओं का शिल्पी तथा प्रकृति द्वारा आत्मा के मार्ग में उपस्थित की जाने वाली बाधाओं का वीर विजेता था। उसके व्यक्तित्व की व्याख्या यों की जा सकती है—

'एक मनुष्य जिसकी आत्मा में परमात्मा है, चक्षुओं में दिव्य तेज है और हाथों में इतनी शक्ति है कि जीवन तत्त्व में से अभीष्ट स्वरूप वाली मूर्ति गढ़ सके तथा कल्पना को क्रिया में परिणत कर सके। वे स्वयं एक दृढ़ चट्टान थे। उनमें ऐसी दृढ़ शक्ति थी कि चट्टान पर घन चला कर पदार्थों को सुदृढ़ व सुडौल बना सकें।

महर्षि दयानन्द के वेद-विषयक मन्तव्य का प्रबल समर्थन करते हुए योगी अरविन्द जी ने लिखा था कि 'महर्षि दयानन्द की यह धारणा कि वेद में धर्म और विज्ञान दोनों की सच्चाइयां पाई जाती हैं कोई उपहासास्पद वा कल्पित बात नहीं है। वैदिक व्याख्या के विषय में मेरा यह विश्वास है कि वेदों की सम्पूर्ण अन्तिम व्याख्या कोई भी हो, महर्षि दयानन्द का यथार्थ निर्देशों के प्रथम आविर्भावक के रूप में सदा मान किया जायेगा। पुराने अज्ञान और पुराने युग की मिथ्या ज्ञान की अव्यवस्था और अस्पष्टता के बीच में यह उसकी ऋषि दृष्टि थी कि जिसने सच्चाई को निकाल लिया और उसे वास्तविकता के साथ बांध दिया। समय ने जिन द्वारों को बन्द कर रखा था उनकी चाबियों को उसी ने पा लिया और बन्द पड़े हुए स्रोत की मुहरों को उसी ने तोड़कर परे फेंक दिया।' सुप्रसिद्ध योगी श्री अरविन्दजी की यह श्रद्धांजली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं हो सकता।

महर्षि का लक्ष्य

महर्षि दयानन्द का नाम नवीन भारत के निर्माताओं में सदा आदर के साथ लिया जायेगा। उन्होंने केवल धार्मिक और सामाजिक जागृति ही जनता में उत्पन्न नहीं की बल्कि स्वराज्य का महत्त्व भी अपने देशवासियों के सम्मुख स्पष्ट शब्दों में रखते हुए मर्म वेदना के साथ अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि—

"अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ भी है सो भी विदेशियों से पादाक्रांत हो रहा है। दुर्दिन जब जाता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना भी करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है।' अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित, माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक-पृथक शिक्षा, अलग-अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है। (सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास)

(शेष पृष्ठ १२५ पर)

आर्य समाज और हिन्दी

• डॉ० रघुवर दयाल वार्ष्णेय, दिल्ली

दासता की लम्बी अवधि ने भारतियों की आत्मा को सुप्त प्राय कर दिया था, यहां का आम आदमी टूट गया था, अपनी ही घुटन से आप पीड़ित था। नारी एक कंठ से अपनी दयनीय दशा पर हिचकियां ले रही थी, दलित वर्ग अत्याचारों से कराह रहा था अथवा धर्म-परिवर्तन में लगा हुआ था, अर्थ-व्यवस्था की चूलें हिल गयीं थीं। शिक्षा विदेशी विचारों का बोझ मात्र ढो रही थी। भाषा के नाम पर 'निजभाषा' जैसी कोई चीज ही देखने को नहीं मिलती थी। ऐसी स्थिति में राजनीतिक जागृति का प्रश्न ही नहीं उठता। दयानन्द सरस्वती ने ऐसे समय में ही जन्म लेकर भारतीयों को अपनी शक्ति की याद दिलाई? हिन्दी के लिए तो उनकी अविस्मरणीय देन है। इसके लिए हिन्दी भाषा और साहित्य उनका चिरऋणी रहेगा। यद्यपि सर्वप्रथम उन्होंने अपना प्रचार-कार्य संस्कृत में आरम्भ किया तथापि शीघ्र ही कलकत्ते में केशवचन्द्रसेन के परामर्श से हिन्दी उनके कार्यों का माध्यम बन गयी। 'सत्यार्थ प्रकाश' को हिन्दी में लिखना इसी प्रेरणा का परिणाम है। उन्होंने राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का पक्ष लिया और एक भाषा और एक लिपि की आवाज बुलन्द कर अपने अनुयायियों के लिए हिन्दी का पठन-पाठन अनिवार्य कर दिया। १० अप्रैल १८७५ को बम्बई में आर्य समाज की स्थापना के साथ ही अठ्ठाईस नियमों के अन्तर्गत पांचवां नियम था—"प्रधान समाज में वेदोक्तानुकूल संस्कृत और आर्यभाषा (हिन्दी) में नाना प्रकार के सदुपदेशों की पुस्तक होगी और एक 'आर्य प्रकाश' पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में निकलेगा। यह सब समाजों में प्रवृत्त किये जायेंगे।" इस प्रकार स्वामी जी का हिन्दी की ओर विशेष झुकाव था।

आर्य समाज की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य हिन्दू धर्माडम्बरों, अनाचारों और सम्प्रदायवाद का मूलोच्छेदन कर राष्ट्र को एक कड़ी में आबद्ध करना था। इस कार्य की पूर्ति के लिए उन्होंने सम्प्रेषण की भाषा हिन्दी को चुना। किन्तु इन दिनों हिन्दी कंटकाकीर्ण पथ से गुजर रही थी। अनेक विरोधी शक्तियां इसका गला दबाने में लगी हुई थीं। न्यायालयों और सरकारी कार्यालयों की भाषा उर्दू थी। हिन्दी को मूर्ति-पूजकों की भाषा कहकर उसकी मजाक उड़ायी जाती थी। गार्सा-द-तासी जैसे फ्रांसीसी विद्वान भी इसका खुलकर विरोध कर रहे थे। इसी समय भारत सरकार के एक सूचना प्रसारण ने हिन्दी के अस्तित्व को और भी खतरे में डाल दिया, जिसके अनुसार "ऐसी भाषा को जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है, इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी, जिनकी संख्या देहली कालेज नें बड़ी है। इसे अच्छी नजर से नहीं देखेंगे।" इसी आधार पर संयुक्त प्रदेश के शिक्षा अधिकारी श्री एम० एस० हैवेल ने कहा—"यह अधिक अच्छा होता यदि हिन्दू बच्चों को उर्दू सिखायी जाती, न कि एक ऐसी बोली में विचार करने का अभ्यास कराया जाता, जिसे अन्त में एक दिन उर्दू के सामने झुकना पड़ेगा।"

ऐसी विरोधात्मक स्थिति में स्वामीजी ने हिन्दी प्रचार और प्रसार का बीड़ा उठाया? उन्होंने राजा-महाराजाओं को यह उपदेश दिया कि राजकुमारों के संस्कार वेदों के अनुसार करें। तथा पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रखकर देवनागरी और संस्कृत के सनातन आर्य ग्रंथ पढ़ायें। इसी की पूर्ति के लिए उन्होंने वेदों का हिन्दी में भाष्य किये। उनके इन्हीं कार्यों से प्रभावित होकर लाला लाजपतराय ने लिखा—"उत्तरी भारत की लोकभाषा हिन्दी में वेदों का अनुवाद अभूतपूर्व और उच्चतम साहस का कार्य था।" स्वामी जी ने भाषा के सरल और व्यवहृत रूप को अपनाया। खंडन-मंडन की शैली के कारण उनकी इस स्वाभाविक भाषा में व्यंग्य और वक्रता का सहज समावेश हो गया है। फिर भी पता नहीं क्यों उनके साहित्य को हिन्दी साहित्य में स्थान नहीं दिया गया, जब कि वास्तविकता यह है कि हिन्दी को प्रौढ़ और प्रबल बनाने में उनका पूर्ण योग है। एक सुधारक, सत्य प्रतिपादक और मानव हितैषी से इससे श्रेष्ठ भाषा की आशा भी नहीं

की जा सकती। समय और विषय के अनुसार उन्होंने तार्किक, इतिवृत्तात्मक, हास्य-व्यंगात्मक, आक्रामक शैली का प्रयोग किया।

समाज और धर्म की जिस देश में दयनीय स्थिति हो, वहां तो जागरूक लेखक का ध्यान सुधारों की ओर ही अधिक जायेगा। भाषा तो उसके लिए एक सम्प्रेषण की माध्यम मात्र ही रहेगी। भाषा का सुष्ठुरूप तो तभी सम्भव है, जब भाषा स्थिर होकर समान हो जाए। अतः स्वामीजी ने इस समय हिन्दी के लिए जो भी किया, वह आशा से अधिक है। खण्डन के लिए उन्होंने अन्योक्ति का सहारा लिया। उन्हें तो परिस्थितियों के अनुसार अपने विचार रखने थे, जो उन्होंने जन-भाषा में रख दिए। यही उनका क्रान्तिकारी कदम था। हिन्दी को सर्वव्यापी बनाने के लिए उन्होंने विभिन्न प्रकार के संगठन और संस्थाओं का निर्माण किया। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा (स्थापना ३१ अगस्त १९०९ ई०, दिल्ली में) के उद्देश्यों में हिन्दी को व्यापक बनाना भी प्रमुख उद्देश्य था। अतः इस संस्था ने पुस्तक प्रकाशन, समाचार पत्रों के प्रचलन द्वारा प्रत्यक्ष रूप से और सम्मेलन, आन्दोलन, महोत्सव एवं लघुपुस्तिकाओं द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी के प्रसार प्रचार का कार्य किया। 'आर्य प्रतिनिधि सभा' पंजाब के तत्त्वावधान में अनेक हिन्दी बौद्धिक लेखों को प्रकाशित कराया गया। इतना ही नहीं उर्दू बहुल इस प्रदेश में हिन्दी प्रचार के लिए हिन्दी पारिभाषिक शब्दावली भी बनायी गयी। इस सबका श्रेय डॉ० चिरंजीव भारद्वाज को है। इसके अतिरिक्त इसी सभा की स्थापना उत्तर प्रदेश (२९ दिसम्बर १८८६ ई०), राजस्थान व मालवा (१८८८ई०), बिहार (१८९९ ई०), मध्यप्रदेश व विदर्भ (२७ दिसम्बर १८९९ ई०), बम्बई (३० दिसम्बर १९०२ ई०), बंगाल व आसाम (१५ मार्च १९३० ई०), हैदराबाद (४ अप्रैल १९३१ ई०), सिन्ध (१९१९ ई०), पंजाब, सिन्ध, बिलोचिस्तान (१ जून १८८२ ई०) आदि स्थानों पर भी हुई। अजमेर में श्रीमती परोपकारिणी सभा (२७ फरवरी १८८३ ई०) और भारतवर्षीय आर्य कुमार परिषद् की स्थापना १९०९ ई० में हुई।

इसके साथ-साथ आर्य समाज ने शिक्षण-संस्थाओं द्वारा भी हिन्दी प्रचार कार्य किया। गुरुकुल संस्थाएं उनके ऐसे ही साधन थे जिनकी शिक्षा का मायध्म हिन्दी था। गुरुकुल कांगड़ी ने हिन्दी की चार प्रकार से सेवा की—स्नातकोत्तर अध्यापकों द्वारा साहित्य सृजन, अन्तर्गत संस्थाओं द्वारा हिन्दी कार्य, पुस्तक प्रकाशन एवं पत्र-पत्रिकाओं का प्रचलन। गुरुकुल वृन्दावन, गुरुकुल विद्यालय ज्वालापुर, श्रीमद् दयानन्द विद्यापीठ, दयानन्द एंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूल्स और कालिजेज, कन्या विद्यालय जालन्धर, कन्या गुरुकुल देहरादून, आर्य कन्या विद्यालय बड़ौदा, कन्या गुरुकुल सासनी (अलीगढ़) आदि संस्थाओं के लिए लाला देवराज ने हिन्दी में पाठ्य-पुस्तकें लिखीं। पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भी आर्य समाज ने हिन्दी का बहुत प्रचार किया। इनके पत्रों का प्रचार गांव-गांव में हुआ। अतः ग्रामीण जनता भी हिन्दी सीखने की ओर अग्रसर हुई। इनके पत्रों के प्रसार-प्रचार को देखकर श्री आर० आर० भटनागर ने लिखा है—उत्तर काल में हरिश्चन्द्र और उनके लेखकों की प्रतिभा और व्यक्तित्व के कारण हिन्दी पत्रकारिता अन्तिम रूप में स्थापित हुई। इन नेताओं द्वारा रचित हिन्दी साहित्य ने निन्दकों का मुख बन्द कर दिया। परन्तु उर्दू के मध्य में हिन्दी की नींव दृढ़ करने वाली इससे भी अधिक एक महत्त्वपूर्ण शक्ति थी। वह थी आर्य समाज। मासिक और अन्य समाचार पत्रों के प्रकाशन द्वारा प्रचार कार्य इसके मुख्य उद्देश्यों में था। आर्य समाज की दृढ़ राष्ट्रीय और वैदिक विचारधारा ने इसे हिन्दी का प्रभावशाली पृष्ठ पोषक बना।" आर्य समाज ने अनेक प्रमुख पत्रों को समय-समय पर निकालकर हिन्दी प्रचार में सहायता की। इनमें से कुछ पत्रिकाओं का तो मूल उद्देश्य ही देवनागरी लिपि और हिन्दी का प्रचार करना था। 'श्रद्धा' के सम्पादक ने अपने सम्पादकीय में घोषित किया—"मैं देवनागरी लिपि को संसार की सब लिपियों का स्रोत समझता हूं। इसलिए इस 'श्रद्धा के साप्ताहिक दूत को उसी लिपि द्वारा यात्रा पर भेजा करूंगा।"

आर्य समाज की सद्प्रेरणाओं से गद्य वास्तव में प्रौढ़ हुआ। गंगा महात्म्य, मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, श्राद्ध, वर्ण-व्यवस्था, बाल-विवाह खण्डन, विधवा-विवाह-मण्डन, ईश्वर की सत्ता, जीवात्मा, मृत्यु और परलोक, पुनर्जन्म, वर्ण-व्यवस्था, संस्कार, कल्याण-मार्ग का पथिक आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक कहानी और उपन्यासों की रचना विभिन्न आर्य समाजी विद्वानों ने की। इनके अतिरिक्त धर्म-प्रचार के लिए अनेक लघु-पुस्तिकाएं भी प्रकाशित हुई। इस क्षेत्र में आर्य प्रतिनिधि सभा और पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय ने स्तुत्य कार्य किये। 'तुम्हारी भाषा क्या है ?' नामक लघु पुस्तक में उपाध्याय जी ने हिन्दी भाषा के बारे में लिखा—"यदि समस्त भारत के हिन्दू एक स्वर से कहें कि हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है तो इनकी बहुत सी उलझनें दूर हो सकती हैं।···हम यह नहीं कहते कि अपने-अपने प्रान्त की भाषाओं की उन्नति न हो। हम कहते यही हैं कि राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपनाओ और एक स्वर से कह दो कि हमारी भाषा हिन्दी है।"

इस प्रकार आर्य समाज के अथक प्रयासों से ही हिन्दी आज की स्थिति में है। गद्य के क्षेत्र में ही नहीं पद्य के क्षेत्र में भी उन्होंने एक क्रांतिकारी कदम उठाया। काव्य में बुद्धितत्त्व को प्रमुखता देना इन्हीं का कार्य है। इन्हीं के प्रभाव से द्विवेदी युगीन कविता बुद्धिप्रधान दिखायी देती है। इनकी सबसे बड़ी देन हैं—लोक भाषा के भजनीकों की। यद्यपि इनका काव्य स्तर निम्न है तथापि उनमें जागृति पैदा करने की अपूर्व शक्ति है। ये आर्य समाजी भजनीक, बड़े उत्साही, कर्मशील और जीवट के व्यक्ति थे। विरोधों के बवन्डर से यह सदा टक्कर लेते रहते थे। जनभाषा में जन-छन्दों द्वारा जन-मानस तक अपने विचारों को पहुंचाना कितना सरल और हितकर हो सकता है। वे जानते थे। प्रेमचन्द के समान इन भजनीकों ने पहले समाज की दयनीय दशा का यथार्थ चित्रण किया। फिर उसके सुधार के उपाय बताये। अतः हम इनके इस चित्रण को सहज ही आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कह सकते हैं।

इन लोक कवियों के समान ही आर्य समाज में साहित्यिक कवियों का भी अभाव नहीं है। इनके भी विषय भजनीकों के समान सामाजिक और धार्मिक सुधार पर ही आधारित थे। इन विषयों के लिए मुक्तक रचनायें ही सफलता से की जा सकती थीं। अतः इनका ध्यान प्रबन्ध की ओर नहीं

गया। प्रबन्ध रचनाओं के अभाव का यह भी कारण है कि दयानन्द का जीवन चमत्कारिक घटनाओं से आवृत्त नहीं हो सका क्योंकि आर्य समाजी इन चमत्कारों के विरोधी थे और हैं। फिर भी कविराज जयगोपाल जी ने 'दयानन्द चरितामृत' रामायण के ढंग पर ब्रज भाषा में लिखी। ठाकुर गदाधरसिंह ने अवधी और ब्रजभाषा मिश्रित भाषा में दोहा-चौपाई शैली के माध्यम से 'दयानन्दायन' की रचना की इसी प्रकार 'सत्यार्थ प्रकाश' का 'सत्य सागर' नाम से पद्यानुवाद पं० गदाधरप्रसाद ने दोहा-चौपाई शैली में ही किया। मुक्तक रचनाओं में इन कवियों ने बहुत सफलता प्राप्त की है। इनमें सर्वाधिक सफलता नाथूराम शर्मा 'शंकर' को मिली। इनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं—अनुरागरत्न, शंकर सरोज और शंकर सर्वस्व। हिन्दी के प्रचार के लिए आर्य समाजी विद्वानों ने विभिन्न विषयों पर रचनाएं करके हिन्दी को हर प्रकार से उपकृत किया है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० मंगलदेव, डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल, पं० हरिशंकर शर्मा, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पं० पद्मसिंह शर्मा, डॉ० मुन्शीराम शर्मा' 'सोम', उन्हीं विद्वानों में से हैं।

आर्य समाज ने भारत के साथ-साथ विदेशों में भी हिन्दी का खुलकर प्रचार किया। इनके प्रचार के प्रमुख केन्द्र थे—दक्षिणी अफ्रीका, पूर्वी अफ्रीका, केनिया, युगाण्डा, तंजानिया, मोरिशस, फिजी, डच गायना, ब्रिटिश गायना, ट्रिनिडाड, लन्दन। हिन्दी प्रचार के लिए इन्होंने कहीं शैक्षणिक संस्थाएं खोलीं, कहीं आर्य समाज की स्थापना की, कहीं अनुवचन कराये, कहीं पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया। दक्षिणी अफ्रीका में हिन्दी प्रचार का प्रमुख कार्य भाई परमानन्द, स्वामी शंकरानन्द और भवानीदयाल ने किया।

इस प्रकार आर्य समाज ने हिन्दी के प्रत्येक रूप को प्रौढ़ किया। जहां हिन्दी साहित्य इन्हें पाकर धन्य हुआ, हिन्दी भाषा और नागरी लिपि भी धन्य-धन्य हो उठी है। यदि यह आन्दोलन इस समय न हुआ होता तो सम्भव था कि हिन्दू धर्म और हिन्दी गर्त में जा गिरती।

———

(पृष्ठ १२२ का शेष)

इससे बढ़कर स्वराज्य के महत्त्व सूचक वाक्य क्या हो सकते हैं?

सत्यार्थ प्रकाश के दशम समुल्लास में महर्षि ने लिखा है कि—

'जब स्वदेश में ही स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार व राज्य करें तो बिना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।'

'आर्याभिविनय' नामक प्रार्थना पुस्तक में भी महर्षि दयानन्द ने अनेक स्थानों पर इस प्रकार की प्रार्थनाएं लिखी हैं कि—

'अन्य देशीय राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।'

(पृ० २२४, रामलाल कपूर, सं० १९९४)

'ऋजुनीति नो वरुण' इस ऋग्वेद मन्त्र की व्याख्या में महर्षि ने आर्याभिविनय में लिखा है कि—

'हम पर सहाय करो जिससे सुनीतियुक्त होकर हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े।

राष्ट्रीय एकता के लिए एक राष्ट्र की आवश्यकता को अनुभव करते हुए महर्षि दयानन्द ने ही गत शताब्दी में न केवल मातृ भाषा गुजराती होते हुए भी आर्यभाषा (हिन्दी) में सत्यार्थ प्रकाशादि ग्रन्थ लिखे बल्कि हिन्दी को राष्ट्र भाषा की स्थिति दिलाने के लिए लाखों हस्ताक्षर कराने की योजना बनाई। राष्ट्र की साम्पत्तिक और शारीरिक अवस्था को उत्पन्न करने के लिए गोवध निषेध और गोपालन अत्यावश्यक है, यह जानकर उन्होंने न केवल 'गोकरुणानिधि' आदि पुस्तकें लिखी अपितु लाखों हस्ताक्षर कराकर महारानी विक्टोरिया के पास भिजवाने का यत्न किया। राष्ट्रीय एकता और सामाजिक उन्नति की दृष्टि से जाति भेद और अस्पृश्यता को अत्यन्त हानिकारक समझकर उन्होंने उनके विरुद्ध प्रबल आन्दोलन किया। बाल विवाह, विषम विवाह, पर्यावाधित वैधव्य, स्त्री शिक्षा का निषेध आदि कुरीतियों को राष्ट्रीय दृष्टि से भी अत्यन्त हानिकारक समझते हुए उन्होंने इनका प्रबल विरोध किया तथा इन्हें वेदादि सत्यशास्त्रों की शिक्षा के विरुद्ध बताया।

राष्ट्रीय महासभा के उस समय के अध्यक्ष स्व० श्रद्धेय राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी ने ७ अक्टूबर १९५० को आर्यसमाज चौक प्रयाग में ठीक कहा था कि—

'मैं स्वामी दयानन्द जी को साम्प्रदायिक नहीं मानता। मेरे विचार में वे महान् थे। उनका धर्म विस्तृत था। मैं उनको राजनैतिक पुरुष भी मानता हूं।'

ऐसे सर्वतोमुख आदर्श सुधारक और कर्मयोगी महर्षि दयानन्द का स्मरण सब आर्यों में नई स्फूर्ति और नवजीवन का संचार कर दे जिससे हम सच्चे आर्य बनकर संसार में आर्यत्व का प्रसार कर सकें। □

वेद और योग

श्री भगवदत्त वेदालंकार

महर्षि दयानन्द ने वेदों को आर्य समाज व आर्यजाति का प्राण बताया है। यदि आर्यों में वेदों का सही रूप में अध्ययन, अध्यापन व प्रचार नहीं होता है तो अन्य सब सुधार आदि के कार्य करते हुए भी आर्य समाज निष्प्राण व अस्थिपन्जर के समान है ऐसा हमें समझना चाहिये। अतः वेदों के वास्तविक स्वरूप को हृदयंगम करने तथा उनके सम्यक् अध्ययन आदि के लिए वेदांगादि, जिन साधनों का अवलम्बन किया जाता उनमें प्रमुखता योग दृष्टि व ऋषित्व की ही है। अब उपर्युक्त कथन को विस्तार से परिपुष्ट करते हैं।

वेदों का सूक्ष्म-धरातल—

यदि हम वेदान्तर्गत वर्णनीय विषयों पर सरसरी दृष्टि डालें तो हमें यह प्रतीत होता है कि वेद प्रमुख रूप से सूक्ष्म धरातल पर आसीन है अर्थात् वेदों का असली वर्णनीय विषय सूक्ष्मशक्तियां व सूक्ष्मजगत है। स्थूलजगत् का वर्णन करना उनका वास्तविक क्षेत्र नहीं है। क्योंकि वेदों के देवता सूत्रात्मा हैं, सूक्ष्म रूप हैं: जिस प्रकार एक सूत्र अनेक मनकों में पिरोया होता है उसी प्रकार ये देवता भी अनेकों वस्तुओं में पिरोये हुए हैं, उनमें ओत-प्रोत हैं। यदि देवता स्थूलजगत् व स्थूल आकृति से ही सीमित बद्ध व गृहीत होते तो एकार्थक एक वस्तु नियतार्थक होते। क्षेत्र भेद व अनेकार्थता उनकी न होती परन्तु ऐसा नहीं है। अनेक आयतनों में वे समाविष्ट हैं अनेक वस्तुओं के वे वाचक हैं। उदाहरण के तौर पर वेद के उन देवताओं पर दृष्टिपात किया जा सकता है जिनमें वेद का बहुत सा भाग समाविष्ट हो जाता है। इनमें कुछ इस प्रकार हैं—

अग्नि—भूलोक, वीर्य, वाक्, प्राण, मन, आत्मा, पुरुष, ब्रह्म, पर्जन्य, आदित्य तथा समग्र देवता आदि।

इन्द्र—अन्तरिक्ष लोक, वीर्य, वाक्, प्राण, मन, हृदय, आत्मा, सत्र, सूर्य, स्तनयित्नु, व समग्र देवता आदि।

सोम—चन्द्रमा, अन्न, रस, प्राण, क्षत्र, रेतस्, तथा समग्र देवता आदि।

इसी प्रकार विष्णु, रुद्र, वरुण, अश्विनों, मित्रावरुणों आदि देवताओं का अनेक वस्तुओं में व्यापकत्व देखा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वेद के ये सब देवता सूत्र रूप हैं। सूक्ष्म शक्तियाँ हैं। स्थूल जगत् की स्थूल आकृतियाँ उनके आयतन अवश्य हैं पर वे देवता उन्हीं आकृतियों में बद्ध नहीं हैं। ये स्थूल आकृतियां सूक्ष्म शक्तियों के वर्णन में सहायक के तौर पर ही वर्णित हुई हैं। वेदों में सर्वसत्य विद्याएँ हैं, समग्र ब्रह्माण्ड का ज्ञान वेदों में निहित है—इस मान्यता की सत्यता भी तभी चरितार्थ हो सकती है जबकि हम वेदों का सम्बन्ध सूक्ष्मजगत् से स्वीकार करें।

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि वेदों व वेदान्तर्गत देवताओं का सम्यक् ज्ञान हमें किस साधन से हो सकता है। इसमें भौतिक विज्ञान हमारा पूर्ण रूपेण सहायक नहीं हो सकता क्योंकि उसकी भी एक सीमा है। इसमें वेदाङ्ग भी साधन होते हैं पर सर्वोत्कृष्ट साधन तो योग ही है जिसका अवलम्बन करने से हमें वेदवर्णित सूक्ष्म जगत् व सूक्ष्म शक्तियों का तथा भगवान् का ज्ञान सुगमता से हो सकता है। योगसाधन द्वारा उत्पन्न दिव्य दृष्टि परम सहायक है। इसी तथ्य को वेद में 'यस्तन्न वेद किम् चाकरिष्यंति' मन्त्र द्वारा परिपुष्ट किया गया है।

हमें सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्रह्म व ब्रह्माण्ड का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये बाह्य ब्रह्माण्ड में जाना सर्वोत्तम व पूर्ण साधन नहीं है, इसके लिये उपयुक्त साधन तो पिण्ड में प्रवेश करना है। क्योंकि प्राचीन काल से शास्त्रकारों की यह मान्यता रही है कि 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' अर्थात् जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में है। अथर्ववेद में आता है कि—

गृह कृत्वा मर्त्य देवाः पुरुषमविशन् । अथर्व ११।८।१८
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते । १।८।३२

अर्थात् अग्नि, इन्द्र, वायु, तथा सोम आदि सब देवता तथा वृत्रवलादि समग्र आसुरी शक्तियां पशु, पक्षी कृमिकीट आदि सभी प्राणी अपने-अपने गुणधर्मों, कर्मों व शक्तियों के रूप में मानव पिण्ड में विराजमान हैं और सब जगत् का कर्ता, धर्ता और हर्ता भगवान् भी मानव शरीर में विद्यमान हैं। अतः इन सबकी उपलब्धि के लिये मनुष्य को चाहिए कि वह अपने अन्तःगुहाओं को उद्घाटित करे और वहां प्रच्छन्न रूप में प्रमुख शक्तियों को उद्बुद्ध करे, शैशवावस्था में आयी शक्तियों को यौवन में तथा पूर्णता में परिणत करे। इस सबका एकमात्र प्रमुख साधन योग ही है।

वेदों में योग साधनों का पग-पग पर वर्णन हुआ है। क्योंकि मनुष्य भिन्न-भिन्न रूचि भिन्न-भिन्न शक्ति व योग्यता वाले होते हैं, किसी में अग्नितत्व प्रधान होता है तो किसी में सोमतत्व। किसी पर इन्द्र देवता की कृपा है तो वह परम ऐश्वर्य सम्पन्न बनकर सब पर स्वामित्व करता है। कोई वारुणी शक्ति वाला है तो किसी में मित्र देवता के कारण मैत्री-भावना प्रबल होती है। इस प्रकार संसार में मनुष्यों के नाना रूप हैं। अतः सबके लिये एक ही योग साधन उपयुक्त नहीं हो सकता। किसी को कोई साधन सद्यः सिद्धि प्रदान करने वाला हो सकता है तो किसी अन्य को दूसरा ही कोई साधन अनुकूल हो सकता है। अग्नि व सोम आदि भिन्न-भिन्न देव शक्तियों से सम्पन्न व्यक्तियों के लिए आवश्यक है कि वे अपनी रुचि, शक्ति व योग्यता के आधार पर ही स्वानुकूल देवशक्ति की आराधना किया करें। ये देवता भगवान् की ही विविध शक्तियाँ व उसके विविध रूप है।

मानव समाज में उपर्युक्त वैविध्य होते हुए भी हम सब मनुष्यों को दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। एक आग्नेय पुरुष है तो दूसरे सौम्य पुरुष। श० प० १।६।३।२३ में आता है कि "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। आर्द्र चैव शुष्कं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्र तत् सोम्यम्"

अर्थात् इस संसार में दो ही तत्त्व हैं तीसरा नहीं। इनमें एक आर्द्र है और दूसरा शुष्क। जो शुष्क है वह आग्नेय है और जो आर्द्र है वह सौम्य है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण संसार अग्निसोमात्मक है। इससे यह स्पष्ट है कि संसार की प्रत्येक वस्तु को अग्नि और सोम इन दो तत्त्वों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें भेद केवल इतना होता है कि किसी वस्तु का स्वरूप अग्नि है तो सोम उसका सहायक है और किसी वस्तु का स्वरूप सोम है तो अग्नि उसका सहायक है। इस दृष्टि से हम मनुष्यों को भी दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। अतः योग साधना करने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि वह स्वयं आग्नेय अर्थात् अग्नितत्त्व प्रधान है अथवा सौम्य है, मृदु, शान्त वह अनुद्विग्न व्यक्ति है। इस तथ्य के निर्णीत हो जाने पर ध्यान आदि योगाभ्यास में प्रवृत्त होवे।

आग्नेय पुरुषों का ध्यान का क्षेत्र—

आग्नेय पुरुषों का ध्यान का स्वाभाविक क्षत्र ऊर्ध्व में है क्योंकि अग्नि का गुण धर्म ऊर्ध्व को जाना है। अग्नि को ऐहिदश्वः ऋ० ७।४५।२ कहते हैं अर्थात् जिसके अश्व ऊर्ध्व की ओर रोहण करने वाले होते हैं। ऊर्ध्व गति रोहण की द्योतक है। ये सब वृक्ष वनस्पतियां आदि अंकुरित होते ही भौतिक अग्नि के प्रभाव से ऊर्ध्व की ओर प्रयाण करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के मन में जो अग्नि प्रदीप्त होती है वह मनुष्य को ऊर्ध्व की ओर प्रेरित करती है।

गायत्री छन्द आग्नेय छन्द है। कहा भी है 'अग्निर्वै गायत्री' श० प० ३।४।१।१६ 'गायत्रीरन्वाह गायत्रे वा अग्ने प्रछन्दः' श० प० १।३।५।४ गायत्री छन्द से छन्दित मन्त्र द्वारा स्तुति, प्रार्थना, उपासना व जप आदि आग्नेय पुरुषों को सद्यः फल प्रदाता है। क्योंकि गायत्री छन्द अग्नि छन्द होने से उत्पन्न होते ही ऊर्ध्व की ओर प्रयाण करने की प्रेरणा देता है। उदाहरणार्थ—प्रसिद्ध गायत्री छन्द में महात्मा ऋषियों का योग इसी तथ्य को दर्शा रहा है।

स्वः	द्यु	सिर
↑	↑	↑
भुवः	अन्तरिक्ष	हृदय
↑	↑	↑
भूः	पृथिवी	उदर

यह ऊर्ध्वारोहण अत्यन्त आवश्यक है इसके बिना गायत्री का जाप सफल नहीं होगा। क्योंकि सविता का लोक ऊर्ध्वतम लोक माना जाता है। कहा भी है, 'विश्वस्यहि देव ऊर्ध्वः ऋ० २।३८।२ अर्थात् यह सविता देव विश्व के ऊर्ध्व में स्थित है सौर मण्डल का यह सूर्य सविता का प्रतिनिधि है। गायत्री द्वारा इस सूर्य रूपी सविता का भी हम ध्यान कर सकते हैं। गायत्री जप से पूर्व महाव्याहृतियों द्वारा सूर्य के समानान्तर पहुंचकर जप करना चाहिये। और वह चित्त के द्वारा पहुंचा जा सकता है। कहा भी है "दिवस्पृष्ठमधितिष्ठन्ति चेत सा" ऋ० ९।८३।२ अर्थात् चित्त द्वारा द्युलोक के पृष्ठ पर जा पहुंचते हैं। इस प्रकार चित्त अर्थात् हृदय-स्थली से द्युलोक तक चेतना का एक ही स्तर बन जाता है। एक ही प्रवाह सतत रूप से प्रवाहित रहता है। ऊर्ध्व में द्युलोक पृष्ठ पर पहुंचकर ध्यान करना सिद्धि में बहुत सहायक है। कारण यह है कि नीचे के लोक में नीचे स्तर पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि क्षुद्र प्राण वृत्तियों का प्रवाह बहता रहता है। वह मनुष्य के मन को चञ्चल बनाकर विकृत कर देता है। इस अवस्था में ध्यान नहीं लग पाता। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गायत्री द्वारा जप व ध्यान आदि आग्नेय पुरुषों के लिये स्वाभाविक है। सरल है। अतः इन्हें सदा हृदय से चलकर भू, मध्य, मस्तिष्क व मस्तिष्क के ऊर्ध्व में द्युलोक में स्थित हो ध्यान करना चाहिये।

(शेष पृष्ठ १२९ पर)

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

• विद्याभास्कर श्री प्रेमचन्द शास्त्री

आर्य समाज की नींव को दृढ़ करने और उसे पुष्पित एवं पल्लवित करने वालों में स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती का नाम अग्रिम स्थान पर लिया जाता है। स्वामी जी अपनी धुन के पक्के थे, जिस काम में लगते, उसमें रात-दिन एक कर देते थे। आपने आर्यसमाज के प्रचार में अपनी सारी आयु व्यतीत की।

आपकी तर्कशक्ति बड़ी प्रबल थी। आपने काशी के पं० हरिनाथ जी से दर्शनों का अध्ययन किया। दर्शनों के अध्ययन और मनन तथा दर्शनों की युक्ति देने में आपको आनन्द का अनुभव होता था अतः आपने अपना नाम भी दर्शनानन्द रखा। संन्यास से पूर्व आपका नाम पं० कृपाराम था।

महर्षि दयानन्द का प्रभाव

विरक्त होकर आपने गृहत्याग किया और जम्मू-कश्मीर की दुर्गम घाटियों में भ्रमण करते रहे। उन दिनों आप पर नवीन वेदान्त का भूत सवार था और ऋषि दयानन्द नवीन वेदान्त का खण्डन किया करते थे। आपने ऋषि दयानन्द से इस विषय पर शास्त्रार्थ करने का विचार किया, किन्तु अवसर नहीं मिला। स्वामी दयानन्द द्वारा नवीन वेदान्त की आलोचना सुनकर इनके मन से नवीन वेदान्त का नशा काफूर हो गया। आप स्वामी दयानन्द से प्रभावित हुए और आपने उनके ३७ व्याख्यान सुने और ३७ वर्ष तक ही आर्यसमाज का काम किया।

निर्धन छात्रों की सहायता

आप निर्धन छात्रों की सहायता करते थे। उन दिनों संस्कृत के ग्रन्थ अधिक मूल्य में बिकते थे जिन्हें निर्धन छात्र खरीद नहीं पाते थे। इन निर्धन छात्रों का कष्ट निवारण करने के लिये आपने काशी में अपना प्रेस लगाया और उसमें संस्कृत के महाभाष्य जैसे ग्रन्थ छापकर निर्धन छात्रों को लागत से भी कम मूल्य पर देते थे। छात्रों के लिये आपने काशी में एक सदावर्त (भोजनादि देने की संस्था) भी स्थापित किया था।

प्रचार और शास्त्रार्थ

संन्यास-ग्रहण के पश्चात् तो आपने पंजाब और उत्तरप्रदेश में आर्य-समाज के प्रचार की धूम ही मचा दी। आपने व्याख्यान, शास्त्रार्थ, शंका-समाधान और ट्रैक्ट लिख-लिखकर आर्यसमाज की जो सेवा की है वह अपने आप में एक अनोखी और बड़ी घटना है।

आपके तर्क और प्रमाण तथा युक्तियां अकाट्य होती थीं। इसलिये शास्त्रार्थ-जगत् में आप तार्किक शिरोमणि की उपाधि से विभूषित थे।

काशी में पं० शिवकुमार शास्त्री महामहोपाध्याय विद्वानों में सर्वोपरि समझे जाते थे। एक बार आपका उनसे शास्त्रार्थ हुआ और उन्हें स्वामीजी ने वह पछाड़ दी कि काशी का सारा विद्वत्समाज देखता ही रहा।

आगरे में मौलवी अब्दुल फरह और मौलवी अब्दुल हमीद पानीपती से "वेद तथा कुरान में से कौन-सी पुस्तक इलहामी है" विषय पर यूरोपीय सज्जन श्री जेसफारनेन की मध्यस्थता में शास्त्रार्थ हुआ। इसमें भी विजय का सेहरा आपके ही सिर बंधा।

प्रसिद्ध ईसाई पादरी ज्वालासिंह से भी आपका शास्त्रार्थ हुआ और पादरी साहब अपना-सा मुंह लेकर गये।

आगरा में एक प्रसिद्ध शास्त्रार्थ आपका पं० भीमसेन शर्मा (इटावा निवासी) से हुआ, जिसकी धूम समस्त सनातन धर्म-समाज में मची। पं० भीमसेन को मुंह की खानी पड़ी।

स्वामी जी का सर्वाधिक प्रसिद्ध शास्त्रार्थ "स्थावर वृक्षों में जीव" विषय पर ८ अप्रैल सन् १९१२ को गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के वार्षिकोत्सव पर आर्यसमाज के ही एक-दूसरे दिग्गज विद्वान पं० गणपति शर्मा से हुआ। उसमें आपकी तर्कशक्ति का उपस्थित जनता पर अमिट प्रभाव पड़ा।

स्वामी जी ने इतने ही नहीं सैंकड़ों शास्त्रार्थों में विजय-वैजयन्ती फह-राई जिन पर एक बृहद् ग्रन्थ लिखा जा सकता है।

आपने अनेक साप्ताहिक और मासिक पत्रों का संचालन और सम्पादन किया। आप प्रसिद्ध पत्रकार बने और पत्रकारिता-जगत् में भी आपकी बड़ी ख्याति हुई।

गुरुकुलों की स्थापना

पुरातन शिक्षा-प्रणाली के उद्धारार्थ स्वामी दर्शनानन्दजी सदा प्रयत्न-

शील रहे। आपने सिकन्दराबाद, बदायूँ, बिरालसी, चोहाभक्तान और गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर आदि अनेक गुरुकुलों की स्थापना की। गुरुकुल-प्रणाली के प्रचारक के रूप में स्वामी दर्शनानन्द जी चिरस्मरणीय रहे थे।

स्वामी जी द्वारा स्थापित गुरुकुलों में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर है जो वर्तमान काल में उन्नति के शिखर पर है और उसमें आजकल ४०० के लगभग छात्र संस्कृत, व्याकरण, वेदवेदांग, आयुर्वेद तथा अंग्रेजी के माध्यम से विद्या में पारंगत हो रहे हैं। इस गुरुकुल ने आर्यजगत् को सहस्रों विद्वान, लेखक, पत्रकार, व्याख्याता, चिकित्सक और शास्त्रार्थ महारथी दिये हैं।

यह वह गुरुकुल है जिसमें आचार्य पं० गंगादत्त शास्त्री, पं० भीमसेन शर्मा (आगरा), पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० दिलीपदत्त उपाध्याय, आचार्य नरदेव शास्त्री तथा आचार्य हरिदत्त शास्त्री जैसे उद्‌भट विद्वानों ने अध्यापन कार्य किया है।

ट्रैक्ट

ट्रैक्ट तो आप १ घण्टे में लिखकर तैयार कर देते थे। इनके लिखे ट्रैक्टों की ठीक-ठीक संख्या ज्ञात नहीं है। पं० नरदेव शास्त्री द्वारा लिखित स्वामी जी के जीवन चरित्र में इनके ट्रैक्टों की संख्या २५० अनुमानित की गई है। इनके ट्रैक्टों का संग्रह 'दर्शनानन्द ग्रन्थ संग्रह' के नाम से अनेक प्रकार शब्दों में प्रकाशित किया है।

स्वामी जी के ट्रैक्टों में विषय का प्रतिपादन शास्त्रीय प्रमाणों और अकाट्य युक्तियों के द्वारा इतने अच्छे प्रकार से हुआ है कि उनसे बड़े-बड़े विद्वान भी बहुत कुछ सीखते हैं। आर्यजगत् के बड़े-बड़े शास्त्रार्थ महारथी—जिनमें पं० रामचन्द्र जी देहलवी, पं० शान्ति स्वरूप जी, श्री अमर स्वामी जी गाजियाबाद, पं० बिहारीलाल शास्त्री तथा गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के स्नातक पं० ओमप्रकाश शास्त्री के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। स्वामी जी के ट्रैक्टों से ही शास्त्रार्थ की कला सीख पाये हैं। इन ट्रैक्टों की कृपा से ही उन्होंने शास्त्रार्थ-समरों में अपनी विजय-दुन्दुभी बजाई।

स्वामी जी एक वीतराग संन्यासी थे। भोगवादी और दृढ़ ईश्वर विश्वासी। आपके ईश्वर-विश्वास तथा भोगवाद के सम्बन्ध में अनेक घटनायें प्रसिद्ध हैं।

स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज ने आर्य समाज को जो जीवन दिया है वह सदा-सदा स्मरणीय रहेगा।

× × ×

(पृष्ठ १२७ का शेष)

सौम्य पुरुषों का ध्यान क्षेत्र—

सौम्य पुरुषों की ध्यान की स्थली स्वाभाविक रूप में हृदय व नाभि है। क्योंकि सोम रस रूप होता है अतः इसकी स्वाभाविक गति ऊर्ध्व से नीचे की ओर होती है। सौम्य पुरुषों को ध्यान करने के लिये द्युलोक व मस्तिष्क से हृदय की ओर अवतरण करना चाहिये और हृदय में स्थित हो ध्यान करना चाहिये।

यह सोम द्युलोक का अमृत तत्त्व है।

दिवः पीयूषमुत्तमं सोमं। ऋ० ९।५१।२

दिवि सोमो अधिश्रितः। अथर्व० १४।१।१

यह सोम रूपी अमृत द्युलोक से पृथिवी पर धारा, ऊर्मि व वृष्टि रूप में आता है। (ऋ० ९।८।८, ५६।१,६५।३) पिण्ड में द्युलोक मस्तिष्क है तथा मन से नीचे का क्षेत्र पृथिवी है। अतः सोम प्रधान पुरुषों को ध्यान के समय मस्तिष्क से नीचे की ओर अवतरण करना चाहिये। इसी तथ्य को मन्त्र में निम्न शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है।

त्वं धिमं मनोयुजं सृजा वृष्टिं तन्यतुः।

त्वं व सूनि पार्थिवा दिव्या सोम पुष्यसि। ऋ० ९।१०।३

विस्तार वाली, वेगवती तथा गर्जन करने वाली विद्युत् जिस प्रकार द्युलोक से वृष्टि का सृजन करती है उसी प्रकार हे सोम : तू मस्तिष्कस्थली को नीचे मन से मुक्त कर। हे सोम ! तू दिव्य तथा पार्थिव (मस्तिष्क व मन सम्बन्धी) वस्तुओं को परिपुष्ट करता है। जब एक भोगी साधना द्वारा द्युलोक से मस्तिष्क में तथा मस्तिष्क से हृदय में सोम का अवतरण कर लेता है तब अगाध शान्ति व आनन्द का समुद्र हिलोरें लेने लगता है।

बृहद् गांभीरं तव सोम धाम।

हे सोम ! तेरा हृदय रूपी धाम बहुत गम्भीर है।

हृदिस्पृशस्त आसते विश्वेषु सोम धाम सु। ऋ० ८।२५।२

हे सोम ! तेरे सब धर्मों में वे व्यक्ति विराजमान होते हैं जो हृदय का स्पर्श करने वाले होते हैं अर्थात् हृदय की गहराई में बैठते हैं।

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्। ऋ० ८।२५।१

हे सोम ! तू हमारे मन को भद्रता की ओर प्रेरित कर दक्षता तथा व्रत (संकल्प) वाला बना।

इस प्रकार सोम का सम्बन्ध प्रमुख रूप से हृदय व मन से है। अतः सोम तत्त्व से युक्त व्यक्तियों का ध्यान का स्वाभाविक स्थान हृदय व मन होता है।

अन्त में यही कहना है कि वेदों में प्रमुख रूप से सूक्ष्म शक्तियां अर्थात् सूक्ष्म जगत् का वर्णन है अतः उनको समझने के लिए सूक्ष्म दृष्टि अर्थात् ऋषि दृष्टि की आवश्यकता है और वह सूक्ष्म दृष्टि योग द्वारा ही उपलब्ध हो सकती है। □

महर्षि दयानन्द व आर्यसमाज का भारतीय स्वाधीनता संग्राम को योगदान

• श्री राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

'महर्षि दयानन्द व आर्यसमाज का भारतीय स्वाधीनता संग्राम को योगदान' एक व्यापक विषय है। इन पंक्तियों के लेखक ने इस विषय पर समय-२ पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। अपनी स्वल्प योग्यता सामर्थ्य एवं साधनों से जितना भी सम्भव था हमने गत १४ वर्ष इस विषय के अनुसंधान में लगाए हैं। १९६५ ई० में आर्यसमाज शोलापुर (महाराष्ट्र) ने इसी विषय पर हमारी एक पुस्तिका छपवाई। इतिहास की दृष्टि से यह अपने विषय का पहली पुस्तिका थी। हमारे माननीय भाई आचार्य सत्यप्रिय जी शास्त्री ने बड़े परिश्रम से इस विषय पर एक बड़ी उपयोगी पुस्तक निकाली।

अब भी संक्षेप में इस विषय के विभिन्न पहलुओं पर हम प्रकाश डालते हैं। सुविज्ञ पाठक निश्चय ही इससे लाभान्वित होंगे।

महर्षि दयानन्द राजनीतिज्ञ (Politician) नहीं थे। वह विचारक, सुधारक, युग दृष्टा ऋषि थे। महर्षि ने कोई राजनैतिक आन्दोलन नहीं चलाया। न ही कोई राजनैतिक संस्था स्थापित की। महर्षि के जीवन काल में इल्बर्ट बिल (Ilbert bill) पर देश भर में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। १८५७ ई० की क्रान्ति के पश्चात् इस बिल के कारण प्रथम बार राजनैतिक वातावरण में उफान आया। महर्षि के ग्रन्थों और पत्र व्यवहार के अवलोकन से सुविदित होता है कि उन्होंने इस वादविवाद में कोई रुचि नहीं ली। प्रत्यक्ष व परोक्ष से उन्होंने इस विषय में अपना कोई मत नहीं दिया।

महर्षि दयानन्द ने अपनी वाणी व लेखनी द्वारा देशवासियों के स्वाभिमान को जगाया। राष्ट्रीय चेतना का सञ्चार किया। उनकी वाणी व लेखनी में ओज था। अपने देश से वह जी-जान से प्यार करते थे। वह निर्भीक थे। डंके की चोट से सत्य बात कहते थे। देशहित की बात कहते हुए वह कभी भी अन्यायी शासकों से भयभीत नहीं हुए। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में देशवासियों को स्वराज्य-प्राप्ति के लिए प्रेरित किया। उनके सद्-ग्रन्थों में यत्र-तत्र सर्वत्र ऐसे विचार मिलते हैं। इस विषय में दो मत नहीं कि भारतीयों को स्वराज्य की घुट्टी घोटकर पिलाने वाले सबसे पहले युग पुरुष वही थे। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के इतिहासकार श्री यदुनाथ सरकार ने बड़े सुन्दर व सजीव शब्दों में इस तथ्य को स्वीकार किया है।[1]

महर्षि ने अपनी एक प्रार्थना में लिखा है:—

"हे कृपासिन्धो भगवन् ! ·· हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े।[2]"

महर्षि ने कांग्रेस के जन्म से भी बहुत पहले लिखा था:—

"किसी गोरे ने काले को मार दिया हो तो भी बहुधा पक्षपात से निरापराधी कहकर छोड़ दिया जाता है।"[3]

महर्षि ने सत्यार्थप्रकाशः में ईसाई मत की समालोचना करते हुए लिखा है:-–"वाह ! तभी तो ईसाई लोग परदेशियों के माल पर ऐसे झुकते हैं कि जानो प्यासा जल पर, भूखा अन्न पर,···।"[4]

ऋषि के यह वाक्य इस बात का ज्वलन्त प्रमाण हैं कि भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम से बहुत पहले उन्होंने अंग्रेज़ जाति के न्याय के ढोल की पोल खोली। अंग्रेज की Judiciary एक छल Fraud मात्र था। यह कहने का साहस करने वाली वह पहली विभूति थे। ईसाई मत की दार्शनिक

---

1. द्रष्टव्य Dayanand Commemoration Volume, page 9:
2. द्रष्टव्य आर्याभिविनय पृ० ६२ रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित नवम संस्करण
3. द्रष्टव्य सत्यार्थ प्रकाश: त्रयोदश समुल्लास
4. द्रष्टव्य सत्यार्थ प्रकाश: त्रयोदश समुल्लास

समालोचना करते हुए भी महर्षि ने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि परदेशियों के माल पर भूखे व प्यासे के समान झपटते हैं।

महर्षि कर्मफल के अटल सिद्धान्त के प्रबल पोषक व प्रचारक थे। आपने लिखा है कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र तथा फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था के पराधीन है। कर्त्ता है ही वही जो स्वतन्त्र हो। और वैसे भी आपने जीव की पृथक स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। वह जीव को न तो ब्रह्म का अंश मानते हैं और न ही प्रकृति से उत्पन्न हुआ पदार्थ। विश्व में मानवों की स्वतन्त्रता की दुहाई तो बहुत विचारकों ने दी है परन्तु जिसके लिए स्वतन्त्रता की मांग की जाती है उसकी कोई सत्ता भी है? महर्षि दयानन्द ने जीव की स्वतन्त्र सत्ता का सिद्धान्त रखा और साथ ही कर्म करने में उसकी स्वतन्त्रता की मान्यता विश्व के सामने रखी।

उनका स्वतन्त्रता अथवा स्वराज्य का प्रेम उनकी इन दार्शनिक मान्यताओं की दृढ़ नींव पर टिका हुआ था।

डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने ऋषि के बारे में ठीक ही लिखा है:—

He was an actionist not a mere speculative thinker."[1]

अर्थात् वह कर्मण्यता की मूर्ति थे, कोरे विचारक न थे। पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय जी के पौत्र डा० विमलेश ने भी एक स्थान पर लिखा है:—He has given us a bold philosophy of the reality of God, reality of man and the realities of the universe in which man has to work. His is a philosophy of bold action and not of Idle musings."

अर्थात् स्वामी दयानन्द का दर्शन वीरोचित दर्शन है निरर्थक चिन्तन का नहीं।

महर्षि के सत्यार्थप्रकाश में मनुष्य की परिभाषा करते हुए भारतीयों में चेतना की चिनगारी सुलगा दी। "मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे।

...इस काम में चाहे कितना भी दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही चले जावें परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक कभी न होवें।"[2]

इन वाक्यों पर टिप्पणी करते हुए डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा ने ठीक ही लिखा है:—

This heroic conception of manhood is, indirectly, the preperation for the advocacy of resistance to social and political evil."[3]

मनुष्यपन की यह पौरुषपूर्ण व्याख्या परोक्ष-रूप से सामाजिक तथा राजनैतिक बुराई से लड़ाई की तैयारी है।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास से सुपरिचित व्यक्ति जानते हैं कि Valentine chirole हमारे देश के स्वतन्त्रता संग्राम का घोर शत्रु

1. Modern Indian political thoughts, P. 34
2. द्रष्टव्य सत्यार्थप्रकाश: में स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश:
3. Modern Indian political thoughts, page 36

था। उसने अपनी एक पुस्तक में ऋषि के बारे में लिखा है कि उसकी भावना थी:—" I am born to command and not to obey"[1]

अर्थात् मैं दास बनने के लिए नहीं जन्मा। स्वशासन के लिए जन्म लिया हूं। यह स्मरणीय तथ्य है कि अंग्रेज राजनीतिज्ञ Campbell Bannerman से बहुत वर्ष पूर्व महर्षि ने उद्घोष किया था कि सुशासन कदापि स्वशासन का स्थानापन्न नहीं हो सकता।

महर्षि के इन विचारों से अनुप्राणित आर्य समाजी लोग स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय होकर भाग लेने लगे। आर्यों ने प्रत्येक उस कार्यक्रम में भाग लिया——जो राष्ट्रीय मुक्ति के लिए आरम्भ किया गया। जो आर्य समाजी प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में नहीं गये उन्होंने भी देश के स्वाधीनता संग्राम रूपी यज्ञ में अपने सहयोग की आहुति दी। आर्यसमाज तो सदैव सामूहिक रूप में राजनीति से दूर रहा परन्तु व्यक्तिगत रूप से आर्य समाजी लोग पूरे धार्मिक जोश से देश को मुक्त करवाने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन में कूदे।

इससे पूर्व कि इतिहास के क्रम से आर्यों के स्वाधीनता संग्राम को योगदान की चर्चा आरम्भ की जाए एक और उल्लेखनीय तथ्य पाठकों के सम्मुख रखना आवश्यक समझता हूं। आर्यसमाज के पुराने भजनोपदेशकों ने आर्य समाज के संगठन को विराट रूप देने में तो अविस्मरणीय सेवा की ही है, जन साधारण में राष्ट्रीय चेतना के सञ्चार में इन दिलजलों का कम योगदान नहीं। इन लोगों ने भक्ति रस के तो गीत गाए ही। समाज सुधार की चर्चा तो वे करते ही थे। राष्ट्रीय स्वाभिमान के ओजस्वी गीत गा-गाकर इन दीवानों ने जो भूमिका निभाई है इसकी चर्चा सम्भवतः कोई लेखनी पूरी तरह कभी भी न कर सकेगी।

जब आर्य गायक प्रभु प्रेम की मस्ती में झूमता हुआ यह गाता था—

हे प्रेममय प्रभु तुम्हीं सबके आधार हो।
तुमको परम पिता प्रणाम बार बार हो॥

तो वह सहज ही अपने देश की दीनता पर विह्वल होकर गर्जना करने लगता था:—

स्वाधीनता के मन्त्र का जप हम सदा करें।
सेवा में मातृ भूमि के तन मन निसार हो॥

एक और भक्ति गीत में यह तान सुनने को मिलती रही:—

भारत जननी की सेवा का,
व्रत भारी व्रत नाथ धरें हम।
माता का दुःख हरने के हित,
न्योछावर निज प्राण करें हम॥

स्वर्गीय पं० इन्द्रजी का एक गीत तो देश की दशों दिशाओं में गूंज उठा। डा० सुधाकर शंकर कलवडे ने लिखा है कि वन्देमातरम् के समान ही कांग्रेस आन्दोलन में इस गीत ने कीर्ति अर्जित की:—

"हे मातृ भूमि तेरे चरणों में सिर को नमाऊँ,
मैं भक्ति भेंट अपनी तेरी शरण में लाऊँ।

1. India, page 94

माथे पै तू हो चन्दन, छाती पै तू हो माला,
जिह्वा पै गीत तू हो, मैं तेरा नाम गाऊँ।।"[1]

पं० बुद्धदेव विद्यालंकार ने भी भाव विभोर होकर एक भजन में लिखा :—

तन मन धन सुख सब बिसरावें जन्म भूमि सुख सजै हमारी।
दुःख हो सुख हो तुझे न भूलें, तू वत्सल भक्तन भयहारी।।

एक गीत में वागीश्वरजी ने लिखा :—

मातृ भूमि सुख सम्पत्ति साजे, विनति यही कर जोर—

कविरत्न 'प्रकाश' तथा कुंवर सुखलाल के बारे में तो सभी जानते ही हैं कि इन दोनों ने देश की स्वाधीनता के लिए कारागार के कठोर कष्ट भी सहे। दोनों देश के लिए अपनी रचनाओं में आग का राग गाते रहे। कुंवर सुखलालजी के एक प्रसिद्ध उर्दू गीत का पद है :—'मज़ा इनको आता है पामालियों में।' अर्थात् भक्ति गीत में अंग्रेजी शासन के अत्याचारों पर कवि रक्त रोदन करता है।

यहां एक बात और स्मरणीय है कि आर्यसमाज के आदि गायक भक्तराज अमींचन्द ने ऋषि पर एक प्रसिद्ध भजन लिखा :—

'दयानन्द देश हितकारी तेरी हिम्मत पै बलिहारी।'

गीत के पहले ही पद में देश हित का संस्कार विचार आर्यों को दिया गया।

उस युग में आर्य समाजी गायक देश वासियों को झंझोड़-झंझोड़कर कहता था :—

कभी हम बुलन्द इकबाल थे तुम्हें याद हो कि न याद हो।'

स्वाधीनता संग्राम के वीर सैनिक चन्द्र कवि का गीत गाकर आर्य कवि देश की दुर्दशा का चित्र इस प्रकार खींचा करते थे :—

चन्द्र सूनी हो गई सारी पहाड़ी खोखरें,
ले उड़ा यह आसमां सब उनका जो श्रृंगार था।

इस प्रकार एक नहीं सैकड़ों गीत उस युग में लोक प्रिय हुए। महाकवि 'शंकर' के गीत कविताएं सर्वविदित हैं ही। हिन्दी के विख्यात कहानीकार 'सुदर्शन' जी भी आर्य समाज के जाने पहचाने व माने हुए विद्वान निष्ठावान लेखक थे। आपने भी कुछ गीत लिखे यथा—

'पराई आग में जलना, मरीज़ों की दवा होना।'

इन गीतों की रंगत भी देश भक्ति की थी।

गद्य लिखने वाले आर्य लेखकों ने भी पराधीनता से मुक्त होने की देश को प्रबल प्रेरणा दी। मुन्शी प्रेमचन्द जी का प्रेरणास्रोत महर्षि दयानन्द स्वामी श्रद्धानन्द ही थे।[1] हिन्दी के विख्यात कहानीकार श्री सुदर्शन तो महर्षि दयानन्द के जाने माने सुशिष्यों में से थे। स्वर्गीय इन्द्र विद्यावाचस्पति की लौह लेखनी ने स्वराज्य संग्राम में अपने जौहर दिखाने में कोई कसर न छोड़ी। उर्दू कवियों व लेखकों में मुन्शी तिलोकचन्द, हुतात्मा रामप्रसादजी 'बिस्मिल', 'आचार्य चमूपति, श्री लालचन्द फ़ल्क, श्री वतिस्ता प्रसाद 'फ़िदा' आदि किस-किस का नाम लें। अपनी तड़प से औरों को तड़पाने वाले कुंवर सुखलालजी की चर्चा पहले भी की जा चुकी है।

1. आधुनिक हिन्दी-कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ० १३०
2. देखिए 'कलम के सिपाही'

अब घटना चक्र लीजिए। विदेशों में भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के लिए अविरल और अविराम संग्राम करने वाले, भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन के जन्मदाता श्यामजी कृष्णवर्मा महर्षि के सुशिष्य थे।[1] जब कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता अंग्रेज़ जाति के गौरव गीत गाते थे। जब राजभक्ति के तराने गा-गाकर 'God save the King' की ध्वनि से गगन को गुंजा रहे थे तब श्यामजी लन्दन में वीर सावरकर की एक मराठी कविता गर्ज-गर्जकर गाते थे :—

राजे ! घरात शिरला चोर तमा मीं मानियला

राजा !! अर्थात् मैं घर घुसे चोर को राजा मानता हूं। वीर सावरकर ने ठीक लिखा है कि मन्दिर को तो सब देखते हैं परन्तु मन्दिर की नींव में रखे पत्थर को कौन जानता है ? श्यामजी हमारे स्वतन्त्रता संग्राम के कीर्ति मन्दिर की नींव के पत्थर थे।

जिस वीर पुत्र ने लन्दन में सर्वप्रथम एक अन्यायी अंग्रेज़ को गोली का निशाना बनाकर अंग्रेजी साम्राज्य का गर्व खर्व किया वह मदनलाल धींगरा भी आर्यसमाज की देन है।

चापेकर बंधुओं ने पूना में ईर्यस्ट और रैण्ड नामक दो अंग्रेज़ अधिकारियों को गोली मारी और तीनों भाई एक साथ फांसी पर चढ़े। इतिहास में यह घटना अद्वितीय है कि तीन सगे भाई एक साथ फांसी पर चढ़े। १८५७ ई० की क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेज़ पर सबसे पहले इन्हीं वीर पुत्रों ने गोली चलाई। इनकी संस्था के नाम के साथ आर्य शब्द था। यह आर्य समाजी तो न थे परन्तु श्यामजी कृष्ण वर्मा ने ही इनको क्रान्ति पथ का पथिक बनाया।[1] हैदराबाद के आर्य नेता न्यायमूर्ति केशवराव जी ने इन चापेकर बंधुओं से सम्पर्क रखने व सहयोग करने का साहसिक कार्य किया।[2]

देशहित सर्वप्रथम देश निकाला पाने वाले लाला लाजपत राय व श्री अजीतसिंह दोनों आर्य समाज के रत्न थे। लाला लाजपतराय की गौरव गाथा अपने आप में एक इतिहास है। वीरगति पाने वालों में उनका अपना एक विशिष्ट स्थान है। कांग्रेस के दो अध्यक्ष ही तो शहादत पा सके। एक लालाजी और दूसरे नेताजी सुभाषचन्द्र बोस।

यहां एक और बात स्मरणीय है कि लालाजी के साहित्य ने भी जन जागरण में ऐतिहासिक कार्य किया। लाला जी द्वारा लिखित श्रीकृष्ण चरित्र, शिवाजी, गुरुदत्त विद्यार्थी, मैजिनि, गेरीबालडी आदि पुस्तकों ने भारत युवकों में अदम्य उत्साह पैदा किया। अंग्रेज़ लाला जी की पुस्तकों के व्यापक प्रभाव से थर्राया व घबराया।[3]

न्यायमूर्ति गोविन्द रानाडे का स्थान भी हमारे स्वाधीनता संग्राम में अविस्मरणीय रहेगा। वह भी महर्षि दयानन्द के सुशिष्य थे। महर्षि द्वारा स्थापित परोपकारिणी सभा अजमेर के एक प्रतिष्ठित अधिकारी रहे। एक

1. द्रष्टव्य वीर सावरकर कृत मराठी तेजस्वी तारे तथा इन्दुलाल यजनीक कृत श्यामजी का अंग्रेज़ी जीवन चरित्र।
2. द्रष्टव्य स्वामी केशवानन्द अभिनन्दन ग्रंथ
3. प्राचार्य कृष्णदत्त द्वारा लिखित श्रीकेशवराव की जीवनी

स्वर से सब इतिहासकार उनको आधुनिक भारत का एक महान निर्माता मानते हैं। कांग्रेस में नर्म दल के प्रेरणा स्रोत रानाडे ही माने जाते हैं।

१९१२ ई० में लार्ड हार्डिंग पर बम्ब फेंका गया। इस घटना से बड़ी खलबली मची। सरकार ने बड़ा यत्न किया कि बम्ब फेंकने वाले के नाम का पता चले परन्तु सरकार की मनोभावना मूर्त रूप न ले सकी। इस संबंध में देश के कई सपूत फांसी पर चढ़ाए गये। फांसी पाने वाले भाई बालमुकन्द एम० ए० भी थे। वे दृढ़ आर्य थे। आप स्व० देश भक्त भाई परमानन्दजी के चचेरे भाई थे। आपकी पत्नी माता राम रखी ने यह समाचार जान कर अपने प्राण स्वेच्छा से त्याग कर सतियों के इतिहास को दोहराया। इसी काण्ड में महात्मा हंसराज जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री बलराज को सात वर्ष का सश्रम कारावास दण्ड मिला। राजस्थान के बारहट परिवार के तरुण तपस्वी प्रतापसिंह ने वीरगति पाई। यह परिवार महर्षि के सत्संग से ही वैदिक धर्मी बना था। प्रतापसिंह ने ही तो बम्ब फेंका था।[1]

प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ। लाला लाजपत रायजी को छः वर्ष देश से निष्कासित रहना पड़ा। विदेशों में देशहित आपने बड़ा गौरवपूर्ण कार्य किया। बड़े दुःख कष्ट सहे।

युद्ध समाप्त हुआ। मार्शल लॉ के दिन आए। जलियांवाला हत्याकाण्ड हुआ। आर्य वीरों ने अग्नि परीक्षा दी। महाशय रत्नचन्द देशभक्त बुग्गा व डा० सत्यपाल ने अपने शौर्य से सरकार को कँपाया। बड़ी बड़ी यातनाएं सहीं। अपना नन्हा पुत्र, युवा पत्नी को छोड़कर महाशय रत्नचन्द उर्फ़ महाशय रत्तो ने काले पानी की राह ली। उस स्वर्णिम इतिहास पर देश को सदा गर्व रहेगा।

युद्ध काल में भाई परमानन्द सरीखे आर्य नेताओं व कार्य-कर्ताओं पर अभियोग चलाए गए। श्री लालचन्द फ़लक आदि को वर्षों के लिए जेलों व कालेपानी में भेजा गया। माता रत्नदेवी जैसी देवियों को सतत साधना का सौभाग्य मिला।

तिलक युग गया। गांधी युग आया। आर्य लोग उमड़-घुमड़कर बलिवेदी पर आगे आए। स्वामी श्रद्धानन्द ने संगीनों की नोक पर सीना अड़ा कर स्वराज्य का संगीत सुनाकर विश्व में भारतीय वीरता की धाक जमा दी। इन्द्र विद्यावाचस्पति अपनी लेखनी से अंग्रेजों के विरुद्ध आग उगल रहे थे। महाशय कृष्ण दैनिक प्रताप द्वारा स्वतन्त्रता संग्राम को बल प्रदान कर रहे थे।

आर्य समाज के लौह पुरुष स्वामी श्री स्वतन्त्रानन्द जी महाराज भी स्वतन्त्रता आन्दोलन में कूद पड़े। देश में अनोखा वातावरण था। अमृतसर की ऐतिहासिक कांग्रेस हुई। स्वामी श्रद्धानन्द जी को देशवासियों ने इस कांग्रेस को सफल बनाने की विनति की। डायर ओडवायर का डर था। आतंक के इस युग में साधु आगे आया। कमाल कर दिखाया।

वर्मा में स्वामी श्रद्धानन्द जी व स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी प्रचारार्थ गये। वेद प्रचार तो था ही। स्वतन्त्रता आन्दोलन के भी ये दोनों साधु वहां सूत्रधार बने।[1]

स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी के जन्म स्थान मोही ज़िला लुधियाना के समीप ही स्वामी सत्यदेव परिव्राजिक का जन्म हुआ। यह भी आर्य विचारधारा से अनुप्राणित हुए। इस बाबा ने भी सारा जीवन देश के अर्पण कर दिया। ला० सुनामराय एम० ए० जैसे असंख्य आर्य जेलों में गये। जोश और होश का अद्भुत संगम था।

अहिंसात्मक युद्ध जो १९१९ ई० के बाद चला उससे कुछ पूर्व प्रथम विश्व युद्ध के दिनों में पटी ज़िला अमृतसर के एक दुबले पतले क्रान्तकारी सोहनलाल पाठक को सैनिकों में विद्रोह फैलाने के आरोप में बर्मा में पकड़कर फांसी दी गई। वह एक आर्य वीर ही तो थे।

असहयोग आन्दोलन छिड़ा तो लाहौर में हीरामण्डी में एक जलूस को रोका गया। जलूस का नेतृत्व हुतात्मा खुशीराम कर रहे थे। तिरंगा हाथ में था। रुकने को कहा गया वह न रुके। गोली लगी तो वह भारतमाता की जय, वन्देमातरम् का जयघोष लगाते हुए बढ़ते रहे। एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी इस प्रकार सात गोली खाकर वह अमर हो गये। वह आर्य वीर थे। लुधियाना माडल टाऊन के आर्य सज्जन भगवानदास जी को भी इसी जलूस में गोली लगी थी। जब डा० सत्यपाल आदि मुक्त किये गये तो आपको भी जेल से छोड़ दिया गया।

१९२८ ई० में ला० लाजपतराय जी ने वीर गति पाई। लाला जी के साथी ला० रामप्रसाद ला० जसवन्तराम जी भी उनके अनुगामी होने के नाते राष्ट्रीय आन्दोलन में सब प्रकार की यातनायें सहते रहे।

उधर उ० प्र० में वीर राम प्रसाद 'बिस्मिल' की टोली ने क्रान्ति का बिगुल बजाया। टोली के नायक वीर 'बिस्मिल' ऋषि के दृढ़ शिष्य थे। उनके साथी हुतात्मा ठा० रोशनसिंह व दीक्षित की भी निष्ठावान आर्य थे। जब ठा० रोशनसिंह के दाहकर्म करने को कोई आगे न आता था तब प्रसिद्ध आर्य विद्वान श्री विश्व प्रकाश जी (सुपुत्र श्री गंगाप्रसाद) ने संस्कार पूर्ण वैदिक रीति से करवाया।

ला० लाजपतराय के बलिदान का बदला लेने भक्तसिंह जी का दल आगे आया। भक्तसिंह जी व उनके दल के कई वीर योद्धा यथा सुखदेव जी, प्रो० प्रेमदत्त आदि आर्य परिवारों के ही सदस्य थे। भक्तसिंह जी के पिता स्वतन्त्रता सेनानी किशनसिंह जी तो आर्योपदेशक भी रहे, श्री चन्द्रशेखर की कुटिया की काशी में जब पुलिस ने तलाशी ली तो एक बंधु पं० सीताराम जी के पास आज़ाद जी की एक वैदिक सन्ध्या की एक प्रति मिली। तब पुलिस ने चार मास तक पं० सीताराम जी को केवल इस लिए परेशान किया क्योंकि उनके पास चन्द्रशेखर आज़ाद जी की ऋषि दयानन्द प्रणीत सन्ध्या पाई गई।[1]

न्यायालय का अपमान

गांधी युग की प्रथम दशाब्दी की एक विलक्षण घटना अंग्रेजी न्यायालय

1. द्रष्टव्य श्री अलगूराम शास्त्री कृत लाजपतराय

1. द्रष्टव्य केशवानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ।
2. द्रष्टव्य धर्मयुग ॥११।६।१९६६ पृ० २५

का खुला अपमान है। विख्यात आर्य विद्वान श्री पं० मनसाराम जी वैदिक तोप सत्याग्रही के रूप में जेल गये। हथकडी लगाकर न्यायालय में लाए गये। वह आंख पर पट्टी बांध कर न्यायाधीश की ओर पीठ करके बैठ गये। जब न्यायाधीश मिस्टर खाजा ने डांटकर पूछा यह क्या? तो गर्ज कर आर्य विद्वान ने कहा कि चाँदी के कुछ टुकड़ों के लिए देश और धर्म को बेचने वाले की मैं आकृति भी नहीं देखना चाहता। न्यायालय के अपमान का यह प्रथम अभियोग था जो किसी सत्याग्रही पर स्वराज्य संग्राम में चला। देश को वीर मनसाराम का भव्य स्मारक बनाना चाहिए।[1]

२३ अप्रैल १९३० ई० को भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में एक और स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ा गया। महर्षि के शिष्य ने देशवासियों को अपने शौर्य से अदम्य उत्साह प्रदान किया। पेशावर के बाज़ार किस्सा खानी में अंग्रेजी सेना ने सीमा प्रान्त के वीर पठानों पर अमानुषिक अत्याचार किए। उसी दिन चौक यादगार में स्वाधीनता सैनिकों पर गोली चलाने के लिए गढ़वाली सैनिकों को आदेश दिया गया गढ़वाली सैनिकों के नेता आर्यवीर चन्द्रसिंह गढ़वाली ने देशवासियों पर गोली चलाने से इनकार कर दिया। गढ़वाली वीरों की इस देशभक्ति से सारा देश अनुप्राणित हुआ। चन्द्रसिंह का देश भर में जयजयकार हुआ। उन्हें कोर्ट मार्शल करके वर्षों जेल में रखा गया। सेना में विद्रोह की ऐसी घटना १८५७ ई० के पश्चात् प्रथमबार ही घटित हुई।[2]

१९३० ई० में पंजाब में जब सब कांग्रेसी नेता जेल में चले गए तो सत्याग्रह के सञ्चालन का भार लौह पुरुष स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज के सबल कंधों पर पड़ा। वह तब दयानन्द उपदेशक विद्यालय के आचार्य थे। विद्यालय की सरकार ने तलाशी ली। कुछ हाथ न लगा। उन्हीं दिनों कांग्रेस के एक सम्मेलन में अध्यक्ष पद से स्वामी जी ने सरकार से मांग की हमारे सत्याग्रहियों के साथ वैसा ही व्यवहार किया जाए जो एक सरकार दूसरी सरकार के P.O.W. के साथ करती है। अंग्रेज़ सरकार की साधु की सिंह गर्जना व इस नई मांग से चौंक उठी। वीर सन्यासी को बन्दी बनाया गया। साधु ने असह्य यातनायें सहन की। भट्टी से तपकर कुन्दन बनकर बाहर आए।[3]

१९३० ई० के आन्दोलन में देश भर में सहस्रों आर्य वीर सत्याग्रह करके जेल गये। किस-किस का नाम लें। स्वामी अभेदानन्द जी, आचार्य नरदेव जी शास्त्री, चौ० चरणसिंह जी, श्री चन्द्रभान गुप्त, चौ० वेद व्रत आदि लोग तो कभी पीछे रहे ही नहीं। आर्य परिवारों के छोटे छोटे बच्चे भी जेल में गये। फांसी का फन्दा हो या तोप का गोला सब से सहर्ष अलिंगन कर आर्य वीर देश हित मरकर अमर होते। महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज (तब खुशहालचन्द जी) के सुपुत्रों ने स्वाधीनता यज्ञ में गौरवपूर्ण योगदान दिया।

१९३० ई० श्री रणवीर को पंजाब के अंग्रेज राज्यपाल पर गोली चलाने के आरोप में पकड़ा गया। फांसी दण्ड सुनाया गया। अपील पर फांसी दण्ड से वह बच गये।

श्रीयुत महाशय कृष्ण जी की लौह लेखनी आग उगलती रही। वह भी देशहित बन्दी बनते रहे। उनके बेटे श्री वीरेन्द्र भी स्वतन्त्रता आन्दोलन में जेल गये।

हैदराबाद के आर्य वीर लगातार निज़ाम सरकार से जन अधिकारों के लिए जूझ रहे थे। वन्देमातरम् आन्दोलन बीसवीं शताब्दी की चौथी दशाब्दी की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। श्री रामचन्द्र वन्देमातरम् व श्री अशोक जैसे आर्य योद्धा इस के अग्रणी थे। इस घटना निज़ाम राज्य को एक बार तो कँपा ही दिया। हैदराबाद सत्याग्रह से कुछ पूर्व निज़ाम को बम्ब से उड़ाने का प्रयास किया गया। सड़क उड़ गई परन्तु निज़ाम बच गया। लाख यत्न करने पर भी षड़यन्त्र का कुछ पता न लगा। यह सब काम श्री अशोक आदि आर्यों का था। इन पंक्तियों के लेखक को स्वयं उन्होंने यह सारी कहानी सविस्तार सुनाई थी।

हैदराबाद सत्याग्रह १९३८ ई० में हुआ। १९४८ ई० में पाकिस्तान से निकलने वाले उर्दू पत्र क़न्दील ने लिखा निज़ाम राज्य 'आज नहीं दस वर्ष पूर्व ही आर्यों ने समाप्त कर दिया था। यह है उस 'सत्याग्रह का महत्त्व। इस गौरवपूर्ण विजय का श्रेय महात्मा नारायण स्वामी जी, श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी, श्री चांदकरण जी, श्री भाई वंशीलाल आदि नेताओं को जाता है। जिन वीरों ने इस बलिदान यज्ञ में प्राण आहूत किये उनका बलिदान सदा स्मरणीय रहेगा।

१९४० ई० में व्यक्गित सत्याग्रह चलाया गया। इसमें भी कई आर्य जेल गये। १९४२ ई० में भारत छोड़ो आन्दोलन चला। देश के सब भागों के आर्यों ने बढ़-चढ़कर इसमें भाग लिया। उ० प्र०, सिंध, राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, म० प्र० सर्वत्र आर्य लोग सोत्साह इसमें कूदे। स्वामी अभेदानन्द जी, स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी सरीखे साधु ही सरकार के लिए सिरदर्द बन गये।

स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज पर विशेष कृपा हुई। उनको अति भयानक व्यक्ति समझकर लाहौर के शाही दुर्ग में बन्दी बनाया गया। फिर स्थानबद्ध किया गया।[1] कई प्रतिबन्ध लगाए गये। स्वामी श्री ईशानन्द जी को पकड़ने में सरकार थककर चूर हो गई। अन्त में वह दयानन्द मठ दीनानगर से पकड़े गये। लाल किले में उनको बन्दी रखकर कड़ी यातनायें दी गई। स्मरण रहे कि राजस्थान के अमर स्वाधीनता सेनानी श्री स्वामी गोपालदास जी चुरू (बीकानीर राज्य) वाले जो वर्षों स्वतन्त्रता के लिए बन्दी रहे—श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज के विशेष भक्त थे। स्वामी गोपालदास जी उदासी सम्प्रदाय के थे। स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी भी उदासी मत से वेदानुयायी बने थे।

सिंध प्रदेश में प्रत्येक आन्दोलन में श्री कृष्णानन्द जी (अब मण्डी हिमाचल प्रदेश) आगे-आगे रहे। प्रो० ताराचन्द गाजरा, प्रो० हासानन्द

---

१. द्रष्टव्य एक मनस्वी जीवन ले० राजेन्द्र 'जिज्ञासु'
२. द्रष्टव्य आप बीती उर्दू बादशाह खान पृ० ९९
३. द्रष्टव्य वीर संन्यासी लेखक राजेन्द्र 'जिज्ञासु

१. हमें प्रमाण मिले हैं कि स्वामी जी पर युद्ध के दिनों में दो बार प्रतिबंध लगाए गये

जी जादूगर, श्री बलदेव गाजरा ने सिंध में जो कार्य किया देशवासी उसे सदैव कृतज्ञता से स्मरण रखेंगे। १९२१ से १९४२ तक के काल में स्वामी कृष्णानन्द जी, प्रो० गाजरा व प्रो० हासानन्द ने विशेष भूमिका निभाई।

१९४२ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो० डा० सत्यप्रकाश जी को सरकार ने जेल में डाल दिया। सरकार उनके महान व्यक्तित्व व प्रभाव से घबरा गई। एक ही वैज्ञानिक जेल गया और वह थे डा० सत्य-प्रकाश जो आज प्रख्यात आर्य साधु हैं।

श्री घनश्यामसिंह गुप्त, ला० जगतनारायण, श्री यश, श्री युद्धवीर (श्री पं० आनन्द स्वामी जी के सुपुत्र) श्री भीमसेन सच्चर, डा० लहनासिंह सेठी आदि कई प्रतिष्ठित आर्य व आर्य परिवारों के ये लोग जेल गये। आजाद हिन्द सेना में भी श्री सहगल जैसे कई सेनानी आर्य परिवारों की देन थे।

देशी राज्यों में प्रजा में कई आर्य आगे थे। राजस्थान में चौ० हरिश्चन्द्र, स्वामी गोपालदास थे। पटियाला व निज़ाम राज्य में आर्यों की साधना का इतिहास अत्यन्त प्रेरणाप्रद है। श्री विनायक राव, श्री पं० नरेन्द्र जी, श्री रामचन्द्र वन्देमातरम् आदि देश भक्तों ने निज़ाम राज्य का इतिहास बनाने में अपने जीवन दिये हैं।

निज़ाम राज्य को भारत का अंग बनाने में चार आर्य जीवित जलाए गये। इन पंक्तियों के लेखक ने सर्वप्रथम उनके बलिदान पर प्रकाश डाला। श्री काशीनाथ धारूर व कृष्ण जी ईंटे गांव व उनकी पत्नी श्रीमती गोदावरी तथा बीदर जिला के श्री गोविन्दराव ये हैं वे चार हुतात्मा।

डी० ए० वी० संस्थानों में १९४२ ई० में व इससे पूर्व भी घुस-घुसकर पुलिस ने लाठी व गोली चलाई। १९४२ ई० में लाहौर डी० ए० वी० कालेज में प्रो० भगवानदास (वर्तमान प्रि० भगवानदास जी) को मारने के लिए पुलिस ने किसी और को (उन जैसी ही आकृति का था) लहूलहान कर दिया। १९३० में कानपुर में हुतात्मा सालिगराम जी को भी इसी प्रकार डी० ए० वी० कालेज में घुसकर ही मार डाला था। वहां तो क्रान्तिकारी कालेज के कक्षा-कक्षों में तख्तपोशों के नीचे छिपा करते थे। यह तथ्य हमें श्री शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के सुपुत्र श्री ओंकार शंकर ने बताया था। डा० मुन्शीराम आर्य विद्वान क्रान्तिकारियों के वहां प्रेरक थे। आर्य संस्थायें क्रान्तिकारियों के झूले बनकर उनको पाल रही थीं। आचार्य मुक्तिराम (श्री स्वामी आत्मानन्द), आचार्य रामदेव, आचार्य स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी वीरों को उभारते थे। ये सब महापुरुष स्वयं समय-समय पर जेल गये। पूर्ण निष्काम भाव से—देश के लिए—पद के लिए नहीं—राज के लिए नहीं स्वराज्य के लिए। देश के बाहर स्वाधीनता संग्राम का यज्ञ श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा ने रचाया। समय-समय पर भाई परमानन्द जी, ला० लाजपतराय जी, स्वामी श्री भवानीदयाल जी आदि प्रख्यातआर्य नेताओं ने इस यज्ञाग्नि को और प्रचण्ड किया। गदर पार्टी के प्रेरक श्री हरदयाल एम. ए. यद्यपि नास्तिक थे फिर भी ऋषि के प्रति अटूट श्रद्धा रखते थे। श्री जगतनाथ हरियानवी (हरियाना पंजाब के होश्यारपुर जिला में एक ग्राम का भी नाम है) भी आर्य समाजी थे।

वीर अजीतसिंह ने ४० वर्ष विदेश में साधना की। उनकी पत्नी का नाम सतियों में सदा अमर रहेगा। अपनी लेखनी व वाणी एवं आचरण से हम सब ने विदेशों में बड़ा कार्य किया। स्वामी भवानीदयाल जी तो कवि भी थे। उनकी राष्ट्र व राष्ट्रभाषा के लिए सेवा अपने आप में एक इतिहास है।

निष्पक्ष रूप से इतिहास के तथ्य हमने रखे हैं। हृदय को तिजौरी में बन्द करके तो हम लिख नहीं सकते। कारण—ये उन वीरों का इतिहास है—ये उनकी चर्चा है जिनसे हमारे देश ने प्रेरणा पाई है। अतः इन पंक्तियों में हमारा मन व मस्तिष्क दोनों विलीन हुए दीखेंगे। प्राणों के निर्मोही उन वीरों को शत-शत प्रणाम! अतीत में आर्यसमाज ने क्या नहीं किया ?

देशहित में वार दीं अनेक ही जवानियां।
इसने रक्त से लिखी स्वदेश की कहानियां।। □

गीतानुसार "मुक्तात्मा महर्षि दयानन्द"

• श्री कृष्णस्वरूप विद्यालङ्कार, गीतामर्मज्ञ

(१) ईश्वरीय इच्छा से लोकोपकार के लिये आए थे।

(२) जीवनकाल में "ब्रह्म भाव" प्राप्त कर चुके थे।

(३) मर कर भी ब्रह्म निर्वाण, मोक्ष धाम चले गए थे।

(४) ज्ञानी मुक्तात्मा महर्षि दयानन्द का जन्म "ईश्वरीय इच्छा" से हुआ था।

गीतानुसार "जब-जब धर्म की हानि, अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं (ईश्वर) "तदात्मानं सृजाम्यहम्" आत्मा को रचता हूं, उत्पन्न करता हूं, शरीरयुक्त करता हूं। वह आत्मा साधुजनों की रक्षा, दुष्टों का नाश, धर्म की स्थापना करती है ।। गीता अ० ४ श्लो० ७-८।। पौराणिक इससे "ईश्वरावतार" होना सिद्ध करते हैं, परन्तु गीता की अन्तःसाक्षी, इसके विरुद्ध है ।। गीता "ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्" ।। अ० ७ श्लो० ८ ।। "ज्ञानी ही मेरी आत्मा है. यह मेरा मत है।" कहकर ईश्वरावतार का खण्डन करती है ।। इसी मुक्त ज्ञानी आत्मा को उपर्युक्त कार्यों के लिये भेजा जाता है ।। इसके साथ-साथ "ईश्वर व्यक्ति रूप में आता है, ऐसा मानने वालों को मूर्ख भी कहती है।" यथा—जो मेरी उत्कृष्ट 'अव्यय' सत्ता जिसमें कभी विकार नहीं होता, 'अव्यक्त' जो किसी भी देश, काल, अवस्था व युक्ति, प्रमाण से व्यक्त नहीं होती, उसे न जानकर मुझे 'व्यक्ति' देह इन्द्रियादि रूप विकारों में व्यक्त होने वाली दैहिक सत्ता के रूप में मानते हैं वह अबुद्धिमान् = मूर्ख हैं। ।। अ०७ श्लो० २४ ।।

इससे ईश्वरावतार वाद का खण्डन और "महर्षि दयानन्द का ज्ञानी मुक्तात्मा" होना व "ईश्वरीय इच्छा व प्रेरणा से संसार में आना" भी सिद्ध है।

(२) "महर्षि दयानन्द जीवनकाल में ही "ब्रह्मभाव" प्राप्त कर चुके थे"।

गीता का ब्रह्म निर्वाण, ब्रह्मभाव, अव्यय पद, मोक्ष प्राप्ति व ब्रह्म प्रवेश के विषय में मत है कि

(क) जो पुरुष सकाम भावनाओं को त्याग कर, निःस्पृह, निर्मम, निरहंकारी होकर मृत्युपर्यन्त विचरता है, वह "शान्ति" तथा "ब्रह्म निर्वाण" पद को प्राप्त होता है ।। अ० २—७१, ७२ ।।

(ख) जिन ऋषियों के अन्तःकरण के कल्मष क्षीण हो गए हैं, जो यतात्मा होकर प्राणि-मात्र के हित में लगे रहते हैं, वह 'ब्रह्म निर्वाण" को प्राप्त होते हैं। अ० ५—२५ ।।

(ग) जिन यतात्मा यतियों ने आत्म तत्व को जान लिया है और काम-क्रोध को जीत लिया है, उन्हें ("अमित" सब ओर से अर्थात् जीवित रहते और मरने के पश्चात् भी दोनों अवस्थाओं में) ब्रह्म निर्वाण यानि मोक्ष प्राप्त हुआ रहता है। (शांकर भाष्य) अ० ५—२६ ।।

(घ) जो मनुष्य ज्ञान और तप से पवित्र हैं: राग, भय. क्रोध से शून्य, ईश्वरमय व ईश्वर की शरण में रहते हैं, वह "ब्रह्म भाव" को प्राप्त होते हैं, और ऐसे बहुत से हो भी चुके हैं ।। अ० ४—१० ।।

(ङ) जो योगी आत्मा के भी अन्दर रहने वाले ईश्वर में ही सुख मानते, उसी में रमण करते व उसी की ज्योति में काम करते हैं या जिनकी आत्मा उस ज्योति से ज्योतित है वह जीवन काल में ही (शांकर भाष्य) ब्रह्म रूप हुए-हुए ब्रह्म निर्वाण मोक्ष को पाते हैं ।। अ० ५—२४ ।।

(च) जो मनुष्य जीवन में अपने सब कर्मों को मेरे आश्रय (बल) से करता है, वह मुझ ईश्वर के अनुग्रह के कारण नित्य अव्यय पद मोक्ष को प्राप्त होता है ।।अ० १८—५६।।

(छ) ब्रह्मभाव, अव्यय पद, मोक्ष, अमृतत्व प्राप्ति के लिये "त्रिगुणातीत" होना भी आवश्यक है। इस के लक्षणों के विषय में गीता कहती है कि "जो सुख-दुःख में; सोना-मिट्टी; प्रिय-अप्रिय; शत्रु-मित्र; निन्दा-स्तुति; मान-अपमान में समान रहकर सब कर्मों को जीवन में करते हैं, सकाम कर्मों के त्यागी हैं, वह गुणातीत है" जो इन त्रिगुणों से ऊपर उठ गए हैं वह जन्म-मरण, बुढ़ापा व दुःखों से मुक्त ब्रह्मभूय = ब्रह्मभाव = मोक्ष

को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं ।।अ० १४—श्लोक २४, २५, २६।।

(ज) ब्रह्मभूय = ब्रह्मभाव को प्राप्त पुरुष ही मेरी "पराभक्ति" को प्राप्त करके मुझे तत्व से जानकर मुझ में ही प्रवेश कर जाते हैं।।अ० १८—५५

मुक्तात्मा महर्षि के जीवन में यह सभी लक्षण पूर्णतया प्रकट हो चुके थे। अतः वह ब्रह्मभाव प्राप्त, जीवनमुक्त भी थे।

(३) "महर्षि मरकर ब्रह्म निर्वाण मोक्षधाम चले गए थे।"

महर्षि की मृत्यु के समय के दृश्य को गीता के श्लोकों में देखिये।

"महर्षि को जोधपुर में कालकूट विष दिया गया, उस के प्रभाव से उनके सारे शरीर में मुख, जीभ, माथा, छाती, नाभि व रोम-रोम में छाले पड़े हुए हैं। पेट में तीव्र विषम प्रबल पीड़ा रह-रह कर उठ रही है। मुख कण्ठ सूख गया है। हिचकियों के निरन्तर आने से पेट, छाती, पसली, आंतें दुःख रही हैं। सारे शरीर में अग्नि-सी जल रही है। नस-नस में विष का प्रभाव फैल चुका है। रह-रह कर शरीर में ऐंठन व वेदना हो रही है। अतिसार के कारण वज्र-सम काया भी कंकाल मात्र रह गई है। श्वास धौंकनी की तरह चल रहा है। परन्तु महर्षि के मुख से एक बार भी हाय व छटपटाहट नहीं है। इतने महान् शारीरिक कष्टों के होते हुए भी शरीर से असंग महर्षि के मुख मण्डल से दिव्य ज्योति फूट रही है। महर्षि की इस सहनशीलता से अंग्रेज़ डाक्टर न्यूटन भी चकित हो रहा है।"

"विष देने वाले जगन्नाथ रसोइया को ५००) देकर नेपाल भगा दिया है। अक्रोध, क्षमा, धैर्य, सहनशीलता, शरीर से असंगता, निर्मम, निरहंकारिता, तथा अन्तःसुख अन्तरारामिता, अन्तर्ज्योति होने का उदाहरण इस से ऊंचा कहां मिल सकता है।"

"मृत्यु समय आया जान कर वेदमन्त्र पाठ, गायत्री जाप करते-करते मौन होकर समाधिस्थ हो गए। समाधि से उतर कर कहा कि हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर! तेरी यही इच्छा है। सचमुच मेरी यही इच्छा है। हे परमात्म देव। तेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा! मेरे परमेश्वर! तूने अच्छी लीला की। तत्पश्चात् प्राणों को मूर्धा में चढ़ाकर कुछ काल तक वहां रोक कर प्राण व नाद के साथ प्राण को बाहर निकाल दिया और सूत्रात्मा में विलीन कर दिया।

(श्री स्वामी सत्यानन्द जी लिखित जीवन चरित्र के आधार पर लिखित)

ठीक इसी दृश्य को गीता के श्लोकों से मिलाइये जिससे सिद्ध होता है कि महर्षि मरकर ब्रह्म निर्वाणं मोक्ष धाम को चले गये थे।

(१) जो मनुष्य अन्त काल में मुझ ईश्वर को स्मरण करता हुआ प्राणों को त्यागता है वह मेरी सत्ता—मदभाव—ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है ।।अ० ८—५।।

जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म सर्वज्ञ, सबके शासक सबके धाता, अचिन्त्य रूप ईश्वर को मरण समय में अचल मन से बड़ी भक्ति पूर्वक स्मरण तथा योगबल से अपने प्राणों को भौंहों के मध्य में स्थापित करके प्राण त्यागता है, वह परम पुरुष (ब्रह्म) को प्राप्त होता है ।।अ० ८—श्लोक ९, १०।

(६) जो सब इन्द्रियों के द्वारों को बन्द करके, मन को हृदय देश में रोक कर, प्राणों को मूर्धा में चढ़ाकर, योग की धारणा से युक्त हुआ-हुआ "ओ३म्" इस एकाक्षर ब्रह्मनाम का स्मरण करता हुआ तथा उच्चारण करता हुआ देह त्यागता है, वह "परागति-मोक्ष" को प्राप्त होता है। अ० ८—१२ व १६।।

(४) गीता का यह भी दृढ़ मत है कि अन्तःकाल में जो मनुष्य मुझे स्मरण करता हुआ प्राण त्यागता है, वह निस्सन्देह मेरे भाव-ब्रह्म भाव-मोक्ष को प्राप्त होता है। अ० ८—५।।

ऐसा ज्ञात होता है कि मृत्यु समय महर्षि के मस्तिष्क में गीता के यही सब श्लोक थे, और इन के अनुसार ही महर्षि ने अपने प्राणों को विसर्जन किया।

महर्षि के जीवन चरित्र और गीता का जितना परिशीलन किया जावे, उससे हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि :—

(१) "महर्षि दयानन्द" ज्ञानी मुक्तात्मा थे। ईश्वरेच्छा व प्रेरणा से लोकोपकार के लिये आए थे।

(२) जीवन में ब्रह्म भाव, ब्रह्ममय रहते हुए संसार का कल्याण, सत्य मार्ग का दर्शन कराया।

(३) मरकर ब्रह्म निर्वाण = मोक्ष धाम में फिर चले गए।

शंकर दिया बुझाय दिवाली को देह का।
कैवल्य के विशाल वदन में बिला गए।।

पाश्चात्य संस्कृति का बहुमुख आक्रमण

• वैद्य रणजीतराय देसाई

राजनीतिक दासता की श्रृङ्खला से भारत भले मुक्त हो चुका हो, तथापि उससे भी कहीं अधिक भयंकर सांस्कृतिक दासता की शृङ्खला में तो वह अधिकाधिक विबद्ध ही होता जा रहा है। इस दास्य से मुक्ति के लिए प्रयास का विचार एवं आचरण आर्यसमाज के अतिरिक्त अन्य किसी संस्था के बूते का नहीं है, इसमें लेशमात्र संशय नहीं है। कठिनाई यह है कि आर्य समाज के सभी लक्ष्य हिन्दू महासभा, कांग्रेस आदि ने अपना लिए, अथच आर्य समाज के सभी धुरन्धर नेता एवं कार्यकर्त्ता इन संस्थाओं की परिधि में समा गए; अतः आर्यसमाज के लिए कोई कर्तव्य शेष न रहने से वह हठात् सुप्तावस्था में आ गया। भारत के विभाजन ने भी इस स्थिति के उत्पन्न करने में विशेष भाग लिया, परन्तु मैं नहीं समझता इस सांस्कृतिक पराधीनता से मुक्ति का कार्य अन्य कोई संस्था उठा सकेगी। और यह महत् कार्य भी इतना विशाल है कि शेष सभी कार्यक्रमों के विस्तार जितना ही विस्तार इस कार्य का भी है। परिणामतया, आर्यसमाज की समग्र कार्य-शक्ति के उपयोग की श्रेष्ठ सामग्री इसमें उपलब्ध हो सकती है। इस विचारधारा से प्रेरित होकर इस सांस्कृतिक दासत्व ल कतिपय पहलुओं का निर्देश इस लेख में कर रहा हूँ। विज्ञवाचक इसी दृष्टि से विचार-विमर्श करते हुए अन्य मुद्दो को भी प्रकाश में ला सकते हैं।

१. आर्यों का बाहर से आगमन

भारत को सांस्कृतिक दृष्टि से दास बनाने के निमित्त पश्चिम की ओर से किए गए आक्रमणों में प्रथम वह है जिसका निर्देश ऊपर शीर्षक में किया गया है। इसका स्वरूप यह है कि आर्य सुदूर लोक बाहर से इस देश में प्रविष्ट हुए और यहाँ के तथाकथित आदिवासियों को पराभूत कर यहाँ के स्वामी हो गए।

इस मन्तव्य में सत्य हो या न हो, परन्तु इसके प्रचार-प्रसार में प्रच्छन्न हेतु यह मन्तव्य था कि भारत आर्यों की मूल भूमि नहीं है। तथापि जिस प्रकार उन्होंने बाहर से आकर इस पर आधिपत्य जमा लिया, ठीक उसी प्रकार पहले मुगलों ने और अनन्तर अंग्रेजों ने बाहर से आकर यहाँ अपना शासन प्रवर्तित कर दिया। सो यदि भारतीयों को आर्यों के भारत-प्रवेश एवं भारत के स्वामी होने में कोई दोष नहीं प्रतीत होता तो ब्रिटिशों द्वारा इसी प्रकार के आचरण में उन्हें कोई नवीनता या अनौचित्य नहीं मानना चाहिए।

इसी प्रसंग में यह भी साम्य आर्यों और ब्रिटिशों के क्रमिक आधिपत्य विस्तार में प्रदर्शित किया जाता है कि : ब्रिटिशों पर यह दोषारोप किया जाता है कि, वे प्रथम भारतीयों के क्षेत्रों में धर्म-प्रचारकों (पादरियों) को भेजते थे, ये लोक अपने कृत्यों से भारतीयों को उत्तेजित करते जिसके फलस्वरूप उस क्षेत्र के निवासी लोक पादरियों का अप्रियाचरण करते तो इन पादरियों की रक्षा के व्याज से ब्रिटिश सैन्य उस प्रदेश में प्रवेश करता और उसे अपने हस्तगत कर लेता। भारतीयों को इसमें भी कुछ नावीन्य एवं अनौचित्य प्रतीत होना न चाहिए। कारण, आर्यों के आधिपत्य के विस्तार की भी परिपाटी यही तो थी। उनके अगस्त्य, विश्वामित्र आदि धर्म-प्रचारक तथा उनकी रक्षा के मिष से विस्तार-वृद्धि करने वाले राम आदि और क्या करते थे? इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए तो उन्होंने लङ्का तक अपना प्रभुत्व जमा लिया था न?

भारतीय वाङ्मय में आर्यों के बाहर से भारत में आने का कोई संकेत नहीं है। आर्य ऐतिहासिक उनका तथा अन्य प्रमाणों का निर्देश करेंगे ही; इस लेखक का आयुर्वेद से सम्बन्ध होने से वह उसी का एक प्रमाण विद्व-

ज्जनों के विचारणार्थ प्रस्तुत करता है। चरक-संहिता के चिकित्सा स्थान के प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद के आरम्भ में हिमालय के विशेषणों में एक विशेषण **"पूर्वनिवास"** आया है। इसका संभावित अर्थ यही प्रतीत होता है कि आर्यजन प्रथम हिमालय की अधित्यका में (ऊर्ध्वभूमि में) निवास करते थे। पश्चात् वहाँ से उतरकर नीचे उपत्यका में (तलहटी में) आए और क्रमशः आगे बढ़ते गए। इस प्रक्रिया में उन्होंने अन्य निवासियों पर आक्रमण नहीं किया। उलटे उनके देवों, देवियों, रीति-रिवाजों, संस्कृति और शब्दों को भी अपना लिया। (गंगा शब्द या अपने राष्ट्रपक्षी का वाचक मयूर शब्द भी मूल संस्कृत का नहीं है।)

ब्रिटिशों द्वारा प्रवर्तित उक्त मन्तव्य का प्रभाव आज भी इस रूप में देखा जाता है कि दक्षिण भारत के लोक बात-बात में अपने को पूर्वकाल के इतिहास को सत्य मानते हुए उत्तर भारत द्वारा आक्रान्त मानते हैं। हमारे शासक भी उक्त मन्तव्य के चंगुल में ऐसे आ गए हैं कि आज भी प्रजा के अमुक अंश को 'आदिवासी' कहा जाता है। ब्रिटिश काल से अब तक इन तथाकथित आदिवासियों के अंचलों में देश के हितशत्रु तत्त्रव्य जनता को देश के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उत्तेजित करते हैं।

२. रामायण-महाभारत की अनैतिहासिकता

पाश्चात्य ऐतिहासिकों द्वारा भारतीय जनता को प्रच्छन्न एवं अज्ञात रूप से स्वाभिमत विचारधारा की अनुयायी बनाने का एक प्रयास यह भी था : अकबर और औरंगजेब में चारित्र्य की दृष्टि से औरंगजेब अति उन्नत कक्षा का था। तथापि अकबर सुविदित साम उपायों का अवलम्बन कर अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्मरण और संरक्षण का कार्य करता था, यही नीति अंग्रेजों की भी थी। सो अकबर की प्रशंसा की जाए तो प्रशंसक अनायास अंग्रेजों का भी प्रशंसक हो जाएगा, यह मनोरथ अकबर की स्तुति करने में था। परन्तु—

इन ऐतिहासिकों का प्रचण्डतम एवं भारतीय संस्कृति के मूल पर ही कुठाराघात करने वाला आक्रमण एक अन्य ही रूप में सामने आया। इसका स्वरूप यह है कि : रामायण और महाभारत में वर्णित घटनाएँ कोई ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं, प्रत्युत वे कवियों की कल्पना-मात्र (उपन्यासवत्) हैं।

यह बात विस्तार से समझाने की आवश्यकता नहीं कि रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति के दो प्रमुख आधार-स्तम्भ हैं। इनमें वर्णित सुपात्र भारतीयों के लिए उज्ज्वल आदर्श का काम करते हैं। अब ये रामायण-महाभारत ही कपोल-कल्पित गपोड़ों से अधिक महत्त्व न रखते हों तो भारतीय संस्कृति कितने दिन जिएगी ? भारत के इतिहास में से तो इनका नाम निकल ही गया है। स्कूलों-कॉलेजों में पढ़ाए जाने वाले भारतीय इतिहास के ग्रंथ देखिए। उनमें आदि मानवों का विवरण देकर, रामायण-महाभारत की घटनाओं या राम-युधिष्ठिर आदि का उल्लेख न कर लेखक सीधे बुद्ध और महावीर के समय पर आ जाते हैं।

इस मन्तव्य का क्या परिणाम भावी प्रजा पर होगा इसका सूर्य प्रकाशवत् स्पष्ट उदाहरण देते हैं। एक राज्य के हिन्दी के एक विद्वान् को हिन्दी की पाठशाला बनाने का कार्य सौंपा गया। पुस्तक में कृष्ण-सुदामा की प्रसिद्ध घटना भी लेखक ने रखी थी। पुस्तक पूर्ण कर सरकारी विभाग को भेजी गई। कुछ दिन पीछे विभाग की ओर से उक्त घटना का निर्देश कर लेखक पर पत्र आया कि—ऐसे गपोड़े क्यों पुस्तक में समाविष्ट कर दिए ? किसी सूफी की बात लिखी होती तो वह स्वीकार्य होती।

गनीमत इतनी है कि सरकारें रामनवमी, दशहरा, दिवाली, जन्माष्टमी आदि की छुट्टियों को चालू रखे हुए हैं।

३. स्वभाव आदि की अपरिवर्तनशीलता

आधुनिक जीवविज्ञान का एक सिद्धान्त है कि, मानव आदि प्राणियों एवं वनस्पतियों के जीवन का आरम्भ पुंबीज (स्पर्म) और स्त्री-बीज (ओवम) के संयोग से होता है। दोनों बीजों में क्रोमोसोम-नामक सूत्र होते हैं, जो माता-पिता तथा उनके भी पूर्व पुरुषों के शारीरिक-मानसिक स्वरूप, स्वभाव, गुण-अवगुण आदि का वहन कर संतान के शरीर में लाते हैं। प्रत्येक क्रोमोसोम में एक-एक विशिष्टता के वाहक 'जीन' नामक अगणित अंश होते हैं। माना यह जाता है कि जीन विकासवाद के क्रम से उस-उस मानव का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव (उत्पत्ति) हुआ तब से अब तक रचना एवं स्वभाव-सम्बन्धी जो विशेषता रखते थे वह विशेषता बिना किसी प्रकार का परिवर्तन हुए अगली-अगली संतति में संक्रान्त होती आई है और आगे भी होती रहेगी। इसका फलितार्थ यह है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष के सर्वप्रथम उत्पन्न हुए पूर्वज का जो स्वभाव था, जो संस्कार थे, जो गुण-अवगुण थे वे सब वैसे के वैसे उसकी पीढ़ी-दर-पीढ़ी में उतरते आए हैं और आगे भी प्रलय-पर्यन्त इसी प्रकार उतरा करेंगे। इनमें परिवर्तन का कोई अवकाश नहीं। (यह और बात है कि नोबल पारितोषिक विजेता डॉक्टर हरगोविन्द खुराना के प्रयासों से जीनों को बदला जा सके तो मानवों में तथा अन्य प्राणियों में एवं वनस्पतियों में कुछ परिवर्तन उत्पन्न किया जा सकेगा।

इस सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार का प्रयोजन विज्ञान के प्रचार-प्रसार के अतिरिक्त राजनीतिक भी था। इसका गर्भित तात्पर्य यह था कि जो प्रजाएँ दास या पराधीन हैं वे अपने 'जीन' के दासत्व के स्वभाव के कारण दास या पराधीन हुई हैं। उधर, जो देश अन्य देशों को जीतकर उसके स्वामी बने हैं उनके पुरुषों के 'जीन' में ही विजेता एवं प्रभु होने का स्वभाव है। किंबहुना, जो राज्य आज पराधीन हैं वे आ-प्रलय पराधीन ही रहने वाले हैं और जो मालिक हैं वे सृष्टि के अन्त तक मालिक ही रहने वाले हैं। यह वाद पराधीन देशों और जातियों के मानस में ठस जाए तो इसका परिणाम यह होगा कि, उन्हें पराधीनता के पाश से मुक्त होने का उत्साह ही न होगा। फलस्वरूप वे सदा पराधीन ही रहेंगे और शोषकों को उनके शोषण का अवसर नित्य के लिए प्राप्त होता ही रहेगा।

स्वभाव की अपरिवर्तनीयता के उपर्युक्त सिद्धान्त को सत्य माना जाए तो भारतीय संस्कृति जिनकी असाधारण प्रशंसा एवं अपरिमित उपयोगिता की महिमा गाते थकने का नाम नहीं लेती उन षोडश संस्कारों, सत्संगति, उत्तम शिक्षण आदि का मूल्य ही कहाँ रहा ?

४. सैडिज्म तथा मैज़ोकिज्म

आधुनिक मानस रोग विज्ञान (सिकाए ट्री) द्वारा आविष्कृत एवं प्रवर्तित ये दो वाद हैं। ये दोनों कामवासना की विकृति (सेक्सुअल परवर्शन) के परिणाम हैं। इनमें सैडिज़्म से यह अभिप्रेत है कि इससे आक्रान्त पुरुष वचन एवं कर्म द्वारा अन्य पुरुष को कष्ट देने में, अथवा अन्यों द्वारा किसी को कष्ट दिए जाने में आनन्द का अनुभव करता है। कभी-कभी उसे इस प्रकार के विचारों में मग्नता भी पीड़ित करती है। इसके अतिरिक्त मैज़ोकिज़्म में पुरुष अन्यों के हित के लिए स्वयं प्रयास करने में अथवा कष्ट सहन करने में आह्लाद मानता है।

अब यह द्वितीय सिद्धान्त सत्य माना जाए तो बुद्ध, महावीर, ईसा, दयानन्द, गांधी आदि महात्मा एवं मेक्स्विनी, भगतसिंह आदि देशभक्त जो जनता तथा देश को सुखी करने के लिए अपने जीवन तक को अर्पित करते हैं तथा इसी में आनन्द मानते हैं वे आराध्य महात्मा न रहकर कामविकार (सेक्सुअल परवर्शन) से आक्रांत रुग्ण-विशेष ही माने जाएँगे। परहित, परमार्थ आदि सद्गुण एवं सत्कर्म भी इस रोग के लक्षण ही मानना प्राप्त होगा।

उधर हत्या आदि के अपराधी पुरुषों को न्याय के नियमों के अनुसार दण्ड देने के पूर्व उनकी मानसशास्त्रीय परीक्षा आवश्यक मानी जानी होने से वे भी कानून के अनुसार उपयुक्त दण्ड की मर्यादा में न आकर मानसरोगी ही माने जाएँगे। परिणामतया, दण्ड से मुक्त होकर समाज को पूर्ववत् कष्ट देने की अबाध स्वतन्त्रता उन्हें प्राप्त होगी। इसके परिणाम की कल्पना अनायास की जा सकती है।

५. साम्यवाद

ईश्वर, धर्म, परलोक आदि के अस्तित्व का अस्वीकार अथ च हिंसा, अत्याचार आदि द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार इस वाद के घोर रूप हैं। प्रथम अन्तरिक्ष-यात्री यूरी गागारीन ने अपनी यात्रा सम्पूर्ण कर पृथ्वी पर अवतीर्ण हो पत्रकारों को अपने अनुभवों का जो विवरण दिया उसमें एक विधान यह भी था कि सम्पूर्ण यात्रा में कहीं भी उसे ईश्वर दिखाई नहीं दिया।

६. विकासवाद

विकासवाद के तीन अङ्गों में मानव की क्रमिक उत्पत्ति तथा बौद्धिक विकास की गणना है। इसके अनुसार निर्जीव सृष्टि से प्रथम सजीव सृष्टि उत्पन्न हुई, पश्चात् उत्तरोत्तर एक प्राणी से अन्य प्राणी का विकास होते-होते अन्त में मानव की उत्पत्ति हुई। जैसे-जैसे प्राणिसृष्टि का विकास होता गया वैसे-वैसे बुद्धि भी विकसित होती गयी। इसका अर्थ यह हुआ कि, आर्यों ने अथवा भारतीयों ने जो असाधारण विकास जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किया था उसको सर्वथा अस्वीकार ही किया जाए।

भारतीय विज्ञान के अनुसार सृष्टि के साथ ही मानवों की भी उत्पत्ति हुई। एवं उन्हें ईश्वर की ओर से वेदों के रूप में ज्ञान का भण्डार सौंपा गया। विकासवाद के उपर्युक्त दो सूत्रों को यथार्थ माना जाए तो अपने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रवर्तित उक्त सिद्धान्तों का परित्याग ही करना होगा।

इस प्रकार संक्षेप में पाश्चात्य संस्कृति द्वारा भारतीय संस्कृति पर प्रच्छन्न रूप में हो रहे आक्रमणों में से कुछ का निरूपण हमने किया। विज्ञ वाचक समझ सकते हैं कि इनमें एक-एक भी आक्रमण भारतीय संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तों का सर्वनाश करने की असाधारण शक्ति रखता है। इसका सामना करने की सामर्थ्य आर्यसमाज को छोड़कर अन्य किसी संस्था में नहीं है। यह न किया जाएगा तो स्वयं आर्यसमाज द्वारा अब तक किए गए प्रयत्न भी निरर्थक सिद्ध होंगे। आर्यसमाज की स्थापना की शताब्दी के शुभ अवसर पर यह निवेदन प्रकाशित करना इसी कारण उचित समझा है।

उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र ।।१।। तथा सरस्वती पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती जो नैपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकल के बंगाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण के समुद्र गें मिली है जिसको ब्रह्मपुत्रा कहते हैं और जो उत्तर के पहाड़ों से निकल के दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में अटक मिली है। हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं उन सबको आर्य्यावर्त्त इसलिये कहते हैं कि यह आर्य्यावर्त्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्य्यावर्त्त कहाया है।

—सत्यार्थ प्रकाश

नक्षत्र विद्या और वेद

• श्री पं० शिवदयालु आर्य वानप्रस्थ

नक्षत्र शब्द का अर्थ है न + क्षतं + राति अर्थात् जो किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचाते हैं।

अथर्ववेद काण्ड १९ के सूक्त ७ में नक्षत्र विज्ञान सम्बन्धी निम्न ५ मन्त्र विशेष विचार करने योग्य हैं।

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।
तुर्मिशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सर्पयामि नाकम् ॥१॥

अर्थ—नभ-मण्डल में विचित्र आभा व ज्योति से युक्त, निरन्तर अपनी धुरी पर वेग से घूमने वाले नक्षत्र हैं। मैं सुमति की कामना से युक्त होकर दिन-दिन उनके प्रकाश में पवित्र स्तोत्रों द्वारा प्रभु का गुणगान करता और अपने स्वर्ग समान आश्रम को सुख का धाम बनाता हूँ ॥१॥

सुहवमग्ने कत्तिका रोहिणीः चास्तु भद्रं मृगाशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारू पुष्पो भानुरश्लिषा अयनं मघा मे ॥२॥

हे एक मात्र वन्दनीय ज्योति स्वरूप प्रभो! कृत्तिका, रोहणी नक्षत्र कल्याणकारी हों मृगाशीरा और आर्द्रह नक्षत्र शान्ति के दायक हों। पुनर्वसु सुख बरसाने वाला हो और इसी प्रकार सुन्दर पुष्प नक्षत्र भी सुखदायक हो। तथा आश्लेषा और मघा नक्षत्र मेरी जीवनचर्या को तेजयुक्त करें ॥२॥

पुण्यंपूर्वा फालुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठ। सुनक्षत्र मरिष्ट मूलम् ॥३॥

पूर्वा फालगुनी तथा उत्तरा फालगुनी नक्षत्र इस जीवन में पुण्योदय के के हेतु हों; हस्त और चित्रा नक्षत्र मंगलकारी हों और इसी प्रकार स्वाति नक्षत्र भी मुझे सुखदाता हो। अनुराधा और विशाखा नक्षत्र मुझे प्रशंसित करें। ज्येष्ठा नक्षत्र सदा प्रसन्नता कारक हो तथा श्रेष्ठ मूल नक्षत्र सभी विधि कल्याणकारी हो।

अन्यं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जे देव्यूत्तरा आवहन्तु।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठोः कुर्वतं सुपुष्टिम् ॥४॥

पूर्वाषाढ़ नक्षत्र मुझे अन्न से भरपूर करें तथा दिव्य गुणों वाला उत्तराषाढ़ बल वृद्धि का हेतु हो। अभिजित् नक्षत्र सदा पुण्यकारी हो तथा श्रवण और श्रविष्ठा (घनिष्ठा) नक्षत्र मुझे पुष्टि दायक हों।

आ मे महच्छतभिषग वरीय आ मे द्रया प्रोष्ठपदा सुशर्या।
आ रेमती चाश्वयुजौ मरां म आ मे रयिं भरण्य आवहन्तु ॥५॥

शतभिषग् नक्षत्र जीवन में वरण करने योग्य महान् यश का दाता हो। पूर्वाभाद्रपद तथा उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मुझे तेजस्वी बनावें। खेती तथा अश्विनी नक्षत्र मुझे ऐश्वर्य से युक्त करें तथा भरणी नक्षत्र सम्पदा प्राप्त करावें ॥५॥

इस सारे अथर्वेदीय सूक्त में एक भी नक्षत्र अनिष्ठकारक नहीं। सब के सब सुख, शान्ति, तेज, ऐश्वर्य आदि से युक्त करने वाले हैं। नक्षत्रों में शुभ व अशुभ की कल्पना फलित ज्योतिष वालों का माया जाल है।

नक्षत्रों के सम्बन्ध में पुण्य-अपुण्य की कल्पना आश्वलांयन् गोमिल तथा शौनक गृह सूत्रों में भी विद्यमान है। संस्कार विधि में इन गृह सूत्रों के प्रमाण भी विवाह संस्कार में दिये गये हैं।

यथा—उद्गयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे आश्वलायन।
पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत। गोमिल गृह्य सूत्र शौनक॥

यह सब काल्पनिक और वेद विरुद्ध होने से त्याज्य हैं। तिथि तथा नक्षत्रों के देवताओं की भी गोमिल आदि गृह सूत्रों में कल्पना की गई है। संस्कार विधि में इनके कल्पित देवताओं से आहुति देने का विधान किया गया है जो विचारणीय है।

नक्षत्र कितने हैं ?

नक्षत्र असंख्य हैं। सर्वव्यापक सर्वज्ञ चेतन परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई उनका पूर्ण पता नहीं पा सकता। अब तक वैज्ञानिकों ने जितने

नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त किया है उनकी संख्या २६६ बतलाई जाती है। आकाश गंगा में जो ओरायन नक्षत्र के निकट आकाश में दृष्टिगोचर होती हैं उसमें असंख्य छोटे बड़े नक्षत्र और ग्रह हैं। इन्हीं में १२ राशियों में दृष्टिगोचर होने वाले तारों के समूह भी सम्मिलित हैं जिनको मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन नाम से पुकारा जाता है।

पृथिवी सूर्य की परिक्रमा ३६५ दिनों में करती है। सूर्य को केन्द्र बिन्दु मानकर पृथिवी के मार्गचक्र को १२ भागों में विभक्त किया जाता है। उन्हीं भागों का नाम मेष वृष आदि तारा समूहों के दृष्टिगोचर होने से पड़े हैं। राशियों के नामों की विभिन्न भाषाओं में तालिका निम्न प्रकार है—

सं०	हिन्दी	फारसी	लातीन	अंग्रेजी
१	मेष	हमल	एरीज़	रैम
२	वृष	सौर	टाइस	बुल
३	मिथुन	जौज़	जैमिनाई	ट्विन
४	कर्क	सरतान	कैन्सर	क्रैब
५	सिंह	असद	लियो	लायन
६	कन्या	सम्बुला	विरगो	वरजिन
७	तुला	मीज़ान	लिब्रा	बैलैन्स
८	वृश्चिक	अजरब	स्कारपियो	स्कारपियन
९	धनु	क्रौस	सैगीटारिस	आर्चर
१०	मकर	जदी	कैप्रीकारनस	गोट
११	कुम्भ	दल्व	ऐक्वारियस	वाटरबेयरर
१२	मीन	हूत	पिसेज़	फिसेज़

पृथिवी के मार्गचक्र को सूर्य को केन्द्र बिन्दु मानकर २७ विभागों में भी गणित ज्योतिष के आचार्यों ने विभक्त किया है। जिस विभाग में जो अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र दृष्टिगोचर होते रहे हैं उनकी संज्ञा उन्हीं के नाम के आधार पर रखी गई है। इस प्रकार प्रत्येक राशि में २$\frac{1}{4}$ नक्षत्र माने गये हैं। गणित सौकर्य से २८वें अभिजित् नक्षत्र को छोड़ दिया गया है। संसार के सब देश, अरब राष्ट्रों को छोड़कर, सौर्य सम्वत् ही मानते हैं। किन्तु अरब राष्ट्र केवल चन्द्र मास सम्वत् को ही मानते हैं जो २९ २/३ × १२ = ३५६ दिन का होता है अर्थात् सौर्य मास से १० दिन कम। अरब देशों का पञ्चांग चान्द्रमस मासों पर आधारित होने से उसके ३६ वर्ष और सौर्य सम्वत् वालों के ३५ वर्ष बैठते हैं। केवल चान्द्रमस संवत् की मान्यता के कारण मुसलमानों के सारे त्योहार घूमते रहते हैं। भारत के ज्योतिषियों ने सौर्य और चान्द्रमस सम्वतों का समन्वय किया हुआ है। प्रति तीन वर्ष में एक मलमास जिसको लौंद का महीना भी कहते हैं, जोड़ा गया है जिससे यह अन्तर लगभग निकल जाता है। चान्द्रमस मास २९ दिन १६ घन्टों का होता है। पूर्ण चन्द्रमा पर मास की समाप्ति मानते हैं। इस मास को ३० भागों में विभक्त किया गया है जो प्रतिपदा द्वितीया आदि तिथियाँ कहाती हैं।

चन्द्रमा के मार्ग चक्र को पृथिवी को केन्द्र बिन्दु मानकर २७ भागों में विभक्त किया गया है। इन २७ विभागों में २७ नक्षत्रों की कल्पना भी की गई है। इस क्रम से एक नक्षत्र का काल २९ २/३/२७ दिन होता है अर्थात् २६ घन्टों से कुछ अधिक समय तक नक्षत्र रहता है।

सब नक्षत्र अपनी धुरी पर ही तीव्र गति से घूमते हैं और यह सब तेज और प्रकाश से युक्त हैं। इनकी रचना परमात्मा ने सत्व परमाणुओं से ही प्रधान रूपेण की है। इन सबको द्यौ नाम से पुकारा जाता है और यह सब द्रवित अवस्था (Fluid State) में होते हैं। उस महान् कारीगर की यह द्यौ की रचना अत्यन्त अद्भुत और महान है। जैसा कि ऋग्वेद में "येन द्यौ उग्रा स्तभितम्० " वर्णित है।

नक्षत्रों की परिक्रमा करने वाले इस ब्रह्माण्ड में असंख्य ग्रह (Plamets) हैं। अब तक केवल हमारे सौर्य मण्डल के ग्रहों का ही वैज्ञानिक पता चला सके हैं। अन्य नक्षत्रों के ग्रहों का बोध नहीं के बराबर ही है। सप्तर्षि मण्डल के नक्षत्र व तारे वशिष्ठ के एक ग्रह अरुन्धती का वर्णन गोमिल गृह्य सूत्र में आता है। विवाह संस्कार में अरून्धती दर्शन का विधान आचार्य गोमिल ने किया है।

भारतवर्ष के फलित ज्योतिष् के आचार्यों ने जो नवग्रह की कल्पना की है और इन नवग्रहों की पूजा का विस्तृत वर्णन किया है वह वास्तविकता से परे है।

इन तथा कथित नवग्रहों में केवल इस सौर्य मण्डल के पांच ग्रहों में मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि को सम्मिलित किया गया है। पृथिवी के उपग्रह चन्द्रमा को नवग्रह में स्थान दिया गया है और पृथिवी को छोड़ दिया गया है। सौर्य मण्डल के अधिष्ठाता सूर्य को भी ग्रहों में गिना है जो वास्तव में ग्रह नहीं अपितु तारा वा नक्षत्र है। राहु केतु नामक पृथिवी और चन्द्रमा के दो छायाकोणों (nodes) को ग्रह मान लिया गया है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने जो तीन यूरेनस, नैपच्यून व प्लुटो ग्रहों का पता चलाया है जो लगभग २ से ३ अरब मील की दूरी पर सूर्य की परिक्रमा करते हैं। उनको तथा पृथिवी को मिलाकर नवग्रह की सिद्धि होती है।

जब ब्रह्माण्ड के नक्षत्रों का ही बोध न हो पाया जो आकार और प्रकाश में बहुत बड़े हैं तो उनके ग्रहों का जो अपेक्षाकृत छोटे तथा निज प्रकाश शून्य हैं पता चलाना लगभग असम्भव है। तथा उन के उपग्रहों का तो पता चलाना सर्वथा असम्भव ही है।

इस सौर्य मण्डल में जिन उपग्रहों का अब तक बोध हो पाया है उनकी संख्या १५ है जो चन्द्रमा के नाम से पुकारे जाते हैं। पृथिवी का उपग्रह चन्द्रमा एक है तो मंगल ग्रह की परिक्रमा करने वाले दो चन्द्रमा हैं, बृहस्पति के चार और शनि के ८ उपग्रह अर्थात् चन्द्रमा हैं जो नाना वर्ण के बतलाए जाते हैं और आकाश में छल्ले जैसे विपरीत दिशाओं में शनि की परिक्रमा करते दूर्वीक्षण यन्त्रों से देखे जाते हैं।

समस्त ग्रहों और उपग्रहों के लिये वैदिक साहित्य में पृथिवी शब्द का प्रयोग किया गया है। यह सब तमस् परमाणुओं से विशेषतया रचे गये हैं और काठिन्येता युक्त हैं। ऋग्वेद में "दृढा पृथिवी स्तभितम्" पाठ दशम मण्डल में आता है।

ग्रहों के चहुँ ओर अन्तरिक्षों की प्रभु ने सृजना की है जो वायव्य लोक कहाते हैं और रजस् परमाणुओं से विशेषतया निर्मित है। गैसेज के रूप में

ग्रहों की तेजी के साथ परिक्रमा करते हैं। सूर्य के आकर्षण से सागर से जल वाष्प के रूप में यहाँ संचित होता और मेघ बनकर पृथिवी आदि ग्रहों में वर्षा होती जिससे पृथिवी आदि में तृण, पौधे व वृक्ष उत्पन्न होते और नाना प्रकार के शाक, फल फूल अन्न उत्पन्न होते हैं जो मनुष्य पशु पक्षियों के जीवन के आधार बनते हैं। यह वायव्य लोक केवल ग्रहों के चहुँ ओर ही पाये जाते हैं, चन्द्रमा आदि उपग्रह इनसे वंचित है। इसी कारण चन्द्रमा में किसी भी प्रकार के प्राणी, वनस्पति, तृण आदि का अभाव है। यह चन्द्रमा पृथिवी आदि ग्रहों को शीतल प्रकाश देते और प्राणियों तथा वनस्पति आदि में रस का सञ्चार करते हैं इसीलिए रसराज चन्द्रमा की वसुओं में गणना की गई है।

नक्षत्र से तात्पर्य किसी एक तारे (Star) वा तारों के समूह (Constilation) से है। यह प्रसिद्ध २७ नक्षत्र प्रायः तारों के समूह ही हैं।

अश्विनी नक्षत्र दो तारों का समूह है। ऊपर मंत्र में इसको अश्वयुजौ शब्द से पुकारा गया है। मूल नक्षत्र ११ विशेष कांति वाले तारों का समूह है। जिसको फलित वालों ने घोर अनिष्टकारक माना है। यह मान्यता सर्वथा विज्ञान शून्य है। रेवती नक्षत्र ३१ तारों का समूह है और सबसे बड़ा समूह है।

इन नक्षत्रों के अरबी भाषा में अल-शिरात, अल-वतून, अल-थुरैया, अल-देवरां, अल-हिकाह आदि नाम प्रसिद्ध हैं।

अब हम जनवरी आदि मासों में दृष्टिगोचर होने वाले नक्षत्रों का यहाँ वर्णन करते हैं। यह नक्षत्र सूर्य के ३ अरब मील के आवर्त से बाहिर हैं किंतु हमारे इस पृथिवी ग्रह से दिखलाई देते हैं। हमने यहां इन नक्षत्रों के यूनानी भाषा के नामों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं संस्कृत नाम भी साथ में अंकित कर दिये गये हैं। यूनान देश की पुराणों (mythology) में इनके सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी विचित्र कथाएं हैं तथा हिन्दु पुराणों में भी विद्यमान हैं।

जनवरी मास में दृष्टिगोचर होने वाले नक्षत्र

१. अर्षा मेजर वा ग्रेट बेअर (मेष) यह १८ अधिक प्रकाश वाले तारों का समूह है जो जनवरी मास में प्रतिदिन रात्रि के ९ बजे ध्रुव तारे के दांई ओर दिखलाई देता है और ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भेड़ा अपनी पूंछ के साथ आकाश में लटक रहा है। प्रसिद्ध सप्तर्षि-मण्डल (Great-Dipper) इसी का एक भाग है इस सप्तर्षि मंडल के साथ प्रसिद्ध तारों के नाम मरीचि, अत्रि, अंगिरस्, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा वसिष्ठ हैं।

२. अर्षा माइनर (हरिणी) इस नक्षत्र में ४ बड़े और ३ छोटे तारे हैं जो आकाश में एक चमचे के रूप में दिखाई देते हैं। इसकी डण्डी का सिरा ध्रुव तारे से जा मिला है।

३. कैसीओपिया यह सात तारों के समूह का नाम है।

फरवरी मास में दृष्टिगोचर होने वाले नक्षत्र

१. पिगोसस	१३ तारों का समूह
२. ऐरीज़	३ तारों का समूह
३. सीटियंस	१५ तारों का समूह
४. टारस (वृष)	१२ मुख्य तारों का समूह
५. ओरायन	२० बड़े तारों का समूह

मार्च मास में दृष्टिगोचर होने वाले नक्षत्र

१. जैमिनाई (मिथुन)—१० अतिकांति वाले तारों का समूह जिनमें दो कैष्टर व पोलर अत्यन्त प्रकाश वाले हैं।

२. परस्यूस—२० मुख्य तारों का समूह।

३. कैन्सर (कर्क)—५ प्रसिद्ध तारों का समूह

४. कैनिस मेजर—१० तारों का समूह। श्वान की शक्ल में दृष्टिगोचर होने से इसका यह नाम पड़ा है। इसमें मुख्य तारा सीरियस है जो पृथिवी से ५० नील मील की दूरी पर बतलाया जाता है। इसका प्रकाश ८ वर्ष में पृथिवी पर पहुंचता है। इसका प्रकाश सूर्य से ४० गुणा अधिक है।

५. कैनिस माइनर—२ प्रसिद्ध तारों का समूह। इसी को अश्विनी कहते हैं।

६. लीपस—९ मुख्य तारों का समूह।

७. लियो (सिंह)—७ प्रसिद्ध तारों का समूह।

अप्रैल मास में दृष्टिगोचर होने वाले नक्षत्र

१. ब्रूटस—९ मुख्य तारों का समूह। इसमें जो सबसे प्रमुख तारा है उसका नाम एरीटूरस है। इसकी दूरी पृथिवी से १० पद्म मील है। यह सूर्य से सैकड़ों गुणा बड़ा है।

२. कारवस (कन्या) ५ मुख्य तारों का समूह

३. कारोना वारिएलिस—१२ मुख्य तारों का समूह

मई मास में दृष्टिगोचर होने वाले नक्षत्र

१. लिरा—६ प्रसिद्ध तारों का समूह। इसमें वीग नाम का तारा अत्यन्त कांतिमय है जो सूर्य की अपेक्षा १० गुणा अधिक प्रकाश वाला है। इसका प्रकाश पृथिवी पर २० वर्ष में पहुंचता है।

२. हरकुलीस—१७ मुख्य तारों का समूह

३. सिग्नस—१० मुख्य तारों का समूह

४. सैगिटा—४ मुख्य तारों का समूह। अंग्रेजी में इसको ऐरो कहते हैं।

जून मास में दृश्य नक्षत्र

१. लिब्रा (तुला)—५ मुख्य तारों का समूह

२. डैलफीनस—५ मुख्य तारों का समूह

३. ऐक्विल—९ मुख्य तारों का समूह। अंग्रेजी में इसको ईगिल कहते हैं। हिन्दी में गृद्ध जो पुराणों में विष्णु का वाहन माना गया है।

४. सीफस—५ मुख्य तारों का समूह

५. कैप्रीकारनस (मकर)—१० मुख्य तारों का समूह

(शेष पृष्ठ १४६ पर)

धार्मिक क्षेत्र पर महर्षि दयानन्द के विचारों का प्रभाव

• श्री विश्वनाथ शास्त्री, भिलाई (म० प्र०)

महर्षि दयानन्द प्रमुख रूप से धार्मिक नेता के रूप में संसार के सामने आए। उन्होंने धार्मिक क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न कर दी। हिन्दुओं ने इस क्रांति का घोर विरोध किया परन्तु शनैः-शनैः वे स्वयं इस क्रांति से प्रभावित भी हुए। वे महर्षि का आभार शब्दों में न भी मानते हों परन्तु वे कार्य रूप में महर्षि का अनुसरण करने लगे, और अब भी कर रहे हैं। महर्षि ने हिन्दू धर्म के क्षेत्र को अनेक बातों में प्रभावित किया है। हम इनका संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हैं।

(१) स्त्री शिक्षा—ऋषि के आगमन के पूर्व "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" अर्थात् स्त्री और शूद्र पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं, इस तथाकथित श्रुति का प्रचार था। परन्तु ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में घोषणा कर दी कि राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो। महर्षि की इस घोषणा के प्रति हिन्दुओं ने कड़ा विरोध प्रकट किया। आर्य समाज ने कन्या पाठशालाएं खोलीं। इसमें आर्यसमाजी तथा अन्य हिन्दू कन्याएं पढ़ने लगीं। सनातनधर्मियों ने अपनी कन्याओं को आर्य कन्या पाठशालाओं में जाते देख स्वयं ही सनातन धर्म कन्या पाठशालाएं खोल दीं। यह ऋषि की मौन विजय थी। कुछ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं कि बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय में एक कन्या ने वेद विषय लेकर विश्वविद्यालय में प्रवेश करना चाहा। वहां के पण्डितों ने पहले तो विरोध किया परन्तु अन्त में उन्हें निराश होना पड़ा और कन्या को प्रवेश देना पड़ा। यह है ऋषि का हिन्दुओं के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालय में स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में प्रभाव।

(२) दलितोद्धार—अमर्यादित वर्ण व्यवस्था ने हिन्दू धर्म को खोखला कर दिया था। यह वर्ण व्यवस्था जन्म पर आश्रित हो गयी थी। इससे हिन्दू कितनी ही जातियों और उपजातियों में विभक्त हो चुके थे। अन्तर्जातीय-भोजन और विवाह प्रतिषिद्ध हो चुके थे। इस व्यवस्था में दलित वर्ग का स्थान बहुत नीच बन चुका था। हरिजनों को सार्वजनिक सुविधाओं से वंचित कर दिया था। वे लोग सार्वजनिक कुओं से पानी नहीं भर सकते थे। दक्षिण भारत में तो सवर्ण लोग हरिजनों की छाया पड़ने मात्र से मलिन हो जाते थे। ऐसे युग में महर्षि का आविर्भाव हुआ। उन्होंने हिन्दू मात्र को आर्य का नाम दिया और तथाकथित वर्ण मर्यादा को समाप्त करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र सबको एक आसन पर बिठाया। आर्यसमाज का सदस्य बनने का अधिकार मानव मात्र को दिया गया। आर्यसमाज ने सामान्य प्रचार के अतिरिक्त दलितोद्धार के कार्यक्रम को विशेष रूप से अपनाया। भारत के राजनैतिक क्षेत्र में जब महात्मा गाँधी ने प्रवेश किया तो इसके साथ ही हरिजनोद्धार का कार्य एक राजनैतिक कार्यक्रम बन गया। इस कार्यक्रम में आर्यसमाज का बड़ा सहयोग रहा। समूचे राष्ट्र ने हरिजनोद्धार की समस्या को अनुभव किया। यह महर्षि की दिग्विजय थी। राष्ट्र ने महर्षि को अपना राष्ट्रीय नेता स्वीकार किया।

यह समस्या धार्मिक दृष्टि से भी हिन्दुओं के समक्ष आई। हिन्दू लोग दलितों से घृणा का व्यवहार करके जी नहीं सकते थे। अतः उन्हें भी बाधित होकर यह कार्यक्रम अपनाना पड़ा। हिन्दू धर्म सभाओं और सनातन धर्म सभाओं ने भी दलितोद्धार का कार्य आरम्भ किया और इस कार्य में आर्य-समाज को सहयोग दिया। यह ऋषि की मौन विजय थी।

(३) शुद्धि—ऋषि दयानन्द के आगमन के पूर्व धार्मिक क्षेत्र में मुसल-मानों और ईसाइयों का बोलबाला था। वे हिन्दुओं को बलात् अथवा लालच देकर अपने धर्म में मिला लेते थे। परन्तु हिन्दू धर्म में कोई विधर्मी सम्मि-लित नहीं हो सकता था। हिन्दू धर्म से एक बार पतित हुआ व्यक्ति पुनः अपने धर्म में नहीं आ सकता था। महर्षि ने चिरकाल से बंद द्वारों को खोला और मानव मात्र को आर्य बनने का संदेश दिया। सनातन धर्मियों ने शुद्धि आंदोलन का घोर विरोध किया। परन्तु सनातन धर्मियों में कोई व्यक्ति यदि पतित हो जाता तो उसके भाई-बंधु आर्यसमाज की शरण में ही आते और उसको वापिस लिवा लाने की प्रार्थना करते। शनैः शनैः शुद्धि आन्दो-लन का विरोध कम होता चला गया और सनातन धर्मी स्वयं इसको

अपनाने लगे।

शुद्धि आंदोलन एक ओर तो धार्मिक आंदोलन था और दूसरी ओर इसने राजनैतिक रूप भी धारण कर लिया था। राजनैतिक अधिकार संख्या के बल पर दिए जाने लगे। हिन्दू धर्म में हरिजनों की करोड़ों की संख्या थी। हरिजनों को ईसाई और मुसलमान बनाना सरल था। हिन्दुओं को चिन्ता हुई कि हरिजनों के विधर्मी बन जाने से उनका राजनैतिक प्रभुत्व कम हो जाएगा अत: हिन्दुत्व प्रधान राजनैतिक दलों ने शुद्धि आंदोलन को स्वीकार किया और आर्यसमाज का साथ दिया और स्वयं भी इस क्षेत्र में कूद पड़े। महर्षि दयानन्द का प्रभाव इस क्षेत्र में स्पष्ट और बड़ा क्रांतिकारी रहा।

(४) नमस्ते—ऋषि दयानन्द के आगमन से पूर्व हिन्दू जाति में कोई एक निश्चित अभिवादन नहीं था। जय राम जी, जय श्रीकृष्ण, नमस्कार आदि कई शब्द प्रचलित थे। महर्षि ने परस्पर मिलने के समय "नमस्ते" शब्द के प्रयोग करने का विधान किया। इस शब्द का पहले पहल तो घोर विरोध हुआ। परन्तु शनै:-शनै: इस शब्द का प्रचलन बढ़ता ही चला गया। अब यह धार्मिक नहीं अपितु राष्ट्रीय अभिवादन बन गया है। अब इसका संबंध क्या आर्यसमाज, क्या सनातन धर्म, क्या हिन्दू जाति अपितु भारतीय मात्र से हो गया है। रेडियो सीलोन के प्रसारक अमीन सयानी नमस्ते शब्द से ही अपने श्रोताओं का अभिवादन करते हैं। अब यह शब्द भारत की सीमा को लांघ कर विदेशों में भी पहुँच गया है। अब विदेशी लोग भारतीयों का अभिवादन नमस्ते शब्द से ही करते हैं। हमारे विचार में महर्षि दयानन्द का सबसे अधिक प्रभाव तो 'नमस्ते' शब्द के प्रचार में हुआ है।

(५) विवाह—महर्षि ने विवाह संबंधी अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला और प्रचलित त्रुटियों के निवारण का प्रयत्न किया। ऋषि के आगमन से पूर्व बाल-विवाह का प्रचलन था। बालक-बालिकाओं का विवाह बाल्य-काल में ही कर दिया जाता था। इससे जाति दिन प्रतिदिन दुर्बल होती जा रही थी। इसके फलस्वरूप विधवाओं की संख्या भी अत्यधिक बढ़ती जा रही थी। ऋषि ने विधान बनाया कि पुरुष २५, ३६, ४८ वर्ष की आयु में विवाह करें। महिलाएँ १६, १८, २४ वर्ष की आयु में विवाह करें। इस दिशा में भी महर्षि को बड़ी सफलता मिली है। अब तो महिलाएं उच्चतम सीमा २४ वर्ष को भी लांघने लगी हैं। विवाह संबंधी दूसरी समस्या अनमेल विवाह है। बूढ़े लोग युवतियों से विवाह कर लिया करते थे। ऋषि ने इसका विरोध किया और जनता ने इसे स्वीकार कर लिया। विवाह संबंधी तीसरी समस्या बहुपत्नी प्रथा है। अमीर लोग एक समय में ही अनेक पत्नियां विवाह करके ले आते थे। ऋषि ने इसका विरोध किया और यह प्रथा शनै: शनै: समाप्त हो रही है। विवाह संबंधी चौथी समस्या यह थी कि विवाह करने के लिए सीमित ही बिरादरी थी। ऋषि ने इस संकुचित व्यवस्था को समाप्त किया और अन्तर्जातीय, अन्तर्देशीय और अन्तर्धार्मिक विवाहों का समर्थन किया। शासन ने जहां अल्पआयु के विवाहों को रोकने के लिए "शारदा विवाह एक्ट" पास किया वहां अन्तर्जातीय विवाहों को वैद्य घोषित करने के लिए "आर्य विवाह एक्ट" भी पास किया। हिन्दुओं में जब कभी अलग-अलग जातियों के जोड़ों में विवाह का प्रस्ताव होता है तो उन्हें बाधित होकर आर्यसमाज की ही शरण में आना पड़ता है और वैदिक विवाह पद्धति से ही विवाह संस्कार करवाना पड़ता है। बहुत से लोगों को तो आर्यसमाज का परिचय इसी कारण ही होता है। विधर्मी कन्याओं को शुद्ध करके उनके साथ हिन्दू युवकों का विवाह केवल "आर्य विवाह एक्ट" के अनुसार ही वैध घोषित किया जा सकता है। विवाह संबंधी पांचवीं समस्या विधवा-विवाह है। भारत में छोटी आयु में विवाह की प्रथा होने के कारण विधवाओं की संख्या बहुत अधिक होती थी। इन विधवाओं के लिए मायके या ससुराल कहीं भी स्थान नहीं होता था। वे विवश होकर पतित हो जातीं अथवा विधर्मों में चली जातीं। महर्षि ने इनकी शोचनीय अवस्था को देखा और विधवा-विवाह का भी विधान किया। पहले-पहल तो इसका विरोध हुआ परन्तु शनै:-शनै: हिन्दुओं ने इस सुधार को अपना लिया।

(६) यज्ञ—हिन्दू धर्म में यज्ञ की प्रथा आदिकाल से चली आ रही है परन्तु चिरकाल से यह प्रथा मंद पड़ती जा रही थी। महर्षि ने इस प्रथा को पुन: प्रचलित किसा। आर्यसमाज में प्रचलित यज्ञ प्रथा को देखकर सनातन धर्म ने भी इसे ग्रहण कर लिया। आजकल सनातन धर्म की ओर से बड़े-बड़े यज्ञों का आयोजन किया जाता है।

(७) धार्मिक कथाओं की यथार्थ व्याख्या—पुराणों में कई कथाओं का उल्लेख आता है जो सदाचार की दृष्टि से ठीक नहीं बैठतीं। विधर्मी लोग उन पर आक्षेप करते हैं। सनातन धर्म के किसी विद्वान में इतनी योग्यता नहीं है कि वह किसी विधर्मी के आक्षेप का उत्तर दे सके। उन्हें इस समस्या से जूझने के लिए महर्षि की शरण ही लेनी पड़ती है। उदाहरण के लिए प्रजापति उषा कथा, इन्द्र अहिल्या कथा आदि। महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इन पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि ये रूपकालंकार हैं और इनकी तर्क संगत व्याख्या की है। सनातनी पण्डितों को इन समस्याओं का समाधान करने के लिए ऋषि कृत ग्रंथों के उद्धरण देने पड़ते हैं।

(८) पर मत खंडन—महर्षि ने हिन्दू धर्म में जो महत्तम क्रांति की है वह है पर मत खंडन। हिन्दू लोग इसी विचार के रहे हैं कि सब धर्म अच्छे हैं। ईश्वर प्राप्ति के लिए अनेक मार्ग और अनेक धर्म हैं। अत: एक-दूसरे की निन्दा स्तुति करनी चाहिए। परन्तु महर्षि ने इस धारणा को छोड़कर पर मत खंडन का मार्ग अपनाया। उनकी धारणा थी कि लोक धर्म अथवा सम्प्रदाय मानव के बनाये हुए हैं। मतों के संस्थापक मानव होते हैं, मतों के प्रचारक और अनुयायी मानव होते हैं। मानव भूल का पुतला है। अत: इन मतों, त्रुटियों और दोषों का होना स्वाभाविक है। महर्षि संसार में पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने समय में प्रचलित सभी मतों की समीक्षा की है।

महर्षि के आगमन से पहले सभी धर्मों वाले हिन्दू धर्म पर आक्षेप किया करते थे परन्तु सत्यार्थ प्रकाश की रचना के पश्चात् हिन्दू धर्म की समीक्षा बहुत कम हो गई है। जब कभी विधर्मी लोग हिन्दुओं पर आक्षेप करते हैं तो दयानन्द की सेना हिन्दुओं का पूरा साथ देती है। हिन्दू लोग अब दयानन्द के संरक्षण में अपने आपको सुरक्षित पाते हैं। जो हिन्दू अपने आपको दीन-हीन अवस्था में समझते थे दयानन्द ने उनको सेनानी बना

दिया है। प्रत्येक हिन्दू सत्यार्थ प्रकाश रूपी तलवार को हाथ में लेकर संसार के सभी धर्मावलम्बियों से जूझ सकता है। महर्षि का धार्मिक क्षेत्र पर यह अटूट प्रभाव पड़ा है।

(६) वेद—हिन्दू धर्म का मूल धार्मिक ग्रंथ वेद है। वेद स्वत: प्रमाण है। परंतु हिन्दू लोग चिरकाल से वेद को भूलते जा रहे थे। उन्होंने रामायण, महाभारत, गीता और पुराणों को ही अपना मूल धार्मिक ग्रंथ समझ लिया था। जन-साधारण के लिए तो तुलसी रामायण ही सब कुछ थी। महर्षि ने अन्य वैदिक शास्त्रों को प्रामाणिक स्वीकार करते हुए भी वेद को ही परम प्रमाण माना। महर्षि के प्रचार से हमारे सनातन धर्मी भी जागे और वेद को अधिक से अधिक सम्मान देने लगे। महर्षि के प्रभाव से वेदों का पठन-पाठन भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी प्रचलित हुआ। महर्षि ने वेदों के उद्धार के लिए अत्यधिक प्रयत्न किया।

(पृष्ठ ११५ का शेष)

एकस्यैव महत आत्मन नामानीति विश्वासस्य परिज्ञानात् वेदस्य तदेव तात्पर्यमवगम्यते यद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना प्रकाशित:' इति (वैदिक-मैगजीन सन् १७१६)।

यद्यपि काम-क्रोध-लोभ-मोह-मदाहंकाराविद्यादिभिर्ग्रस्त: संसारो भगवद्दयानन्दसरस्वतीकृतस्य वेदभाष्यस्य मूल्यं नाद्ययावद् व्यजानात् तथापि यदा तस्य बुद्धिर्विमला मनश्च पवित्रं भविष्यति तदा स योगिराजारविन्द इव भगवद्दयानन्दस्य अवर्णनीयतप: प्रभाव-निर्झरिताया वेदार्थ-प्रक्रियाया माहात्म्यं विज्ञास्यति वक्ष्यति च—नम: परमर्षये नम: परमर्षये इति।
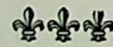
(शेष पृष्ठ १४३ का)

ध्रुव तारा सदा उत्तर दिशा में दिखलाई देता है इसी कारण इसको ध्रुव भी कहा गया है। यह पृथिवी से ३ नील मील की दूरी पर है। इसका प्रकाश पृथिवी पर २ वर्षों में आता है। सूर्य से बहुत बड़ा होने के कारण पृथिवी से सदा दिखलाई देता है।

योग—ज्योतिष् में २७ योगों का भी वर्णन है। अथर्ववेद में भी नक्षत्रों के साथ योगों का वर्णन है। वेद में योगों के नाम नहीं दिये हैं। ज्योतिष् शास्त्र में इनके नाम दिये हुए हैं। यह योग केवल ज्योतिष् के गणित से ही सम्बन्ध रखते हैं। उत्तर व दक्षिण भारत में योगों के नामों में अन्तर है। इन योगों में इष्ट अनिष्ट की कल्पना भी फलित वालों का केवल भ्रमजाल है। राशियों में विभिन्न नक्षत्र, ग्रह एवं उपग्रहों के निवास से योगों की कल्पना की गई प्रतीत होती है। पञ्चक योग ५ नक्षत्र, ग्रह, उपग्रहों के एक राशि में आने से बनता है। इस योग को फलित वाले घोर अनिष्ट कारक मानते हैं। यह भी उनका अज्ञान मात्र है। कुछ वर्ष पूर्व फलित ज्योतिषियों ने अष्टग्रह योग को घोर अनिष्ट कारक बतलाया था जो केवल उनका भ्रमजाल था। अथर्ववेद में योगों का कोई वैज्ञानिक रहस्य छिपा हो सो हमें पता नहीं।

योगों का विधान करने वाला अथर्ववेद का निम्न मंत्र मनन करने के योग्य है।

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं प्रपद्ये क्षेमं क्षेमं च क्षेमं प्रपद्येयोगं च नमोऽहोरात्राभ्याम्।

अथर्व १६।८।२

(अष्टाविंशानि शग्मानि) २८ नक्षत्र (सहयोगं) अपने योगों के साथ (मे शिवानी भजन्तु) मेरे कल्याण के विधाता हों। इनके सहयोग से मैं (योगं प्रपद्ये) जीवन की सब आवश्यक वस्तुओं को जुटाकर (क्षेमं प्रपद्ये) जीवन में सुख शांति को उपलब्ध करते हुए (क्षेमं प्रपद्ये) और क्षेमं को प्राप्त करते हुए (योगं च) में परम पिता परमात्मा के साथ मिलन करने वाला बन जाऊं (नमो अहो रात्राभ्यां) और रात्रि दिन उसकी वंदना में रत रहूँ।

सूरज सी आस्था

• डा० देवेन्द्र आर्य
एम० ए०, पी-एच० डी०

चारों ओर घटाटोप अंधकार
कुहरा और धुंध इतना
कि जैसे एक विराट महाशून्य
भीतर और बाहर एक खालीपन
और एक कुम्भकर्णी नींद।
लगता था कि जैसे किसी ने
प्रबुद्ध चेतना को अतल में डुबो दिया है
या सात तालों में कैद कर
आत्महत्या की स्थिति भोगने पर
मजबूर कर दिया है
या कि जैसे किसी ने एक अज्ञानावरण
सभी पर डाल दिया हो
और दीमकों का पूरा हुजूम
चूहों का काफिला
गिद्ध-चीलों का आवारा झुंड
अपने-अपने ढंग से नोंच-कुतर रहा हो
देश की सभ्यता और संस्कृति का नंगा शरीर
या कि जैसे—एक समूची दिशा
कहीं बीहड़ में जाकर खो गई है
या फिर घूम फिर कर लौट आई है
उन स्थानों पर
जहाँ नशीली आँखों से टपकती है
मात्र वासना की जिस्मानी गंध
मतान्धता के अहं का बदहवास पागलपन
और कुरीतियों के जंजाल का
दिमागी दिवालियापन।
लगता था कि जैसे समूचा देश
पंखहीन बेबस पक्षी सा
धीरे धीरे अजगरी-गर्त के मुहाने तक आ गया है
और पहरेदार कहीं गहरी तानकर सो गया है
निरपेक्ष और निर्द्वन्द्व सा···
लेकिन, मिट्टी की ऊर्जा
जिसने सदियों से
सूरज सी आस्था को संजोया है, पाला है
कहीं भीतर से कसमसा उठी
और ज्वालामुखियों के विध्वंसक कण
एक-एक कर सिमटने लगे
पल-पल होने लगा निर्मित
मजबूत फौलादी इरादों में बंधा जिस्म
रोशनी का पूरा सैलाब
ऋचाओं से पोषित आदि स्वर-ब्रह्म
और व्यापक ऊर्जस्वित बोध
जिसने एक दिन
'टंकारा' में
किरणों को मुट्ठी में बाँधे
धरती को पहली बार चूमा था
मुझे याद है—तब
घटाटोप अंधकार का वृत्र
पहली बार इतना अधिक त्रस्त हुआ था
शायद इसलिए कि—
एक नहीं
सदियों का दधीचि
पूरी पीढ़ी के साथ वज्र बनाने में जुटा था
और 'शंकर' का 'मूल' आनन्द
विषपायी कण्ठ लिए
त्रिशूल और त्रिनेत्र के साथ
धीरे-धीरे कहीं सुलग रहा था
शिवरात्रि का 'मूषक-

वह बिन्दु था
जहाँ से समस्त दिशाओं को
तेज भावनात्मक मोड़ लेना था
मैदानों से उन गिरि-कन्दराओं तक
जो एक दिन उसे
'प्रज्ञाचक्षु' के द्वार तक
मथुरा छोड़ आया था
वहाँ–कालिन्दी ने
एक-एक कर तमस् के सभी उपादानों को
लील लिया था
और हिरण्मय पात्र से निकाल कर
शाश्वत सत्य को दोनों हाथों से मुक्त बिखेर दिया था वहाँ
जहाँ उसे शतधा होकर
भरी पूरी एक फसल तैयार करनी थी
और 'पाखंड खंडिनी पताका' बन कर
अज्ञान, तमिस्रा और मदांधता की छाती में
सहस्रों कीलें ठोंकनी थी ।
मैंने कहा न !
सूरज सी आस्था लेकर जन्मा था वह
वैदिक तूर्य को
आस्थाओं की हवाओं में गुंजाता
अमरत्व की ऊँचाइयों तक उठकर ही
वह दयानन्द बना था
और युगों तक—परिवेश को
क्षितिज की अनन्त सीमाओं तक
देदीप्यमान करने के लिए
वह
तिल तिल कर गला था
ताकि–पीढ़ियों के रक्ताणु
मुक्त वातायनों से गगन तक झांककर
संसद के गुम्बदों पर बैठ
खुले हाथों से
देश के झंडे को उठा सकें
ऊँचा, बहुत ऊँचा··· ।
अनेक जन्मों के ऋण को
एक ही जन्म में चुकाने वाला वह
सही मायनों में था एक 'सत्यार्थ प्रकाश' ऐसा
जिसके ध्रुव से अटल दो नक्षत्र
बहुत गहरे तक बींध गये थे
घने अंधकार की पर्तों को
और जिसके मजबूत इरादे
न जाने कितनी बार
आग का दरिया लांघ कर
लौट आये थे हम सब के बीच
शायद यह बताने कि—
मरता वह नहीं
जो मौत को सिरहाने बाँधकर सोता है
वरन्—मरता है वह
जिसे जिन्दगी जीने का सलीका नहीं आता ।
वह—
मौत और जिन्दगी के दायरे से ऊपर उठा
एक नरपुंगव था
एक ज्योतित ब्रह्मलीन ब्रह्मतेज था
जो भूत, भविष्य और वर्तमान के
सभी आयामों को नाप कर
ऊँचे पर्वतों से पाखंड, विद्वेष और हठवादिता को
सम्पूर्ण ध्वस्त कर
आदि ज्ञान गंगा की शान्त लहर को
धरती तक ले आया था ।
वह—
सही मायनों में
सूरज सी आस्था लिए
इस मिट्टी की ऊर्जा था
ज्वालामुखी था
वह—
मूल शंकर था
दया + आनन्द = दयानन्द था
रोशनी का
कभी न थकने वाला सैलाब था··· ।

✲✲

यम-नियम मीमांसा

• योगाचार्य श्री भगवानदेव शर्मा
उपमंत्री-सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा,

"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टांगति।"

यम १ नियम २ आसन ३ प्राणायाम ४ प्रत्याहार ५ धारणा ६ ध्यान ७ समाधि ८. यह योग के अष्टांग हैं।

१-यम

"यत्राहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिगृहा यमाः।" योगदर्शन २-३०

अहिंसा १ सत्य २ स्तेय ३ ब्रह्मचर्य ४ अपरिग्रह ५ यह पंच यम हैं।

अहिंसा

किसी का अनिष्ट चिन्तन न करना। सब प्राणियों के साथ वैर भाव छोड़कर प्रेम नीति से बर्तना। सब कर्म अपने और दूसरों की सुख शान्ति के लिए ही करना। जो कोई कष्ट दे तो यह जानकर कि यह हमको हमारे कर्म का फल दे रहा है, बदले में उसकी कभी कष्ट देने की चेष्टा न करना। जो दुख प्राप्त हों उनको कर्मफल जानकर सहर्ष सहन करना। परमात्मा को सर्वव्यापक, अन्तर्यामी, न्यायकारी और कर्मफल दाता समझकर निश्चय जानना कि हिंसा का फल "दुःख" और दया का फल आनन्द है।

"असिंऽप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।" यो० द० २-३५

अहिंसा का व्रत पालन न करने के अहिंसक के समीप वैर का त्याग हो जाता है, अर्थात् न वह किसी से वैर करता है और न कोई उससे। वह सब संसार के लिए और सब संसार उसके लिए आनन्द प्रद हो जाता है।

सत्य

जैसा अपने ज्ञान में हो,वैसा ही सत्य बोलना,करना और जानना।मिथ्याचरण से स्वार्थ की सिद्धि चाहना अनधिकार चेष्टा है अनाधिकार चेष्टा करते ही अन्तःकरण में भय, शोक, मोह, चिन्ता और संशय का प्रवेश होने लगता है। यही हिंसा आदि पापों और दुःखों का मूल है। सुख का पूर्व रूप निर्भयता और स्वतन्त्रता है। निर्भय और स्वतन्त्र वही है जो हिंसा रहित सत्यव्रती है। जैसे-जैसे मिथ्याचरण में प्रवृत्ति हो जाती है वैसे ही वैसे आत्मिक निर्बलता अज्ञानता और भय शोकादि की भी वृद्धि हो जाती है। अन्त में अज्ञानान्धकार में पड़कर घोर विपत्तियों और क्लेशों के जाल में पड़ जाना पड़ता है। मिथ्याचरण से प्राप्त की हुई सम्पत्ति भी संकट में डालकर विनाश को प्राप्त हो जाती है। सत्यव्रती का पूर्वकृत कर्म फल रूप दुःख भोग आत्मिक बल की वृद्धि और आनन्द की प्राप्ति का साधन बन जाता है। सदाचारी बनने और मिथ्याचरण से छूटने का मूलोपाय सत्यभाषण करना है। इससे बाह्य और आभ्यान्तर के दुर्गुण, दुर्व्यसन दूर भाग जाते हैं। सत्य भाषण में वाक्छल न करना और न अप्रयोजन, अप्रिय तथा प्राणियों का अनहित करने वाला वाक्य बोलना। ईश्वर और संसार के सन्मुख विश्वासपात्र रहना।

"सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।" यो० द० २-३६

सत्यव्रती अनधिकार चेष्टा नहीं करता और न उसे असमय किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा ही होती है। उसे अपने सुख शान्ति के उपाय स्वयं सूझ पड़ने लगते है। उसे भावी परिणाम का बोध हो जाया करता है। उसके संकल्प, विचार, भाव और कर्म सत्य, सम्यक् और नियमित होते हैं, इसलिए उसे सम्यक् सब वस्तु प्राप्त हो जाया करती हैं और उसकी सब चेष्टायें, क्रियायें तथा उनके फल आनन्दप्रद होते हैं।

अस्तेय

पदार्थ के स्वामी की आज्ञा के बिना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना।

माता पिता आदि जो अपने पदार्थ प्रसन्नतापूर्वक देवें, जिन पदार्थों के

ग्रहण व प्राप्त करने में किसी को दुःख न हो और न अपने मन में भयादि उत्पन्न हो। जिन पदार्थों के भोग करने का अन्तिम परिणाम दुःखभोग न हो किन्तु सुखभोग ही हो, जो पदार्थ देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण आदि ऋणों से उऋण होकर शेष रह जायें वे अपने और अन्य दूसरों के हैं।

"अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। यो० द० २-३६

जो अपने शुभ संकल्पों की की पूर्ति करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। जो धर्मयुक्त पुरुषार्थ में ही पदार्थों की प्राप्ति करना अपना कर्त्तव्य समझता है, जो आय से अधिक व्यय नहीं करता है। जो लोभ और मोह-रहित आवश्यकतानुसार और नियमपूर्वक पदार्थों का संग्रह और भोग करता है। जो सब कर्म परोपकार युक्त करता है, उसके लिए संसार में कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं है। उसको जिस समय जहां जिस पदार्थ को प्राप्त करने की आवश्यकता होती है, उसी समय ही वह पदार्थ प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्मचर्य

मैथुन का त्याग करना। किसी प्रकार की चंचलता और कुचेष्टा न करना। किसी का स्पर्श न करना। नीचे दृष्टि रखना। एकान्त वन में निवास करना। प्रायः मौन रहना। समय को व्यर्थ न खोना, किन्तु नियम समय पर नियमपूर्वक सब काम करना। शुद्ध सतोगुणी स्वल्पहार सेवन करना। दिन में, रात्रि के प्रथम पहर और प्रातःकाल ब्रह्ममहूर्त में न सोना। सीमा से अधिक न जागना। कौपीन्वन्त होना अर्थात् वीर्य रक्षा करने में सदैव सावधान रहना।

"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।" यो० द० २-३८

ब्रह्मचर्य का पालन करने से वीर्य लाभ होता है। जितनी अधिक वीर्य रक्षा की जाती है उतनी ही अधिक ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान की प्राप्ति तथा इच्छा की पूर्ति करने की शक्ति प्राप्त होती है।

अपरिग्रह

स्वार्थ, अभिमान, दम्भ और पाखण्ड न करना। पराधीन कर्मों औ त्याज्य वस्तुओं को स्वयं त्याग देना, आवश्यकताओं को न्यून करना। आवश्यकता से अधिक वस्तु समीप न रखना। पुत्र, धन और मान-प्रतिष्ठा की इच्छा न करना। दूसरों का हित करते हुए निर्वाह करना। एकान्त शान्त रहना।

एकान्त शान्त रहने पर भी कुछ काल तक भूतकाल की जीवन घटनाओं और प्रसंगों का स्मरण जागृत और स्वप्नावस्था में आता रहता है। उस समय उनके कारणों और परिणामों का विचार करके शिक्षा प्राप्त करना। यदि संग दोष या संस्कार दोष से मन की मलिन वासनाओं व पापों की ओर प्रवृत्ति हो तो उनके विरुद्ध उच्च और उग्र विचार और भाव धारणा करके मन को उत्साहित और उत्तेजित रखना जिनके संकल्प, विचार, भाव और कर्म हिंसादि पापों से रहित सत्य धर्मानुकूल होते हैं उनके स्वप्न भी वैसे ही होते हैं।

"अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।" यो० द०

अपरिग्रह व्रत का पालन करने से शारीरिक और मानसिक बल तथा स्मरण शक्ति की वृद्धि होती है। तब योगी देश, काल और वस्तु के संयोग से अपनी पूर्व जन्म और इस जन्म की स्थिति, स्वकर्त्तव्य और भावी परिणाम को जान लेता है।

"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि नियमाः।"

यो० द० २-३२

नियम

शौच १ सन्तोष २ तप ३ स्वाध्याय ४ ईश्वर प्राणिधान ५, यह पांच नियम हैं।

शरीर, स्थान, वस्त्र और पत्रादि को स्वच्छ और पवित्र रखना। शीतल, मंद सुगन्ध युक्त वायु का सेवन करना। हल्का, मीठा, निर्मल जल छानकर पीना। सुगन्धित पुष्टिकारक रोगनाशक और मिष्ट (सतोगुणी) भोजन करना।

प्रातःकाल ब्रह्म-मुहूर्त्त में जाकर दूर वन में जा मलमूत्र को त्याग कर मिट्टी और जल से अच्छी प्रकार स्वच्छ और शुद्ध हो, दंतधावन, कुल्ला और स्नानादि से निवृत्त हो नित्य कर्म करना। ऐसे ही सायंकाल भी। निवास स्थान में वायु और प्रकाश का प्रवेश हो। नित्य सायं-प्रातःकाल अग्निहोत्र होता हो। शीतोष्ण का शक्ति से अधिक सेवन करना।

क्षुधा, तृष से अधिक, बारम्बार, अनियमित और असमय खानपान न करना। भोजन के पदार्थ देश, काल, अवस्था और शरीर के अनुकूल हों। भोजन करने में शीघ्रता न करना, किन्तु अच्छी प्रकार दांतों से पीस लेना। किसी का जूठा व किसी के साथ एक थाली व पात्र में भोजन व जलपान न करना। भोजन के पूर्व हाथ-पग धोकर आचमन, इनके पश्चात् किंचित जलपान कर अच्छी प्रकार कुल्ला आदि करके स्वच्छ होना।

मद्य, मांस, तम्बाकू आदि अभक्ष्य, सड़े, गले, बुसे और रूक्ष तथा लहसन, प्याज, शलगम, गाजर, गोभी, आलू, लाल मिर्च ओर खटाई आदि दुर्गन्धित और तमोगुणी आहार न करना। शनैः शनै छोड़ने का अभ्यास करके नमक आदि रजोगुणी आहार भी छोड़ देना। जिस खेत में गवादि पशुओं के मल मूत्र के अतिरिक्त घृणित खाद्य पड़ा हो उस खेत के अन्नादि का सेवन न करना। जो अन्नादि वन में ही रहे, ग्राम में न लाया जावे, तथा वन में ही संस्कार करके विधिवत्त बनाया गया हो, उसका सेवन करना अत्युत्तम है। जल यदि उत्तम प्राप्त न हो तो अच्छी प्रकार अग्नि से ऊष्ण कर लेना व अन्य प्रकार से शुद्ध निर्मल बना लेना। जल मिट्टी और ताम्र पात्र में रखना उत्तम है। ताम्रपात्र में ओष्ठ लगाकर न पीना और न उसमें जल के अतिरिक्त अन्य कोई खाने पीने योग्य वस्तु रखना। कोयला व दुर्गन्धित लकड़ी आदि से भोजन न बनाना।

सोने के समय वायु को आने-जाने देना। मुख को ढक कर अन्धेरे में न सोना। मुख से श्वास न लेकर नासिका से ही लेने का अभ्यास करना। मलमूत्र छींक आदि का न रोकना। केस, नख कटाते रहना, यदि केस न भी कटाएं तो स्वच्छ अवश्य रखना। मनुष्यादि की नासिका आदि से निकली वायु और उनके शरीरादि की दुर्गन्ध से बचाना। किसी को विशेष आव-

श्यकता के बिना समीप न आने देना। विशेष करके जो अभक्ष्य पदार्थ खाते पीते हों और जिनको तमोगुणी पदार्थ अधिक प्रिय हों, जो शरीर, स्थान, वस्तु, पात्रादि को अपवित्र और घृणित रखते हों, जो दूषित, रोगी और दुष्ट स्वभाव के हों, उनको अपने वस्त्र, पात्रादि का भी स्पर्श न करने देना और न उसके बनाये भोजन, वस्त्र, पात्रादि ही ग्रहण करना, जहां तक हो सके अपने आवश्यक कार्यों को स्वयं कर लेना।

"शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।" यो० द० २-४०

"किन्च सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन-योग्यत्वानिच।"

शौच नियम का पालन करने से बुद्धि की स्थूलता मन की मलिनता, चित्त की चंचलता दूर होती है। इन्द्रियां अनुकूल होती हैं। आलस्य और प्रमाद दूर होता है। शरीर पदार्थ ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे छोटे बालक को कटुपदार्थ। ईश्वर में प्रेम बढ़ता है और उपासना करने में तीव्र गति से प्रवृत्ति होती है।

सन्तोष

अपने आप में स्थित अर्थात् सन्तुष्ट रहना। आत्मप्रिय कर्म करना। आनन्दित पुरुषों से मैत्री, दुःखियों पर करुणा, धर्मात्माओं पर प्रसन्नता और अधर्मियों से उपेक्षा रखना। राग और द्वेष से पृथक रहना। हानि में शोकित और लाभ में हर्षित होना। अनायास जो प्राप्त हो उसे अपना समझकर सन्तुष्ट रहना चाहिए। मौन अथवा मित्तभाषी होना। सब प्राणियों में अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति का अनुभव करके प्रसन्न रहना।

"सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।" यो० द० २-४२

सन्तोष नियम का पालन करने से उत्तम सुख लाभ होता है।

तप

अपने उद्देश्य को पूर्ण किए बिना न छोड़ना। योग्यता ओर अधिकार को बढ़ाना। धैर्य और विवेक पूर्वक स्वकर्त्तव्य का पालन करना। संसार का उपकार निष्काम भाव से करना। अनेक दिनों की मलिन वासनाओं को अन्तःकरण से दूर करना। कष्टों और विघ्नों को सहन और निवारण करना। अपने से जो भूल, अपराध और पाप हो जावें उनका सुधार और प्रायश्चित तथा अपने को स्वयं उचित दंड देना।

"कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः" यो० द० २-४३

तप करने से शरीर और मनादि इन्द्रिय के विकार दूर होकर सिद्धि प्राप्त होती है।

स्वाध्याय

"ओ३म्" का अर्थ मननपूर्वक जप करना, वेद और उपनिषद तथा अन्य भी ऋषि प्रणीत ग्रन्थों का स्वाध्याय, पक्षपात, हठ, स्वार्थ और दुराग्रह को छोड़ कर शुद्ध बुद्धि से तर्क के साथ प्रमाणों से विचार करते हुए करना। उत्तरोत्तरकाल, वेद वेदांग के पठन पाठन की उन्नति करते रहना।

जिस प्रकार यदि मनुष्य भोजन न करे तो शरीर दुर्बल पड़ जाता है और वह कोई काम नहीं कर सकता, इसी प्रकार नित्यप्रति स्वाध्याय करके यदि ज्ञानामृत पान न किया जाय तो ज्ञान, विचार, विवेक, उत्साह और पुरुषार्थ, शक्ति निर्बल पड़ जाती है। चित्त को एकाग्र करने और इष्टदेव की ओर लगाने का साधन स्वाध्याय है। योगमार्ग में चलने के लिए स्वाध्याय ज्ञान प्रकाश का साधन है।

"स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।" यो० द० २-४४

स्वाध्याय करने से उत्साह और पुरुषार्थ की वृद्धि, धारणा; ध्यान और समाधि की सिद्धि, ज्ञान, कर्म उपासना, विज्ञान और इष्टदेव परमात्मा की प्राप्ति होती है।

योगी मूर्द्ध ज्योति में संयम करके ग्रन्थ के जिस विषय का स्वाध्याय करता है उस विषय के लिखने के समय ग्रन्थकर्त्ता का जैसा ज्ञान, विचार और भाव था वैसा ही जान लेता है और ग्रन्थकर्त्ता की आत्मा का दर्शन करता है। मानो ग्रन्थकर्त्ता योगी को स्वयं पढ़ाता है। वेदों के स्वाध्याय से ईश्वर का भी साक्षात्कार होता है।

ईश्वर-प्रणिधान

इस शरीर में पंच तत्व हैं। वे सब अपने-अपने सजातीय तत्वों की ओर जा रहे हैं। अन्त में हमारा साथ छोड़ देंगे, क्योंकि हम (जीव) उनमें के नहीं हैं; किन्तु कुछ ईश्वर से मिलते जुलते हैं। ईश्वर और हम दोनों "निराकार" और "चेतन" हैं। ईश्वर 'अमृत' है और हम 'अमृतपुत्र' हैं। ईश्वर और हममें देश काल की दूरी नहीं है, केवल ज्ञान की दूरी है, जो उपासना (योग) करने से दूर हो सकती है।

सर्वदा और सर्वावस्था में ईश्वर के समीप रहना अर्थात् परमपिता, परमगुरू, परमसहायक परमात्मा को सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सर्वाधार, सर्वेश्वर, करुणाकर, पुष्पनिधि, अधमोद्धारक, सकल दुःख विनाशक, सर्वानन्द और अन्तर्यामी जानकर स्तुति, प्रार्थना, उपासना और आज्ञा पालन करने में सदैव निमग्न रहना। जीवनार्पण कर देना अर्थात् जीवन का एक श्वास भी ईश्वर के प्रतिकूल न हो। ईश्वरीय आनन्द और प्रेरणा का सदैव अनुभव करते रहना, इसमें असावधानी न हो। प्रेम के आदर्श नचिकेता, ध्रुव और प्रह्लाद का सा प्रेमभाव धारण करना।

"समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।" यो० द० २-४५

जो एक क्षण के लिए भी कभी ईश्वर को नहीं भूलता जिसके जीवन का लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति है, जिसकी गति, मति और रति ईश्वर में ही है, उसी को समाधि सिद्ध होती है।

देश की स्वतंत्रता एवं उन्नति का प्रेरक : महर्षि दयानंद

• डा० प्रशान्त कुमार वेदालंकार

डी० बैब्ले के अनुसार वर्तमान माडर्न स्वतन्त्र भारत की वास्तविक आधार शिला दयानन्द ने रखी। सन् १९०६ में दादा भाई नोरोजी ने कहा था—'मैंने स्वराज्य शब्द सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों से सीखा।'

१८५७ की राष्ट्रीय क्रांति में

श्री पृथ्वीसिंह मेहता विद्यालङ्कार का 'हमारा राजस्थान' में अनुमान है कि १८५७ की क्रान्ति की तैयारियों से दयानन्द का निकटता से सम्बन्ध था। पं० जयचन्द्र विद्यालङ्कार का 'राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन' में अनुमान है कि १८५७ की हलचल में स्वामी दयानन्द का किसी न किसी रूप में हाथ अवश्य रहा होगा। पंडित जी ने बनारस के उदासी मठ के सत्यस्वरूप शास्त्री के कथन को उद्धृत किया है—साधु सम्प्रदाय में तो बराबर यह अनुश्रुति चली आती है कि दयानन्द ने १८५७ के संघर्ष में महत्वपूर्ण भाग लिया था। सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में १८५७ में अंग्रेज़ों द्वारा तोपों से मूर्त्तियों को उड़ा देने और इस सन्दर्भ में बाघेर लोगों की वीरता का उल्लेख और उनका कृष्ण जैसे किसी नेता होने की इच्छा आदि के वर्णन से भी जयचन्द्र जी का अनुमान है कि दयानन्द ने बाघेरों के संघर्ष को निकटता से देखा होगा।

सन् १८६६ में अजमेर में कर्नल ब्रुक्स की विदाई समारोह में हुए दयानन्द ने कहा—'आप लन्दन पहुंचकर महारानी विक्टोरिया को कह दें—यदि भारतीयों के धार्मिक जीवन में शासन इसी प्रकार रहा और गाय जो भारत की अर्थव्यवस्था की रीढ़ और सांस्कृतिक जीवन की प्रतीक है, उसका वध जारी रहा तो १८५७ की क्रान्ति भी दोहराई जा सकती है।' उनकी यह वीर गर्जना भी इस बात का प्रमाण है कि १८५७ की क्रान्ति में उनका अवश्य योगदान रहा होगा। उन्होंने लक्ष्मीबाई, तांत्या टोपे और अन्य बहादुरों को इस क्रान्ति में कूच करने की प्रेरणा दी थी।

स्वामी विरजानन्द से देश की उन्नति की शिक्षा

पृथ्वीसिंह मेहता विद्यालङ्कार के अनुसार देश की दशा पर भी गुरु शिष्य का संवाद एकान्त में होता था जिसमें उन दोनों के सिवाय वहाँ तीसरा कोई व्यक्ति नहीं रहने पाता था। शिक्षा प्राप्त करने के बाद गुरू ने दक्षिणा मांगते हुए कहा था—'वत्स ! भारत देश में दीन-हीन जन हैं जो मतमतान्तरों के संघर्ष में कष्ट पा रहे हैं, जाओ इनके दुःख निवारण करो।' उनसे प्रेरणा पाकर दयानन्द क्रान्ति की मशाल लेकर निकल पड़ा। हरिद्वार में एक दिन उन्होंने कहा—'मेरी आंखें उस दिन को देखने को तरस रही हैं, जब कश्मीर से कन्याकुमारी तथा अटक तक आर्यों का एकछत्र राज्य स्थापित होगा।'

पराधीनता और दुर्दशा के कारण

दयानन्द ने कहा था—'जब से विदेशी इस देश में आकर राज्याधिकारी हुए तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती हैं।' सन् १८७७ में एक पादरी के प्रश्न के उत्तर में कहा था—'आर्य लोग वेदानुसार ब्रह्मचर्य, विद्या प्राप्ति, एक स्त्री से विवाह, दूर देश की यात्रा और स्वदेश प्रेम आदि शुभ कर्मों का परित्याग कर बैठे हैं, इसलिए उनकी यह अधोगति हो रही है।

देश की स्वतन्त्रता व उन्नति के प्रयत्न

(क) आर्यसमाज की स्थापना : देश की स्वतन्त्रता व उन्नति के लिए महर्षि दयानन्द ने १० अप्रैल, १८७५ को बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की। आर्यसमाज के प्रारम्भ में बनाए २८ नियमों में १७वां नियम था—इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जाएगा—एक परमार्थ, दूसरा व्यवहार। इन दोनों का शोधन तथा समस्त संसार के हित की उन्नति की जावेगी। महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों के आधार

पर इस नियम के उत्तरार्द्ध की व्याख्या होगी -- वैदिक संस्कृति के विशाल मानवीय संस्कृति की ध्वनि सम्पूर्ण जगत् में प्रसारित की जाए। इन नियमों में ग्यारहवां नियम भी महत्वपूर्ण है। जिसके अनुसार आर्यसमाज में केवल सिद्धान्तों पर ही विचार न होगा, उसके व्यावहारिक प्रयोग पर भी विचार किया जाएगा। आज हम आर्यसमाज की जन्म शताब्दी मना रहे हैं। आर्य-समाज के १०० वर्षों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि आर्यसमाज ने देश की स्वतन्त्रता में महान् योगदान दिया। श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा, ला० लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, भाई परमानन्द, सरदार अजीतसिंह, श्री मदनलाल ढींगरा, श्री रामप्रसाद बिस्मिल, श्री गेंदालाल, ठा० रोशनसिंह सरदार भगतसिंह, चौ० मुख्त्यारसिंह, श्री हरविलास शारदा तथा अन्य अनेक स्वतन्त्रता प्रेमियों ने महर्षि से प्रेरणा प्राप्त कर देश की स्वतन्त्रता के लिए अपने को बलिदान किया।

मालाबार के मोपला विद्रोह, राजस्थान व बंगाल के अकाल, विहार के भूकम्प, नोआखाली, देश-विभाजन और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सन् १९५७ में पंजाब में हिन्दी रक्षा आन्दोलन आदि में भाग लेकर आर्यसमाज ने सदा अन्याय के विरुद्ध संघर्ष किया।

राजनीतिक व धार्मिक शक्ति का संघटन

१ जनवरी, १८७७ ई० को दिल्ली में महारानी विक्टोरिया के महा-रानी होने पर आयोजित दरबार में दयानन्द ने दिल्ली पहुँचकर एक ओर आर्यावर्त के समस्त राजाओं के हृदय में सच्चे आर्य धर्म को जगाकर देश-प्रेम जगाने का प्रयत्न किया तथा साथ ही देश के भिन्न-भिन्न धार्मिक नेताओं को एकत्रित करके ऐसा महानद ढूंढने का प्रयत्न किया जिसमें सब सम्प्रदाय रूपी नाले आकर मिल जाएं। सभी प्रजा के सुधार का दावा करते हैं, पर सभी परस्पर झगड़ों में पड़े हुए हैं। स्वामीजी के निमन्त्रण पर बा० केशवचन्द्र सेन, सर सय्यद अहमद खां, मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, बा० नवीनचन्द्र राय, मुंशी इन्द्रमणि और बा० हरिश्चन्द्र चिन्तामणि आदि महा-नुभाव इकट्ठे हुए। इसमें बंगाल, बम्बई, उत्तर प्रदेश और पंजाब से आए इस्लाम, ब्रह्मसमाज, सनातन धर्म तथा आर्यसमाज के प्रतिनिधि विद्यमान थे। यह बात दूसरी है कि महर्षि दयानन्द का यह प्रयत्न कोई एकदम रंग नहीं ला सका, पर ऐतिहासिक दृष्टि से इसके महत्व का आकलन किया जा सकता है।

स्वदेश प्रेम एवं स्वराज्य की भावना

महर्षि दयानन्द ने स्वदेश प्रेम एवं स्वराज्य की भावना जागृत करके भारत की जनता को विदेशी शासन से मुक्त होने का पाठ पढ़ाया था। अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश की रचना करके उसमें अपने देश का गौरव गान किया तथा भारतवासियों के हृदयों में अपने देश और धर्म के लिए स्वाभि-मान उत्पन्न किया। उनके कुछ उद्धरण उल्लेखनीय हैं :

—यह आर्यावर्त देश ऐसा है कि जिसके सदृश भूगोल में दूसरा देश नहीं है। आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहेरूपी विदेशी छूते ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।

—जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है और आगे होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें।

—सृष्टि से लेकर पाँचों सहस्रों वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे क्योंकि कौरव-पाण्डव पर्यन्त यहाँ के राज्य और राज्य शासन में सब भूगोल के सब राजा और प्रजा चलाते थे। (एकादश समुल्लास) आदि अनेक वाक्यों द्वारा महर्षि ने राष्ट्र को यह अनुभव करा दिया कि हम भी कभी शक्ति सम्पन्न और स्वाधीन थे।

स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग

एक दिन का वर्णन है कि ठाकुर ऊधोसिंह छावली निवासी अपने पिता ठाकुर भूपालसिंह जी के साथ स्वामी जी के दर्शन करने के लिए अलीगढ़ में आए। उस दिन ऊधोसिंहजी के वस्त्र नये ढंग के थे और सब के सब विला-यती कपड़े के बने थे। स्वामी जी ने अति प्यार से कहा 'ऊधव!' देखो तुम्हारे पिता कैसे मोटे, सादे और अपने देश के कपड़े के बने वस्त्र पहनते हैं। उनका समाज में कितना अधिक सम्मान है। क्या तुम इस विदेशी कपड़े से बने नये वेष से विभूपित होकर अपने पिता से अधिक संस्कृत हो गये हो? ऊधव अपने ही देश के वस्तु वेष को अपनाने में शोभा है।' स्वामीजी का यह उपदेश ऊधोसिंह जी के हृदय में घर कर गया। उन्होंने अपने डेरे में जाकर वे वस्त्र उतार दिये और पुराने ढंग के स्वदेशी वस्त्र धारण कर लिये। महात्मा गांधी के स्वदेशी आन्दोलन से बहुत पूर्व महर्षि दयानन्द ने देशवासियों में स्वदेशी भावना भरी थी। पट्टाभिसीतारामय्या ने कहा है कि गांधी राष्ट्रपिता हैं तो दयानन्द राष्ट्रपितामह हैं।

कर्मण्यता और परिश्रम से जीवन यापन

सन् १८७८ में अमृतसर में स्वामीजी के एक व्याख्यान में बहुत से निर्मले साधु आये और खड़े-खड़े ही भाषण सुनने लगे। दयानन्द ने उस समय कहा—'सहस्रों भारतवासी पेट भर अन्न नहीं पाते, दाने-दाने के लिए तरसते हैं। भूख के मारे बिल्ली कुत्ते की मृत्यु मरते जाते हैं। देश की ऐसी शोचनीय दशा में धड़ाधड़ लोटेशाही और तूम्बेशाही बनने की क्या आवश्यकता है। इस समय तो प्रत्येक को परिश्रम करके आजीविका चलानी चाहिए।' स्वावलम्बन का यह पाठ देश की स्वतन्त्रता में सहायक रहा।

पूर्ण स्वतन्त्रता की कल्पना

दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में लिखा है—'आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन निर्भय राज्य इस समय नहीं है, जो कुछ है, सो भी विदेशियों के पदाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर पिता के समान कृपा न्याय और दया के

साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।' पूर्ण स्वराज्य की इससे सुन्दर व्याख्या क्या हो सकती है। कांग्रेस ने स्वराज्य का नारा सन् १९२९ में दिया था, पर महर्षि ने इसका बहुत पहले ही स्वप्न देख लिया था।

देशोन्नति के उपाय

(क) भावात्मक एकता—एक दिन पण्डया मोहनलाल विष्णुलालजी ने पूछा—'भगवन् भारत का पूर्ण हित कब होगा? यहाँ जातीय उन्नति कब होगी?' दयानन्द ने उत्तर दिया—'एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर कार्य है। सब उन्नतियों का केन्द्र स्थान ऐक्य है। जहाँ भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाय वहाँ सागर में नदियों की भांति सारे सुख एक-एक करके प्रवेश करने लग जाते हैं। मैं चाहता हूँ कि देश के राजे-महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करें। अपने राज्य में धर्म, भाषा और भावों में एकता उत्पन्न कर दें। फिर भारत भर में आप ही आप सुधार हो जाएगा।··· धर्मगुरुओं और सामाजिक नेताओं की असावधानी, प्रमाद और आलस्य से भावना, भाव और भाषा आदि एकता के चिह्न बदल जाते हैं। जाति के आचार-विचार परिवर्तित हो जाते हैं।··· इसके पिछले प्रमाद के कारण करोड़ों हिन्दू मुसलमान बन गये। अब प्रतिदिन सैंकड़ों ईसाई बनते जा रहे हैं। ऐसे समय तो अपने सधर्म बन्धुओं को कड़े हाथ से इनकी चोटियां पकड़ कर भी जगाना होगा।'

(ख) निःस्वार्थ भावना से परहित—सन् १८७७ में मुलतान से महतोलाल जी ने एक पत्र लिखा—'आर्यसमाज के ठीक नियमों को समझकर आपको वेदाज्ञानुसार सबके हित में अवश्य लग जाना चाहिए—विशेषता से अपने आर्यावर्त देश के सुधारने में अत्यन्त श्रद्धा, प्रेम और भक्ति होनी चाहिए। सबको अपने समान जानकर उनके क्लेशों के काटने और सुखों के बढ़ाने के लिए प्रयत्न और उपाय करना उचित है। सबका हित करना ही परम धर्म है। इसी के प्रचार की वेद में आज्ञा पाई जाती है।

दयानन्द ने स्वराज्य के जिस स्वरूप का वर्णन किया उसे हम गणराज्य का नाम दे सकते हैं। राजा प्रजा द्वारा निर्वाचित हो। शासन मंत्रियों की सभा द्वारा हो, पुरुषों और स्त्रियों के अधिकार समान हों, सभी को समान वस्त्र, भोजन और आसन मिलना चाहिए चाहे वे राजकुमार हों या निर्धन की सन्तान। प्रयाग निवास के दिनों में जो उपदेश दिए, उनमें अन्य बातों के साथ यह भी कहा कि देश में बड़े-बड़े कारखाने खोलने चाहिए ताकि आर्थिक उन्नति हो सके। राष्ट्र अत्यन्त शक्ति सम्पन्न हो।

महर्षि दयानन्द ने राजस्थान के राजाओं के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क रखकर उनको मनुस्मृति आदि के द्वारा राजधर्म की शिक्षा दी थी। यज्ञशाला से ब्राह्मतेज तथा क्षात्रशाला से क्षात्रतेज उत्पन्न करने की प्रेरणा दी। निष्पक्ष न्याय व्यवस्था के लिए उपदेश दिया। उनमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि विचार अत्यन्त क्रांतिकारी एवं व्यावहारी कहे। उनके सिद्धान्तों का आधार सत्य, निष्पक्षता एवं मानवता की भावना है। देश के राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो जाने के बाद भी आज वे देशोन्नति के साधक हैं। देश के सम्मुख आज जो भयंकर समस्याएं हैं, महर्षि दयानन्द का मार्ग उनका समाधान कर सकता है। इन सब पक्षों पर पृथक रूप से विचार करने की अपेक्षा है। आर्यसमाज की जन्म शताब्दी वर्ष में आर्यसमाज और उसकी प्रेरणा से भारत सरकार को उनके मार्ग को अपनाने का निश्चय करना चाहिए।

हम इस लेख की समाप्ति २४ जुलाई, १८८२ को दयानन्द द्वारा अपने प्रिय शिष्य रामानन्द को लिखे पत्र से करते हैं—'परमात्मा से सदा यही प्रार्थना करता हूँ कि आप महाशय पुरुषों की बुद्धि को परोपकार के करने में निरन्तर नियुक्त किया करें। जिससे पुनः आर्यावर्त देश अपनी पूर्व दशा को सम्प्राप्त होकर अपने मनुष्यरूपी वृक्ष में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चतुष्टय फलों से संयुक्त होकर परमानन्द भोगे।'

ऋषि दयानन्द की वेदार्थ में क्रान्ति

• डा० रामनाथ वेदालंकार

प्रारम्भिक युग की बात

वेद सृष्टि के आदि काल से आर्य-जाति के लिये ज्ञान के स्रोत रहे हैं। एक युग था जब कि वेदरूपी सूर्य की प्रकाशमय किरणें साधक के अन्तः-करण में सीधी प्रवेश कर उसे आलोकित कर सकती थीं, उसका हृदय उस भाषा द्वारा ज्ञान को साक्षात् ग्रहण करने के योग्य था। उस युग के मनुष्य वेद-मन्त्रों में कहे ज्ञान को वैसी ही आसानी से हृदयङ्गम कर सकते थे जैसे आज का पाठक मैथिलीशरण गुप्त की किसी कविता के हृदयगत भाव को ग्रहण कर सकता है। उस समय इस बात की आवश्यकता नहीं थी कि वेदों पर बड़े-बड़े भाष्य रचे जाएं।

नया युग और वेदार्थों का ह्रास

किन्तु शनैः शनैः समय ने पलटा खाया। मनुष्यों की बोलचाल की भाषा वैदिक भाषा से बहुत भिन्न हो गई। वेदों को गुरु-मुख से पढ़ने की आवश्यकता होने लगी। फिर एक समय ऐसा भी आया जब कि वेद का ज्ञान कुछ ही पण्डितों तक सीमित रह गया। सर्वसाधारण यज्ञों में उनका पाठ तो करते थे, किन्तु उनके अर्थ से सर्वथा अनभिज्ञ रहते थे। यहाँ तक कि कर्मकाण्डी लोगों ने यह कहने तक का साहस किया कि वेद-मंत्रों का अर्थ कुछ होता ही नहीं, ये निरर्थक रचनाएं हैं। यज्ञ में इनके पाठमात्र से स्वर्गादि फल-विशेष की प्राप्ति हो जाती है। यास्ककृत निरुक्त में कौत्स नाम के एक ऐसे ही पण्डित का उल्लेख मिलता है। उसने युक्तियों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वेद-मंत्र अनर्थक हैं।

वेदों पर भाष्य

जब ऐसा समय आ गया तब यह आवश्यकता हुई कि वेदों पर भाष्य रचे जाएं। अपनी-अपनी मति के अनुसार समय-समय पर तात्कालिक विद्वान् भाष्यों का प्रणयन करते रहे। वर्तमान में वेदों पर जो टीकाएं उपलब्ध होती हैं उनमें यास्क का प्रयत्न सर्वप्रथम समझा जा सकता है। यास्क का निरुक्त यद्यपि आद्योपांत वेद का भाष्य नहीं है, तो भी वेदार्थ की दिशा दिखाने में परम सहायक है। प्राचीन आचार्यों को निघण्टु, वेदांग, वेदभाष्य आदि लिखने की क्यों आवश्यकता हुई इसे बताते हुए यास्क लिखते हैं—

> साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः तेऽवरेभ्योऽसा—
> क्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मंत्रान् सम्प्रादुः।
> उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिलमग्रहणायेमं,
> ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च॥

अर्थात् प्राचीनकाल में जो ऋषि होते थे, उन्हें वेद के अर्थ स्वयमेव हस्तामलकवत् भासित होते जाते थे। वे उन अर्थों को ऐसे व्यक्तियों को पढ़ा देते थे जो वेदार्थों का साक्षात् अनुभव करने योग्य नहीं होते थे। इस प्रकार गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा बहुत काल तक मौखिक ही वेदों का अध्य-यन-अध्यापन होता रहा। किन्तु बाद में यह समझा गया कि यदि वेदों को लेखबद्ध कर दिया जाये तथा उसका अर्थ समझने के लिए निघण्टु, निरुक्त आदि वेदांगों की रचना हो जाये तो भावी सन्तति को वेदार्थों का ज्ञान सुगमता से हो सकेगा। इसीलिये वैदिक कोषों, भाष्यों आदि की रचना हुई।

वेद-भाष्यकारों में सबसे अधिक उल्लेखनीय भाष्यकार सायण हैं। इन्होंने चारों वेदों पर भाष्य लिखा है। ऐतिहासिकों के अनुसार इनका काल १४वीं सदी है। ये दक्षिण भारत में विजय नगर साम्राज्य के संस्था-पक हरिहर और बुक्क के मंत्री रहे थे और उन्हीं के संरक्षण में इन्होंने अन्य पंडितों के सहयोग से अपना वेद-भाष्य तैयार किया। वेद-भाष्यकार के रूप में इनकी महत्ता इसी लिये है क्योंकि एक मात्र ये ही भाष्यकर्त्ता हैं जिनका चारों वेदों पर भाष्य मिलता है। न केवल चारों वेदों पर ही, किन्तु उनसे सम्बद्ध ब्राह्मण ग्रंथ और आरण्यकों पर भी इनका भाष्य है परंतु काल की दृष्टि से सबसे पहले भाष्यकार ये नहीं हैं। इनसे पहले भी माधव भट्ट,

स्कंद स्वामी, वेंकटमाधव, आनंदतीर्थ, आत्मानंद, भरत स्वामी आदि अनेक भाष्यकार हो चुके हैं।

चारों वेदों पर भाष्य-रचना हुई है। किसी ने सम्पूर्ण वेद का भाष्य किया है, तो किसी ने कुछ अंश पर। ऋग्वेद के भाष्यकार स्कंद स्वामी, नारायण, उद्गीथ, वेंकट माधव, आनंदतीर्थ, आत्मानंद, सायण, स्वामी दयानन्द आदि हैं। यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता पर उवट और महीधर का भाष्य उपलब्ध है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इस पर सम्पूर्ण भाष्य किया है। काण्व संहिता के प्रथम २० अध्यायों पर सायण भाष्य भी मिलता है। सायण का भाष्य तैत्तिरीय संहिता पर भी है। सामवेद पर मुख्यतः माधव, भरत स्वामी तथा सायण का भाष्य है। अथर्ववेद पर भी सायण-भाष्य उपलब्ध है, यद्यपि वह त्रुटित तथा असम्पूर्ण है। कतिपय आधुनिक भाष्यकार भी हैं।

पाश्चात्त्य विद्वानों का प्रयत्न

इधर जब से पाश्चात्त्य विद्वानों की संस्कृत के अध्ययन की ओर रुचि हुई है तब से उनका भी ध्यान वेदों की ओर आकृष्ट हुआ है। यूरोपियन तथा अमेरिकन संस्कृतज्ञों ने बड़े परिश्रम से वैदिक साहित्य का अध्ययन किया है, तथा वैदिक ग्रंथ के शुद्ध संस्करण भी प्रकाशित किये हैं। इस विषय में सबसे पहला नाम प्रो० मैक्समूलर का है, जिन्होंने सन् १८४९ से लेकर १८७५ तक अर्थात् लगभग छब्बीस वर्षों में ऋग्वेद का सायण भाष्य के साथ अत्यन्त विशुद्ध संस्करण ६ जिल्दों में निकाला। डा० वेबर ने यजुर्वेद की दोनों संहिताओं का, डा० बेनफ़ी ने सामवेद का तथा डा० राथ और विटने ने मिलकर अथर्व संहिता का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया। वैदिक ग्रंथों के अनुवाद भी प्रचुरता के साथ किये गये। सबसे पहले डा० विलसन ने ऋग्वेद का अनुवाद १८५० ई० में सायण-भाष्य के आधार पर करना आरम्भ किया, परन्तु इसे पूरा नहीं किया। इसके अनंतर जर्मन भाषा में ऋग्वेद के दो अनुवाद निकले। सन् १८७६-७७ में डा० ग्रासमान ने दो जिल्दों में ऋग्वेद का पद्यात्मक अनुवाद भारतीय टीकाकारों की उपेक्षा करके शुद्ध पाश्चात्य पद्धति पर किया। उसी समय डा० लुडविग ने गद्यात्मक अनुवाद छः जिल्दों में १८७६-८८ के बीच उपयोगी व्याख्या के साथ प्रकाशित किया। काशी के क्वीन्स कालेज के अध्यक्ष डा० ग्रिफिथ ने भी चारों वेदों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त डा० कीथ ने तैत्तिरीय संहिता का डा० विटने और लैनमैन ने अथर्व संहिता का टिप्पणीयुत अनुवाद किया है।

इन भाष्यों के दोष

इस प्रकार प्राचीन भारतीय विद्वता तथा वर्तमान यूरोपियन पांडित्य दोनों ने वेदार्थ की खोज के लिये अपनी ओर से भरसक प्रयत्न किया है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या इन भाष्यकारों ने हमारे हाथ में वेदार्थ की सही कुञ्जी दे दी है। इसका उत्तर हमें नकार में ही देना पड़ता है।

सायणादि के जो प्राचीन संस्कृत भाष्य हैं उन्हें पढ़ने से पाठक के मन में यही धारणा पैदा होती है कि वेदों में यज्ञ और कर्मकाण्ड के सिवा कुछ है ही नहीं। यज्ञों में भिन्न-भिन्न देवताओं के मंत्र पढ़े जाते हैं, और उनसे प्रसन्न होकर देवता हमें अन्न, धन, सोना-चाँदी, सन्तान, गाय, घोड़े, दीर्घायुष्य आदि प्रदान करते हैं। उनकी दृष्टि में केवल यही वेदों का प्रयोग है और यहीं तक उनका माहात्म्य परिमित है। इसके अतिरिक्त ये भाष्यकार वेदों में अनेक स्वतन्त्र देव-देवियों को मानना, परवर्ती इतिहास को वेदों पर थोपना, वेदों में जादू-टोनों आदि की कल्पना करना, क्वचित मंत्रों के अश्लील अर्थ करना, यज्ञों में पशु-हिंसा व मांस-भक्षण स्वीकार करना आदि दोषों से भी नहीं बच सके हैं।

वेदार्थ की पाश्चात्त्य पद्धति तो और भी दोष-युक्त है। पाश्चात्त्य विद्वानों को तो वेद के एक-एक शब्द में इतिहास बोलता हुआ दिखाई देता है। भारतीय साहित्य के विषय में भारतीय ऋषि क्या कहते हैं, भारतीय परम्परा क्या कहती है, इस सबको एक किनारे रखकर वे अपनी विचार-धारा में निमग्न हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद के 'शिश्नदेव' शब्द से वे यह परिणाम निकालते हैं कि प्राचीनकाल में लिङ्ग-पूजा चल पड़ी थी, जबकि निरुक्तकार ने इस शब्द का सीधा अर्थ 'अब्रह्मचारी' ही किया है। यह तो एक उदाहरण है, ऐसे अनर्गल अर्थ पाश्चात्त्य विद्वानों ने प्रायः किये हैं। हमारा कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि पाश्चात्त्य विद्वानों ने वेद के विषय में जो कुछ किया है वह सब निन्दनीय ही है। उनसे हम बहुत कुछ सीख भी सकते हैं। किन्तु यहाँ तो सामान्यतः भाष्य-शैली का प्रश्न है।

ऋषि दयानन्द का प्रयत्न

इस प्रकार जब विविध भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् अंधेरे में टटोल कर वेदार्थ की खोज में लगे हुए हैं उस समय भारतीय गगन में एक दिव्य ज्योति चमकती है, जिससे धुंधले पड़े हुए वेद फिर प्रकाश में आ जाते हैं। वह दिव्य ज्योति है ऋषि दयानन्द। ऋषि दयानन्द ने लुप्त हुई वेदार्थ-पद्धति का पुनरुद्धार किया है, ऋषि दयानन्द ने विस्मृत हुए वेदों के सच्चे गौरव को पुनः हमारे सम्मुख प्रकट किया है, ऋषि दयानन्द ने पूर्वजों द्वारा अज्ञानवश छोटे से चौबच्चे में डाल दिये गये वेदों को पुनः अजस्रस्राविणी निर्मल धारा के रूप में प्रवाहित कर दिया है, ऋषि दयानन्द ने वेदार्थ के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है।

ऋषि दयानन्द ने सन् १८७६ में भाष्य करना प्रारम्भ किया था। वे चारों वेदों का भाष्य नहीं कर पाये। उनका भाष्य ऋग्वेद तथा यजुर्वेद पर ही है। यजुर्वेद सम्पूर्ण का तथा ऋग्वेद के १० में से प्रथम ६ मण्डल और ७वें के कुछ भाग का भाष्य उन्होंने किया है। किन्तु इतने से ही भाष्य की एक नवीन शैली उन्होंने हमारे सामने रख दी है।

वैदिक देवों पर विचार

ऋषि दयानन्द की शैली की पहली विशेषता है वैदिक देवों के स्वरूप पर विचार करना। वेदों से थोड़ा भी परिचय रखने वाले जानते हैं कि वेदों में अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, सोम, रुद्र, मरुत बृहस्पति, ब्राह्मणस्पति, अश्विनी आदि अनेक देवों की स्तुति है। इन देवों का स्वरूप क्या है, ये कौन हैं, इस विचार में प्राचीन भाष्यकर्ता नहीं पड़े। उनकी दृष्टि में तो

बस ये स्वर्ग के देवता हैं, जो हमारी स्तुतियों से प्रसन्न होते हैं और यज्ञ में अपना हविर्भाग लेने के लिए उपस्थित होते हैं। उनके भाष्यों से यह भी भ्रान्ति होती है कि ये वेदोक्त सब देव स्वतन्त्र हैं और वेद की दृष्टि में विश्व के संचालक अनेक ईश्वर हैं। चतुर्वेद-भाष्यकार सायण ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि प्रकृति में आग, हवा, सूरज, नदी आदियों के अपने-अपने पृथक् देवता हैं, जो इनका अधिष्ठातृत्व करते हैं। किन्तु ऋषि दयानन्द ने बताया कि वेदों के ये देव पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र ईश्वर नहीं हैं, अपितु एक ही ईश्वर के गुणकर्मानुसार विविध नाम हैं. जैसा कि वेद स्वयं कह रहा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु—
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति—
अग्नियमं मातरिश्वानमाहुः ।।

ऋग्वेद १, १६४, ४६

साथ ही ऋषि ने यह भी बताया कि ये देव ईश्वर तक ही सीमित नहीं हैं, इनके अपने दूसरे आधिदैविक, आधिभौतिक आदि अर्थ भी हैं। जैसे 'इन्द्र' का अर्थ जहाँ परमेश्वर है, वहाँ इसके अन्य अर्थ विद्युत, सूर्य, राजा या जीवात्मा भी हैं, 'अग्नि' का अर्थ जहाँ परमेश्वर है, वहाँ दूसरे अर्थ आग, यज्ञाग्नि, सेनापति, आत्मिक अग्नि आदि भी हैं, 'रुद्र' का अर्थ जहाँ परमेश्वर है, वहाँ इसके दूसरे अर्थ वायु, प्राण, विद्युत, चिकित्सक, सेनापति, राजा आदि भी हैं। इन देवों के प्राकृतिक अर्थ तो पुराने भाष्यकारों ने भी कहीं-कहीं किये हैं, किन्तु ये देव मनुष्य भी हो सकते हैं यह ऋषि के ही मस्तिष्क की सूझ थी, यद्यपि शतपथ आदि में इसके बीज पहले से ही विद्यमान है। ऋषि ने शतपथ के ही प्रमाण से उद्घोषित किया कि विद्वान् लोग ही देव हैं, "विद्वांसो वै देवाः"। इस प्रकार ऋषि ने वेदों को केवल कर्मकाण्ड तक ही सीमित नहीं रखा, किन्तु इसके आध्यात्मिक, राजनैतिक, याज्ञिक, प्राकृतिक आदि अन्य अर्थ भी हमारे सामने रखे और यह बतलाया कि मनुष्य-जीवन के लिए उपयोगी सब सन्देश, प्रेरणाएं और ज्ञान—विज्ञान वेद में विद्यमान हैं।

यौगिकवाद

ऋषि की शैली की दूसरी विशेषता है यौगिकवाद। ऋषि ने वेद का स्वाध्याय करने वालों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि वेदों के शब्द यौगिक या यौगरूढ़ हैं। यौगिकता के सिद्धान्त को प्राचीन भाष्यकारों ने स्वीकार न किया हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु स्वीकार करके भी वे इसका अपने भाष्यों में समुचित प्रयोग नहीं कर सके। अनेक शब्द ऐसे हैं जो वेदों में भी प्रयुक्त हुए हैं और लौकिक संस्कृत में भी। शब्द एक से होते हुए भी उनके अर्थों में आकाश-पाताल का अन्तर है। लौकिक संस्कृत में अश्व शब्द केवल घोड़े के लिए आता है, किन्तु वेद में बादल, अग्नि, सूर्य आदि को भी अश्व कहा गया है। लौकिक संस्कृत में घृत का अर्थ घी ही है, किन्तु वेद में उसके 'घी' के साथ 'पानी' और 'तेज' अर्थ भी हैं। लौकिक संस्कृत में 'समुद्र' का अर्थ सागरमात्र हैं, किन्तु निघण्टु के अनुसार वेद में यह 'सागर' तथा 'अन्तरिक्ष' दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। लौकिक संस्कृत में अद्रि, गिरि आदि शब्द केवल पर्वत के वाची हैं, किन्तु निघण्टु में ये मेघवाची नामों में पठित हैं। 'पुरीष' शब्द लौकिक संस्कृत में 'मल' के लिए आता है, किन्तु वैदिक कोषानुसार इसका अर्थ पानी है। ये कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिनके विषय में किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक शब्दों के अर्थ करते हुए यह आग्रह करना कि लौकिक संस्कृत में किसी शब्द का जो अर्थ है वही वेद में भी किया जाये दुराग्रह ही कहा जायेगा। वेद में किसी शब्द का अर्थ प्रकरणानुसार उसके यौगिक अर्थों में से कोई भी हो सकता है। जैसे अग्नि शब्द का अर्थ लौकिक संस्कृत में तो आग ही लिया जायेगा, किन्तु वेद में अग्निपदवाच्य कई वस्तुयें हो सकती हैं, क्योंकि अग्नि का यौगिक अर्थ अग्रणी या गतिमान है, जो कई वस्तुओं में घटता है।

इतिहास का निराकरण

वेदों में अनेक शब्द ऐसे आते हैं जो ऐतिहासिक से प्रतीत होते हैं। विश्वामित्र, जमदग्नि, कश्यप' अत्रि, अंगिरा, कण्व, प्रस्कण्व, च्यवन आदि ऋषियों के नाम, पुरुरवा, नहुष, ययाति, यदु, तुर्वश, शांतनु, इक्ष्वाकु आदि राजाओं के नाम, अयोध्या, गांधार, मगध आदि देशों के नाम वेदों में हैं। सायणादि भाष्यकार यौगिकवादी होते हुए भी ऐसे स्थलों में यौगिकवाद को मानो भूल ही गये हैं, और प्रायः सर्वत्र उन्होंने पौराणिक इतिहास उद्धृत करके ही सन्तोष कर लिया है। किन्तु शताब्दियों बाद ऋषि दयानन्द ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए जिन्होंने इन शब्दों के भी यौगिक अर्थ दिखाये और वेद के गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखा। ऋषि के बताये हुए इस यौगिकता के मार्ग को यदि हम अपने सामने रखे रहें तो पाश्चात्यों की वेदार्थ की इतिहास-प्रधान शैली के आगे भी हमारी आंखें चोंधियायेंगी नहीं, और हम धैर्यपूर्वक सच्चे वेदार्थ की खोज करने में सफल हो सकेंगे।

विनियोगों की अनित्यता

प्राचीन आचार्यों ने वेदमंत्रों को किन्हीं विशेषण विधियों में विनियुक्त कर लिया है। स्वामी दयानन्द की धारणा है कि उनमें से जो विनियोग युक्तिसंगत, वेदादिप्रमाणानुकूल तथा मंत्रार्थानुसारी हैं वे ही ग्राह्य हैं, इतर नहीं। साथ ही उनके मत में जो पूर्वकृत विनियोग ग्राह्य भी हैं, उनका भी मंत्रों के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् ऐसा नहीं है कि उसी विधि के लिए उन मंत्रों की रचना हुई हो। कोई अन्य आचार्य इतर विधि में भी उन्हें विनियुक्त कर सकता है। इसी आधार पर स्वामी दयानन्द ने पूर्वकृत विनियोगों से स्वतन्त्र होकर अपना वेदभाष्य किया है। उनकी यह विशेषता उनके यजुर्वेद-भाष्य में सर्वत्र देखी जा सकती है।

कुछ अन्य विशेषतायें

इन विशेषताओं के अतिरिक्त ऋषि दयानन्द के भाष्य की कुछ अन्य विशेषतायें भी हैं। ऋषि ने अपने भाष्य से पहले एक विस्तृत भूमिका लिखी है, जिसमें उन्होंने वेदों पर किये जाने वाले प्रहारों का तर्क से उत्तर किया है। वेदानुयायी विद्वान् यह तक भूल चुके थे कि वेद नाम किस का है,

वे ब्राह्मण ग्रंथों को भी वेद की श्रेणी में ही रखते थे, "मंत्रब्राह्मणयो—वेदनामधेयम्"। ऋषि ने बताया कि वेद नाम की अधिकारी चार संहितायें ही हैं, ब्राह्मण-ग्रंथ वेद नहीं हैं। इसी प्रकार मूर्ति-पूजा, मृतक-श्राद्ध, स्त्री-शूद्रों के लिए वेदाध्ययन का अधिकार न मानना आदि अनेक वेद-विरुद्ध बातें वेदों के नाम से प्रचलित थीं। ऋषि ने सच्चा वेदार्थ करके उन वेद-विरुद्ध बातों का खण्डन किया, और ब्रह्म-विद्या, सृष्टि-विद्या, ज्योतिष-विद्या, गणित-विद्या, भौतिक-विद्या, चिकित्सा-शास्त्र, गार्हस्थ्य-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र आदि विज्ञानों का मूल सप्रमाण वेद में दिखलाया।

ऋषि की भाष्य शैली की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने कहीं भी वेदमंत्रों के अश्लील अर्थ नहीं किये हैं। सायण, महीधर आदि प्राचीन भाष्यकार इस दोष से मुक्त नहीं रह सके थे। सायण ने बहुत से स्थलों पर वेदार्थ को ऐसा कलुषित कर दिया है कि उन अर्थों को देखते हुए वेद को धर्म-शास्त्र कहना भी लज्जास्पद मालूम होता है। महीधर उससे भी आगे बढ़ गये हैं और यजुर्वेद के २३वें अध्याय की व्याख्या में मनघड़न्त अश्लील अर्थ करने में सीमा को ही पार कर गये हैं। किन्तु ऋषि ने पवित्र वेद की पवित्रता में कहीं भी कलंक नहीं लगने दिया है, और पुराने भाष्यकारों के कलंकित अर्थों का सप्रमाण खण्डन किया है।

ये ऋषि के भाष्य की कुछ असाधारण विशेषतायें हैं। वैसे तो पग-पग पर उनके भाष्यों की नूतनता और विलक्षणता पाठकों को देखने को मिलती है। उन सब विलक्षणताओं को हम थोड़ी देर के लिए दृष्टि से ओझल भी कर दें तो भी केवल इन परिगणित विशेषताओं के आधार पर ही हम कह सकते हैं कि ऋषि ने वेदार्थ में एक नवीन युग का प्रवर्तन किया है, अद्भुत क्रांति पैदा कर दी है।

❊✦❊
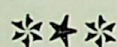
हे परमगुरो परमात्मन्! आप हमको असत् मार्ग से पृथक् कर सन्मार्ग में प्राप्त कीजिये। अविद्यान्धकार को छुड़ा के विद्यारूप सूर्य को प्राप्त कीजिये। और मृत्यु रोग से पृथक् करके मोक्ष के आनन्द रूप अमृत को प्राप्त कीजिये। अर्थात् जिस-जिस दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मान के परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है वह विधि निषेधमुख होने से सगुण, निर्गुण प्रार्थना। जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है उसको वैसा ही वर्त्तमान करना चाहिये अर्थात् जैसे सर्वोतम बुद्धि की प्राप्ति के लिए परमेश्वर की प्रार्थना करे उसके लिये जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना कया करे। अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है। ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये और न परमेश्वर उसको स्वीकार करता है कि जैसे हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझको सबसे बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा और मेरे अधीन सब हो जायँ इत्यादि, क्योंकि जब दोनों शत्रु एक दूसरे के नाश के लिये प्रार्थना करें तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश कर दे? जो कोई कहे कि जिसका प्रेम अधिक उसकी प्रार्थना सफल हो जावे तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिये। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते-करते कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा—हे परमेश्वर! आप हमको रोटी बनाकर खिलाइये, मकान में झाड़ू लगाइये, वस्त्र धो दीजिये और खेती बाड़ी भी कीजिये। इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते हैं वे महामूर्ख हैं, क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है, उसको जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी न पावेगा।

—सत्यार्थ प्रकाश

पंजाब में आर्यसमाज और जन-जीवन

• श्री कालीनाथ राय
सम्पादक "द ट्रिब्यून, लाहौर

मैं अपनी किशोरावस्था से लेकर पिछले बीस वर्षों से ही, अपने देशवासियों को वीरता और स्वाभिमानपूर्ण राष्ट्रीयत्व की ओर प्रेरित करने वाले सभी महान् समसामयिक आंदोलनों से यथासम्भव अच्छी तरह सम्पर्क रखने में भरसक प्रयत्नशील रहा हूँ। मैं यह स्वीकार करता हूं कि अब से छः वर्ष से भी कुछ अधिक पहले जब मैं पंजाब आया था, तब तक मुझे पंजाब के जन-जीवन में आर्य समाज की स्थिति का कोई स्पष्ट विचार न था। इन पिछले छः वर्षों में जो कुछ मैंने देखा वह वास्तव में मेरे लिए एक रहस्योद्घाटन ही था। इसने मुझे आश्वस्त कर दिया है कि पंजाब का जन-जीवन और आर्य समाज विशाल रूप में पर्यायवाची शब्द हैं, और पहले शब्द के बिना बाद के शब्द के संबंध में सोचना लगभग असंभव-सा है। यदि यह कहा जाय कि आर्य समाज ने पंजाब के राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक सेवा, प्रत्येक पेशा—चाहे बौद्धिक हो या साधारण—उद्योगों, व्यापार और कृषि, साहित्य, कला और संस्कृति पर अपनी अमिट छाप छोड़ी हैं, तो यह कहना सत्य ही है। यह कहना भी उतना ही सत्य है कि इन सभी क्षेत्रों में, सदैव अधिकांश स्थान न सही, किन्तु निश्चय ही अपेक्षा अधिक उच्च स्थान आर्य समाज के प्रतिबद्ध अनुयायिओं के हाथों में हैं। और मुझे आशा है कि मेरे आर्य मित्रों में से कोई भी, मेरे इस कथन को गलत रूप में न समझेगा कि आर्य समाज के सदस्यों का वही योग्य व सम्माननीय स्थान राजनीतिक "आंदोलन" के ओहदों में भी है। अन्य किसी व्यक्ति की भांति मैं भी इतना ही जानता हूँ, और बहुतों से अधिक भी जानता हूं कि आर्य समाज किसी भी अर्थ में राजनीतिक संस्था नहीं है। उदाहरण स्वरूप ब्राह्म समाज की भांति यह भी पूर्ण रूप से सामाजिक और धार्मिक संगठन है। किन्तु यदि इसके बहुत-से सदस्यों ने अपनी वैयक्तिक सामर्थ्य के बल पर आज के राजनीतिक आंदोलनों में गहरी और प्रमुख रुचि न ली तो ठीक ब्रह्म समाज की तरह ही आर्य समाज भी अपने स्वयं के लिए और अपने विश्वव्यापी एवं सर्वतोमुखी स्वतन्त्रता वाले अमर धर्म के लिए मिथ्या प्रमाणित होगा। और यदि मैं यह कहूं तो किसी के प्रति अन्याय नहीं कर रहा हूं कि विदेशी शासन के स्वदेशी शासन में परिवर्तित होने के इस वर्तमान स्तर पर एक विशेष सम्प्रदाय के बहुत अधिक सदस्यों के लिए राजनीतिक आंदोलनों में गहरी, सजीव और प्रमुख रुचि लेना और वह भी उनमें से बहुत-सों के लिए अपने विरोधियों द्वारा "उग्रपंथी" कहाये बिना रह माना और शायद इसी कारण से कभी-कभी स्वयं भी आपत्तियों से घिरे बिना रह जाना असंभव है।

फिर भी, राष्ट्रीय जीवन या मानव जीवन के लिए आर्य समाज जैसे संगठन का प्रत्यक्ष योगदान, उसके सम्पूर्ण योगदान का केवल छोटा-सा भाग है। तथापि आर्य समाज का अप्रत्यक्ष प्रभाव, जो किसी भी स्थिति में प्रत्यक्ष से कम नहीं है, आधुनिक पंजाब के समग्र जन-जीवन में समान रूप से व्याप्त है। भारत के इस अंचल में होने वाले आधुनिक आंदोलनों में से सर्वप्रथम आंदोलन वह था जिसमें राष्ट्रीय स्वावलम्बन का नारा बुलंद किया गया था, "वापस वेदों पर" आधारित धर्म व विश्वास, तुरंत ही सुधार, शुद्धीकरण और संरक्षण आदि की ओर समाज के प्रख्यात संस्थापक मुड़े, जैसे कि जादू का डंडा हाथ में लिए हों, हिन्दुत्व को च्युत करने आई लहरों पर, यदि वह एक प्रेरणा और एक मंत्र हिन्दुओं के कानों में फूंक सकती थी तो उसी के समान अगाध प्रेरणा या उससे भी अधिक विशाल मंत्र इस प्रांत के तथा अन्ततः इस देश के समस्त जन-समुदाय के कानों में फूंक सकती थी। किन्तु, जैसा कि शायद अपेक्षित था, स्वामीजी को बहुत बड़ी संख्या में उनके अपने ही देशवासियों और कई कार्यकर्ताओं दोनों ने ही गलत समझा था। एक ने सोचा कि वह मुसलमान-विरोधी और ईसाई-विरोधी हैं तो दूसरे ने सोचा, यद्यपि वे खुल कर नहीं कहते थे, कि स्वामीजी ब्रिटिश-विरोधी और सरकार विरोधी हैं। वास्तव में तो वह किसी के भी

की बेडियों से मुक्त कराने के लिए अपने जीवन की आहुति प्रदान की। आगे चलकर वह अपने कट्टर व विशुद्ध आर्य समाजी होने के विषय में लिखते हैं कि :—

"मैं थोड़े ही दिनों में बड़ा कट्टर आर्य समाजी हो गया। आर्य समाज के अधिवेशनों में जाता आता, आर्य संन्यासी महात्माओं व विद्वानों के उपदेशों को बड़ी श्रद्धा से सुनता। जब कोई आर्य संन्यासी या विद्वान् आर्य समाज में आता तो उसकी हर प्रकार से सेवा शुश्रुषा करता। क्योंकि मेरी प्राणायाम सीखने की (महर्षि दयानन्द प्रदर्शित प्राणायाम विधि) सीखने की बड़ी उत्कट इच्छा थी।"

पाठक गण। जान सकते हैं कि पं० रामप्रसादजी बिस्मिल के हृदय में आर्य समाज के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा और लगन थी। आर्य समाज के वार्षिकोत्सव चाहे पास हों या दूर हों वही जाकर आर्य समाज, वैदिक धर्म तथा भगवान महर्षि दयानन्द की विचारधारा को श्रवण करने पहुंचते थे।

मुझे एक आर्य समाज के वार्षिकोत्सव पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया कया। मेरे व्याख्यान का विषय यही (पं० रामप्रसादजी बिस्मिल) लेख का विषय था। मैंने अपने व्याख्यान में बिस्मिल की आत्म-कथा के आधार पर यह सिद्ध किया कि पं० रामप्रसादजी बिस्मिल उन आर्य समाजी वीर क्रांतिकारियों में से थे जिन्होंने इस भारतवर्ष देश को (असली व प्राचीनतम नाम आर्यावर्त देश) ब्रिटिश शासन से मुक्त कराने में अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया, बल्कि रामप्रसाद बिस्मिल ही नहीं अपितु ६५ प्रतिशत क्रांतिकारी आर्यसमाजी व भारतीय स्वाधीनता संग्राम के प्रथम सेनानी, वेदोद्धारक, राष्ट्रोद्धारक पतितपावन, आदित्य ब्रह्मचारी, महामानवता के अमर पुजारी जगद्गुरु महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज के कट्टर विशुद्ध अनुयायी थे" इत्यादि कहा तो एक सज्जन बीच सभा में खड़े हो गये और जोर से कहने लगे कि आप गलत बोल रहे हैं। मैंने फौरन एकदम रुक कर कहा कि मैं कैसे गलत बोल रहा हूं। तो वह सज्जन कहने लगे कि रामप्रसाद बिस्मिल तथा अन्य क्रांतिकारी स्वामी दयानन्द के अनुयायी तथा आर्य समाजी क्रांतिकारी नहीं थे। मैंने कहा कि आपने उनकी (रामप्रसाद बिस्मिल की) अपनी लिखी आत्म-कथा (जो उन्होंने जेल में फांसी के दो दिन पूर्व लिखी थी) पढ़ी है ? उन्होंने उत्तर दिया कि नहीं। मैंने कहा कि पहले आप उनकी (रामप्रसाद बिस्मिल की) अपनी लिखी आत्म-कथा जिसके सम्पादक श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी है, उसे आद्योपान्त पढ़ें मनन करें। विचार करें, तब मेरे से आप वार्तालाप करें। यह सज्जन स्थानीय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वरिष्ठतम अधिकारियों में से थे, वह सज्जन फिर शांत होकर बैठ गये, मैं अपना व्याख्यान पूर्णकर स्वस्थान बैठ गया। सभा के अन्त में इन सज्जन से वार्तालाप करके मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि एक संघ के अधिकारी को पं० रामप्रसाद बिस्मिल, भगतसिंह आदि आर्य-वीर क्रांतिकारियों के विषय में इतना भ्रम ? संघी कृतघ्नता के दोषी होते हैं (कृतघ्न कहते हैं—किये हुए का उपकार न मानना इत्यादि)।

वास्तव में यह निश्चित बात है कि इस देश को ब्रिटिश शासन से मुक्त कराने में जितना भाग (सहयोग) महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज ने तथा उनके शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा (महर्षि के आदेश से आप विदेश गये तथा क्रांतिकारी आंदोलन का द्वितीय श्री गणेश किया। प्रथम महर्षि दयानन्द ने क्रांतिकारी आंदोलन का सूत्रपात किया। तत्पश्चात् श्यामजी कृष्ण वर्मा ने क्रांतिकारी आंदोलन का बिगुल बजाया) स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज, लाला लाजपतराय, रामप्रसाद बिस्मिल, सरदार भगतसिंह, मदनलाल धींगरा, भाई परमानन्द, अर्जुनसिंह, वीर-सावरकर इत्यादियों ने किया है। उतना अन्य किसी ने नहीं।

रामप्रसाद बिस्मिल कट्टर विशुद्ध आर्य समाजी थे। वैदिक धर्म, आर्य समाज तथा महर्षि दयानन्द की विचारधारा के कट्टर समर्थक थे। उनकी कट्टरता को देखिये कि उन्होंने घर को तो छोड़ दिया, परन्तु आर्यसमाज तथा वैदिक सिद्धांतों को नहीं त्यागा। (आपके पूज्य पिता श्री मुरलीधर जी कट्टर पौराणिक थे) बिस्मिल अपने जीवन की एक घटना का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि 'जब मैं अंग्रेजी के सातवें दर्जे में था तब सनातन धर्मी पं० जगतप्रसादजी शाहजहांपुर पधारे। उन्होंने आर्य समाज का खण्डन करना आरम्भ कर दिया हम आर्य समाजियों ने भी उनका विरोध किया और पं० अखिलानन्दजी को बुलवा कर शास्त्रार्थ कराया, शास्त्रार्थ संस्कृत में हुआ। जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा। मेरे कामों (कार्य) को देखकर मोहल्ले वालों ने पिताजी से मेरी शिकायत की। पिताजी ने मुझसे कहा कि आर्य समाजी हार गये अब तुम आर्य समाज से अपना नाम कटा दो। मैंने पिताजी से कहा कि पिताजी आर्य समाज के वैदिक सिद्धांत तो सार्व-भौम है उन्हें कौन हरा सकता है ? अनेक वाद-विवाद के पश्चात् पिताजी जिद् पकड़ गये कि आर्यसमाज से त्याग पत्र न देगा तो मैं तुझे रात को सोते समय मार दूंगा। या तो आर्यसमाज से त्याग पत्र दे दे या घर छोड़ दे। मैंने भी विचारा कि पिताजी का क्रोध यदि अधिक बढ़ गया और उन्होंने मुझ पर कोई वस्तु ऐसी दे पटकी कि जिससे बुरा परिणाम हुआ तो अच्छा न होगा। अतः अब घर त्याग देना ही उचित है। मैं केवल एक कमीज पहने खड़ा था और पाजामा उतार कर धोती पहन रहा था पाजामे के नीचे लंगोट बँधा था पिताजी ने हाथ से धोती छीन ली और कहा कि घर से निकल। मुझे भी क्रोध आ गया। मैं पिताजी के पैर छूकर गृह त्याग कर चला गया।"

देखा। बिस्मिल के विचारों में कितनी कट्टरता थी ? आर्य समाज की विचारधारा के सामने न पिता की मानी न माता की, न बंधु बांधवों की और न ही मोहल्ले वालों की। बिस्मिल के हृदय में आर्य समाज तथा वैदिक धर्म के सिद्धांतों के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा लगन व तड़प थी।

✲✲

त्रैतवाद

या

ऋषि दयानन्द और सिद्ध दर्शन

• डा० हरिदत्त शास्त्री, व्याकरण वेदान्ताचार्य

महर्षि दयानन्द ने जिन शास्त्रीय सिद्धान्तों का अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है उनका ही अंशतः प्रतिपादन सिद्ध दर्शन में उपलब्ध होता है। 'सिद्ध दर्शन' के सूत्रों की संख्या २७५ है इसका स्वोपज्ञ भाष्य है, हमें अन्वेषण से इसके प्रथमाध्याय प्रथम पाद के जो सूत्र मिले हैं उन पर ही विचार करना है। हरिहरानन्द सरस्वती अथवा विद्यातीर्थ सरस्वती का काल तथा जन्म स्थान अज्ञात है। पर इसमें सन्देह नहीं कि ये दाक्षिणात्य हैं, इनकी भाषा शैली शंङ्कराचार्य के टक्कर की है, आप द्वैत या त्रैतवादी हैं। आपके मत में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों अनादि हैं। आप मोक्ष से पुनरावृत्ति नहीं मानते, पर अनेक सिद्धान्तों में अतर्कित सामञ्जस्य है—प्रथमाध्याय प्रथमपाद के सूत्र इस प्रकार हैं—

अथ सिद्धानुशासनम् ।। १ ।। प्रणवो भूलम् ।। २ ।।
सच्चिदानन्दः ।। ३ ।। गुणाख्याऽन्येषाम् ।। ४ ।।
सत् त्रिगुणम् ।। ५ ।। तत्वान्ये के पञ्च ।। ६ ।।
पाञ्चभौतिकंमञ्चताम्।। ७ ।। रससिद्धिर्वा ।। ८ ।।
एकादशक मिन्द्रियम् ।। ९ ।। चिदात्मा ।। १० ।।
अणुर्वा ।। ११ ।। सुखादि गुणकः ।। १२ ।।
तानि तदायतनानि ।। १३ ।। भेदात्त्व ।। १४ ।।
निरानन्द ।। १५ ।। योगाच्जित्र परिकर्म ।। १६ ।।
सोऽसृधा ।। १७ ।।
पुनर्भवस्तन्याभिलाषाद् ।। १८ ।। कृताकृतप्रसङ्गात् ।। १९ ।।
ज्ञानाधिकरणाम् ।। २० ।। स्वरूपभेदात्त्य ।। २१ ।।
अन्तश्चरसीतिक्षुनेः ।। २२ ।। सुपर्ण लिङ्गान् ।। २३ ।।
विभुरित्येके ।। २४ ।। सर्गपवर्ग्री ।। २५ ।।
चातुर्विध्यं कर्मणाम ।। २६ ।। प्रवाहानादित्वम् ।। २७ ।।
सापुज्यादिकेदात् ।। २८ ।। नभागवतम् ।। २९ ।।
नैष्कर्म्पासिद्धे ।। ३० ।। इत्यादि।

इन सूत्रों के विषय में हमें यह कहना है कि इनका प्रतिपाद्य विषय ऋषि प्रतिपादित आर्य सिद्धान्तों में अत्यधिक सामञ्जस्य रखता है, 'सिद्ध दर्शन' शब्द के भी दो अर्थ हैं एक तो यह कि दर्शन द्वारा ज्ञान द्वारा जो सिद्धान्त या मान्यताएँ हैं वे ही हमारे प्रतिपाद्य हैं। दूसरा अर्थ है जो दर्शन सिद्ध है वेदादि सच्छास्कों द्वारा निर्गलिन है, तीसरा अर्थ है—सिद्धों का योग साधना के द्वारा जिन्होंने सिद्धता प्राप्त कर ली है उनका दर्शन। ये तीनों अर्थ ऋषि के द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्तों पर भी लागू किए जा सकते हैं। जिस प्रकार महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में भगवान् के भिन्न-भिन्न नामों में ओङ्कार को सर्व श्रेष्ठता दी है उस ही प्रकार इस दर्शन में भी ओंकार के जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान माना गया है, यहाँ हमारे सिद्धान्त का कुछ वैमत्य है तथापि अष्टम समुल्लास सत्यार्थ

---

१. 'सिद्ध दर्शन' के लेखक श्री परमहंस परि व्रागराचार्य यतीन्द्र हरिहरानन्द सरस्वती हैं। इसकी ताडपत्रकी प्रतिलिपि मैसूर वि०वि० से प्राप्त हुई है, यह मलयालम् भाषा में लिखा हुआ है प्रतिलिपिकार गोविन्दानन्द हैं, १७८० में यह प्रतिलिपि लिखी गई है, इसके आरम्भ का पद्य इस प्रकार है :—

यति हरिहरानन्दो विद्या तीर्थ सरस्वती।
गूढात्रिध्याय वेदान्तःन्निरमात् सिद्ध दर्शनम् ।।

"Oriental Research magazine vol, III 1954"

प्रकाश में 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, वे न जातानिजीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति, ताई जिज्ञा सस्व तद् ब्रह्म' तैत्तिरीयोपनिषद् के वाक्य से यह मिलता है। इस द्वितीय सूत्र के भाष्य में हरि हरानन्द सरस्वती लिखते हैं कि :—

"प्रणनमूलता च जगनो स भूरिति काहरत्, 'श्रवमसृजद्" इत्यादि श्रुति मूलैव। अत्रेदं बोध्यम्—शब्दनित्यत्व वदर्थानामपि नित्यत्वं कैश्चिदाकृति नित्यन्वादेवाऽम्प्रयगम्पते। तथा सह भाष्यकार: "कतरस्मिन् पदार्थ एष विग्रहोन्याय्य:र सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति। आकृतावित्याह" इति। एतस्मिश्च भाष्योद्देशे यावन्त: पक्षास्तेपवर्थस्य नित्यता बहुधा व्याख्याता। सा यथाभाष्यमनुगन्तव्या। तथाहि—धटाद्यर्थगता घटत्वादिरूपा जातिर्नित्यत्येक: पक्ष:। धटत्वादिरूपासत्योपाध्यवच्छिभं ब्रह्मत्तत्वमेव घटादिशब्दवाच्यमिति द्वितीय: पक्षो ब्रह्माद्वैतवादिनाम्। जातिव्यंगिजकाऽवयव संस्थान रूपाऽऽकृतिर्नित्या, तस्या: स्वरूपतोऽनित्यत्वेऽप्याश्रयप्रवाहा विच्छेदात। तदुक्तंभाष्ये 'तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्वं न विहन्यते' इति। यस्मिन् विहतेऽपि तदवृत्तिधर्मौ न विहन्यत इत्यर्थ:। तथा चावयवसंयोग विशेष रूपायामाकृतौ विनपटामपि तद्रवृत्ति धर्म: संयोगत्वव्याप्यो जातिविशेषो न नश्यति। अतोऽवयवसंस्थानरूपाऽऽकृतिर्नित्या। सैव च घटादिपदार्थ इति तृतीय: पक्ष:। वाह्य: पदार्थों न शाब्दबोधे विषय:, किन्तु वौद्ध:। स च यदा यदा शब्द उच्चार्यते तदा तदाऽर्थाकारा बुद्धिरूप जायत इति प्रवाहनित्यत्वन्नित्य:। स एव च शब्दार्थ इति चतुर्थ पक्ष:।

शब्दार्थवत् तयो: सम्बन्धोऽपि नित्य:। तथाहि—अस्येदंभावे सति शब्दार्थयो: सोऽयमिति य: सम्बन्ध: सोऽर्थादेशणस्य कर्तुमशक्यत्वादीत्पत्तिक: स्वभाव सिद्ध:, नाज्ञातपूर्व: केनचित् कर्त्रा कश्चित् प्रतिपतारं प्रति तत्प्रथमं कृत इति। अयं भाव:—शब्दार्थयो: सोऽयमित्यभिसंबन्धादभेदलक्षण: संम्बन्ध:। स च शब्दार्थयोरस्येदंभाव सति भवति, नान्यथा। तथाहि—अस्यार्थस्य वाचकोऽयं शब्द:, अस्य शब्दस्य वाच्योऽयमर्थ इति वा ज्ञानं यत्रोप जायते शब्देऽर्थे वा, तत्रैव सोऽयमित्यभिसंवन्धो भवति। अत्रास्येदमिति शब्देन अस्यार्थस्मस शब्द: सरूप इति शब्देऽर्थसारूप्यम्। अस्येदं वाच्यं वाचकं ऐति ज्ञानं वोच्यते। तत्र सारूप्यस्य शब्दार्थोभयगतत्वेऽपि शब्द एक प्रकाशस्वभावत्वादर्थस्थ रूपसंक्रान्ति:, न त्वर्थे शब्दस्य। यथा स्वच्छतया दर्पणतले रूपस्य संक्रान्ति:, और दर्पणतलस्य रूपे। रूपदर्पणयोश्च सारूप्यं दर्पण रूपोपावि सन्निधानकृतम्, न स्वाभाविकम्। शब्देषुतु प्रत्यर्थ नियतं साकच्यं स्वत एवावस्थितम्, न तूपाधानसन्निधानकृतम्। ततश्च शब्दो गृप्तमाण: संक्रान्तार्थाकार एवं गृछते। तथा च भेदाभेद्वौ शब्दार्थयो: संम्बन्ध: सोऽयभितिवद् अस्येदभित्यस्यात्यभि संबन्धस्य भेदमूलकस्य संत्त्वात्। तत्र भेद कल्पित:, अभेदस्तु वस्तुभूत:। स च शब्दार्थयो: संबन्ध औत्पत्तिक: (उत्पत्ति काले भवे वर्तमान:—सन्तार्थकोऽत्र भवति:)। ततश्च शब्दार्थयो: सम्बन्धो यदि कृत्रिम: स्यात् संयोगवत्, तदा संबन्धिद्वयजन्य: स्यादिति तयोरुत्पत्तिकाले न भवेत्, अवोऽजन्य: स्वभावसिद्ध: (स्वभावेन स्वअपेण सिद्धो नित्य:)। शब्दार्थयो: संबन्धाभावे च प्रत्यर्थं नियतस्य शब्दव्यवहारस्य कर्तुमशक्यत्वम्, व्यवहाराति प्रसङ्गात। तदेतपुक्तं समर्थवार्ति के—"अर्थानादेशनात्, तच्च लघ्वर्थम्, कोहि समर्थो धातुप्रातिपदिक प्रत्ययनिपातानामर्थाना देवतम्" इति। अस्यार्थ:—शब्दार्थयो: सहजसम्बन्धाभावे व्याकरणेनार्था देश न स्यार्थ निर्देशस्य कर्तुम—शक्यत्वमिति। तच्च व्याकरणं लघ्वर्थ लाधवेन शब्दार्थ सम्बन्ध—ज्ञानार्थम्। हि यत: व्याकरणं विनाक: समर्थो धातुप्राति पदिक प्रत्यय निपातानामर्थानादेवहुम्=निर्देष्टुम्, तदर्थानामानन्त्यादिति: तदेवं शब्दार्थयो र्भेदाभेदरुपं तादात्म्यं संम्बन्ध:। स चाज्ञात पूर्व: केनचित कर्त्रा किञ्चित् प्रतिपत्तारं प्रति तत्प्रथमं कृत इति नाभ्युपगन्तु शक्यते:, शब्द व्यवहारस्या नादित्वात्। अतोऽपि न तयो: सम्बन्धानित्यत्वमिति। तस्मादनादिर्नित्य प्राप्ताविच्छेद: शब्दार्थयो: संम्बन्ध: इति।

यद्वा शब्दार्थयो: कार्यकारणभावरुप: सम्बन्ध इति। तथाहि—समारोपेण बाह्यार्थतादात्म्यापन्नस्यार्थाकार प्रत्ययस्य बौद्धार्थं विषयकत्ववदेव बाह्यार्थ विषयकत्वेऽम्युपगभ्यमाने शब्दस्यार्थाकारं प्रत्ययं चेति कारणत्वात् तत्तादात्म्येन बाह्यार्थ प्रति कारणत्वभुपपन्नमिति नित्यमविच्छिन्नपारम्र्क: कार्यकारणभाव: शब्दार्थयो: सम्बन्ध इति सिद्धम्। अयमपि सम्बन्ध: समपोपाविक एव, समयसहकारेणैव शब्देनार्थाकार प्रत्ययजननात्। बाह्यार्थेऽर्थाकार प्रत्यय तादात्भ्यञ्चाध्यासिकं बोध्यम्। बौद्धार्थ एवं शब्दस्य वाच्य: कार्यश्चेति तु फलितम्। तत्तादात्म्येन तु बाह्यर्थेऽपि तत्वव्यवहार:। तदुक्तम्—तेऽपि हि तेषामुत्पत्तिप्रभृत्याविनाशाद् बुद्धीर्व्याचक्षाना: सतो बुद्धि-विषयान् प्रकाशयन्तीति।"

इस प्रकार शब्दों के नित्यत्व को स्फोटवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए आगम प्रमाण के महत्व का प्रतिपादन किया है। इस सिद्ध दर्शन की भूमिका में डा० रामास्वामी ने P. Sharan के शब्दों को उद्धत करते हुए कहा है कि—

"Time there was when our young men looked down with contempt upon every thing past, the old Ideals and the old customs were to them so many superstitions clinging to us as the remnants of a barbarous age.

Here is one scholar to tell us that when the other nations were ignorant of Clemistry our own people had their system so well developed as to include even a knowledge of metallurgy, there is another working incersantly to give us an inkling into our achievements into the realms of Bialogical Sciences. Yet there is another trying to place before his Country men the principles of our Sociology, Education and Economics.

Elphinstone believes our Surgery to be as remarkable as our Medicine. Professor Macdonnel tells us in the following words that we have been the teachers of the Europeans—

"In Science, too, the debt of Europe to India has been considerable. There is in the first place the great

fact that Indians invonted the numerical figures used all over the world."

Tribute has been paid to our achievements in Astronomy and in Mathematic we are told "Equally decided is the Evidence that this Excellnic in Algebric analysis was attained in India independent of Foreign help."

"It must be admitted that the penetration shown by Bhaskaracharya in his analysis is in the highest degree remarkable, that the formula which he Establishes, and his method bear more then a more resemblance—they bear a strong analogy—to the corresponding process in modern mathematical astronomy."

उद्धरण देकर हमें लेख का कलेवर बढ़ाना उचित प्रतीत नहीं होता। पूर्वोक्त प्रकार से यह तो स्पष्ट है कि—

"सिद्ध दर्शनकार ने वैदिक शब्दों को ध्वंसाभावाऽप्रतियोगी मानकर ईश्वरीय सिसृक्षा मात्र से शब्दोच्चारण मात्र से जगदुत्पत्ति मानी है, यहाँ शब्द, अर्थ, सम्बन्ध इस त्रैतवाद की सत्ता है, जिसे महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश में यह समाजगत्व् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और जीवात्मा, ब्रह्म और प्रकृति ये तीन होकर वर्तमान था।" इन शब्दों से प्रकट किया है।

इस त्रैतवाद को ही वेद के वाक्यों ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है :

"त्रिर्वति र्यातं त्रिरनुव्रतेजने त्रिः सुप्राव्ये त्रेधेवाशिक्षतम्।

त्रिर्नान्द्यं वह त मश्विनायुवं त्रिः पृक्षो अक्षरेव दिन्वतम्॥

ऋ० १।३४।४

"त्रिर्नोरमि वहत मश्विना त्रिर्देव ताता त्रिरूतावनंछिप।

त्रिः सौनगत्वं त्रिरुतावाँसिनः त्रिष्ठंवां सूरे दुहिताऽरुहद् रथम्॥

ऋ० १।३४।५

त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते संवत्सरेवपम एकएषाम्।

विश्वमे को अभिचष्टे शचीभिः ध्राजि रे कस्यदहन्शेन रूपम्॥

ऋ० १।१६४।४४ तथा अथर्व ९।१०।२६

भावार्थ—प्राणापान युक्त सचेतन बुद्धि युक्त मानव मात्र तीनमार्गों से ईश्वरीय, जीव सम्बन्धी और प्रकृति सम्बन्धी गतियों को जानें। इन तीनों की रक्षा और शिक्षा ग्रहण करें, तीनों के विषय में प्रश्न करें। तथा तीनों को अक्षर नित्य समझो।

त्रिर्न इत्यादि—तीन प्रकार के वैभव को प्राप्त करो। बुद्धि का व्यापार तीन प्रकार से अधिदैविक (ईश्वरीय) आध्यात्मिक (अधि प्राण सम्बन्धी) और अधिभौतिक रूप से सृष्टि के मूल कारण और कार्य सम्बन्धी करो।

त्रय इद्धि—तीन केशों (गुण, विस्तार और कार्य कारण भाव) वाले ईश्वर जीव और प्रकृति ऋतुओं कर्मों के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का अवलोकन करते हैं, एक जीव एक योनि में शुभाशुभ कर्म करता है, एवं एक अपनी शक्ति से ही सबका नियन्ता है, एवं जगत् कारण भूत प्रकृति की शक्ति (ध्राजिः) ही प्रकृति की सिद्धि में प्रमाण है। भ्राना उसे ही कभी मानते हैं। क्योंकि उसके नियामक का स्वरुप दृष्टि यथा तीन हैं। इसी प्रकार :—

त्रय कृण्वन्ति भुवनेषु रेनः तिस्त्रः प्रजा आर्या ज्योतिरेताः। त्रयो धर्मा स उतयं वहनो सर्वानिततान् अनुविदुर्वसिष्ठाः॥ ऋ० ७।३३।४४ इस मन्त्र में तथा अथर्व वेद काण्ड ४, अनु० ४ और सूत्र १६ में त्रैतवाद का भगवान् की वाणी से स्वयं प्रतिपादन किया गया है। द्वासुपर्णा इत्यादि ऋग् ९।१६४।२० में स्पष्ट ही पाक्षिद्वय के रूपक से ईश्वर और जीव के यदे तथा वृक्ष शब्द से जगत् या प्रकृति को बतलाया गया है, कहा जा सकता है कि जो वेदभक्त या वेदानुभावी नहीं उसे कैसे मनाया जाय तो उसके साध्य, साधक साधन, प्राप्य, प्राप्ता और प्राप्त्युपाय श्रोता, श्रावयिता और श्रव्य या श्रवण शक्तिया श्रवणसाधन के द्वारा या कर्ता-करण, क्रिया के द्वारा त्रैतवाद की अनुभूयमान सिद्धि अपन्हवनीय नहीं बनाई जा सकती। इन तत्वों की सिद्धि के लिए त्रती, त्रिमात्रोंकार और त्रिसाधना शक्ति का प्रतिपादन किया गया है। जैन मत के रत्नत्रय भी त्रैतवाद के समर्थक है। संन्यासियों का त्रिदाण्डिभेद भी इस त्रैतवाद का सूचक है। यही है त्रिलोकी का त्रैतवाद। इस विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने श्री सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है वह वेद मूलक होने से प्रामाणिक है, वे सत्यार्थ प्रकाश (१) के ७ सप्तम समुल्लास में जीव और ईश्वर की भिन्नता के विषय में लिखते हैं कि :—

"जीव परिच्छिन्न है, जीव और परमेश्वर का व्याप्य व्यापकभाव सम्बन्ध है। (स० प्र० पृ० २३४)

"इसलिए जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही परमेश्वर भी। (वही पृ० २३२)

प्रकृति के नित्यत्व एवं ईश्वर ऐ भिन्न सिद्ध करने के लिए उन्होंने असृम समुल्लास में "सौम्याऽन्ने शुङ्गे नाऽऽणेमूलमन्विच्छ" इत्यादि योग्य ६; खन्ड ८ मन्त्र ४ का प्रमाण किया है, तथा आगे चलकर तुम्हारे कहने के अनुसार जगत् का कारण ब्रह्म होवे तो वह परिणामी, अवस्थान्तरयुत्त्व, विकारी हो जायेगा। (वही पृ० २५९)

इस प्रकार त्रैतवाद की सिद्धि में प्रत्यक्षानुमाना गमादि प्रमाण है। प्रत्यक्षको अन्विन करना पिष्टपेषण हैं, अनुमान प्रमाण "दृश्यं, द्रष्ट भिन्नं, अचिद्रूपत्वात्, यत्र चिद् भिन्नत्वं बाह्येन्द्रियग्राह्यचरुपं दृश्यत्वं यथा घटादौ" इस रूप में दिया जा सकता है, तथा इसके अन्य भी अनेकों रूप हो सकते हैं। आगम प्रमाण उद्धत किया जा चुका है, अतः त्रैतवाद ही सत्य है, अद्वैतवाद नहीं। यही 'सिद्ध दर्शन' में भी प्रतिपादित किया है, इस दर्शन का पूर्णरूप यथा समय पाठकों के मनोरञ्जनार्थ तथा महर्षि के मन की प्राचीनता के लिए प्रस्तुत किया जायगा। इस लघु लेख को हम यहीं समाप्त करते हैं।

❋❋

१. सत्यार्थप्रकाश संवत् १९९० वि० में प्रकाशित अजमेर मुद्रित संस्करण।

सामाजिक और राजनीतिक सुधार दोनों एक दूसरे के पूरक हैं

• श्री प्रकाशवीर शास्त्री, संसद सदस्य

आर्यसमाज की स्थापना कांग्रेस के जन्म से छ वर्ष पहले हो चुकी थी। डा० पट्टाभि सीतारमैया के शब्दों में स्वराज्य के जो स्वर १९०६ में कांग्रेस के मंच पर मुखरित हुए उसकी सम्पूर्ण योजना और कार्यक्रम आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने १८७५ में ही देशवासियों को दे दी थी। अपने प्रमुख ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश में स्वराज्य को सुराज में बदलने की रूपरेखा भी अंग्रेजी राज को भारत से उखाड़ने के साथ-साथ स्वामी जी ने उन्हीं दिनों अपने ग्रंथों में लिख दी थी। सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा को विदेशों में भेजकर स्वराज्य के लिए भूमिका तैयार करने में भी स्वामीजी की दूरदृष्टि काम कर रही थी। भारत में देशी राजाओं को जो १८५७ की क्रांति में छुप बैठे रहे उनको कर्त्तव्य बोध कराने में स्वामी जी ने कई बार देशी रियासतों की यात्रा की। उनके महाप्रयाण के बाद आर्यसमाज के बहुत से नेता राष्ट्रीय आन्दोलन की अगली पंक्ति में रहकर स्वाधीनता आन्दोलन का नेतृत्व करते रहे। अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द, पंजाब केसरी लाला लाजपत राय, देवतास्वरूप भाई परमानन्द, चौधरी रामभजदत्त आदि नेता उसी पीढ़ी के थे। क्रान्तिकारी आन्दोलन में भी सरदार भगतसिंह और रामप्रसाद बिस्मिल जैसे कई उभरते व्यक्तित्व आर्य समाज ने देश को दिये। पर इतना सब कुछ ज्ञान होने के बाद भी आर्यसमाज को सक्रिय राजनीति से सर्वथा पृथक् ही रखा गया। आर्यसमाज विशुद्ध रूप से सांस्कृतिक और सामाजिक संगठन रहकर ही कार्य करे यह ही सब की इच्छा रही। परन्तु राजनीति से सर्वथा आंख बन्द रहें और आर्यसमाज राजनीति का दिशा निर्देश भी न करे यह अभिप्राय किसी का नहीं था।

अंग्रेज भारत को आर्थिक गुलामी में जकड़ने के साथ-साथ सांस्कृतिक और सामाजिक बन्धनों में भी बांधकर रखना चाहता था। इसके लिए अंग्रेजों ने जहां ईसाई मिशनरियों का जाल पूरे भारत में फैला दिया वहां सरकारी शिक्षण संस्थाओं का भी खुलकर उपयोग इसमें कर रहा था। लार्ड मैकाले ने इसी तरह की अपनी सफलता का उल्लेख करते हुए एक पत्र में लिखा था—वह दिन दूर नहीं जब भारतीय मन और मस्तिष्क दोनों से हमारे षडयन्त्र का शिकार हो चुके होंगे। शरीर से भले ही वह हिन्दुस्तानी लगें पर उनके विचारों और वेशभूषा पर हम पूरी तरह से छा जायेंगे। आर्यसमाज ने इस चुनौती का भी मजबूती से सामना किया। उसके गुरुकुल और डी० ए० वी० कालेज जहां युवा पीढ़ी में राष्ट्रीयता कूट-कूटकर भरने में लगे थे वहाँ ईसाई मिशनरियों की दुकानें बन्द करवाने में भी आर्यसमाज ने प्रमुख भूमिका निभाई। यह बात दूसरी है किसी राजसत्ता अथवा बड़े धनपति का हाथ कमर पर न होने से कुछ क्षेत्रों में उतना काम न हो सका जितना आवश्यक था। फिर भी मिशनरियों को नाकों चने चबवा दिये। भारत के पूर्वी भागों में जहां आर्यसमाज की शाखाएं नहीं थीं वहां जरूर कुछ इन्होंने अपने पंजे जमाये। पर देश के मध्यवर्ती क्षेत्रों से निराशा भी उनको हाथ लगी।

सामाजिक और राजनीतिक सुधार एक दूसरे के पूरक हैं। आर्यसमाज प्रारम्भ से ही इसे जानता था। इसीलिए हरिजनों, आदिवासियों, महिलाओं की शिक्षा और उनकी सामाजिक स्थिति सुधारने में प्रारम्भ से ही आर्य समाज ने विशेष यत्न किया। हिन्दू समाज ने भी यदि इसमें साथ दे दिया

होता तो तसवीर आज कुछ और ही होती। फिर भी सौ वर्षों में इस क्षेत्र में की गई आर्यसमाज की सेवाएं आज इतिहास का विषय बन गई हैं। भारतीय संविधान में अस्पृश्यता अपराध माना गया है। हरिजनों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उन्हें नौकरियों और विधानमंडलों में विशेष संरक्षण देने की भी व्यवस्था की गई है। आजकल अतिरिक्त भूमि के वितरण में भी हरिजन परिवारों को प्राथमिकता दी जा रही है। पर क्या इससे समस्या का अपेक्षित समाधान हो गया ? यह तो प्रारम्भिक प्रयास मात्र हैं। इसमें अभी बहुत कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन करने होंगे।

जन्म से जात-पांत की समाप्ति और अन्तर्जातीय सम्बन्धों के विकास में आर्यसमाज ने प्रारम्भ से ही अच्छी रुचि ली है। परन्तु अब लगता है कुछ इसमें शिथिलता आ रही है। इसके लिए शासन के स्तर पर जहां कुछ सुधार अपेक्षित हैं वहां सामाजिक स्तर पर भी नये पग उठाने होंगे। तमिलनाडु की सरकार ने अन्तर्जातीय विवाह करने वालों को सरकार की ओर से आर्थिक सहयोग और नौकरियों में प्राथमिकता देने का अभियान प्रारम्भ किया है, वह अनुकरणीय है। आर्यसमाज यदि इसके लिए अनुकूल भूमिका तैयार करे तो उसमें केवल हिन्दू समाज का ही नहीं मानव समाज का बहुत भला हो सकता है। इसके लिए पहले अपने संगठन में उन अधिकारियों को प्रमुखता दी जाय जिन्होंने जात-पांत से ऊपर उठकर अपना पारिवारिक विस्तार अथवा वैवाहिक सम्बन्ध किये हैं। आर्यसमाज के सदस्य और पदाधिकारी ही कहीं-कहीं अपने नाम के साथ जब जातिवाचक शब्द लगाते हैं तो उनकी आस्था में सन्देह होने लगता है। आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं में पढ़ने और पढ़ाने वाले छात्रों एवं अध्यापकों के नामों के साथ भी जातिवाचक शब्दों का रहना उपहासास्पद लगता है। यहीं से जाति परक शब्दों के लिए मोह जगता है। यदि आर्यसमाज इस दिशा में पहल करे तो शासन को विवश होकर इस ओर झुकना पड़ेगा। पीछे हरिजन समस्या के समाधान पर बोलते हुए वर्तमान प्रधानमन्त्री ने कहा भी है जब तक देश में जात-पात की बुराई जीवित रहेगी तब तक हरिजन समस्या के समाधान में बहुत बड़ी बाधा खड़ी रहेगी।

अभी गांधी जयन्ती से शराबबन्दी के बारह सूत्री कार्यक्रम की घोषणा भी की गई है। पराधीन भारत में जिस शराब की बुराई से मुक्ति लेने का दृढ़ संकल्प किया गया था वह दुर्भाग्य से स्वाधीनता के अट्ठाईस वर्ष बाद और भी कई गुना बढ़ गई है। कई राज्य सरकारों का भी इसमें प्रमुख हाथ रहा। राज्य की आय बढ़ाने के चक्कर में आंख मूंदकर शराब के लाइसेंस दिये जाते रहे। पर आर्यसमाज जैसे समाज सुधारक संगठन मजबूती से यदि इस ओर लग जायें तो समाज और सरकार दोनों को सही रास्ते पर आना पड़ेगा। मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले चाहे कितना ही बड़े से बड़ा नेता क्यों न हो उसका और सरकारी अधिकारियों का जब तक खुलकर जनता में विरोध नहीं किया जायगा तब तक यह बुराई देश से जायगी नहीं। राजनीति से पृथक रहते हुए भी कृत संकल्प होकर यदि आर्यसमाज ने इस बुराई को दूर करने का बीड़ा उठा लिया तो भावी भारत उसका ऋणी रहेगा।

इसी तरह की एक और कमजोरी जो आज पूरे देश को स्वाधीन होने के बाद भी फिर से दासता के शिकंजों में जकड़ रही है वह है अंग्रेजी भाषा के बढ़ते हुए वर्चस्व की। एक बार तो यह लगने लगा था अंग्रेजी के नाम लेवा और पानी देवा अब इस देश में ढूंढने पर भी नहीं मिलेंगे। परन्तु अब फिर से अंग्रेजी की हवा बढ़ रही है। सरकारी कार्यालयों, नौकरियों और परीक्षाओं में तो अंग्रेजी का दबदबा है ही। सामाजिक कार्यक्रमों में विशेषकर विवाह शादी के आमन्त्रण पत्रों तक में अंग्रेजी का भूत हावी हो रहा है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द जी ने अहिन्दी भाषी होते हुए भी राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोने के लिए हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार किया था। अपने ग्रन्थों और भाषणों में भी उन्होंने उसका प्रयोग किया। परंतु अब आकर हिंदी के प्रचारक और समर्थक भी थकते से नजर आ रहे हैं। आर्यसमाज भाषायी स्वाभिमान देश में जागृत करने के लिए यदि आगे आता है तो दूसरे लोग भी उसके पीछे चलेंगे। क्योंकि आर्यसमाज को इसके माध्यम से अपने किसी राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति नहीं करनी है इसलिए भी उसकी आवाज स्वागत योग्य होगी। देश आज सामाजिक और राजनीतिक क्रांति के चौराहे पर है। इसमें भाषायी स्वाभिमान का प्रश्न भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। राष्ट्रीय चेतना जगाने में भाषा की भी अपनी प्रमुख भूमिका रहती है। आर्यसमाज शताब्दी के दूसरे चरण में प्रवेश करते समय अपने कार्यक्रमों में इसका भी समावेश करे। इसी तरह के कई और भी ज्वलंत प्रश्न हैं जिनको आर्यसमाज अपने कार्यक्रम में स्थान दे तो देश उसे हाथों हाथ उठा लेगा।

राजनीतिक दल न होते हुए भी आर्यसमाज देश की वर्तमान और भावी राजनीति को स्वस्थ दिशा देने का काम आसानी से कर सकता है। सत्ता की राजनीति को सेवा की राजनीति में बदलने का काम प्रचलित राजनीतिक दलों द्वारा सम्भव नहीं है यह आर्यसमाज जैसे निष्पक्ष और तटस्थ संगठन ही कर सकते हैं। दशरथ की राजसभा में जो काम महर्षि वशिष्ठ का था वह ही आज आर्यसमाज को निभाना होगा। किसी भी महत्वपूर्ण प्रश्न पर शासन और समाज दोनों आर्यसमाज के संकेतों की आंख उठाकर प्रतीक्षा करें इस स्थिति में यदि आर्यसमाज आ गया तो इतिहास में अमर हो जायगा।

✲✲✲

India's Debt to Swami Dayananda

By Prof. S. N. Pherwani, M. A.

Great is India's debt to Swami Dayananda. He was one of those rare symmetrical souls, whose life, teaching and works are an all round inspiration to workers in several lines of human uplift. I would instance his outstanding contributions in three directions by way of illustration. What were his contributions to Hindu religion ? He democratised it. He vernacularised it. He made it virile and oggressive. What again did he do for our culture ? He emphasised its continuity. He imported it an assimilative attiude. He stood for national regeneration through national and rational education. And his services in the cause of social reform. He sought to abolish early marraige through the revival of Brahmacharya Ashrama. He helped the removal of the ban on widow marriage. He simplified ceremonials. He has enfranchised the untouchable. Let us look at these services a little more in detail.

The Arya Samaj that he founded has a throughly democratic constitution. Election by worth takes the place of hereditary priestcraft. A hereditary priesthood devorced from worth and works, had naturally led to stagnation. Religious leadership determined by fitness and ability to discharge the function of spiritual regeneration is the great need of every live religion. This the Swamiji advocated. Apitude and education, character and training alone befit a man for officiating in ceremonies, and prenching the scriptures. Just as reformation in England substituted the book for the priest, just as Sikhism sought to substitute the holy Granth for rigid Brahmanism, exactly in the same way Swamiji substituted Vedas and their knowledge for a hereditary priest craft. Any one who educates himself to understand the teachings of Vedic religion can thus become a priest, even though he may be a Vaishya by birth, or a mulla by previous training.

By writing the Satyarth Prakash in Hindi Swamiji sought to do the same service to Vedic religion that Swami Tulsidas had done for Ramayana, and Guru Nanak had done for the Punjabis, or Tukaram did for the Marhattas. He put religion within the reach of the Hindi-speaking public. The purified essence of Hinduism was henceforth available for all who could read and write Hindi. The whole of Northern India was thus put in possession of a scholarly synthesis of ancient scriptures.

Endowing the ancient faith with its original vitality, he made it virile and aggressive, instead of dormant and passive. The wonderful increase in the numbers of the Arya Samajists, and the vaster pervasive effect of their viewpoint bear witness to the work of the Swami. Hinduism is now a living faith and reacts vigorously to onslaughts on its doctrines or followers. It has put on its youthful phase of conquest instead of the older senile phase of meek submissiveness. The rational side of religion so much neglected by many reformers has been given its due place, Preachers of the ancient faith now fired with a new-born zeal go about in distant lands to impart the message of the Vadas, meant for all humanity.

The neutral government-conducted education, so much charged with the spirit of western culture had very high made the intelligentsia forget their glorious cultural heritage of the past. Swamijis influence worked in the direction of making even the educated proud of their past culture,

and look to it for real strength, rather than to mere imitativeness of any other culture howsoever excellent for supplementing our own. Educated India thus found its own soul and was led to build securely on what was best in its past cultural foundations.

His was no narrow view. Truth must be accepted from all quarters. In the Gurukulas which best illustrate the spirit of swamiji we have Western science given a place of honour. Western philosophy is studied side by side eastern. Comparative reasearch attitude charactorises the swamijis writing and his influence has been lii week. His Keynote was assimilation of the best, instead of a mere imitation of the west.

National education, if it means anything definite, means this vital touch with previous cultural development, this teaching through the mother tongue of best in modern cultural developments. This is the spirit which characterises the educational activity of the Arya Samaj, especially the Gurukula.

It is swamiji's efforts that have made Brahmacharya once more a household word. During my school days I remember no teacher reffered to the necessity of sexual purity and continence so insistently and in an elevated tone as one whom I afterwards came to know as a staunch Arya Samaijists. Others paid little or no attention to this vital need of student age. The Gurukulas have been an example to several similar institutions started as Brahmacharya Ashrams. The word Brahmachari associated with Swamiji has held aloft this great ideal before the student world once more. And with the emphasis has gone automatically the postponement of the age of marriage. Early marraige has thus been sought to be replaced and thus effectively destroyed by substitutions of ideals.

The helpless lot of the widows, and the great injustice of enforced widowhood, without a corrosponding restriction on re-marriage of widowers could not flnd a more effective opponent than the Swami. He was the ardent advocate of social justice. The Vedic message was to be preached among men and women alike. The girls had as much right to education as boys. And with these reforms goes the granting of human rights to the widows as well. The widow remarriage movement finds ardent advocates among the Arya Samajists. Female education and the right of every widow to remarry, if she likes, thus easily find their advocates where the teachings of the Swami have made headway.

Through Sanskar Vidhi the ancient sacraments were restorted to their pristine purlty and put within the reach of all. I have observed the Samajic Vidhi being drawn upon by even several orthodox Brahmins. The sacraments can now be conducted by any one who can read Hindi and Sanskrit and can be intelligently followed by the Hindi-educated. They are not a monopoly of any special class. Ceremonies have thus been reduced to essentials and simplified, shorn of Pauranic Astrologic accretions, and established costly exchanges of presents, leaving the parties free to save time and money and get rid of the bother of meaningless survivals.

The greatest single stroke of social reform is the reclamation of the untouchables, their readmission or admission into the Hindu fold. Thousands have directly had cause to bless the swami for restitution of primary human rights of intercourse with other human beings not of their caste or class alone, of equal rights to education and approved modes of worship and ceremonial. Lakhs will still bless him for readmission into the Hindu fold, for elevation of social status, and removal of social injustice, For the ways of the pioneer have how found acceptance amongst the orthodox. Hindu society has thus been and is being steadily regenerated through the efforts of the Swami. Great is the debt of Hinduism to the Swami and great the debt of the rest of India too.

Maharshi Dayananda the World Teacher

• Sri Parashuram R. Dudhat
Editor 'Dharmabodha'

Religion in this age is reckoned at a discount through out the World; while in this land of the fountain head of all the world religions it is exploited as a warcry for the political purposes only and indifference to religion, is particularly experienced as a fashion among the so called educated classes. The idea of conflict between religion and reason is prevelent under the system of education in Government schools and colleges under the shadow of secularism, which has almost all extinguished the interest in religion and religious observances from the hearts of the growing generation.

Such an indifference to religion particularly among the Hindu educated youth can only be attributed to their utter ignorance of the true character of their religion. The Vedas the oldest and the only revealed shashtras being beyond their reach, and in absence of any specific provision for imparting religious instructions during their study except in some institutions, the majority of Graduates are turning deaf ears to anything concerned with their religion. As a result most of our so-called educated young men besides the other professional men like lawyers, doctors, merchants, industrialists or even Government officials are ignorant of the true character of Hinduism, and sometimes they feel shy or at a loss to answer any question that may be put to them in connection with their religion.

We should not forget that the true aspect of Hinduism was exposed in its prestine purity during the 19th Century by one of the eminent World Teachers Maharshi Dayanand Saraswati (1825-1883) who defended it single handedly facing all odds both indegenous and aliens with his profound knowledge of Sanskrit and the Vedics lore, and that too without knowing a word of English.

It was Swami Dayanand Saraswati, who defined and deciphered the correct meanings of the Word "DEVA" which was being wrongly interpreted by the Western indologists and scholars as the synonym of God or Gods and created thereby a lot of confusion, styling Hinduism as if believing in polytheism, instead of its inherent faith in monotheism. He said that as per Vedic terminology every word has got several meanings, which can be reckoned and taken as per the reference to the context, and not as per one's own will or choice as being done in day to day talks. The word DEVA while coking with reference to God,should be interpreted as God. When with Sun, Moon, Air, Water, Organs, it must be reckoned accordingly, but not as a Sun, God, Moon, God, Air God etc.

Accordingly to Swami Dayanand, before interpreting Vedas one must become thoroughly conversant with the knowledge of the Vedic Grammer such as The Astadhyayi of Panini and Mahabhashya, the Nighantu and Nirukta, which enable him to go to the root and the innermost meaning of any word in its true sense. This is called "Yaugika" the primary meaning. i.e. one that only signifies the meaning of its root together with the modifications effected by the affixes. In fact the structural elements out of which the word is compounded, afford the whole and the only clue to the true signification of the word. As per modern logic, the word is all connotation and by virtue of its connotation, determines also its denotation. A "Rudhi Word" is the name of a definite concrete object, or answers to a definite concrete technical sense, not by virtue of any connotations but by virtue of an arbitrary principle' In short the 'rudhi' is a concrete form developed after passing through several stages and environments.

The third class of words "Yoga-rudhi" in which two words are synthetically combined into a compound denoting a third object by virtue of the combination of these two words. Such word may express any relation or interaction

of phenomena. Such as KAMALA stands in the relation of that BORN to the water the BEARER; also KAMAL is denominated as PANKAJ, that is BORN to the MUD; PANKA meaning MUD and 'JA signifying to BEAR'.

It was Maharshi Dayanand Saraswati who gave a crushing blow to the great controversy between the East and the West concerning the supremacy of the Vedic Philosophy, by showing the highest importance of the Vedic terminology the only clue for correct interpretation of the Vedas.

Till then the so-called Western Sanskrit Scholars like Prof. Max Muller and others simply followed the imperfect, defective, incomplete and false Vedic Bhashyas of Sayan a Mahidhar and translated same in English language.

On their so-called scholarship says schopenhaner

"I add to this the impression which the translations of Sanskrita words by European scholars. With very few exceptions, produce on my mind I can not resist a certain suspicion that our Sanskrita Scholars do not understand their text much better than the higher class of school boys their Greek or Latin".

And what exactly did remark Swami Dayanand the most profound scholar of Sanskrit in his age on the subject, in Satyartha Prakash Page 278? He says: "The impression that the Germans are the best Sanskrit Scholars, and that no one has read so much of Sanskrit as professor Max Muller, is altogether unfounded. Yes, in a land where lofty trees never grow, even RICINUS COMMUNIS or the Caster Oil plant may be called an Oak. The study of Sanskrit being altogether out of question in Europe. the Germans and Max Muller may there have come to be regarded as highest authorities".

As once Pandit Gurudatt Vidyarthi the eminent young researcher, and energetic disciple, who could try to recast Maharshi's ideals in English, told that he came to learn from a letter of a principal of some German University, that even men learned enough to interpret a Sanskrit letter were rare in Germany. Again he says 'he had also learnt from the study of Max Mullers' 'History of Sanskrit Literature' and his comments on some Mantras of the Veda, that Prof. Max Muller had been able only to scribble out some thing by the help of the socalled TIKAS or paraphrases of the Vedas, current in India."

Further says Pandit Gurudatta Vidyarthi, "In the discussion of philosophical subjects, pre-conceived notions are the worst enemies to encouter. They not only prejudicially bias the mind but also take away that truthfulness and honest integrity from the soul which alone is compatible with the righteous pursuit and discerment of TRUTH. In the treatment of a question, such as the estimation of the value of a system of philosophy or religion, extreme sobriety and impartiality of the mind are required. Nor is it to be supposed that a religious or philosophical system can be at once mastered by a mere acquaintance with grammer and language, It is necessary that the mind should, by an adequate previous discipline, be raised to an exalted mental condition before the recondite and invisible truths of Man and Nature can be comprehended by men. So is it with Vedic Philosophy. One must be a complete master of the science of morals, the science of poetry, he must be well-versed in the philosophy of characterstics, the doctrines of logic or the science of evidence, the philosophy of essential existence, the philosophy of YOGA, and the philosophy of VEDANTA—the six well known Upangas or Darshanas. He must be a master of all these and much more before he can lay claims to a rational interpretation of the Vedas".

Such, then, should be our Vedic scholars thorough adapts in science, philosophy, unprejudiced and impartial judges and seekers after truth. But if impartiality be supplanted by prejudice, science and philosophy by quasi-knowledge and superstition, and intergrity by motive. whereas predetermination takes the place of honest inquiry, truth is either disguised or altogether suppressed.

And we see how now a days the TRUTH is covered up and suppressed by partial judgements, prejudices, disintegrity, predeterminations and dishonesty in every walk of life.

How is it shameful to us as the citizens of this holy land having the religion preached by Vedas and upanishads now to be totally indifferent of which says Schopanhaur who has 'washed himself clean of all early engrafted Jewish superstitions and all philosophy that crings before these superstitions:—He says—

"In India, our religion (Bible) will now and never strike root, the primitive wisdom of the human race will never be pushed aside by the events of Galilee. On the contrary, Indian wisdom will flow back upon Eruope, and produce a thorough change in our knowledge and thinking."

And to this unprejudiced and impartial remarks of this philosopher what Professor Max Muller says :—

"Here again the great philosopher seems to me to have allowed himself to be carried away too far by his enthusiasm for the less known. He is blind to the DARK SIDE OF THE UPANISHADAS and he wilfully shuts his eyes against the bright rays of the eternal truths in the Gospel, which even Ram Mohan Rai was quick enough to perceive behind the mist and clouds of tradition that gather so quickly round the sunrise of every religion."

How prejudiced this Sanskrit scholar was against India and Indians is reflected in his Ancient Sanskrit Literature Page 31-32 He says :—

"But if India has no place in the political History of the world, it certainly has a right to claim its place in the intellectual history of mankind. The less the Indian nation has taken part in the political struggles of the world and expended its energies in the exploits of war and the formation of empire, the more it has filled itself and concentrated all its powers for the fulfilment of the important mission reserved to it in the history of the East. History seems to teach that the whole human race required a gradual education, before, in the fullness of time, it could be admitted to the truths of Christianity. All the fallacies of human reason had to be exhausted, before the light of higher truth could meet with ready acceptance. The ancient religions

of the World were but the milk of nature, which was in due time to be succeeded by the the bread of life. After the primeval physiolatory which was common to all members of the Aryan family had, in the hands of a wily priesthood, been changed into an empty idolatry, the Indians alone of all the Aryan nations, produced a new form of religion, which has well been called subjective as opposoed to the more objective worship of Nature-That religion, the religion of Buddha, was spread far beyond the limits of the Aryan world, and, to our limited vision, it may seem to have retarded the advent of Christianity among a large portion of human race. But in the sight of Him with whom a thousand years are but as one day, that religion, like all the ancient religions of the word, may have but served to prepare the way of Christ by helping through its very errors, to strengthen and deepen the ineradicable yearning of the human heart after the truths of God".

Is not this Christian prejudice? But it is not with Max Muller alone who fortunately in his last days had totally changed his views regarding Vedas and the true aspects of the human life. There are even more strong remarks made by Monier Williams, in his "Indian Wisdom" as to the Caricature of the Vedic religion, which he names as 'Brahmanism', wherein he tries to hoist, up Christian superiority.

"It is one of the aims, then, of the following pages to indicate the points of contrast between Christianity and the three of the chieffalse religions of the world, as they are thus represented in India". (Monier Williams Indian wisdom. Introduction page 36.

Speaking of Christianity and its claim as supernaturally communicated by the common Father of mankind for the good of all His Creatures', he says :—

"Christianity asserts that it effects its aim through nothing short of an entire change of the whole man, and a complete renovation of his nature. The means by which this renovation is affected may be described, as a kind of mutual transfer of substitution, leading to a reciprocal interchange and co-operation between God and Man's nature acting upon each other. Man-the Bible affirms-was created in the image of God, but his nature became corrupt through a taint, derived from the fall of the first representative man and parent of human race, which taint only be removed by a vicarious death"

"Hence, the second representative man-Christ whose nature was divine and taintless, voluntarily underwent a sinner's death, that the taint of the old corrupted nature transferred to him might die also. But this is not all. The great Central truth of our religion lies not so much in the fact of Christ's death as the fact on His continued life. (Rom VIII-34). The first fact is that He rose again and lives eternally, that He may, bestow life for death and a participation in His own divine nature in place of taint which he has removed."

This controversy is almost endless etc. etc. ultimately by hook or by crook leading to the 'superiority of Christianity', and wanting space for the fittest reply, we now leave it here.

For Mohamedans and Christians a Hindu meant an idolworshiper. They could not imagine Hinduism without idolatry, nor could and ordinary Hindu think he could do without imageworship. Swami Dayanand in those days was revited the most for denouncing idolatry. Hindus were ready to accept and tolerate anythihg of his even their offered him to become an incarnation of God if he but compromised with image-worshipping. Some people held that Swami Dayanand was opposing idolatry simply to overcome the onslaughts of Chritianity and Islam. But they forgot that it was the first and the last thing for Dayanand. It would also sound strange to some that Swami Dayanand was only one out of many Aryan Sages that raised their voice against idol-worship. It was his first discovery that Vedas did not inculcate polytheism or image-worship. In fact the Gods and goddesses which form the Hindu Pantheon have no mention in the Vedas. Even in the later literature we do not find their traces, till we arrive at Buddistic or Puranicage. Angarika Dharm Pal the great Buddistic missiodary has traced the persian word But—meaning an idol to the Sanskrit word Buddha, as the images of Buddha were worshipped in Iran or other Countries of Western Asia, in those days—But-Parasti or the idol worship had become popular in that period.

Such image worship is also found in some forms even among Christians and Mohamedans too. Christendom is full of images of Saints and angels, even of Christ and his mother Mary. Even they preserve dead bodies like that of St. Xavier exposing occassionaly, to prove miracles. Mohamedans do not think it a sin to bow before the tombs. The Sijda or form of prayer current among them is no more than a remnant of practice of bowing before the idols of Gods and Goddesses, in vogue in Arebia before the advent of Mohammad.

The prophet took away idols, while the form remained the same, yet we must admit that Mohammad realised the harm which idol-worship did to a nation. So also Christians reformers and prophets raised their voice against idolatry. John Wycliff, Calvin and {Luther all denounced idolatry with all the might at their command.

The reason of denouncing idolatry or worship of personal gods is not far to seek. If one studies the mythology of any nation, he would find that it was idolatry, the vilest form that produced distintegration in any people. All idols are either imaginary representations of the maker or the statues of saints and demi-gods or deified personages. Different people imagine differently and that creates jealousies and competitions between different forms. One saint appeals more to one set of people and another to another. This leads to differences, till the people come to blows. Thus the saints and such imaginary gods play the role of fendatory chiefs who throw the yoke of one paramount power and bigin to fight among themselves for their own supremacy. Religious history of world is black with such bickerings." Thus the tomb of Jesus Christ in Jerusalem has caused most terrible warfare between Moslems & Christians. The recent warefare between Israel and Arab

countries is also a proof positive of such enmity. That Christ is said to be a prince of peace. He is given the Credit of shedding his very blood for the sake of mankind. But look at the irony of fate. His followers are fighting together like beasts over the bricks which once contained the bones of this Peace-maker-bones which natural forces must have long turned into dust."

One can question whether idolatry helped any one in securing heaven. But then world History bears witness that in India as well as elsehwere, idolators have been so duped as to lose even their earthly belongings. Mahomad of Ghazmi's sack of Somnath was not due to cowardice of the Rajputs. Had not brave Dahir's people been misguided by superstitous priests, the history of Hinduism today would have been quite different. Similar were the horrors of bloodshed and arson, loot and slavery that followed the attack on Somnath. This was all due to superstition, that played part in idol worship. The very idol of Somnath tempted Mahomad to come and break it. The priests thought the image would help them. They were over confident. And the brave Rajputs therefore instead of relying upon their armstrength depended upon the vain hopes created by the priests. They lost the battle, and the invadors ruined even Kashi the famous Citadel of Hindu idolatry and many other secred places of this holy land.

It was this consideration that led Swami Dayanand to condemn idolatry so vehemently, and much of the disintegration of Hindu Solidarity could easily be remedied as he rightly thought, if the idol-worship was given up and the real worship of God who is Absolute Omniscient Blissful, Formless, Omnipotent, Just, Merciful, Unborn, Endless etc. started in accordance with the precepts of the Vedas.

Also there is one more aspect worth noting that idols invite the rage of the enimies too easily, and when any harm is done to such idols, the faith of devotees is shaken immediately making them weak and nervous. Histories of many old nations provide sufficient instances to prove this. If a Mohammedan fanatic is successful in breaking any idol, the worshipper styling himself a very mightly agency and relying upon his god's help, became septic, weaker and helpless prey to the aggressor. Christian missionaries also succeed this way in making easy converts among those people whose gods and goddesses they could successfully defy.

Maharshi Dayanand realised all such falsities and thus like an expert physician digonised the serious cancer in the body of his nation and race in form of idol-worship and therefore tried to eredicate it by sereve operation in form of criticising with all the possible means at his command.

Also he could not tolerate the 'One way Traffic' of any Hindu being converted into either a Muslim or Christian an denationatezing him forthwith, under any undue influence, pressure, allurement or duress. He therefore, analysed, compared and criticised various dogmas of faiths with pure reasoning and the authority of different scriptures particularly Vedas and shown what was true, real, false or unbelievable and, ultimately proved that if a man being duped, committed a blunder to give up his ancestral faith, could after realising such blunder, and accepting, the truth, renounce the falsely adopted alien faith and reembrace, his ancestral faith, any time again-no matter of being any generation. In fact he preached that all mankind is one irrespective of any country, caste, creed, language or sex, entitled equally.

Maharshi Dayanand & Politics

• Prof. Shri Prakash

It is an tragedy of the first order that Maharshi Dayannd is not being placed among the Modern Political Philosophers even when he orginated and generated a Political Philosophy of his own and his Political thoughts made an eventful impact on the trend of current thinking. For this lapse, the responsibility can easily be laid on the students of Politics who are occupying sophisticated chairs in Dayanand Colleges and who have done nothing to fathom what lay deep in the ocean of thought generated by the Great Maharshi a century back. The present article is an humble attempt to paint Maharshi as a great Thought-Giver even in the realm of Politics. Let us hope that more people would crop up to pick-up the thread and would try to present a picture of Maharshi Dayanand hitherto lying hidden from publicity.

Maharshi Dayanand was really great, not only as a Social Reformer, not only as a Champion of Vedic Dharma, but also as a Political Thinker and his views about Politics excited, energised and electrified the Political atmosphere that was enveloping our Motherland a hundred years back. In the first half of the last century the common man in our country was deep in slumber. That Maharshi Dayanand worked hard to awaken him is an open fact and it is a pleasant truth that Maharshi Dayanand's attempts and efforts laid the foundation on which Tilak, Gokhale, Gandhi and others built the edifice of Today's Freedom. The role which Maharshi Dayanand played in the early stages of the Freedom Movement was highly appreciated and greatly admired by those who stopped in his shoes later on and he is rightly remembered as a Maker of Modern India. A critical study of Maharshi Dayanand's life his movements, engagements and speeches—and his writings—books, pamphalets, letters and circulars reveals a new character of Maharshi and present before us a Personality really very great—an alrounder, a versatile thinker and an absolute believer of all round development of human traits.

It is really wrong—rather absurd to assume that Maharshi was interested only in the reform of the Hindu Society or the rejuvenation of Vedic culture. It will be a sheer act of injustice to the Maharshi if we just regard him as a Translater only of the new concept of Vedas. These fields he was deeply interested in, there is no doubt, and he really tried on them, but he also had a deep passion for his motherland and he had an unflinching desire to serve the people and free them of the shackles of bondage. He was Patriot to the core of his heart and was Nationalism personified. He missed no opportunity to express his feelings for the people and for his country. He did not remain a passive onlooker to the problems of the country, but he tried to solve them in his own way.

December, 1876. People from all over the country had gathered in Delhi to attend the Coronation Ceremoney of Queen Victoria, the first British Empress of India; the Durbar was known as KESARI DURBAR. Maharshi Dayanand also went to Delhi. Sensing the presence of important personalities belonging to different walks of life. Maharshi thought it to be a grand opportunity to establish contacts with them and discuss out a plan for the betterment of the countrymen. He convened

a meeting of the prominent Indians at his place of stay and exhorted them to unite themselves and to work for the good of the country. It was the First Meeting of its type in the country and that too under the very nose of the British Govt. And it was attended by Hindus, Brahmos, Muslisms and others. There was no consideration of caste and creed in issuing invitations, the only consideration being the influence each had in his group. Among the prominent who took part in the deliberations were Munshi Kanyaiya Lal Alakdhari, B. Navin Chandra Roy, B. Kesheo Chandra Sen, B. Inder Mani, Maulana Syed Ahmed Khan and B. Harish Chandra Chintamani.

This meeting created a stir. The Indian Mirror published from Calcutta reported that "This popular meeting held at the residence of Maharshi Dayanand was convened to form a Common Code of conduct for the social workers". L. Lajpat Rai in his Biography of Maharshi Dayanand hailed it as "An important event illustrating the patriotism of Maharshi."

Maharshi often spoke on Politics. His biography mentions of a speech on Politics which he delivered in 1876 at Moradabad. The British Collector of the town presided over the meeting and praised Maharshi for the beautiful discourse.

Maharshi was drawn towards Hindu Princes of Rajasthan, not for any personal aggrandisement, he had never thought of establishing Mahanti, though this was the order of the day and so many Saffron-robed Sadhus had done it and enrolled Multi-Millionares as disciples. Gurudom never impressed Maharshi and he did not believe in establishing one. He entered into Rajasthan with the sole aim of unifying Hindu Princes and preparing them for the War of Liberation. Maharshi being of the old thought had faith in the kshattriyas and was impressed by the institution of a Raja. He felt that if Hindu Rajas of Rajasthan just unite and forge into a unified strength, their strength would be so formidable as to able to oust the Foreigners. This was the sole motive of the Maharshi and this inspired him to shift his Centre of activities to Rajasthan.

Pandit Harish Chandra Vidyalankar in his biographical sketch of Maharshi Dayanand explicitely mentions this fact. He writes. "The main aim of Maharshis stay at Jodhpur was to rejuvenate Kshattriyas. At Jodhpur every minute of his stay was spent in achieving this aim." In November, 1861 when Maharshi visited Udaipur, "the very first day he gave a sermon on Politics." In August 1883 Maharshi stayed at Udaipur for a substantial period and he "gave sermons to the Royal Family everyday. L. Lajpat Rai in his biography of Maharshi writes that "Maharshi specially related those chapters of Manusmriti to the Raja and his people which related to state-craft and his audience listened to him with all attention and devotion.'

Shahpura is a small State in Rajasthan, but its Ruler exercised immense influence in the area. Maharshi Dayanand was his guest from 9th March, 1883 to 24th May, 1883. Every day the Ruler and his family went to him to listen to his discourses. Here Maharshi's subject for discourses was the state-craft as visualised by Manu.

Maharshi was greatly impressed by Manusmriti especially by those chapters which deal with Family, Society and State-craft. In his writings Maharshi has quoted Manusmriti with vehemence and with vengeance. And this fact confirms the truth that his views on these topics coincided with the views of the Great Law-Giver. He felt that the subjects of a kingdom merely follow the ruler. 'As the Ruler, so are its Subjects'. The life of the Ruler usually affects the life of the Ruled. If the Ruler is good, honest, patriotic and theist, the state must flourish and must exhibit contentment and prosperity. In the reign of a wise administrator the culture, the education, the industry and practically everything would prosper. This was the line of thinking which had guided Maharshi Dayanand in chalking out his Master Plan for the liberation of mother land and our administration in Free India. If his views are studied in details, it would definitely place him among the great architects of our freedom.

Maharshi chose Udaipur for his experiments in this field and spent considerable time therein.

Maharana Sajjan Singh of Udaipur had become his astute disciple and sought his advice in every sphere-both personal and public administration. He moulded his personal life according to the teachings of Maharshi and tried to leave all vieces. No more late-going to bed and no more sleeping till late. A miracle indeed and with these vanished all the bad habits associated with them.

Maharana had issued instructions to his officials to seek advice of the Maharshi on all state matters and be guided by him at every step. Thus Maharshi played the role of a Play-back Administrator.

L. Lajpatrai wrote in Maharshi's Biography. "At the inspiration of Maharshi Dayanand Devanagri was made a State Script and Hindi became the vehicle of State Administration. Maharshi took control of Education Department and tried to remodel education system of the state. He planned to have a separate school for children of the nobles of the State where he had prescribed a different syllabus, "besides elementary education they would also

be taught state-craft and military science. The study of scriptures was also prescribed for them."

Pandit Mohan Lal Pandya had commented that the 'sermons of Maharshi brought a radical change in the life, of Maharana of Udaipur.

Maharshi even went deep in his planning. He blessed move to bring together all the Hindu Rajas-right from Maharaja of Kashmir to Holkar of Indore. Negotiations started and once it appeared that Maharshi would succeed to knit them together. But to our misfortune this could not materialise. Had this Plan succeeded, India's History would have been very very different.

For this set back there are many causes. The major ones are the following :—

1) The untimely death of Maharana Sajjan Singh of Udaipur. Maharshi had entered into the day to day administration of the state, but he had not firmly saddled himself. Udaipur was the biggest state of Rajasthan. Had its administration gone of fully in the hands of Maharshi, it would have made a very good impact on the smaller states of Rajasthan and elsewhere and would have made his path easy. The sudden demise of the Maharana snatched from Maharshi a wonderful opportunity to remodel the reigns of Udaipur. In this death Maharshi lost a very influential and important lieutenant.

2) Maharshi's antagonism to Idol-worship. The futility of Idol-worship was a mile-stone in Maharshi's own life. In his chilhood on the Shivaratri Day Maharshi realised the hoax of Idol-worship and this incident in his life gave a revolutionary turn to his whole thinking. How could he compromise with the Idol-worship then? Practically every Maharaja was an Idol-worshipper, devoted to one Diety or another. Most of them nourished the superstition that the diety is a Guard to their kingdom. They were not even prepared to leave their Holy Diety. They were not even prepared to hear the criticism of their Diety. Maharana Udaipur did advise Maharshi to atleast remain neutral on the subject and not annoy Indian Princes. But Maharshi did not listen to his advice. The history reveals that this was the main factor for the break-down in the negotiations with the Maharaja of Kashmir.

3) Maharshi's interference in the personal life of Rajas. Maharshi laid more importance on the personal life of the Rulers. He was of the view that the Janta simply imitates its Rulers. If the Ruler is corrupt and is addicted to vices, if the 3W's envelop his daily life and tint his characterm no good can be expected from him. His rude frankness cost him his life and also cost him the Plan which he had made and nutured dearly. His public abuse could not be tolerated by most of the Indian Princes who usually led an ostentatious life, a life full of Physical luxuries. In the words of L. Lajpat Rai, "Maharshi made sincere efforts to reform these Rajas, but the women and wine had so much over-powered them that they could not be discarded by the Rajas. Maharshi gave private advice and also Public rebukes but with no result."

4) Hierarchy and self-aggrand is ement are also responsible for the collapse of the Plan. Every Ruler was monarch in his own state and considered himself to be the "Lord of ali he surveys". How could he subordinate himself to other? Maharshi tried his best to overcome this difficulty, but he could not persuade them to his satisfaction.

Shri Shyamji Krishna Verma

Shri Shyamji Krishna Verma should be regarded as the greatest contribution of Maharshi Dayanand to Indian Politics. After his failure to work out his Plan with the Rajas of Rajasthan, Madhya Bharat and Northern India, Maharshi switched his energy to another Project. A man of his calibre and his metal could not be expected to be subdued by one failure or another. The presence of British was constantly hurting him. Though he was publicly working for the social and religious uplift of the countrymen, he was not silent otherwise. He was deeply worried. Then a youngman of 18 years came in his life. In 1875 Maharshi was at the height of his glory and practically conquered Bombay. This youngman by the name Shyamji Krishna Verma was so much charmed by the personality of Maharshi that soon he became his most trusted disciple.

The ingenuity of Maharshi prompted him to immediately chalk out a Plan. He immediately decided to send him to England. He exercised his influence to get Shyamji Krishna Verma admitted to the Department of Philosophy of Oxford University. He wrote to Dr. Monier Williams of the above department, "He is very intelligent and he possesses mastery over the sanskrit language. He is a forceful orator and is full of wisdom".

Maharshi guided Shyamji Krishna Verma from time to time, "Never commit an act which may bring a bad name to your country". On 13th July, 1880 Maharshi enquired of him if "you have cared to visit the Parliament of Her Majesty". In this very year he wrote to Verma a letter in Sanskrit verses. This letter is very important and significant. Through this letter Maharshi instructed Shyamji Krishna Verma to

a) contact responsible Members of British Parliament and through forceful pleadings convey to them Pro-Indian views.

b) to acquaint them of the hardships Indians are experiencing and the torture of the *Malech* which Indians are suffering through their *Malech* acts, and try to get relief to the poor sufferers. (Herein Malech word has been used by Maharshi for Britishera).

c) to contact German intelligentia who are in correspondence with the Maharshi and find ont what they want.

d) to ponder over the views expressed by these foreigners and study their schemes for the uplift of Indians and Indian industry.

e) before returning to India to visit all over Europe and through lectures tell them what they should be told.

It is very relevent to understand why Maharshi wrote this letter in sanskrit verses and not in Hindi. Though the censor was there but it was not so strict. Nobody could ever suspect that Maharshi would be making such a revolutionary plan. He had established a reputation of a Social and Religious Reformer. A letter in Hindi would have been read by even petty officials, but a letter in sanskrit verses could easily pass out. Sanskrit enjoyed the reputation of being a language of culture and romance. Through this medium Maharshi could convey to Shyamji Krishna Verma what he wanted to convey without creating any suspicion.

During his stay abroad Shyamji Krishna Verma received a number of books from Maharshi with definited marks to be specially attended to. These books are available in Paris Library. If a study of all this is made, it will definitely reveal something very interesting.

Shyamji Krishna Verma became greatest revolutionary of his time. He became friend and guide to a large number of Indian Revolutionaries living in the continent. And they included Veer Savarkar and Bhai Parmanand. He had established his Head Quarters in Paris. He helped and guided the innumerables and became a terror to the British Gover nment. It can be safely said that he was the making of Maharshi Dayanand.

The First War of Independence

History is mum about the activities of Maharshi Dayanand during the period 1854-60. Only a thorough research would give an indication of his activities during this period. It is difficult to assume that Maharshi would remain silent and inactive during this period when India was burning and there was chaos alround. A man of Maharshi's zeal and his passion for motherland is not expected to be passive. What is badly needed is a thorough study of this period of his life, specially during the days of First War of Independence.

An Audience with the Viceroy

History mentions of a meeting of Maharshi Dayanand with the Viceroy, Lord Northbrook. The Viceroy was fully conversant with the rising influence of Maharshi Dayanand in the Public life of the country and he knew well the high esteem with which Maharshi was held by the countrymen. In order to cajole him, he invited Maharshi, accorded him a royal welcome and spoke very sweet words for him. During his talks, he requested Maharshi Dayanand to pray for the Rule of British Queen. Maharshi bluntly disappointed him by remarking, "A Foreign Rule is a curse and I can never offer prayers for its stability,'.

Such was our Maharshi who had feared none and who had worked hard for the uplift of our country and countrymen. That he was deep in the Politics of the country is a pleasant truth and it should be accepted by every intellectual. He not only wrote about Politics in the Chaptet VI of the Satyarth Prakash, he not only gave oral sermons, he practised even into action what he had in his mind and heart.

A Great Politician. A Great Statesman.

Arya Samaj & What it Stands for

• Shri R. L. Sahdev

In the Social sphere there were malpractices such as child marriage. (There were child widows as young as one-year-old) Widow marriage was out of question. In some parts of India widows were required to shave their heads and wear the traditional red clothes throughout their lives, education of women was taboo. Untouchability was practised in the worst form ; women and the so-called untouchables were not supposed to read or even hear the Vedas and Shastras. Other senseless practices were the feeding of Brahmins in the belief that whatever was fed and offered unto them would reach the souls of one's deceased ancestors the erroneous faith that bathing in holy waters (even if dirty) washes away all sins and brings salvation. And this was life till the beginning of this century.

THE CRUSADE

Swami Dayanand's soul revolted against the above state of affairs and he started a crusade against what he believed to be opposed to the dictates of reason and knowledge. In pursuit of his mission to eradicate ignorance and superstition, he wandered from place to place delivering speeches, holding debates with leaders of different anti-Vedic faiths.

In order to propagate his views and to carry his mission forward, he founded the 1st Arya Samaj in April 1875 in Bombay and prescribed ten principles for its guidance, the first three of which form the cornerstone of the Vedic religion :

1. The first (Efficient) cause of all true knowledge and all that is known through knowledge is God.
2. God is true personification of existence, consciousness and bliss. He is formless, omnipotent, just, merciful, unborn, infinite, unchangeable, beginningless without parallel the support of all master of all, omnipresent omniscient, unaging, immortal, fearless, eternally pure and creator of the universe. He alone is worthy of being worshipped.
3. The Vedas are the scriptures of true knowledge. It is the foremost duty of all Aryas to read and teach them, have read and preached them.

To sum up the Arya Samaj believes that :

1. He who is called Paramatma or the Supreme Spirit ; Who permeates the whole universe; Who is existence, consciousness and bliss personified; Who is holy, omniscient, formless, all pervading, unborn, infinite, almighty, just and merciful; Who creates, subsists and dissolves the universe; Who awards all souls the fruits of their deeds in strict accordance with the requirements of absolute justice—He is the Great God and to Him alone is worship due.
2. The Vedas are the repository of knowledge and religious truths. They are the word of God and absolutely free from error. They are an authority unto themselves—in other words, were given to man when the universe was created.
3. Three things are beginningless infinite, namely God, Soul and Matter. While God is existence, consciousness and bliss personified, the soul is existence and consciousness and matter is existence only.

4. The purpose of creation is the essential and natural exercise of the creative energy of God. His creative energy can be exercised and the souls can reap the fruits of their deeds only when the world is created.

5. The class and order of an individual should be determined by his merits and not by his birth.

6. Tirtha is that by means of which the 'ocean of misery' is crossed. It consists in the practice of truthfulness in speech in the acquisition of true knowledge, in cultivating the society of the wise and the good, in the practice of Yoga and the performance of good works. The so-called sacred places on land and water are not Tirthas.

7. The soul is a free agent to do deeds but is subservient to God for reaping the fruits thereof.

8. Swarga (Heaven) is the enjoyment of extreme happiness and the attainment of the means thereof. Naraka (Hell) is another name for undergoing extreme suffering.

CONCLUSION

The Arya Samaj means the Society of the good and the noble. We are not however, so presumptuous to claim that every member of this society today is good and noble as he should be. But we make bold to say that the golden principles of the Society, which constitute its fundamental manifesto, which were laid down by its far-sighted, founder—Maharshi Swami Dayanand Saraswati are worthy of being followed by all right thinking and unbiased people all over the world and at all times, and if they do so, there would be all-round prosperity and perfect peace and harmony on this planet of ours.

We invite every thinker who wants to save the world from war and devastation to contribute towards propagation of the code of conduct enshrined in its principles, for then only will the objectives, desires and thoughts of all run in one line and they will be able to live like one family.

Dayanand was no believer in gurudom, nor did he ever express a desire to be defied after his death. Further he was a believer in the democratic way of life and never wanted his followers to take whatever he said as gospel truth. In order to stabilise his programmes and concretise his radical ideas, he founded the Arya Samaj on April 12, 1875, in Bombay. The day has come to have a national significance, for obvious reasons.

His progammes had an appeal for progressive elements in the country and soon so many other Arya Samajas were established all over the country. Above all, the propagation of Vedic ideals and education of boys and girls in pursuance of such ideals was to be the anchor-sheet of their endeavours, Colleges, Schools, Gurukuls, orphanages and technical institutes, were established in large numbers to carry out his mission. It would not be wrong to say that today the Arya Samaj, in itself, is by far the largest non-Governmental educational agency in the country and its institutions enjoy an enviable reputation in the matter of efficiency, discipline, moral tone and integrity. The mighty work has by now crossed the national frontiers and the Arya Samaj has a substantial following among Indians settled in South East Asia, Africa, Latin America, West Indies and Fiji islands. The Sarvedeshik Arya Pratinidhi Sabha of the International Arya League furnishes the much needed link that binds the great organisation together.

The country has paid the Arya Samaj the highest tribute, that of imitation by stealing its programmes. Therein is Dayanand's triumph.

Dayanand was a symbol of Indian India. He was an Indian to the core. In spite of the great height from which he addressed his people he addressed them as his own. His diagnosis was unique and so was his remedy.

The Arya Samaj is Rishi Dayanand's mighty legacy. The day it was founded should be a day of national rejoicing. Perhaps one could repeat the words of Lord Meston "Arya Samaj has a future before it, because it had a life behind it," and it is the life of Dayanand which is shaping and guiding it to final triumph of its ideals. And one might as well add to this the tribute of Sri Aurobindo. "Nature recognises a clear, honest and recognisable knock at her door and gives the result with an answering scrupulosity and diligence. And it is good that the spirit of the master should leave its trace in his followers, that somewhere in India there should be a body of whom it can be said that when a work is seen to be necessary and right, the men will be forth-coming, the means forthcoming, and that work will surely be done."

✲✲

Swami Dayanand's Mighty Legacy

• Shri Suraj Bhan
Ex-V. C. Panjab & Kurukshetra University
President-D. A. V. College Managing Committee, Delhi.

More than a hundred years ago, on the night of Shivaratri, doubts assailed the mind of Rishi Dayanand then simple Mool Shanker, barely fourteen years old—about the prevailing attitude of the people towards God and Religion. The young doubter received a stern reproof at the hands of his father, but it failed to put out the light that had been kindled in him. The inner questionings continued to trouble his mind, and received a new impetus from his studies to which he was getting more and more devoted, as also from some deaths in the family. Attempts were made to suppress these questionings and to bind him to the normal mundane duties of a householder, but the call seemed to have come and nothing deterred our young renunciant in his determination to find answers to his questions. The scope of this article does not permit going into the details of Dayanand's wanderings, hardships and privations in quest of Soul's Homeland. Suffice it to say that for full fifteen years he wandered almost all over India 'finding sermons in stones and books in running brooks', and picking pebbles of spiritual knowledge, wherever available, sitting at the feet of all reportedly promising preceptors, in the pursuit of his ideal. It was a most strenuous and passionate quest to know himself and to know the religious and spiritual environment of this vast land with a view to quenching his thirst. Fate brought him in November 1860 to the cottage of Virjanand, the blind monk of Mathura. It proved to be a meeting of the two kindred souls. For two and a half years Dayanand sat at the feet of the master and drank deep at the founts of spiritual learning. Dayanand had found himself at long last and was a transformed soul. Eventually the parting day came, and Virjanand told him that he had no more to impart. The disciple with half a seer of cloves approached his preceptor and begged permission to depart. He said apologetically that a sanyasi as he was, he could not afford anything more by way of dakshina. Re-assuringly, the preceptor told him that he would not ask for anything that he did not possess. 'I want not the things you possess. It is Dayanand I want. There is darkness all round, dispel it, if you can. Wage a warfare against the evils and falsehoods which have taken hold of the minds of your misguided brethren. Give them the message of the true Vedic Religion. I want this pledge, give it, if you are keen to pay my dakshina'. The pledge was solemnly give and no less solemnly kept, as the recent history of this country shows so unmistakably. Never was a human pledge fulfilled more faithfully ! Who could imagine then what national significance the coming together of two discerning and dynamic minds was going to have and what tremendous transformation it would bring about in the religious, social and political life of this great country.

Guru Virjanand had wanted a stupendous price for the spiritual insights he had furnished to his disciple and the latter was determined to pay it, at all costs. The tasks before him were indeed formidable, but he was in no mood to shirk them. During the years he had gone about in quest of truth, he had assimilated all that our scriptures could impart and had disciplined himself for the formidable task that was ahead. The experience of these years had changed him from a pure idealist to a practical reformer who knows the task he has to do and the stern realities he had to face.

In the history of humanity, the apostle must always face the forces of darkness. He comes as a symbol of light, but light seems to hurt people steeped in darkness. The condition of the country when Dayanand decided to enter the arena called for a brave and relentless redeemer. Hundreds of years of foreign rule, political and priestly subjection of the people had brought many evils that were cutting into the vitals of the Society. They were demoralised in the religious and spiritual sense, and were steeped in ignorance and superstition 'clinging to forms and shells and rags of the past and missing most of its nobler meaning'. The new intelligentsia, nurtured on English thought and culture were prone to admire and accept everything Western and felt ashamed of their own heritage and culture. The alien imperialist ridiculed our scriptures as immoral, profane and paltry and looked forward to the Christianisation of the entire country within a measurable distance of time. The country presented a sorry spectacle of disintegration, degradation and insensitivity. It required a ruthless, bold and inspiring reformer to achieve a breakthrough. And such a reformer Dayanand proved to be.

The years that followed found the young hero fulfilling his pledge by carrying on a ceaseless tirade against false beliefs, superstitions and social evils with a vigour and zeal that was superhuman. Considering the tremendous difficulties of communication of those times, one marvels

at the enormity of his effort and the magnitude of his multipronged attacks on all such religious and social beliefs as were sapping the vitality of this nation throughout the length and breadth of this land. The force of his speech, the might of his pen, the impact of his erudition and the charm of his personality worked wonders. As if, under the spell of his divine mission, he dealt blows in a most hauntless and uncompromising fashion, to forces of evil that bedevilled the country, and created a stir all over. It was a novel experience for the people, and millions were awakened out of their slumber. He was motivated by no desire to found a new religion or any craving for self-glorification; his was an appeal to people to go back to the pristine purity of Vedic ideals. He saw the Indian problem as few saw it, and worked for it on a wide compass. There was hardly any social evil that escaped his ken. Vested interests behind sordid practices writhed under his hard-hitting blows. It has been correctly said that 'prophets must be stoned, that is their lot and the test of their self-fulfilment'. It has always been so in history, and Rishi Dayanand met the same fate. He died a martyr's death in 1883 at the hands of people whose sorded life he had exposed and criticised. He was conscious that his task had not been completed and that though a great deal had been achieved a greater deal still remained un-done, but in a spirit of supreme resignation to God's Will, he finished his glorious sojourn in this world with the words: 'Such is your will, Almighty Lord and let Thy will be done'.

Dayanand was no believer in gurudom, nor did he ever express a desire to be deified after his death. Not only was he a rare synthesis of goodness and greatness, he was also a believer in human dignity. Further, he was a believer in the democratic way of life and never wanted his followers to take whatever he said as gospel truth. In his preachings as also his writings, his constant exhortation to people was that they should test all that he said or wrote in the crucible of Reason and come to their own rational conclusions. In order to stablise his programmes and concretise his radical ideas he founded the Arya Samaj on April 12, 1875 in Bombay. It was nothing more than a body of workers and volunteers who should be willing to continue the mission he stood for, in accordance with certain guidelines which epitomised the basic verities he stood for. The day has come to have a national significance, for obvious reasons.

His programmes had an appeal for progressive elements in the country and soon so many other Arya Samajes were established all over the country. His comprehensive programmes of crusade against idoe-worship, untouchability, caste by birth, ban on conversions to Hinduism, and child marriages proceeded apace. Emancipation of women, the cult of Swadeshi, the primacy of Swarajya as an essential prelude to the tasks of country's regeneration—all these engaged their attention. Above all, the propagation of Vedic ideals and education for boys and girls in pursuance of such ideals was to be the anchor-sheet of their endeavours. Fired by the zeal of their master, their dedicated work soon transformed the social and religious tone of the country. Dayanand's martyrdom served more as an incentive than a damper. Colleges, schools, Gurukuls, orpanages, technical institutes, were established in large numbers to carry out his mission. In the wake of any national disaster, whenever relief measures were to be organised, Arya Samaj was always to the fore. It would not be wrong to say that today the Arya Samaj, in itself, is by far the largest non-governmental educational agency in the country and its institutions enjoy an enviable reputation in the matter of efficiency, discipline, moral tone and integrity. The mighty work has by now crossed the national frontiers, and the Arya Samaj has a substantial following among Indians settled in South East Asia, Africa, Latin America, West Indies and Fiji Islands. The Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha or International Arya League furnishes the much-needed link that binds the great organisation together.

The country has paid the Arya Samaj the highest tribute, that of imitation by stealing its programmes. Therein is Dayanand's triumph. It is significant that the Indian National Congress espoused so many of his ideas for the betterment of the country. For any student of social and religious history, there is no escape from the conclusion that Dayanand, even without being exposed to any foreign influences, was veritably Gandhi's precursor. Dayanand was no politician, and Gandhiji was not a mere politician in its usual sense; he was equally intent on his politics having a proper social and ethical base.

Dayanand was a symbol of Indian India. He was an Indian to the core. The spirit that breathed in him was essentially indigenous and both in his ideas and his methods he was entirely Aryan. Though in his breadth of vision and originality of outlook, he was so much ahead of his people, he was yet so thoroughly Indian that there was nothing in him which in the remotest degree could be traced to foreign influence. In spite of the great height from which he addressed his people he addressed them as his own. He knew and understood what they were and what they were not, and he wanted them to understand what they were and what they were not. His diagnosis was unique, and so was his remedy—the history of the last hundred years and more is a living testimony to his vision and his genius.

The Arya Samaj is Rishi Dayanand's mighty legacy. The day it was founded should be a day of national rejoicing. Dayanand's contribution towards India's struggle for freedom was a tremendous one, and the sacrifices made by the Arya Samajists in the national cause are colossal. The organisation can well be proud of its record of work. If it is asked what is the secret of the success, the rapid progress, and the achievements of the Samaj, perhaps one could repeat the words of Lord Meston "Arya Samaj has a future before it, because it had a life behind it", and it is the life of Dayanand which is shaping and guiding it to final triumph of its ideals. And one might as well add to this the tribute of Sri Aurobindo. "Nature recognises a clear, honest and recognisable knock at her door and gives the result with an answering scrupulosity and diligence. And it is good that the spirit of the master should leave its trace in his followers, that somewhere in India there should be a body of whom it can be said that when a work is seen to be necessary and right, the men will be forthcoming, the means forthcoming, and that work will surely be done." ●●●

Arya Samaj in Nation Building

Dr. S. S. Shashi

Mrs. Besant in her book "India a Nation" wrote that it was Dayanand the founder of Arya Samaj who first raised the slogan'India for Indians." Thus the concept of Swarajya as lay embedded in the mind of his predecessor was m de more clear by Swami Dayanand. He tried to show that was true, was practical and vice-versa. His nationalisam was based on religious life and not hatred or violence. It is the organisation and consolidation of the forces and the resources of the people for the purpose of manifesting the inner reality and dignity of man as well as the infinite glory of the supreme creator and Lord of all. He held that the Swarajya even if it is worst is better than foreign rule.

It was a time when educated Indians had started to go abroad for higher studies. They were mixing with the independent world but in the capacity of a black collar or a slave. The Press owned by Indians played an important role for national consciusness and patriotic sentiments. The development of popular literature, especially in Bengali had saruosed the similar feelings in the minds of the whole country.

The Arya Samaj which was founded by a Gujarati Swami on 7th April, 1857 in Bombay had foun a national in Punjab, U. P. Bihar and other states. I produced a organisation number of national leaders, like Swami Shradhanand, Lala Lajpat Rai any active part in any of the activities of the Congress.It was Lala Lajpat Rai who inspired them to work under Gandhiji's guidance.

According to a Vadic Scholar Dr. Pareek "Swami Shradhanand and Ghandiji had vast similarity of views. When Gandhiji launched the Satyagraha movement, Shradhanad along with others signes the Satyagraha Pratigya and joined the movement.

Swami Shradhanand led the Satyagraha movement at Delhi and a police officer threatened to shoot him, he uncovered his chest and asked him to shoot at him.

A number of Arya Samajists were arrested and sent to jail. Bhai Parmanand was sentenced of life imprisenment in connection with the Ghadr rebellion. His brother Bal Mukand, a well known patriot and staunch Arya Samajist, embraced death by hanging cheerfully. Lala Lajpat Rai and Swami Shradhanand scarificed their lives at the alter of their motherland.

The Arya Samaj helped in building a nation by presenting glimpses of ancient glory, Love for the country was kindled in the hearts of the countrymen. Arya Samaj had many faced activities. It has tried to ameliorate the wretched plight of womenfolk, protect the orphans, remove untouchability and other social evils. A number of Gurukulas Sanskrit Patasalas, school and colleges were established for imparting moral and secular education. The Gurukulas never lagged behind in the national struggle. They not only joined the Satyagraha movement but contributed more for Satyagraha in South Africa by working as ordinary labourers.

Swami Dayanand had a progressive outlook and that is why he encouraged Indians scholars to go abroad for technical education. Shyamaji Krishna Verma who went for higher education organised a national association to liberate his country.

Romain Rolan and rightly says "Dayananda Saraswati was the most vigorous force of the immediate and present action in India at the moment of the birth and re-awakening of the national conscience. He was one of the most ardent prophets of reconstruction of national organission. I feel that it was he, who kept the vigil."

The Founder of Arya Samaj was a democrat. He supported the Rule of law and to protect the law an efficiency army is required According to Swamiji the soldier should be a person of character and even in the battlefield, they should observe the rules of propriety.

He wanted his soldiers to be brave and chaivalrous and Loyal to their master. He advised his soldiers not to run away from the battlefield. He said :

"All his good work is mullified by this act of cowardice. He alone wins laurels who fights faithfully."

वैदिक-धर्म

• श्री सत्यपाल शास्त्री, एम०ए० विद्याभास्कर

महर्षि दयानन्दजी सरस्वती के आगमन से पूर्व देश भारत और विदेशों में नाना प्रकार के मत-सम्प्रदाय-पन्थ, मज़हब आदि नामों से, व्यक्तियों के आधार पर अनेकानेक संगठन प्रसारित एवं प्रचारित थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इन सभी सम्प्रदायों का सर्वांग निरीक्षण किया। परिणामतः सभी निर्मूल निकले। आवश्यकता समझी गई उस मौलिकता की जिस पर मानवता आधारित है। महर्षि दयानन्द ने निष्कर्ष निकाला कि सकल संसार के मानव-मात्र पर धर्म आधारित नहीं है अपितु धर्म पर सकल मानव समाज आधारित है। जितने भी मत-मतान्तर हैं, ये सभी व्यक्ति विशेषों पर आधारित हैं। व्यक्ति धर्म पर आधारित हैं और धर्म ईश्वर पर आधारित है। अतः महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज का सर्व प्रथम नियम लिखा—

"सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।"

पतः परमेश्वर ही इस सकल चराचर जगत् का रचयिता, विधाता और प्रलयकर्ता तथा जीवों को कर्मानुसार यथा योग्य फल प्रदाता है, अतः विश्व की सकल—सार्वभौमिक सत्यमान्यताओं का प्रतिपादक है। तथा सार्वभौमिक सत्यमान्तायें ही धर्म कहाती हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ "आर्योद्देश्य रत्नमाला" का दूसरा रत्न धर्म नाम से निम्न प्रकार लिखा है—

"जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपात रहित न्याय सर्वहित करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिये यही एक मानने योग्य है, इसको धर्म कहते हैं।"

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के धर्म विषय पर लिखते हुये महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि अब वेदों की रीति से धर्म के लक्षणों का वर्णन किया जाता है। सर्वप्रथम वैदिक धर्म विषय के प्रतिपादनार्थ ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त को वैदिक धर्म की प्रस्थापना में प्रतिष्ठित किया है—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते॥

ऋक्० अ० ८।अ० ८।व० ४६। मं० २

"देखो? ईश्वर हम सभी के लिये धर्म का उपदेश करता है कि हे मनुष्यों? जो पक्षपात से रहित, न्याय सत्याचरण से युक्त धर्म है, तुम लोग उसी को ग्रहण करो? उससे विपरीत कभी मत चलो, किन्तु उसी की प्राप्ति के लिये विरोध को छोड़कर परस्पर सम्मति में रहो। जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाये और किसी भी प्रकार का दुःख न हो। तुम लोग विरूद्धवाद को छोड़कर, परस्पर प्रीति के साथ पढ़ना-पढ़ाना, प्रश्नोत्तर सहित विवाद करो, जिससे तुम्हारी विद्या सदा बढ़ती रहे।"

प्रेम से मिलकर चलो, बोलो, सभी ज्ञानी बनो।
पूर्वजों की भांति सब कर्त्तव्य के मानी बनो॥

धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है—एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा, दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा और तीसरा परमेश्वर की कही वेद विद्या के जानने से ही मनुष्यों को सत्यासत्य का यथावत् बोध होता है अन्यथा नहीं।

समानो मंत्र, समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रयाभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

ऋक्० ८।८।४६।३

अर्थात्— हों विचार समान सबके चित्त मन सब एक हों।
ज्ञान देता हूँ बराबर भोग पा सब नेक हों॥

परमेश्वर अपने अमृत पुत्रों को उपदेश देते हैं—हे मनुष्यों? तुम्हारे मन अर्थात् सत्य-असत्य का विचार समान हो, उनमें किसी प्रकार का विरोध न हो, वेदानुकूल नियमों का प्रचार करो, जिससे सभी का सुख

बढ़ता जाये। जिससे सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम, अच्छे-अच्छे काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना, जिससे बुद्धि, बल, पराक्रमादि गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों। ऐसी जो उत्तम मर्यादा है वह भी तुम्हारी एक ही प्रकार की हो, जिससे सभी श्रेष्ठ काम सिद्ध हों। तुम्हारे मन भी आपस में विरोध रहित अर्थात् प्राणी मात्र के दुखों का नाश और सुखों की वृद्धि के लिये आत्म तुल्य पुरुषार्थ वाले हों। दार्शनिकों की भाषा में—

"संकल्प विकल्पात्मको मन:"

अर्थात् शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को संकल्प और दुष्टगुणों के त्याग की इच्छा को विकल्प कहते हैं। जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है उस का नाम मन है। तथा चित्त उसको कहते हैं कि जिससे सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत विचार हो, वह तुम्हारा एक सा हो। ये दोनों मन और चित्त सब मनुष्यों के लिए प्रयत्न में रहें।

वेद ने यहाँ मानव को क्रियात्मक जीवन शुद्ध बनाने का निर्देशन किया है। मन, वचन और कर्म से भी किसी का बुरा मत सोचो, न कहो, और न करो। जो भी व्यावहारिक आदान-प्रदान हो वह भी धर्मयुक्त हो। अतः दयालु प्रभु कहते हैं—कि तुम्हारे सम्बन्ध सत्य से और सत्य का तुमसे संयोग करता हूँ। अतः सत्य को धर्म मानकर चलो, विपरीत नहीं।

यजुर्वेद के अध्याय १९ मंत्र ७७ में कहा है—

दृष्ट्व रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।

अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाँ सत्ये प्रजापतिः ।। यजु० १९।७७।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की भाषा में—अस्यायमभिप्राय :—

"प्रजापतिः परमेश्वरो धर्मभुपदिशति, सर्वैः मनुष्यैः सर्वथा सर्वदा सत्य एवं सम्यक् श्रद्धा रक्षणीया, असत्ये चरश्रद्धेति।"

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर, जो कि सब जगत् का स्वामी अर्थात् मालिक है। वह सब मनुष्यों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि—

"सब मनुष्यों को, सब काल में सब प्रकार से सत्य में प्रीति करनी चाहिये, असत्य में नहीं।"

प्रजापति परमेश्वर ने सत्य और अमृत का विभाजन वेदादि शास्त्रोक और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से किया है। सबका सम्बन्ध श्रद्धा से, जो न्याय रूप पक्षपात रहित सत्य धर्म से किया। अतः मानवमात्र सत्य में श्रद्धा और अनृत असत्य वेद विरूद्ध अधर्माचरण में अश्रद्धा पैदा करें।

इसका परिणाम होगा कि—

"सर्वे मनुष्याः सर्वथा सर्वदा सर्वैः सह सौहार्देनैव वर्तेरन्निति। सर्वैरीश्वरोक्तोऽयं धर्मः स्वीकार्यः, ईश्वरः प्रार्थनीयश्च, यतो धर्मनिष्ठा स्यात्।"

यजुर्वेद अध्याय ३६, मंत्र १८ में वैदिक धर्म का यथार्थ व्यावहारिक सुस्पष्ट निरूपण किया है, जो सभी को मान्य होना अनिवार्य है—

"हृते दृछ्ध्या भिन्नस्य या चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्तां, मित्रस्या है चक्षुषा सर्वाणिभूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

यजु० ३६।१८।

हे दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर। आप हम पर ऐसी कृपा करो कि हम सब आपस में वैर को छोड़कर प्रेम भाव से वर्तें। सब प्राणी मुझको अपना मित्र जानकर बन्धु के समान वर्तें। हमारे ऐसे दृढ़ विचार कीजिये। इसी प्रकार मैं भी सब प्राणी मात्र को अपने मित्र जानूँ और हानि लाभ, सुख-दुःख में अपने आत्मा के तुल्य ही सब जीवों को मानूँ। परिणामतः सभी में सच्ची भिन्न भावना रूप धर्म जागृत हो। नीचे तैत्तिरीय शाखा के कुछ वचनों को उद्धृत कर धर्म का स्वरूप प्रदर्शित किया है। यही वचन आजकल दीक्षान्त समारोह के सुअवसर पर विश्वविद्यालयों के आचार्य-प्रवर अपने शिष्यों को उपदेश करते हैं—यथा—

सत्यंवद, धर्मचर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, इत्यादयः।

श्रद्धयादेयं, अश्रद्धयादेयं, श्रियादेव, छ्रियादेय, भियादेयमित्यादयः।

एषः आदेशः, एव उपदेशः, एददनुशासनम्, आदयः ।।

इन सभी को महर्षि दयानन्द ने धर्म माना है। ये सभी मानव को मानवता से ओत-प्रोत करने वाली हैं।

"भरत च स्वाध्याय प्रवचने चेत्यारभ्य—

प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने चेति पतिपर्यन्तम्।"

अर्थात् ऋत से लेकर प्रजाति पर्यन्त जो धर्म के बारह लक्षण होते हैं, वे ऋत—सत्य, तप, दम, शम, अग्नि, अग्निहोत्र, अतिथि, मानुष, प्रजा, प्रजन और प्रजाति हैं। इन सबके साथ स्वाध्याय और प्रवचन का जो उपदेश किया है कि बिना सत्य विद्या को पढ़े मनुष्य धर्म को नहीं पहिचान और जान सकता है। अतः स्वाध्याय प्रवचन प्रत्येक से जुड़ा है। कहते हैं कि—

"सत्यमेव जयते नाडनृतम्," "यतो धर्मस्ततोजयः"

यहाँ सत्य को धर्म का और धर्म को सत्य का पयार्यवाची माना-जाना प्रतीत होता है, यतः जय सदा सत्य की अथवा धर्म की ही होती है अर्थात् विजय सदैव सत्य-धर्म की ही होती है। धर्म की परिभाषा करते हुए—मीमांसा दर्शनकार जैमिनी मुनि ने लिखा है—

"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः" मीमांसा = १।२

अर्थात् वेदों में ईश्वर ने मनुष्यों के लिए जिन कर्तव्यों कर्मों के करने की आज्ञा दी है, वही धर्म है। परन्तु वह धर्म, अर्थ युक्त अर्थात् धर्म का ही जो आचरण करना है, वही मनुष्यों में मनुष्यपन-धर्म कहता है।

वैशेषिक दर्शनकार ने भी वेदानुकूल ही धर्म का लक्षण बताया—

"यतोऽभ्युदय निः श्रेयस् सिद्धिः स धर्मः" वैशेषिक०—१।२

अर्थात् धर्म वह कहाता है कि जिसके करने से आचरण, संसार में उत्तम सुख, और निःश्रेयस् अर्थात् मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है अर्थात् धर्म उन उत्तमोत्तम शुभ कर्मों का नाम है, जिनके करने से इस लोक में मानव यशस्वी बनकर अपना नाम कमाता है और मरने के बाद भी जहां जगत् में यश छोड़ता है वहाँ परलोक अर्थात् मोक्ष सुख की प्राप्ति कर लेता है।

धर्म के तीन स्कन्ध माने गए हैं—धर्मस्य मयो स्कन्धाः, यज्ञोऽध्ययनं दानंचेष्टि

१. यज्ञने कारण शरीरस्य विकारस्य पूर्तिर्भवति।

२. अध्ययनेन च सूक्ष्म शरीरस्य विकारस्य पूर्तिर्भवति।

३. दानेन पुरानेन स्थूल शरीरस्य परिपूर्तिः भवति।

क्रमशः तीनों शरीर निम्न प्रकार हैं—

१. कारण शरीर = पृथ्वी के द्यूलोक पर्यन्त सब कारण शरीर है।

२. सूक्ष्म शरीर = पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच प्राण, पांच भूत, तथा मन और बुद्धि, इन १७ (सत्रह) का संग्रह सूक्ष्म शरीर कहाता है।

३. स्थूल-शरीर = जो सभी का प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

यज्ञ से भी तीनों शरीरों को खुराक मिलती है। मन्त्र पाठादि से सूक्ष्म शरीर प्राणादि को, सामग्र्यादि से स्थूल शरीरी वायु आदि को, सकल प्राणियों के उपकार से ही कारण शरीर को खुराक मिलती है। कहीं धर्म केवल अहिंसा ही है।

महाभारतकार ने कहा है—"यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः, तस्मिन् तथा वर्तितव्यं स धर्मः।" अर्थात् सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथा योग्य व्यवहार करना चाहिये। इसमें यथा योग्य व्यवहार को धर्म कहा है। एक स्थान पर तो कहा है = "यद्य दात्मनि चेच्छेत्, तत्तत्परस्यापि चिन्तयेत्"। यह धर्म की सर्वोत्तम वेदानुकूल परिभाषा है। मानव जो व्यवहार दूसरों से अपने साथ कराने की अभिलाषा करता है, वही दूसरों के साथ स्वयं भी किया करे, अथवा जो दूसरों के साथ करना चाहता है उसे अपने साथ भी कराने को तैय्यार रहा करे। महाराज मनु ने धर्म को दश लक्षण वाला वर्णन किया है = धृतिः क्षमा दयोऽस्तेयं शौचभिन्द्रिय निग्रहः।
धी विधा सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥ मनु०

अर्थात् धैर्य, क्षमा, दमन, मन, वचन, कर्म से चोरी न करना, बाहर भीतर की पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, क्रोध न करना, दन दस लक्षणों से युक्त धर्म कहाता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने पूना के भाषणों में ग्यारह लक्षण वाला धर्म बताया, मनु वाले धर्म के दश (१०) लक्षण तथा—

"अहिंसा परमो धर्म," अहिंसा ही परम धर्म है अर्थात् सर्वथा सर्वदा सब प्राणी मात्र के साथ वैर त्याग करना अहिंसा कहाती है। उसी का पालन करना धर्म कहाता है और पालन कर्ता धार्मिक कहाता है।

अतः मानव का स्वभाव सरलता एवं सुन्दरता प्रिय है, अतः मनु भगवान् से कहा—कि दस लक्षणों वाला धर्म तो विस्तृत है, कुछ संक्षिप्त करो? तो मनु ने कहा—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधिं प्रादुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ मनु० २।१२

समस्त वेदोपदेश धर्म है तथा वेदानुकूल स्मृतियों के उपदेश भी धर्म हैं। सत्याचरण करना भी धर्म है और जो आत्मा को प्रिय लगे वह भी धर्म है। इस प्रकार धर्म के चार लक्षण संक्षेप में बताये। किन्तु अकर्मण्य-शील मानव तो प्रत्येक स्थिति में संक्षेप चाहता है, अतः उसे तो यह भी बड़ा ही जंचा, तो मनु० महाराज ने कहा—"आचारः परमोधर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एच च"। मनु० १।१०८ अर्थात् वेद और वेदानुकूल स्मृतियों की यही व्यवस्था है कि आचार-सदाचार-चरित्र ही परमधर्म है। महाभारतकार ने तो बहुत ही सुन्दर कहा—

"श्रूयतां धर्म सर्वस्यं श्रुत्वा चाप्यव धार्मताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥ महाभारत०

अर्थात् धर्म का सार सुनो, सुनकर उसी के अनुकूल आचरण करो? धर्म का सार यह है कि जो अपने (आत्मा के) प्रतिकूल आचरण है अर्थात् जो व्यवहार आप अपने साथ कराने को तैयार नहीं हैं, वह दूसरों के साथ भी मत करो? यही धर्म है। महर्षि दयानन्दजी सरस्वती ने आर्य समाज के नियमों में धर्म की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

मानव इस संसार में रहता हुआ अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए पता नहीं क्या-क्या पाप-अधर्म कर डालता है और अन्त में—वृद्ध चाणक्य के शब्दों में—

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखाः वान्धवा. यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥
धनानि भूमौ, पशवश्च गोष्ठे, भार्यागृह द्वारिजनः श्मशाने।
देहश्चितायां, परलोक मार्गे कर्मानुओं गच्छति जीव एकः॥

जब मनुष्य संसार से विदा होता है तो उसका कमाया धन पृथ्वी में, पशु-पशुशाला में, पत्नी घर के दरवाज़े तक, बन्धु बान्धव भी श्मशान भूमि तक, और शरीर भी चिता में ही जल भुनकर खाक हो जाता है। परलोक में कुछ भी, और कोई भी साथ नहीं देता।

केवल मानव के किये शुभ कर्म और धर्म ही साथ जाते हैं अर्थात् सारे जीवन में किये अच्छे या बुरे कर्मों के बीजरूप संस्कार ही जीवात्मा के साथ जाते हैं। अतएव—

युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति॥

यह जीवन अनित्य है यह समझकर ही युवावस्था से ही धर्म का पालन करना उचित है। पता नहीं, कौन जानता है कि मौत कब आ जाये। एक कवि ने तो यहाँ तक लिखा है—

जवानी में अदम के वास्ते सामान कर गाफिल?
मुसाफिर शब को उठते हैं, जो जाना दूर होता है।

आचार्यप्रवर वृद्ध चाणक्य तो यहाँ तक कह गये—

अनित्याणि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्म संग्रहः॥

अतः मृत्यु को अवश्यंभाविनी समझकर धर्माचरण ही करना उपयुक्त है। यतः—

चला लक्ष्मीः, चलाः प्राणः, चले जीवित मन्दिरे।
चला चले च संसारे धर्म एको हि निश्चल॥
जीवन्तं मृतवन्मन्ये देहिनं धर्य वर्जितम्।
मृतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवी न संशयः॥

प्रत्येक मानव विशेष रूप से छः इच्छायें रखता, जो कि सब चलायमान हैं। अतः धर्म कमायें तो लाभ है—

यौवनं जीवितं चित्तञ्छाया लक्ष्मीश्च स्वामिवा।
चञ्चलानि षडेतानि ज्ञात्वा धर्मरतो भवेत्॥

अर्थात् जवानी, जीवन, चित्त, छाया, लक्ष्मी और प्रभुता, ये छः सदा ही चंचल होते हैं। कभी स्थिर नहीं होते। अतः धर्माचरण ही कीजिये। शास्त्रकारों ने कहा कि कौन से धर्म का पालन करो, तो कहा— मनु महाराज ने —

आर्ष धर्मोपदेशंच वेदशास्त्रा विरोधिना।
यस्तर्केणानु संधचे स धर्म वेद नेतर ।। मनु०

जिन धर्मों को हमारे प्राचीन ऋषियों ने कहा तथा जो वेद और शास्त्रों से युक्त हैं, विरूद्ध नहीं हैं। जो तर्क की कसौटी पर सत्य सिद्ध होता है, उसी को धर्म कहते हैं। जो इन लक्षणों से भिन्न है, धर्म नहीं कहाता।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रजी महाराज अपनी माता कौशल्या से कहते हैं—

भरतः पालयेद्राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा।
तथा भवत्या कर्तव्यं सहि धर्मो सनातनः।।
त्वया मया च वैदेह्यां लक्ष्मणेन सुमित्रया।
पितुर्नियोगे स्थातव्यमेषः धर्मं, सनातनः।। रामायण०

मेरी पूज्या माताजी और भी सुनो ?—

स मां पिता यथा शास्ति सत्य धर्मं पथे स्थितः।
तथा वर्तितुमिच्छामि स हि धर्म सनातनः ।। रामायण०

माँ ? मेरा पालक पिता सत्य धर्म के मार्ग में स्थित हैं, वह मुझे जिस प्रकार का भी आदेश करते हैं, मैं उसी प्रकार आचरण करना चाहता हूँ। क्योंकि यही सनातन वैदिक धर्म है।

अत एव—न जातु का मात्र भयान्न लोभात्,
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।।

मानव को उचित है कि वह काम वश होकर लोभ से या भय से भी धर्म न छोड़े। अपने जीवन के लिए भी धर्म न छोड़े। यतः धर्मं नित्य तत्व है और सुख-दुःख तो अनित्य हैं। यह जीवात्मा तत्व नित्य-अनादि है परन्तु इसका हेतु-कारण शरीरादि अनित्य हैं। यह सोच समझकर धर्म को कदापि न छोड़े। इसीलिए महाभारत में कहा है—

धर्मं एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोऽवधीत् ।। महाभारत

यतः आद्रत धर्म मार डालता है और रक्षित धर्म रक्षा करता है। अतः किसी भी स्थिति में धर्म को मारना नहीं अपितु रक्षा करनी चाहिये।

अतएव नीतिकारों ने कहा—

संक्षेपात् कथ्यते धर्मो जनाः किंविस्तरेन वः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीऽनम् ।।

यह अति संक्षेप से मनुष्यों के लिए धर्म का उपदेश किया है कि परोपकार-परहित ही पुण्य के लिए होता है। तथा दूसरों को दुःख देना, पीड़ा देना, यह पाप है। यही संक्षेप है, विस्तार से क्या लाभ ?

धर्मं वह तत्व है जो हम सभी को धारण करता है। साथ ही जिसे हम सभी धारण करते हैं। वह भी धर्म है। अतः—"धारणाद्धर्मः"

"यः धार्मते अस्माभिः सः धर्मः"
"यः धारयति अस्मान् सोऽपि धर्मः"

जिस वैदिक धर्म से इस लेख में संक्षिप्त चर्चा की गई है वह प्रभु की अपरिवर्तनशील धार्मिक व्यवहार अर्थात् यजुर्वेद प्रकार का कहता है·—

यज्ञेन यज्ञंमयजन्त देवास्तानि धर्मानि प्रथमान्यासन् ।
तेह माकं महिमानो सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।
यजु० ३१।१६

अर्थात् वैदिक मर्यादाओं के आधार पर देव-पिता-ऋषि-महर्षि आदि महात्माओं ने जिन प्रभु प्रदत्त वैदिक व्यवस्थाओं का पालन किया। वे समस्त ही वैदिक धर्म के अन्तर्गत हैं। हम सभी को मिलकर उन्हीं वेद प्रतिपादित धर्मो का अनुसरण एवं पालन करना ही अनिवार्य है। इसी से हम सभी का कल्याण है अन्यथा हम आज महाकल्याण के कगार पर खड़े हैं, जहाँ से हमारे सुरक्षित रहने की कोई आशा नहीं है। अतः प्रभु प्रदत्त वेद ज्ञान के आधार पर वैदिक धर्मानुयायी बनकर अपना कल्याण करें और दूसरों का भी कल्याण करें।

इसी को आधार मानकर मनु महाराज ने दायीं भुजा उठाकर घोषणा की—

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमा श्रभिर्भिद्विजैः ।
दश लक्षण को धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ।। मनु०

अलमति विस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु ।
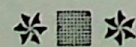
वेद अपौरुषेय हैं

• आचार्य डॉ० श्रीराम आर्य

वेद परम पिता परमेश्वर का अमर ज्ञान है जो मानव को आदि सृष्टि में प्रभु द्वारा प्रदान किया गया था। प्रारम्भ सृष्टि से लेकर महर्षि दयानंद सरस्वती पर्यन्त समस्त ऋषि महर्षि एवं समस्त आस्तिक वैदिक विद्वान समस्त दर्शन स्मृति-ब्राह्मण ग्रंथ एवं उपनिषत्कारों ने वेदों को परमेश्वर का ज्ञान माना है। मध्यकालीन पुराणकारों ने भी वेदों को अपौरुषेय घोषित किया है। समस्त आर्य जाति वेदों को इसीलिये स्वतः प्रमाण मानती रही है और आज भी मानती है। ईश्वरीय ज्ञान होने से वेद मानव मात्र की सम्पत्ति है। उनका समस्त ज्ञान व उपदेश जगत के कल्याण के लिये हैं। उनमें पक्षपात-ईर्ष्या-द्वेष इतिहास आदि की बातों का सर्वथा अभाव है। वे सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान को बीज रूप से अपने में धारण करते हैं जिसको जान कर विकसित करके मानव इहलौकिक उन्नति करता हुआ परमानंद (मोक्ष) तक को प्राप्त कर सकता है।

जब हम यह दावा करते हैं कि संसार में केवल वेद ही परमेश्वर का ज्ञान है इनके अतिरिक्त अन्य सभी ग्रंथ मानव रचित पौरुषेय हैं तो हमारे उस दावे को अन्य लोग स्वीकार करने को तैयार नहीं होते हैं। दावे की पुष्टि युक्त व प्रमाणों की अपेक्षा रखती है। अतः हम आगे कुछ कसौटियां प्रस्तुत करते हैं जिनसे ईश्वरीय ज्ञान की परीक्षा की जा सकती है। इन कसौटियों पर केवल वेद ही अपौरुषेय सिद्ध होते हैं अन्य कोई ग्रंथ नहीं।

ईश्वरीय ज्ञान को जांचने की कसौटियां

१. ईश्वरीय ज्ञान सृष्टि के आदि में आना चाहिए।

परमेश्वर ने सर्वप्रथम जब उस पृथ्वी पर मानव की सृष्टि की और उसे कर्म करने एवं अपने उत्थान के लिए पूर्ण अवसर प्रदान किया तो इसे वाणी तथा सृष्टि विद्या एवं ब्रह्म विद्या का ज्ञान देना भी आवश्यक था और वह उसे दिया गया। मनुष्य का ज्ञान नैमित्तिक होता है, स्वाभाविक नहीं जैसा कि मानवेतर योनियों को प्राप्त जीवों को होता है। यदि परमेश्वर से आदि मानव को वाणी तथा ज्ञान न मिलता तो वह सदैव मूर्ख ही बना रहता उसमें और पशु में कोई अंतर नहीं होता। साथ ही यदि धर्म अधर्म कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का ज्ञान आदि मानव को परमात्मा से न मिलता तो पाप-पुण्य का कोई उत्तरदायित्व भी उस पर नहीं आ सकता था। अतः ईश्वरीय ज्ञान का आदि सृष्टि में आना परमावश्यक है।

मनुष्य सृष्टि के नियमों को, ईश्वरीय व्यवस्थाओं को समझ सके, भौतिक जगत में पूर्ण सुखी जीवन व्यतीत करता हुआ परमात्मा के स्वरूप को समझ सके, योगाभ्यासादि। क्रियाओं एवं साधनाओं को करते हुए मोक्ष को प्राप्त कर सके, इन सभी बातों की उसे पूर्ण जानकारी प्राप्त हो सके, इसके लिये परमेश्वर ने आदि सृष्टि में मानवोत्पत्ति के पांच वर्ष के पश्चात् उसे चार वेदों का ज्ञान दिया। यही ज्ञान विषय भेद से ऋग्वेद (ज्ञान काण्ड), यजुर्वेद (कर्म काण्ड), सामवेद (प्रार्थना उपासना स्तुति काण्ड) तथा अथर्ववेद (विज्ञान काण्ड) इन चार नामों में जगत से प्रसिद्ध होता है और आज भी विद्यमान है।

२. ईश्वरीय ज्ञान की भाषा किसी देश विशेष की न होकर अलौकिक होनी चाहिये।

प्रारम्भ सृष्टि में परमात्मा द्वारा प्रदत्त मानव मात्र की एक ही अलौकिक वाणी (भाषा) होती है। अन्य भाषाओं की उत्पत्ति बहुत लम्बे काल के बाद मनुष्यों के पृथ्वी के विभिन्न प्रदेशों में जाकर बसने पर देश काल एवं वायु मण्डल के प्रभाव से वाणी की विकृतियों के परिणामस्वरूप होती है। यदि परमेश्वर दीर्घकाल बाद देश विशेष के लोगों को उनकी भाषा में ज्ञान देगा तो उस पर पक्षपात का आरोप आवेगा तथा आदि सृष्टि से लेकर उस ज्ञान को देने की लम्बी अवधि में मानव पर बिना ईश्वरीय ज्ञान के धर्माधर्म की व्यवस्था लागू न हो सकने से अव्यवस्था पैदा होगी।

३. ईश्वरीय ज्ञान के ग्रंथ में अनित्य इतिहास तथा भूगोल का वर्णन नहीं होनी चाहिये।

ईश्वर नित्य सत्ता है अत: उसका ज्ञान भी नित्य है। अनित्य बातों का वर्णन होने से वह ग्रंथ नित्य (सर्वकालिक) एवं सार्वदेशिक ज्ञान को धारण न करने वाला होने से ईश्वरीय ज्ञान की कोटि में नहीं आवेगा।

४. ईश्वरीय ज्ञान के ग्रंथ में सृष्टि नियम तथा विज्ञान के विरुद्ध कोई बात नहीं होनी चाहिये।

ईश्वरीय ज्ञान का ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल सर्वथा अविरुद्ध होना चाहिये।

५. ईश्वरीय ज्ञान के ग्रंथ में सृष्टि के अनादित्व-अनंतत्व उसकी आयु आदि का ठीक-ठीक उल्लेख होना चाहिये।

यदि परमेश्वर सृष्टि के सम्बंध में मनुष्य को स्वयं जानकारी नहीं करावेंगे तो प्रलय काल उससे पूर्व सृष्टि-वर्तमान सृष्टि की आयु आदि के बारे में मनुष्य ठीक-ठीक कभी कुछ भी नहीं जान सकेगा। इसलिये ईश्वरीय ग्रंथ में इन विषयों का ठीक-ठीक वर्णन होना आवश्यक है।

संसार के किसी भी ग्रंथ में इन विषयों पर ठीक-ठीक प्रकाश नहीं डाला गया है। केवल वेदों में ही यह सब कुछ मिलता है जो कि वर्तमान भौतिक विज्ञान से भी सर्वथा अनुकूल एवं समर्थित है। निम्न प्रमाण द्रष्टव्य है–

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योत्तापरोयत्।
किमावरीव: कुहकस्य शर्मन्नभ: किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥
तम आसीत्तमसा गूढ़हमगेऽप्रकेतं सलिलं सर्वनां इदम्।
तुच्छयेनाम्बपिहितं यदासीत्त पसस्तंमहिना जायतैकम् ॥३॥
इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वादधेयदिवान।
योऽस्याधक्ष: परमेव्योभंतेजा अङ्ग वेदयदिवान वेद ॥७॥
॥ऋग्वेद १०।१२९॥

अर्थ :—इस कार्य जगत के उत्पन्न होने से पूर्व सर्वशक्तिमान परमात्मा था तथा जगत का उपादान कारण प्रकृति विद्यमान थी। उस समय शून्याकाश भी नहीं था क्योंकि उसका व्यवहार नहीं था। वह जगत बनाने की सामग्री (उपादान कारण) से अच्छादित था। उस समय सतोगुण-रजोगुण, तमोगुण मिला के प्रधान कहलाता है, वह भी नहीं था। उस समय स्थूल रजकण भी नहीं थे। उस समय विराट अर्थात् जो स्थूल जगत के निवास का स्थान है वह भी नहीं था। जो यह वर्तमान जगत है वह ब्रह्म को नहीं ढांक सकता और उससे महान वा अथाह भी नहीं हो सकता है जैसे कुहरा का जल पृथ्वी को नहीं ढांक सकता है। अर्थात् ब्रह्म अनन्त है और उसका बनाया जगत उसकी अपेक्षा से कुछ भी नहीं है। ब्रह्म एक रस नित्य सर्व व्यापक सत्ता है।१।

सृष्टि उत्पन्न होने की पहली अवस्था में अन्धकार से ढका हुआ घोर अन्धकार था। यह सब दृश्यमान जगत न जानने योग्य सलिल (परमाणुओं के समुद्र) जैसा था जो न होने के समान सब ओर में फैला हुआ था। वही परमाणु रूप से व्याप्त जगत परमेश्वर की सामर्थ से प्रगट हुआ।३।

परमेश्वर से यह जगत उत्पन्न होता है। प्रलय में कारण रूप से परमेश्वर में निवास करता है। जो व्यक्ति परमेश्वर को जानता है वही उसे प्राप्त होता है। जो उसे नहीं जानता वही दु:ख उठाता है। परमेश्वर जगत का स्वामी है, वही जगत को बार-बार उत्पन्न करता है। उस विषय में विशेष विवरण 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में देखा जा सकता है

पृथ्वी की आयु वेद में निम्न मंत्र में बताई है—

शतं: तेऽयुतं हायनान द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्म:।
इन्द्राग्नी विश्वेदेवास्तेऽनु मन्यताम हृणीयमाना॥
॥ अथर्व ८।२।२१ ॥

अर्थात् दस लाख तक बिन्दु रखने पर दो तीन चार अंक उससे पूर्व रखने से सृष्टि की आयु निकल आती है। अर्थात् ४३२०००००० वर्ष की सृष्टि की आयु होती है। वर्तमान विज्ञान भी इसका समर्थन करता है कि पृथ्वी को बने अब तक लगभग दो अरब वर्ष हो चुके हैं जबकि वैदिक सृष्टि सम्वत् ठीक-ठीक आयु १९७२९४९०७४ वर्ष बताता है।

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वादत्य नश्न्यो अभिचाकशीवि॥
ऋ० १।१६४।२०

इस वेद मंत्र में ईश्वर-जीवात्मा तथा प्रकृति के अनादित्व को स्वीकार किया गया है।

सूर्याचन्द्र मसौधाता यथा पूर्व कल्पयत:।
दिवं य पृथ्वींचान्तरिक्ष मथोस्व: ॥ ऋ० १०। १९०।३॥

परमेश्वर ने आकाश पृथ्वी अन्तरिक्ष सूर्य-चन्द्रमा आदि की रचना पूर्वकल्प के अनुसार इस बार भी की है।

वेद का यह प्रमाण जगत की उत्पत्ति विनाश का अनादि क्रम प्रगट करता है।

६. ईश्वरीय ज्ञान में परस्पर विरोधी शिक्षा या विवरण नहीं हो सकता—

परमात्मा सर्वज्ञ है। उसका समस्त ज्ञान निर्भ्रम तथा सर्वकालिक सत्य एक जैसा रहने वाला होता है। मानव अल्पज्ञ है, उसका ज्ञान भ्रम युक्त अथवा परस्पर विरोधी बातों जैसे दोषों से युक्त हो सकता है। संसार के सभी माने जाने वाले धर्म ग्रंथों में परस्पर विरोधी वर्णन व शिक्षायें देखने को मिलती हैं जबकि परमात्मा के ज्ञान वेद में इस प्रकार का कोई भी दोष पूर्ण स्थल विद्यमान नहीं है। वे नित्य सत्य का ही प्रतिपादन करते हैं। जिस प्रकार परमेश्वर सर्वज्ञ है उसी प्रकार उसका ज्ञानवेद भी निर्भ्रम एवं पवित्र ज्ञान के आगार हैं। यह गुण वेदों के ईश्वरीय होने का प्रमाण है।

कृति को देखकर कर्ता के गुणों का तथा कर्ता के गुणों का उसकी कृति में दर्शन होता है। दोष पूर्णमान्य ग्रंथों से ही प्रगट हो जाता है कि वे अल्पज्ञ मानव की कृतियां है। वेदों का समस्त ज्ञान परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव के अनुरूप होने से वे ईश्वरीय ज्ञान स्वयं सिद्ध है।

७. ईश्वरीय ज्ञान में ईर्षा द्वेष पक्षपात का लेशमात्र भी नहीं होता है।

चारों वेदों में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जिसमें ईर्षा द्वेष या पक्षपात की गन्ध आती हो। यह दोष लगभग सभी धर्म ग्रन्थ माने जाने वाले साम्प्रदायिक ग्रन्थों में मिलते हैं जो यह प्रगट करते हैं कि उनके लेखक इन दुर्गुणों से अभिभूत थे। परमात्मा जगत का पिता है, सभी प्राणी उसके पुत्रवत हैं। तब ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थों में प्राणियों से द्वेष उन्हें एक दूसरे से ईर्षा द्वेष व पक्षपात करने लड़ने-झगड़ने-मार काट करने दूसरों को हानि व कष्ट पहुंचाने के उपदेश कैसे हो सकते हैं। जो सबका कल्याण चाहता

है वह पक्षपात व ईर्षा द्वेष की बात कैसे करवा-कह सकता हैं। जो दुर्गुण प्राणियों की उन्नति में विघातक एवं उनके पतन का कारण होते हैं परम पिता परमेश्वर उन बातों का उपदेश व आदेश कैसे दे सकते हैं। अतः जो भी ग्रन्थ इन दोषों से युक्त हैं वे मानव रचित तथा जो वेद इन दोषों से मुक्त हैं वे ईश्वोक्त हैं।

८. ईश्वरीय ज्ञान में मनुष्य की स्थिति आयु जन्म और मुक्ति का वर्णन ठीक-ठीक होना चाहिये—

संसार के किसी भी ग्रन्थ में इन विषयों पर ठीक-ठीक वर्णन नहीं मिलता है। केवल ईश्वरीय ज्ञान वेद ही इन बातों का सत्य-सत्य वर्णन करते हैं।

वेद ने मानव की आयु साधारणतया सौ वर्षों की मानी है। यथा—

तच्चक्षुर्देव हितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं ँश्रृणुयाम शरदः शतं प्रववाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरद शतंभूयश्च शरदः शतात्॥ यजु० ३६।२४॥

इस वेद मन्त्र में सौ वर्ष तक देखने, बोलने, सुनने, अदीन होकर जीवित रहने तथा सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवन धारण करते रहने की प्रभु से प्रार्थना करने का विधान है।

'त्राज्यषं जमदग्ने यजु' ३।६२॥ इस वेद मन्त्र में योगियों की आयु तीन सौ वर्ष तक होने की बात कही गई है।

मनुष्य का जन्म माता के पेट से १०वें माह में होता है इस विषय का वर्णन वेद में इस प्रकार किया गया है—

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधिमातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥
ऋ० ५।७८।९॥

इसमें बताया गया है कि दस माह तक बालक का शरीर माता के गर्भ में रहकर पूर्ण विकसित होकर बिना किसी भी क्षत के जीवित माता के शरीर से बाहर आता है।

मोक्ष के विषय में वेद में कहा है—

वेदाह मेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्ण तमसः परस्तात।
तमेवविदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्ययेतंऽयनाय॥
यजु० ३१।१८॥

अर्थात् मनुष्य योगाभ्यास द्वारा प्रकाश एवं ज्ञानस्वरूप परमेश्वर को जान कर उसका अनुभव करके मृत्यु से तर जाता है। मोक्ष प्राप्ति का इससे अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।

इस कसौटी पर भी केवल वेद ही ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ सिद्ध होते हैं।

९. ईश्वरीय ज्ञान जाति विशेष के लिए न होकर मनुष्य मात्र के लिए होना चाहिए—

संसार के सभी अन्य ईश्वरीय माने जाने वाले ग्रन्थ अपनी-अपनी जाति विशेष के लिए हैं, कोई भी मनुष्य मात्र के लिए नहीं है। यथा-कुरान मुसलमानों के लिए, इंजिल ईसाईयों के लिए, तौरात यहुदियों के लिए जिन्दा अवस्था पारसियों के लिए आदि। किन्तु वेद सार्वभौम ग्रन्थ हैं। उनमें परमेश्वर का किसी भी जाति विशेष के साथ पक्षपात एवं दूसरों से द्वेष करने का दोष नहीं आ सकता है। एक वेद मन्त्र प्रमाणस्वरूप देखें—

यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्रायचार्याय च स्वाय चारणाय च॥
यजु० २६।२॥

परमपिता परमात्मा आदेश देते हैं कि जैसे मैं इस वेद वाणी का उपदेश तुम को करता हूं वैसे ही तुम भी ब्राह्मण-क्षत्री वैश्य-शूद्र एवं अन्त्यजों को इस का उपदेश करो। ब्राह्मण क्षत्री वैश्य शूद्रादि शब्द मानव समाज के गुण वाचक व्यक्तियों के लिए हैं ये जातिवाचक नहीं है।

१०. ईश्वरीय ज्ञान का ग्रन्थ लौकिक विज्ञान से अविरुद्ध होना चाहिए—

वेदों में समस्त विज्ञान बीज रूप से विद्यमान हैं। चन्द प्रमाण प्रस्तुत हैं—

कतरा पूर्वा कतरा परायोः कथा जाते कवयः कोवि वेद।
विश्वत्मना विभृतोयद्ध नाम विवर्तेत अहनीय क्रियेव॥१॥
ऋ० १।१८५।१।

इस मन्त्र में पृथ्वी ही नहीं वरन समस्त नक्षत्र राशि मण्डल का नियम बद्ध होकर घूमना बताया गया है।

अहस्ता यदयदी वर्धत क्षाः शचीभिर्वेदयानाम्।
शुष्णं परि प्रदक्षिणिद् विश्वायवे नि शिश्नथः॥
ऋ० १०।२२।१४॥

इसमें पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर घूमना बताया गया है।

सवित्स यन्त्रैः पृथिवी मरम्णाद स्कम्भ ने सवितादया मद्वंहत।
अश्व मिवाधुक्षद्धुनिसन्त रिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्॥
ऋ० १०।१४९।१॥

सूर्य अपनी आकर्षण शक्ति से पृथ्वी को चारों ओर घुमा रहा है। अनेक नक्षत्र सूर्य के चारों ओर घूम रहे हैं यह भी इससे स्पष्ट है।

यत्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः।
अक्षेत्र विद्यया मुग्धो भुवनात्यदीधयुः॥
ऋ० ५।४०।५॥
यंवै सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्व विन्दन्नह्यन्ये अशक्तुवन॥ ऋ० ५।४०।९॥

इन मन्त्रों में चन्द्रमा का सूर्य से प्रकाश ग्रहण करके प्रकाशित होना बताया गया है।

आ कृष्णेन रजस। वर्तमानो निवेशयन्त मृतं मर्त्य च।
हिरण्ययेन सविता रथेनः देवो याति भुवनानि पश्यन्॥
ऋ० १।३५।२॥

इसमें सूर्य का पृथ्वी को आकर्षण करने की बात कही गई है। वेदों में सहस्रों मन्त्र विज्ञानपरक हैं जो कि वर्तमान विज्ञान के पूर्णतः अनुकूल हैं।

११. ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ पूर्ण एवं सर्वविद्याओं का भण्डार होने चाहिए

ईश्वरीय ग्रन्थ का पूर्ण तथा सर्वज्ञान युक्त होना आवश्यक है ताकि मनुष्य उसके आधार पर सत्यविद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर सकें। संसार के

साहित्य में केवल वेद ही ऐसे ग्रन्थ हैं जो सर्वसत्य विद्याओं के भण्डार हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ परमेश्वर का नित्य ज्ञान हैं। अल्पज्ञ मानव कृत ग्रन्थ कभी भी सर्वविद्या युक्त नहीं हो सकते हैं।

१२. मिथ्या महात्म्यों का ईश्वरीय ग्रथ में अभाव होना चाहिये।

ग्रन्थों के महात्म्य लोगों को गलत रूप से उनके प्रति आकर्षित करने को लिखे जाते हैं जो कि ईश्वरीय ग्रन्थों में नहीं होना चाहिए। वेद इस प्रकार के किसी भी मिथ्या महात्म्य से युक्त नहीं है क्योंकि वे परमेश्वर का सत्य ज्ञान धारण करते हैं जब कि अन्य सभी साम्प्रदायिक ग्रन्थों में मिथ्या महात्म्यों की भरमार है।

महर्षि दयानन्द प्रतिपादित ईश्वरीय ज्ञान की कसौटियाँ—

(क) जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्या वित शुद्ध गुण कर्म स्वभाव न्यायकारी दयालु आदि गुण वाला है वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल कथन हो, वह ईश्वर कृत है अन्य नहीं। ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ में ईश्वर के वास्तविक यथार्थ तथा युक्तियुक्त गुण कर्म स्वभाव का वर्णन होना चाहिए। यह केवल वेदों में ही मिलता है, अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

(ख) जिसमें सृष्टि क्रम प्रत्यक्षादि प्रमाण आप्तों के और पवित्रता के व्यवहार के विरुद्ध कथन न हों वह ईश्वरीय ग्रथ होगा।

(ग) जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान है वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्ति रहित ज्ञान का प्रतिपादन हो वह ईश्वरोक्त होगा।

(घ) जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टि क्रम रखा है वैसा ईश्वर सृष्टि कार्य, कारण और जीव का प्रतिपादन जिनमें होवे वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होती है।

(ङ) जो प्रत्यक्षादि प्रमाण विषयों से अविरुद्ध शुद्धात्मा के स्वभाव के विरुद्ध न हो। इस प्रकार के ग्रंथ वेद हैं।

(सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ७)

चार वेदों के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द का मत

विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति, विदन्ते, लभन्ते, विंदते, विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्यैष वा, तथ विद्वान्सश्च भवन्ति ते वेदाः। तथा ऽऽदि सृष्टि मारभ्यादय पर्यन्त ब्रह्मादिति सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्तेऽनयासा श्रुतिः। न कस्यचिद्देह धारिणः सकाशात्कदायित्काचि वेदानां रचनं दृष्टवान्। कुतः निरवयेवश्वक्तिषां प्रादुर्भावात्। अग्निवाव्यादित्याङ्गिरसस्तु निमित्तीभूता वेद प्रकाशार्थं मीश्वरेणा कृता इति विज्ञेयम्। तेषां ज्ञानेन वेदानोमनुत्पत्तेः। वेदेषु शब्दार्थ सम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः तस्य पूर्णा विद्यावत्वान्। द्वतः किं सिद्धमग्नि वायु रैव्येङ्गिशे मनुष्यदेहधारि जीवद्वारेण परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृत इति वोध्यम्॥

॥ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका वेदोत्पत्ति विषयः।

वेद सृष्टि के आदि में परमेश्वर से मिले

इन्द्रेण युजा निः सृजन्त वाघतो वज्रं गोमन्तमश्विनम्।
सहस्रं मे हृदतो अष्ट कर्ण्यः श्रवो देवैष्व क्रतः॥

॥ऋग्वेद १०।६२।७॥

अर्थ :—आदि सृष्टि में मानवोत्पत्ति के बाद (मे इन्द्रेण पुजा) मुझ परमात्मा से मिलकर वा मेरे सानिध्य से (वाघतः) ऋषिगण (सहस्रं अष्ट कर्ण्यः) १८०० दिनों के पश्चात् (वज्रं गोमन्तः) वेद वाणी को प्राप्त करके (श्रवः) श्रवण करने योग्य (अश्विनम्) जीवों को (निःसृजन्त) उच्चारण करते हैं (ददतः) देते हैं (देवेषु अक्रतः) विद्वानो को प्रगट करते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने अपने पूना के छठे व्याख्यान में कहा था—

"जैसे छोटे-छोटे बच्चों को अब भी यहां पर स्थित रहते हुए उसी तरह आगे मरने पर किसी प्रकार का दण्ड नहीं होता है उसी प्रकार इस आदि सृष्टि में सब मनुष्य थे, उनकी अशिष्टा प्रतिषिद्ध चेष्टा थी अर्थात् उन्हें शासन या प्रतिषेध नहीं लगाये थे। नेत्रों से अपना काम करें अर्थात् रूप देखें, श्रोत्रों से अपना काम करे अर्थात् शब्द सुनें, पांवों से अपना काम करें अर्थात् इधर-उधर फिरें, बस इससे और विशेष व्यापार (आदि सृष्टि में नहीं था। ऐसी व्यवस्था आदि सृष्टि में पांच वर्ष (१८०० दिन) चलती रही फिर परमात्मा ने मनुष्यों को वेद ज्ञान दिया।

ओ३म् रवं ब्रह्म। याथा तथ्यतोर्थान्वियदद्याच्छाश्वतीभ्य समाभ्यः।

॥ यजुर्वेद अ० ४०॥

अब वेद ज्ञान से पाप पुण्य का ज्ञान हुआ और वैसा वैसा आचरण भेद होता गया। ॥ उपदेश मञ्जरी छठा व्याख्यान॥

वेदों के चार ऋषियों पर आने का वेद प्रमाण

यस्मिन्न श्वास ऋषभास उक्षणो
वशामेषा अव भ्रष्टा स आहुताः।
कीलालये साम पृष्ठायवेधसे
हृदामतिं जनमे चारु मग्नमे॥

ऋ० १०।६१।१४॥

अर्थ—जिस सृष्टि में परमेश्वर ने घोड़े, बैल, गाय, भेड़ आदि उत्पन्न किये उसी ने (कीलालये) वाय (सोमपृष्ठ) भंगिरा (वेधा) आदित्य और अग्नि ऋषियों के हृदयों में वेद ज्ञान का प्रकाश किया।

कीलालंजलं पिवतीति कीलालय वायुः।

कीलाल नाम जल का है, उसे पान करने वाला वायु है। इसी बात को शतपक्ष में 'योऽयंपवेतं' वाक्य में कहा गया है।

सोम शान्तावरणं पृष्ठे यस्येति सोमपृष्ठः चन्द्रमा, स एव वृक्षादि नामङ्गेषु रसोतपादकोऽङ्गिरा।

सोम पृष्ठ शान्त आवरण चन्द्रमा का है। वही वृक्षादि में रस उत्पन्न करने वाला अंङ्गिरा कहाता है। पढ़िये गोपथ—

तस्य प्रथम या स्वर मात्र या पृथिवी मग्निं मोषधी। वनस्पतीन ऋग्वेद भूरिति।१।

तस्य द्वतीया स्वर मात्र अन्तरिक्षं वायुं यजुर्वेदं भ्रुवः इति॥१८॥

तस्य तृतीय स्वर मात्र या दिवमादित्यं सामवेद स्वरिति॥१९॥

(शेष पृष्ठ २८८ पर)

आर्यसमाज : क्या करे ?

• श्री कृष्णदत्त, प्राचार्य, हिन्दी महाविद्यालय, हैदराबाद

आर्य समाज की स्थापना का शताब्दी समारोह २४ दिसम्बर, १९७५ से २८ दिसम्बर, १९७५ तक भारत की राजधानी दिल्ली में मनाया जा रहा है। उत्सव, नगर कीर्तन, समारोह ये सभी उपक्रम किसी संस्था की संघ-शक्ति और प्रभाव क्षेत्र को दर्शाने का एक साधन है। इसकी भी अपनी उपयोगिता और आवश्यकता है, किन्तु यही कार्य की इतिश्री नहीं है। ऐसे अवसरों पर कार्यक्रमों का निर्णय किया जाता है, उनकी रूपरेखा बनती है, उनके क्रियान्वयन का सामूहिक रूप से संकल्प किया जाता है और संगठन की प्रत्येक इकाई उसकी पूर्ति में जुट जाती है।

हम आर्यसमाजी इन तारीखों में इकट्ठे होकर गत एक शताब्दी में किये गए कार्यों पर विहंगम दृष्टि डालेंगे और अगली शताब्दी के अवसर पर आगामी पीढ़ियों को हमारे कार्यों का मूल्याँकन करने तथा अपने कार्यों पर गौरव करने का अवसर देंगे। यदि हमारे पूर्वजों ने विगत एक शताब्दी में गौरवपूर्ण कार्य नहीं किया होता, अपने त्याग, बलिदान, निष्ठा, परिश्रम आदि से आर्यसमाज का मुख समुज्ज्वल न किया होता तो आज हम इतने उत्साह और गौरव के साथ यह समारोह न मनाते। हमें भावी पीढ़ी को यह अवसर देना होगा।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना बहुत महान् उद्देश्यों को लक्ष्य में रखकर की थी। वे सम्पूर्ण भारत का समुचित कल्याण और समस्त विश्व को आर्य बनाना, आर्यसमाज द्वारा ही पूर्ण करवाना चाहते थे। आर्यसमाज को अपने कार्य का विकास इसी दिशा में करना चाहिए। इसके लिए आर्यसमाज के प्रचार कार्य को बहुत व्यवस्थित और सुगठित करना चाहिए प्रचार कार्य के विस्तार के भी दो रूप हैं--(१) स्वदेश में आर्यसमाज का प्रचार और (२) विदेशों में प्रचार। हमें यह स्वीकार करना होगा कि ईसाई धर्म के प्रचार में जो विस्तार और सुगठित रूप है, वह आर्यसमाज के प्रचार में नहीं है। हमारी केन्द्रीय सभा में प्रत्येक देश के प्रचार के लिए पृथक्-पृथक् विभाग हों और प्रत्येक विभाग का संचालन अत्यन्त कुशल हाथों में दिया जाना चाहिए। जिस देश या प्रदेश में हमारे प्रचारक भेजे जाएं उन्हें उस देश अथवा प्रदेश की भाषा, वहाँ का इतिहास, सामाजिक जीवन की रूपरेखा, लोगों के सामान्य रीति-रिवाज आदि बातों का सम्यक ज्ञान हो। यह सही है कि विदेशों में आर्यसमाज का प्रचार है, किन्तु उन-उन देशों का भ्रमण करके लौटने वालों से ज्ञात हुआ है कि विदेशों में प्रायः उन लोगों में ही आर्यसमाज का प्रचार है, जो मूलतः भारतवासी है। विदेशों के मूल निवासियों में आर्यसमाज का प्रचार अत्यन्त अल्प मात्रा में है। यदि ऐसा होता तो बर्मा से भारतीयों के निकाले जाने पर वहाँ आर्यसमाज के कार्य को धक्का न लगता। इसी प्रकार स्वदेश में आर्यसमाज के प्रचार का भी ऐसा संगठन हो कि उस-उस प्रदेश के मूल निवासियों में आर्यसमाज का प्रचार हो।

आर्यसमाज के प्रचार को सुगठित करने तथा उसको बद्धमूल करने के लिए प्रचार के साधन रूप में भाषा का बहुत अधिक महत्त्व है। आर्यसमाज का लक्ष्य किसी एक भाषा का प्रचार नहीं है। आर्यसमाज का लक्ष्य वैदिक धर्म का प्रचार है। देववाणी संस्कृत का प्रचार धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, क्योंकि वैदिक धर्म के मूल ग्रंथ इसी भाषा में हैं और आर्यसमाज यह मानता आया है कि विश्व की समस्त भाषाओं की जननी देववाणी संस्कृत ही है। बहुभाषी भारत में आर्यसमाज ने हिन्दी को, जिसे महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य भाषा का नाम दिया है, एक सामान्य भाषा के रूप में स्वीकार किया। अपने प्रचार कार्य के लिए आर्यसमाज ने हिन्दी को साधन बनाया और सर्वत्र हिन्दी में ही अधिकाँश रूप में आर्यसमाजी उपदेशकों ने भाषण दिये और लिखित साहित्य का निर्माण किया। हम इस नीति के स्पष्ट परिणाम को यूं व्यक्त करना चाहते हैं कि **इस नीति से हिन्दी के विस्तार और प्रसार में जितनी सहायता मिली उतनी सहायता आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार में नहीं मिली।** अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में आर्यसमाज का प्रचार हुआ, जिनकी मातृभाषा हिन्दी थी या जो किसी

कारण से हिन्दी समझते थे। हिन्दी से सर्वथा अनभिज्ञ जनसमूह आर्यसमाज के प्रचार से दूर ही रहा। अहिन्दी भाषा प्रदेशों में पंजाब और हैदराबाद राज्य को छोड़कर आर्यसमाज आन्दोलन के रूप में नहीं उभर सका। अतः भारत और भारत के बाहर जहाँ भी आर्यसमाज के प्रचारक और विद्वान जाएं वहाँ की भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाएं, अन्यथा आर्य-समाज जनसमूह तक नहीं पहुँच सकता। इसका तात्पर्य यह कभी नहीं है कि हम हिन्दी को सामान्य भाषा के रूप में स्वीकार करने के विरोधी हैं। आर्यसमाज के क्षेत्र में जब कोई व्यक्ति आयेगा तो वह हिन्दी सीखेगा ही और सीखना भी चाहिए, किन्तु किसी भी जनसमूह में प्रवेश उसकी अपनी भाषा के माध्यम से जितना सरल और सफल होगा उतना अन्य रूप में नहीं। उदाहरणार्थ चिन्मयानन्द मिशन, रामकृष्ण मिशन, अंग्रेज़ी के माध्यम से अपना प्रचार करते हैं और उनका प्रचार अंग्रेजी जानने वाले बाबुओं तक ही सीमित है। यहाँ एक बात का उल्लेख आवश्यक है कि यदि आर्यसमाज का प्रचार तमिलनाडु में सामान्य जनता तक हुआ होता तो निश्चित रूप से वहाँ हिन्दी का विरोध नहीं होता। यदि ऐसा विरोध होता, तो एक बहुत बड़ा जनमत हिन्दी के पक्ष में खड़ा होता।

प्रचार के विस्तार में सेवा-कार्य का महत्त्व बहुत अधिक है। सेवा कार्य में शिक्षा का प्रचार, अस्पताल खोलना, अनाथालय, इत्यादि का संचालन है। आर्यसमाज के ये अनुभूत कार्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसे कार्य हैं जिनको करते हुए हम सामान्य जनता के हृदयों में आर्यसमाज के लिए स्थान पैदा कर सकते हैं। एक समय था कि आर्यसमाज सामान्य जनता का त्राता था। घरेलू और सामाजिक झगड़ों का निपटारा, सरकारी कार्यों की उलझनों को सुलझाना, युवकों के चरित्र और स्वास्थ्य को सुधारना, व्यायाम शालाएं और वाचनालय खोलना, जैसे सभी कार्य आर्यसमाज द्वारा किये जाते थे। ग्रामों में जनता को ऐसे सेवा कार्यों की अत्यन्त आवश्यकता होती है। ईसाई प्रचारक आज भी इस प्रकार के सेवा कार्यों के लिए तत्पर रहते हैं।

हमें एक घटना का स्मरण हो आया। १९५२ में उदगीर (हैदराबाद) में श्यामार्य विद्यालय का वार्षिक समारोह था। राज्य के शिक्षा मन्त्री श्री देवीसिंहजी अध्यक्षता करने वाले थे। पास-पड़ोस के ग्रामों से जनता बड़ी संख्या में आयी हुई थी। किन्तु समारोह के लिए लाउडस्पीकर नहीं मिल रहा था। अन्ततः आर्यसमाज के स्थानीय कार्यकर्ताओं ने वहाँ के ईसाई मिशन से कहा। अमरीकन तब स्वयं लाउडस्पीकर ले आए और उत्सव को सफल बनाने में सहयोग दिया। वहाँ पर एकत्र सैकड़ों ग्रामीणों पर इस घटना का क्या प्रभाव पड़ा होगा इसकी हम कल्पना कर सकते हैं।

सेवा-कार्य आर्यसमाज के लिए न नया कार्य है और न अपरिचित कार्य है। एक समय ऐसा था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन की प्रत्येक उलझन को सुलझाने के लिए आर्यसमाज के पास आता था और उसको निश्चित रूप से सहायता मिल जाती थी। उल्लिखित सेवा कार्यों के प्रारम्भ करने में एक और दृष्टिकोण के अपनाने की परमावश्यकता है। अनाथालय, छात्रावास, औषधालय इत्यादि जैसे सेवा केन्द्रों के संचालन में हम केवल 'आरम्भ-शूर' सिद्ध न हों, अपितु ऐसे रचनात्मक कार्य निरन्तर चलें और उसमें किसी प्रकार की रुकावट उत्पन्न न होने पाये। ऐसे कितने ही कार्य दलबन्दी, कार्यकर्ताओं के अभाव आदि के कारण बन्द हो गये या आर्यसमाज के हाथ से निकल गये या निष्प्रभ बनकर रह गये।

प्रचार कार्य के लिए साहित्य निर्माण का कम महत्त्व नहीं है। आज भी आर्यसमाज का साहित्य प्रकाशित हो रहा है। किन्तु मुख्य रूप से यह साहित्य हिन्दी में ही प्रकाशित हो रहा है। प्रान्तीय सभाओं और केन्द्रीय सभा द्वारा यदि भारत की विभिन्न भाषाओं में आर्यसमाज के महत्वपूर्ण ग्रंथों के अनुवाद का कार्य प्रारम्भ किया जाए, तो हमारा विचार है कि साहित्य के निर्माण में छोटे-छोटे ट्रेक्टों और छोटी पुस्तकों के सस्ते संस्करणों के प्रकाशन की ओर अधिक ध्यान दिया जाए। इससे जहाँ सामान्य जनता सरलता से आर्यसमाज से परिचय प्राप्त करेगी, वहाँ ऐसे साहित्य को किसी समर्थ व्यक्ति की सहायता से लाखों की संख्या में वितरित करना, भी सुलभ होगा। इस संदर्भ में स्व० पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के ट्रेक्टों का उदाहरण लिया जा सकता है।

इस समय विधर्मों का प्रचार बहुत जोर शोर से चल रहा है। धर्म परिवर्तन ऐसी तीव्र गति से चल रहा है कि एक राष्ट्रीय संकट के रूप में उभर रहा है। इस प्रचार की रोकथाम में हम क्या कर रहे हैं? प्रस्ताव स्वीकार कर रहे हैं, लेख लिख रहे हैं। भाषण दे रहे हैं। अत्यन्त सीमित और दुर्बल साधनों से आर्यसमाज प्रचार और शुद्धि द्वारा कार्य कर रहा है, किन्तु उसका यह कार्य तूफान को हाथों से रोकने जैसा कार्य है। विधर्मियों का प्रचार हमारी अपनी सामाजिक दुर्बलताओं का परिणाम है। यह दुर्बलता हिन्दुओं मे फैली हुई जन्म पर आधारित जात-पात की भावना है। यह भावना इस समय राजनैतिक महत्वाकांक्षा का बल पाकर अधिक बद्धमूल और तीव्र होती जा रही है। इसी ने हिन्दू-जाति को खण्ड-खण्ड किया है, इसी के कारण हिन्दू मस्तिष्क समष्टिवादी की अपेक्षा व्यक्तिवादी बना है, इसी ने अपने आपको श्रेष्ठ और अन्य को कनिष्ठ तथा नीच समझने की भावना पैदा की है, इसी ने हिन्दुओं में पृथकतावाद को जन्म दिया है। हिन्दुओं को मानो पृथकता के लिए बहाना चाहिए। यदि इस परिस्थिति का गम्भीरता के साथ विश्लेषण करें तो इन सब रोगों की जड़ में जन्म के आधार पर बनी हुई जात-पात ही है। ये सम्प्रदाय और ये मत हिन्दू-जाति के दुर्बल बनने के सबसे बड़े कारण हैं और यही भारत को ले डूबेंगे। जन्म के आधार पर बने हुए इन मत-मतान्तरों, सम्प्रदायों और जात-पात के सम्बन्ध में आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती कितने स्पष्ट थे और वे इन्हें देश के लिए कितना घातक समझते थे, इस बात की कल्पना महर्षि के निम्न वाक्यों से की जा सकती है—

> "सब सज्जनों को श्रम उठाकर इन सम्प्रदायों को जड़-मूल से उखाड़ डालना चाहिए। जो कभी उखाड़ डालने में न आवे तो अपने देश का कल्याण कभी होने का ही नहीं।"
>
> (शिक्षापत्री, ध्वान्त निवारणम्)

इतने बड़े महारोग को पालकर हिन्दू-जाति किस प्रकार समता और बन्धु-भाव पर आधारित अन्य धर्मों के शक्तिशाली प्रचार को रोक सकेगी?

(शेष पृष्ठ २८६ पर)

स्वामी श्रद्धानन्द

• डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शान्तिनिकेतन

हमारे देश में जो सत्य-व्रत के ग्रहण करने के अधिकारी हैं और इस व्रत के लिए प्राण देकर पालन करने की शक्ति रखते हैं, उनकी संख्या बहुत ही कम होने के कारण हमारे देश की इतनी दुर्गति है। ऐसी अवस्था जहां है, वहां स्वामी श्रद्धानन्द जैसे इतने बड़े वीर की इस प्रकार मृत्यु से कितनी हानि हुई होगी, इसके वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। इस मृत्यु ने उनके प्राण एवं उनके चरित्र को उतना ही महान् बना दिया है।

बार-बार इतिहास में देखा जाता है कि जिन्होंने अपना सब कुछ देकर कल्याण-व्रत ग्रहण किया है, अपमान और अपमृत्यु ने उनके ललाट पर जय-तिलक की तरह अपना स्थान जमाया है। महापुरुष आते हैं प्राण की मृत्यु के ऊपर जय करने के लिए, सत्य को जीवन की सामग्री बनाने के लिए। हमारे खाद्य द्रव्य में प्राण देने का जो उपकरण है, वह वायु में भी है, एवं वैज्ञानिक परीक्षागार में भी है। परन्तु जब तक वह उद्भिज प्राणी में जीव आकार नहीं धारण करता, तब तक प्राण की पुष्टि नहीं होती। सत्य के सम्बन्ध में भी यही बात है। केवल वाक्यों के द्वारा आकर्षित कर उसे जीवन-गत करने की शक्ति कितनों में है। सत्य को जानते बहुत हैं, किन्तु उसको मानता वही है, जो विशेष शक्तिमान है। प्राणों की आहुति के द्वारा मानकर ही हम उस सत्य को सब मनुष्यों के लिए उपयोगी बना देते हैं। यह मानकर चलने की शक्ति ही एक सुन्दर वस्तु है। इस शक्ति की सम्पदा को जो समाज को अर्पित करते हैं, उन्हीं के दान का महामूल्य है। सत्य के प्रति उसी निष्ठा का आदर्श श्रद्धानन्द इस दुर्बल देश को दे गये हैं। अपनी साधना-परिचय के उपयोगी जिस नाम को उन्होंने ग्रहण किया था, वही सार्थक हुआ। सत्य में उन्होंने श्रद्धा की थी। इसी श्रद्धा के मध्य सृष्टि शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा वे अपनी साधना को मूर्ति के रूप में सजीव कर गये हैं। इसी से उनकी मृत्यु भी प्रकाशमय होकर उनकी श्रद्धा को उस भयहीन, दोषहीन तथा क्रान्तिहीन अमृतमय छवि को उज्ज्वल कर प्रकाशित कराती है। सत्य के प्रति श्रद्धा के इस श्रद्धानन्द को उनके चरित्र के मध्य आज हम सार्थक आकार में देख रहे हैं। यह सार्थकता बाह्य फलस्वरूप नहीं है, अपितु निज की ही अकृतिम वास्तविकता में है।

विधाता जब दुख को हमारे पास भेजता है, तब वह अपने साथ एक प्रश्न लेकर आता है। वह हम से पूछता है कि "तुम हमको किस भाव से ग्रहण करोगे।" विपद् आयेगी नहीं, ऐसा नहीं हो सकता—संकट का समय उपस्थित होता है, उद्धार का कोई भी उपाय नहीं रहता, किन्तु हमारे विपद् के व्यवहार करने के ढंग पर ही प्रश्न का सदुत्तर निर्भर होता है। किसी पाप के उपस्थित होने पर हम उससे डरें या उसके सम्मुख अपना सिर झुकायें। अथवा उस पाप के विरुद्ध पाप ही को सन्मुखीन करें, मृत्यु के आघात दुख के आघात के ऊपर रिपु की उन्मत्तता को जागृत करें। शिशु के आवरण में देखा जाता है कि जब वह गिरता है, तब उल्टे जमीन ही को मारता है। वह जितना ही मारता है, उल्टे उसको उतना ही लगता है। परन्तु यदि किसी वयस्क को ठोकर लगती है तो वह सोचता है कि उसे किस प्रकार दूर किया जाये।

परन्तु हम देखते हैं कि किसी समय बाहर के आकस्मिक आघात की चमक में मनुष्य भी शिशु की बुद्धिवाला हो जाता है। वह उस समय सोचता है कि धैर्य का अवलंबन करना ही कापुरुषता है, क्रोध का प्रकाश करना ही पौरुष है। हम यह स्वीकार करते हैं कि आज दिन स्वभावतः ही क्रोध आयेगा, मानव धर्म तो बिलकुल छोड़ा नहीं जा सकता। किन्तु यदि क्रोध से अभिभूत हों, तो वह भी मानवधर्म नहीं है। आग के लग जाने पर यदि सब कुछ भस्म हो जावे तो आग की रुद्रता को लेकर आलोचना करना वृथा है। विपद् सभी पर आती है, जिनके पास उसके प्रतिकार के उपाय नहीं हैं, वे भी दोषी हैं।

भारतवर्ष के अधिवासियों के मुख्यतया दो भाग हैं—हिन्दू और मुसलमान। यदि हम यह समझें कि मुसलमानों को एक ताक पर रखकर देश की सभी मंगल चेष्टाओं में सफल हो जायेंगे तो यह भी एक बहुत बड़ी भूल है। हमारे लिए सबसे ज्यादा अमंगल और दुर्गति का विषय यह है कि मनुष्य, मनुष्य के पास रहता है, किन्तु उनके मध्य किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। विदेशी राज्य में राजपुरुषों के साथ हमारा एक बाह्य योग-दल है, किन्तु आन्तरिक सम्बन्ध नहीं रहता। विदेशी राजत्व में यही हमारे लिए सबसे अधिक पीड़ाजनक है।

इसी से आज हमें देखना होगा कि हमारे हिन्दू समाज में कहाँ

कौन-सा छिद्र है, कौन-सा पाप है। अति निर्भय भाव से उस पर हमें आक्रमण करना होगा। इसी उद्देश्य को लेकर आज हिन्दू समाज को आह्वान करना होगा। कहना होगा कि हम पीड़ित हुए हैं, लज्जित हुए हैं, बाहर के आघात से नहीं, किन्तु अपने भीतर के पापों के फलस्वरूप। आओ, आज हम सब मिलकर उस पाप को दूर करें। परन्तु हमारे लिए यह बहुत सरल बात नहीं है, क्योंकि हमारे भीतर बहुत प्राचीन अभ्यस्त भेद-बुद्धि भरी हुई है। बाहर बहुत पुरानी भेद की प्राचीर है। मुसलमानों ने जिस समय किसी उद्देश्य को लेकर मुसलमान समाज का आह्वान किया है, उनको भी बाधा नहीं पड़ी। एक ईश्वर के नाम पर 'अल्लाह-ओ-अकबर' कहकर उन्हें बुलाया है।

फिर आज हम सब बुलायेंगे हिन्दू आओ, तब कौन आयेंगे। हमारे मध्य कितने छोटे-छोटे सम्प्रदाय हैं, कितनी प्रादेशिकता है, उनको पार कर कौन आयेगा। कितनी आफतें पड़ीं, परन्तु कभी भी हम एकत्रित नहीं हो सके। बाहर से जब पहला वार मुहम्मद गोरी का हुआ था, तब भी तो उस आसन्न विपद् के दिन हिन्दू एकत्र नहीं हुए थे। इसके बाद मन्दिर-के-मन्दिर लुटने लगे, देवमूर्तियां भ्रष्ट होने लगीं, तब वे अच्छी तरह लड़े, मारे गये, युद्ध करते खंड-खंड होकर मरे हैं, किन्तु एकत्र नहीं हुए। अलग-अलग थे, इसीलिए मारे गये युग-युग में इसके प्रमाण हैं। हां सिखों ने अवश्य एक समय इस बाधा को दूर किया था। परन्तु सिक्खों ने जिसके द्वारा इस बाधा को दूर किया था, वह 'सिख धर्म' था। पंजाब में सिख धर्म के आह्वान करने पर जाट-प्रकृति सभी जातियां एक झंडे के नीचे एकत्रित हो सकी थीं, एवं वे ही धर्म की रक्षा करने के लिए खड़ी हो सकी थीं।

शिवाजी ने भी एक समय धर्मराज्य की स्थापना की नींव डाली थी। उनकी जो असाधारण शक्ति थी, उसी के द्वारा समस्त मराठों को एकत्र कर सके थे। इसी सम्मिलित शक्ति ने भारतवर्ष को अपनाकर छोड़ा था। घोड़े के साथ जब घुड़सवार का सामंजस्य रहता है, तभी वह घोड़ा किसी भी तरह नहीं रुकता। शिवाजी के साथ होकर जो उस दिन लड़े थे, उनके साथ भी शिवाजी का ऐसा ही सामंजस्य था। बाद में ऐसा सम्बन्ध नहीं रहा। पेशवाओं के मन में, आचरण में भेद-बुद्धि का उदय हुआ और इसी के फलस्वरूप उनका पतन हुआ भी।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यह जो हमने भेद-बुद्धि के पाप को पाल रखा है, यह अत्यन्त भयंकर है। पाप का प्रधान आश्रय दुर्बलता के मध्य है। अतएव यदि मुसलमान हमें मारते हैं और हम यदि पड़े-पड़े सह लेते हैं, तो यह केवल सम्भव हुआ है हमारी दुर्बलता के कारण। हमारे लिए एवं प्रतिवेशियों के लिए भी हमें अपनी दुर्बलता को दूर करना होगा। हम प्रतिवेशियों से अपील करते हैं कि तुम इतने क्रूर मत बनो, अपनी उन्नति करो। नरहत्या के ऊपर किसी भी धर्म की भित्ति स्थापित नहीं की जा सकती। परन्तु यह अपील इसी दुर्बलता का रोना है जिस प्रकार वायुमंडल के घिर आने पर झड़ी आप ही आरम्भ हो जाती है।

आर्यसमाज की प्रशस्त सीढ़ी : युवा पीढ़ी

• श्री अशोककुमार भारद्वाज

युवाशक्ति राष्ट्र की स्वर्णिम निधि है। देश के जन-गण-मन की धड़कन है। भावी भारत की तस्वीर इसकी पुतलियों में झांककर देखी जा सकती है।

जब-जब माँ भारती की आन-शान-मान खतरे में पड़ी तब-तब इसके सपूतों ने प्राणों की बाजी लगाकर अपनी गौरवशाली परम्परा को जीवित रखा। इस परम्परा को निभाने वालों में सरदार भगतसिंह, रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद, यशपाल, मुंशी प्रेमचन्द, श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला लाजपतराय, भाई परमानन्द तथा अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द आदि महान सपूतों ने आर्यसमाज रूपी माता की कोख से जन्म लिया जो कि आजीवन देश, जाति व समाज की सेवा करते हुए वीर-गति को प्राप्त हुए।

राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में तथा स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् देश के नव-निर्माण में जब कभी कोई अड़चन व मुसीबत आई तब आर्यवीरों ने कर्त्तव्यनिष्ठ होकर उसे दूर किया।

लेकिन दुर्भाग्य का विषय यह है कि आज आजादी के २८ वर्षों बाद भी हमारे राष्ट्रनायक अपनी युवापीढ़ी को कोई प्रशस्त-ठोस कार्यक्रम तथा राष्ट्रीयता की शिक्षा न दे सके, जिसके माध्यम से वे आत्मोत्थान कर राष्ट्रोत्थान के महान् कार्य का बीड़ा उठाते। इस कार्य को आर्यसमाज के नेताओं ने भी उपेक्षित रखा। यदि स्वातन्त्र्योपरान्त हमारे आर्यनेता अपनी दृढ़-संकल्प शक्ति से आर्यसमाज की प्रगति की प्रशस्त सीढ़ी युवापीढ़ी के प्रति जागरूक रहते और उनके लिए आर्यसमाजों में सुनियोजित-सुव्यवस्थित एवं आकर्षक कार्यक्रम प्रस्तुत करते तो महर्षि का जितना कार्य २८ वर्षों में हो पाया है सम्भवतः उतना १४ वर्षों में ही हो जाता।

यही कारण है कि आज आर्य समाज के स्वर्णिम भविष्य आर्य-युवक अपने नेताओं से विक्षुब्ध हैं। उन्हें आर्यसमाज में अपनी गतिविधियों को गतिमान करने हेतु न स्थान मिलता है, न प्रोत्साहन मिलता है। ऐसी स्थिति में वे आर्यसमाज से पलायन के लिए विवश हो जाते हैं। इस पलायनता के परिणामस्वरूप आर्यसमाज की हृदय-गति धीमी पड़ गई। मानो आर्यसमाज-माता कह रही है—

> तप रही है ग्रीष्म-सी यह प्राण की धरती।
> भावनाएँ जा रही हैं दूब-सी मरती।
> एक बेचैनी समाई है शिराओं में।
> शान्ति आशा को न मिलती दिशाओं में॥

जिन-पुत्रों ने अपनी ममतामयी-आदर्शमयी माता की चीत्कार सुनने की दिशा में कदम बढ़ाये वे अपने पथ-प्रदर्शकों की अदूरदर्शिता तथा राजनैतिक लोकेषणा एवं व्यामोह के कारण बीच में ही भटक गये। जब से आर्य नेताओं ने राजनीति की दौड़ में भाग लेना शुरू किया तब से आर्यसमाज की गतिविधियाँ मन्द पड़ गईं और आर्यसमाज विकासोन्मुख होने के बजाय पतनोन्मुख होता गया।

आज आर्य समाज अपनी आयु के सौ वर्ष पूरे कर अखिल विश्व में हर्षोल्लास के साथ शताब्दी पर्व मना रहा है। हमें अपने विगत सौ वर्षों के इतिहास पर दृष्टिपात कर देखना है कि जीवन के जिन मूल्यों का मूल्यांकन कर हम चरितार्थ नहीं कर पाये उन्हें भविष्य में क्रियान्वित करने हेतु सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित रूप-रेखा तैयार करें। यह सब कुछ सम्पन्न होगा युवकों के कन्धों पर। क्योंकि यह आधारभूत सत्य है कि किसी भी समाज-संस्था की रीढ़ की हड्डी उसकी युवा शक्ति होती है। जिस संस्था से युवा-शक्ति का पलायन शुरू हो जाता वह संस्था निष्प्राण हो जाती है। अतः आर्य समाज में जीवन्तता लाने के लिए नव-युवकों व युवतियों को प्रेरित करना होगा। जिससे कि वे आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार कर देव दयानन्द के दिव्य सन्देश को अखिल विश्व में जन-जन तक पहुंचा सकें। तभी महर्षि का 'कृण्वन्तो विश्व-मार्यम्' उद्घोष सारे संसार में गूंज उठेगा। और ऋषि के स्वप्नों के अनुसार भारत आर्य राष्ट्र बन पायेगा। आर्य वीरों को आर्यसमाज स्थापना शताब्दी के पावन पर्व पर आजीवन ऋषि के मिशन को पूरा करते रहने की शपथ लेनी होगी। तभी सच्चे अर्थों में आर्य वीर बन पायेंगे। आर्यवीरों की प्रेरणादायिनी—वीर-रसवाहिनी कवि वाणी सहसा झंकृत हो उठी है—

> आर्यवीरो ! राष्ट्र की मशाल को संभाल लो
> एक दीप बुझ चले तो दूसरे को बाल लो
> यह दयानन्द की कसम, यह श्रद्धानन्द की कसम
> वन्दनीय मातृभूमि बोल विश्व मातरम्॥

आर्य समाज के मन्तव्य : एक विश्लेषण

• प्रो० शेरसिंह (संसद सदस्य)

आर्य समाज का यह शताब्दी वर्ष है। इस वर्ष में भारत में तथा विदेशों में बहुत से आयोजन हो चुके हैं। सबसे बड़ा आयोजन जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बम्बई में हो रहा था, वह अब दिल्ली में हो रहा है। इस अवसर पर भारत के कोने-कोने से ही नहीं, विदेशों से भी अनेकों आर्य नेता तथा विद्वान दिल्ली में आयेंगे, बहुत से सम्मेलन २४ दिसम्बर १९७५ से लेकर २८ दिसम्बर १९७५ तक होंगे और उनमें बहुत बड़ी संख्या में विश्व भर के नेता, विद्वान और विचारक भाग लेंगे। इन सम्मेलनों में कुछ प्रस्ताव होंगे, कुछ भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में निर्णय भी लिये जायेंगे।

ऐसे महत्त्वपूर्ण अवसर पर आवश्यक है कि हम अपनी उपलब्धियों और न्यूनताओं दोनों का मूल्यांकन करें, हम यह देखें कि जिन आदर्शों की पूर्ति के लिए महर्षि दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की थी उन आदर्शों को कितनी मात्रा में हम चरितार्थ कर पाए हैं और आगे उनके लिए हमें क्या करना है। वस्तुतः आर्यसमाज एक संस्था मात्र नहीं वह एक आन्दोलन है, और दयानन्द ने गहरे चिन्तन के बाद कुछ महान उद्देश्यों को लेकर यह आन्दोलन १९वीं शताब्दी में आरम्भ किया था। १९वीं शताब्दी हमारे देश में ही नहीं समूचे विश्व के इतिहास में बड़े महत्त्व की शताब्दी रही है। इस शताब्दी में विश्व में अनेक ऐसे महान पुरुष पैदा हुए जिनका प्रभाव आज २०वीं शताब्दी में भी छाया हुआ है। आस्ट्रिया में मेटरनिख, इटली में मेजिनी और गैरीबाल्डी जर्मनी में बिस्मार्क आदि विभूतियाँ इसी शताब्दी में हुईं। कार्लमार्क्स भी इसी शताब्दी में हुए जिनका प्रभाव इस समय विश्व के काफी बड़े भाग पर है। हमारे अपने देश में महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, केशवचन्द सेन, महात्मा गाँधी, स्वामी श्रद्धानन्द, कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर, लोकनायक बालगंगाधर तिलक, गोखले, लाला लाजपतराय सब इसी शताब्दी की देन हैं। यदि यह कहा जाए कि भारत के इतिहास में यह शताब्दी दिग्गजों की शताब्दी थी तो अत्युक्ति नहीं होगी। १८५७ में देश का पहिला स्वतंत्रता संग्राम लड़ा गया। महर्षि दयानन्द ने न केवल उसे गहराई से देखा अपितु उसमें परोक्ष रूप से भाग भी लिया। इस संग्राम की विफलता ने उनके मन को झंझोड़ डाला। उन्होंने बहुत गहराई में जाकर देश की दुर्बलताओं पर विचार किया। वे बहुत विचार के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतवर्ष के पतन के मुख्य कारण पाखण्ड, चरित्रहीनता और दूषित समाज व्यवस्था हैं। महर्षि ने सभी सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया और भारत में ही नहीं, संसार भर में फैले पाखण्ड पर भी उनकी नजर पड़ी। यह स्पष्ट हो गया कि कुछ स्वार्थी व्यक्ति इन पाखण्डों का सहारा लेकर इसी देश के नहीं संसार भर के सर्वसाधारण को ठग रहे हैं। इसीलिये महर्षि ने उस उत्स की तलाश की जिससे मानव समाज में लगी ध्वंस की आग का शमन किया जा सके, और जो वास्तविक सच्चाई है उसका प्रकाश सर्वसाधारण को मिले। अपने गहरे अध्ययन के बाद उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि वेदों में प्रतिपादित व्यवस्था ही विश्व के सारे धर्मों का निचोड़ प्रस्तुत करती है और वह सार्वभौम है। यह स्वाभाविक ही था कि उन्हीं वेदों का सहारा लेकर कुछ स्वार्थी लोगों ने जो पाखण्ड खड़ा कर दिया था उसे देखकर उनके हृदय को चोट लगे। यह हुआ भी, और इसीलिए अपनी जान पर खेल कर भी वे पाखण्ड के खण्डन में जुट गए और जहाँ भी उनको पाखण्ड दीख पड़ा, उन्होंने उससे कोई समझौता नहीं किया।

स्वा० दयानन्द का यह स्पष्ट मत था कि जब तक वेदों के अनुरूप चिन्तन में उदारता नहीं आएगी और व्यक्ति और समाज सत्य और प्रेम पर आधारित मर्यादाओं में बँधकर नहीं चलेंगे तब तक भारत का ही नहीं सम्पूर्ण मनुष्य जाति का भविष्य अन्धकार में रहेगा। इसलिए स्वामीजी ने "अविद्या जन्य नाना मतों के फैलने से संसार में जो द्वेष फैल गया है, उसे दूर करने के लिये" वेदों के उद्धार का बीड़ा उठाया और अपना सारा जीवन इसी के लिये अर्पित कर दिया। वैदिक धर्म के वास्तविक स्वरूप का प्रचार करने के लिये ही उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की थी। पिछले सौ वर्षों में आर्यसमाज ने वेदों के अध्ययन और प्रचार के लिए बहुत काम किया परन्तु अभी बहुत काम करना शेष है। जब तक विभिन्न विषयों के विद्वानों द्वारा अनुसन्धान करके सभी विषयों सम्बन्धी वेदों की विद्या का प्रकाश संसार की मुख्य भाषाओं के द्वारा संसार में नहीं होगा तब तक यह काम अधूरा है। यह

काम बहुत बड़ा है परन्तु जितना बड़ा है उतना ही आवश्यक भी है। आर्य समाज ने देश की स्वतंत्रता के लिए जो काम किया उसको भुलाया नहीं जा सकता, भगतसिंह, चन्द्रशेखर, बिस्मिल जैसे सैंकड़ों वीरों ने अपनी आहूतियाँ दीं, हजारों ने यातनाएँ सहीं, परन्तु राष्ट्र स्वतन्त्र हुआ, और स्वतन्त्रता का यह आन्दोलन संसार भर में फैला जिसके फलस्वरूप अनेक राष्ट्र स्वतन्त्र हुए। आर्य समाज ने जन्म के आधार पर फैली हुई जात-पाँत, छुआ-छूत को समाप्त करने के लिए पूरी शक्ति लगाई। सामाजिक कुरीतियों से भी भारत के समाज को राहत दिलाई। परन्तु इस क्षेत्र में भी अभी बहुत कुछ करना शेष है।

आर्य समाज की स्थापना हुई "नाना मतों और सम्प्रदायों के कारण संसार में जो द्वेष फैला" उसे दूर करने के लिए और मनुष्यमात्र बल्कि उससे भी बढ़कर जीवमात्र के कल्याण के लिए, उनकी सब प्रकार की उन्नति के लिए, परन्तु दुःख की बात यह है कि कुछ लोग इस संस्था को भी साम्प्रदायिक कहने का साहस करने लगे हैं, और इससे भी बढ़कर दुःख की बात यह है कि हमारे ही कुछ कार्यकर्ता अपने वचनों से यह साहस करने का लोगों को अवसर देते हैं। जब हम में से कुछ लोग कभी-कभी विशेष सुविधायें प्राप्त करने के लिए अपने-आपको अल्पसंख्यक जातियों में शामिल करने की बात करते हैं या जनगणना में अपनी अलग से गणना करने की बात उठाते हैं तो हम लोगों को यह कहने का अवसर देते हैं कि आर्य समाज भी दूसरे सम्प्रदायों की तरह ही एक सम्प्रदाय है। यह सब कुछ होता तब है जब लोगों के मन में यह भ्रम रहता है कि आर्य एक पृथक् जाति है। पश्चिम के विद्वान तो यह प्रयास करते ही रहे हैं कि 'आर्य' द्रविड़, मंगोल आदि पृथक्-पृथक् जातियाँ हैं, और दयानन्द ने कहा कि 'आर्य' नसल या जाति का नाम नहीं है, आर्य शब्द गुणवाचक है जातिवाचक नहीं। जब हम कुछ सुविधायें लेने के लिए अपने आपको अल्पसंख्यक कहते हैं या एक पृथक् जाति मानने की बात करते हैं तो हम इस देश और संसार में बसने वाले लोगों का विघटन करना चाहने वाले लोगों के जाल में फँस जाते हैं। इस जाल में हम न फँसें, इसलिए 'आर्य' शब्द का सही अर्थ जान लेना बहुत आवश्यक है।

'आर्य' शब्द किसी जाति, सम्प्रदाय या रेस का द्योतक नहीं है, वस्तुतः यह शब्द ऋ धातु से बना है जिसका अर्थ है गति। इसी ऋ धातु से ऋतु और ऋत् शब्द बने हैं। निरुक्त प्रणाली से ऋतु का अर्थ परिमित समय है। ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि ऋतुएँ नपे-तुले समय पर आती हैं, इसीलिए ऋतु का अर्थ परिमित समय होता है। इसी प्रकार ऋत का अर्थ है नपा-तुला ज्ञान। यजुर्वेद में एक शब्द आया है अर्वन्तः, यह शब्द भी ऋ धातु से बना है। अर्वन्तः उन घोड़ों को कहते थे जो इतने सच्चे होते थे कि उनके पग नापतौल के साथ उठें। अतः ऋ धातु का अर्थ नपीतुली गति हुआ। आर्यों का जीवन आश्रमों में बाँटा गया है, उनकी सारी दिनचर्या नियत है, जीवन के सारे संस्कार नियत हैं। आर्य ग्रन्थों में उनका आचार व्यवहार भी नियत कर दिया गया है। उन्हें किन आदर्शों के अनुसार चलना चाहिये यह चार पुरुषार्थों में बतलाया गया है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसलिए आर्य उस व्यक्ति को कहते हैं जिसका जीवन नपातुला हो, मर्यादित हो, ऐसे पुरुष निश्चय ही श्रेष्ठ होते हैं। इसलिए कोषों में भी आर्य शब्द का अर्थ श्रेष्ठ दिया हुआ है। ऋषि दयानन्द ने स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में आर्य शब्द को श्रेष्ठ का ही वाचक माना है। राम का जीवन इन आदर्शों से नपातुला था इसलिए वे मर्यादा पुरुषोत्तम और आर्य कहे गये हैं। ऋषि-महर्षियों का जीवन भी इसी प्रकार का था। महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी का जीवन भी नपातुला था इसलिए वे आर्य थे और हम उनका आदर करते हैं। सृष्टि के आदि से आज तक जिन्होंने नपा-तुला आचार-व्यवहार किया वे आर्य कहलाये और जो ऐसा करेंगे वे आर्य कहलायेंगे, चाहे वे किसी देश या सम्प्रदाय में उत्पन्न हुए हों। जिनका जीवन व्रतों में बँधा हुआ और नपातुला हो वे आर्य कहलायेंगे। आर्य समाज के छठे नियम के अनुसार इस समाज का मूल उद्देश्य है "संसार भर का उपकार करना अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।" यहाँ समस्त मानव जाति की सर्वतोमुखी उन्नति का ध्येय रखा गया है, जो बहुत व्यापक है। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में लिखा है: "न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है, किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करें।" स्वामीजी ने यहाँ समस्त मानव जाति के उपकार की बात कही है, अपने आपको किसी सम्प्रदाय से नहीं बाँधा है। आर्य समाज का व्रत है साम्प्रदायिकता को समाप्त करके मनुष्यमात्र की सेवा करना। आर्य समाज का यह वास्तविक स्वरूप हमारे प्रत्येक शब्द, विचार और आचरण से सिद्ध होना चाहिये।

आर्य समाज के जीवन में जन्म के आधार पर मानी जाने वाली जात-पाँत की जकड़ अभी तक कायम है, इस कारण आर्य समाज का वास्तविक स्वरूप धूमिल होता है, इस ओर सम्पूर्ण आर्य जगत का ध्यान जाना चाहिये। स्वार्थी लोगों ने वेदोक्त वर्णाश्रम धर्म को विकृत करके वर्ण का स्थान जाति को दे दिया और समाज को अनेक जातियों उपजातियों में बाँट दिया। यूरोप के विद्वानों ने इसको और ही रूप दे दिया, और वर्ण का अर्थ रंग बताकर वर्णव्यवस्था को ही रंग के आधार पर वर्णभेद को सिद्ध करने के लिए इस्तेमाल न किया। परन्तु महर्षि ने वर्ण का अर्थ बताया चुनना (वर्णो वृणोते-निरुक्त) और यह स्पष्ट कर दिया कि वैदिक सामाजिक व्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं बल्कि चुनाव पर अवलम्बित थी। संसार में उत्पादन, वितरण और उपभोग तीन सामाजिक जीवन को चलाने के लिए आवश्यक हैं, इनमें कमी या विकार आने से समाज की व्यवस्था बिगड़ती है। समाज से बहुत सारी समस्याओं की जड़ अज्ञान, अन्याय और अभाव ही हैं। इन तीनों से ही समाज को बचाना आवश्यक है। कोई भी एक व्यक्ति समाज को इन बीमारियों से बचाने के लिए तीनों मोर्चों पर लड़ने की क्षमता नहीं रखता। प्रत्येक व्यक्ति को एक मोर्चा चुनना पड़ेगा जिस के लिए पूरा प्रशिक्षण लेकर वह उस मोर्चे पर डट सके और प्रभावी ढंग से कुछ कर सके। वैदिक वर्ण व्यवस्था का यही मूल था, कि प्रत्येक व्यक्ति को

अपना कार्यक्षेत्र चुनना पड़ता था, उसके लिए व्रत लेना पड़ता था। जो अज्ञान रूपी शत्रु के विरुद्ध मोर्चा लगाने का व्रत लेता था वह ब्राह्मण कहलाता था, जो अन्याय के विरुद्ध मोर्चा लगाने का व्रत लेता था वह क्षत्रिय कहलाता था, और जो अभाव या दरिद्रता के विरुद्ध मोर्चा लगाने का व्रत लेता था वह वैश्य कहलाता था, और जो तीनों व्रतियों की सहायता का व्रत लेता था वह शूद्र कहलाता था। इस प्रकार वैदिक वर्ण-व्यवस्था स्वैच्छिक चुनाव पर आधारित थी, जन्म पर नहीं। जैसी वैज्ञानिक वर्ण-व्यवस्था थी वैसी ही आश्रम व्यवस्था भी थी और उसके रहते जहाँ सबको विकास का अवसर मिलता था, वहाँ परिवारों के संघर्ष समाप्त होते थे और समाज की सेवा के लिए बड़ी संख्या में अनुभवी लोग मिलते रहते थे। साथ ही संन्यासी के रूप में ऐसे निस्वार्थ लोकनेता मिलते थे जो अपने संयम और सेवा के बल पर समाज के सभी वर्गों को मर्यादा में रख पाते थे। राजनेता भी ऐसे तपे हुए लोक नेताओं के अनुशासन में रहते थे, क्योंकि लोकमत सदा उनके त्याग के कारण उनके साथ रहता था। इस प्रकार समाज में राजनेताओं से लेकर जनसाधारण तक उच्छृंखलता नहीं आ पाती थी और सारा समाज मर्यादाओं में बँध कर चलता था। ऊँच-नीच, जात-पाँत की बीमारी के कारण भारतीय समाज का जो पतन हुआ था, उससे उस समाज को बचाने के लिए और अपना पुराना गौरव प्राप्त करने के लिए महर्षि ने वर्णाश्रम व्यवस्था का वास्तविक और वैज्ञानिक स्वरूप भारत ही नहीं सारे संसार के सामने रखा। आर्य समाज, समाज की इस प्रकार की वैज्ञानिक व्यवस्था का प्रसार न अपने सदस्यों के जीवन के द्वारा और न ही प्रचार के द्वारा बड़े पैमाने पर कर पाया।

बहुत दिनों की राजनीतिक दासता के कारण भारत के शिक्षित और अशिक्षित वर्गों में जो मानसिक दासता घर कर गई थी, उसको निकालने का बीड़ा महर्षि ने उठाया, उसमें उन्हें सफलता भी मिली। परन्तु अभी भी प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने वाले भारतीय विद्वान मानसिक दासता से छुटकारा नहीं ले पाये हैं। भाषा विज्ञान, भूगोल आदि के नाम पर वे अब भी हमारे इतिहास के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। पश्चिम के विद्वान तो भारत में फूट डालने के लिए इतिहास को बिगाड़ते ही थे, और हमारे पुराने ग्रन्थों की मनमानी व्याख्या करते थे, परन्तु उनके जाल में हमारे देश के विद्वान भी अभी तक फँसे हुए हैं। हमारे देश के कुछ विद्वान भी उनकी बातों का समर्थन करते हैं और यह कहते हैं कि आर्य गो माँस खाते थे, सुरापान करते थे आर्य गोरे रंग के थे, द्रविड़ काले रंग के, आर्यों की नाक पैनी और द्रविड़ों की चपटी, आर्य विजेता थे और द्रविड़ तथा अन्य आदिवासी पराजित। आर्यों ने जो स्वयं बाहर से आये थे उत्तर भारत से खदेड़कर द्रविड़ों को दक्षिण भारत में भेज दिया। महर्षि ने वेदों का भाष्य करने की पद्धति और शैली निर्धारित की, स्वयं भाष्य किये भी और अर्थ का अनर्थ करने वाले लोगों की पोल भी खोली। आर्य और द्रविड़ के नाम पर देश के लोगों को बाँटने की कुत्सित चाल का भी उन्होंने डटकर विरोध किया। उन्होंने इस बात का खण्डन किया कि आर्य भारत में बाहर से आये थे, वास्तव में अभी तक इस बात का अकाट्य प्रमाण कोई भी देशी या विदेशी विद्वान नहीं दे पाया है कि आर्य बाहर से आये। यह भी कहना गलत है कि आर्य और द्रविड़ शब्द रेसियल अर्थात् जाति सूचक हैं। हमारे ग्रन्थों में ऐसा कोई प्रमाण नहीं जिससे इन शब्दों का जातिसूचक होना साबित हो सके। 'आर्य' शब्द की व्याख्या तो मैं ऊपर कर आया हूँ; 'द्रविड़' शब्द का प्रयोग हमारे साहित्य के 'प्रदेश' के अर्थ में हुआ है जाति के अर्थ में नहीं। ब्राह्मणों की जैसे गौड़, कान्यकुब्ज, सारस्वत आदि शाखायें थीं उसी प्रकार द्रविड़ ब्राह्मण भी वर्णित है। शंकराचार्य द्रविड़ विद्वान थे, मनुस्मृति में द्रविड़ क्षत्रियों का उल्लेख है, यहाँ तक कि मध्यकाल में भी द्रविड़ का अर्थ प्रदेश ही माना जाता था, जाति नहीं।

भक्ति के सम्बन्ध में आज से ५०० वर्ष पहले यह कहा गया था—

भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्तदीप नव खंड॥

यहाँ यह बतलाया गया है कि भक्ति की उत्पत्ति द्रविड़ देश में हुई थी, उत्तर भारत में रामानन्द उसे लाये और उनके शिष्य कबीर ने वहाँ उसका प्रचार किया था। वस्तुतः यहाँ दक्षिण के उन आडवार भक्तों की ओर इशारा है जो मध्यकाल के भक्ति आन्दोलन के जनक माने जाते हैं। ये लोग दक्षिण भारत में हुए थे जिसे द्रविड़ कहते थे। शंकराचार्य, माधवाचार्य, वल्लभाचार्य आदि विद्वान दक्षिण भारत के थे और प्रदेश के नाम पर वे द्रविड़ कहे जाते थे। इसमें रंग और जाति का नाम कहीं नहीं है। मध्यकाल में दक्षिण भारत के बहुत से ब्राह्मण काशी में बस गये थे। पं० राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ उनके ही उत्तराधिकारी हैं, उनके नाम का द्रविड़ प्रदेश सूचक है। ये सब प्रमाण होते हुए भी और स्वतंत्रता मिलने पर भी क्या हम मानसिक गुलामी से मुक्त हो पाये? आज भी लोग विघटनकारी इस विष के बीज को सींच रहे हैं। दयानन्द ने हमें आँखें तो दे दीं और दिमागों का ताला भी खोल दिया, परन्तु आज भी हमारे ही देश के विद्वान और नेता कहे जानेवाले लोग विदेशियों द्वारा दिये गये रंगीन चश्मे से देख रहे हैं। भारत में ही नहीं सारे संसार में ही रंग के या जाति के नाम पर भाई को भाई से अलग करने वाली विघटनकारी शक्तियों का निराकरण करने के लिए दयानन्द के अनुयाइयों को तैयार होना है। अपनी मान्यताओं का निर्भीक होकर प्रचार करना है। स्वमंतव्यामंतव्य प्रकाश में महर्षि ने स्पष्ट किया है "मैं अपना मन्तव्य उसी को मानता हूँ जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतांतर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना, मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त में प्रचलित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता। मनुष्य उसी को कहना जो मननशील होकर स्वात्मवत अन्यों के सुख-दुख और हानि-लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान से भी न डरे, और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। परन्तु जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारी के बल की हानि और न्याय-

(शेष पृष्ठ २०५ पर)

स्वामी दयानन्द : मानवता के ज्योतिपुंज

• श्री रामचन्द्र 'विकल', संसद-सदस्य

स्वामी दयानन्द का जब अविर्भाव हुआ, भारत अन्याय, अभाव तथा अज्ञान के गहनतम अंधकार में पड़ा हुआ था। अंग्रेजों का यहाँ शासन था उसने भारतीय संस्कृति को अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली द्वारा जहरीला टीका लगा कर नष्ट करने की योजना बनाई थी। अंग्रेज यहाँ व्यापारी बन आया था और यहाँ की फूट तथा कमजोरी का लाभ उठाकर शासक बन बैठा था। देशवासियों में अंधविश्वास व अज्ञान ने घर कर लिया था। आत्म विश्वास समाप्त हो गया था। गरीबी व दरिद्रता, गले का हार बन चुकी थी। यहाँ के देशी रजवाड़े विलासिता और परस्पर द्वेष के विषैले जहर के शिकार थे। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पतन के गढ़े में भारतवासी पड़े हुए थे। स्वामी दयानन्द ने गुरु विरजानन्द के आशीर्वाद से जब राष्ट्रीय स्तर पर देश को चहुंमुखे पतन के गर्त्त से निकालने का दृढ संकल्प लिया उस समय अंग्रेजी आंतक छाया हुआ था। स्वामी दयानन्द पहले महापुरुष थे जिन्होंने अंग्रेजी राज्य को भारत से बिदा करने का मंत्र फूंक दिया था।

स्वामी दयानन्द ने स्वदेशी, स्वभाषा एवं स्वराज्य का उद्घोष किया। स्वदेशी के द्वारा आर्थिक आत्म निर्भरता विदेशी वस्तुओं से पृथकता तथा देश निर्मित वस्तुओं का प्रयोग भारतीयता के संस्कारों का बीजारोपण नहीं तो क्या था? स्वभाषा के बिना कोई भी देश मानसिक दासता से मुक्त नहीं हो सकता। स्वामी जी ने अपने सारे ग्रंथ हिन्दी में लिखे थे।

स्वराज्य का मंत्री भी स्वामी जी की देन है। उन्होंने विदेशी धर्मात्मा राजा को भी स्वदेशी अधर्मी राजा से श्रेष्ठ नहीं माना। इससे अनुमान होता है कि वे स्वराज्य के जन्म दाता नहीं तो क्या थे? यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि स्वामी जी द्वारा स्थापित आर्य समाज ने उन के विचारों के अनुसार आर्यक्रम राष्ट्र को दिया। महिला उत्थान, हरिजन उद्धार, राष्ट्रभाषा, हिन्दी, राष्ट्रीय शिक्षा (गुरुकुल व दयानन्द शिक्षा संस्थाएँ) राष्ट्रीय एकता, गऊ रक्षा, शराब बन्दी आदि महत्वपूर्ण आन्दोलन आर्य समाज ने चलाये, जिसे महात्मा गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अपनाया, चोटी के शीर्षस्थ नेता देश को आर्य समाज ने दिये।

स्वामी दयानन्द जी के बाद, स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज, लाला लाजपत राय, महात्मा हंसराज, हरदयाल एम. ए. गुरुदत्त, चन्द्रशेखर आजाद, शहीदे आज़म भगत सिंह, बिस्मिल, राजगुरु सुखदेव, चौ० तेजसिंह, लेखराम, कंवर सुखलाल आर्य मुसाफिर, देशबन्धु गुप्त, इन्द्र विद्यावाचस्पति आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कांग्रेस में अधिकतर नेता संस्कार और विचार से आर्य समाजी थे। स्वाधीनता संग्राम में आर्यसमाज ने जितना योगदान दिया है उतना अन्य किसी संस्था का नहीं है। यदि यूँ कहूँ तो अधिक ठीक हो सकता है कांग्रेस और आर्य समाज दोनों आजादी की लड़ाई में बराबर कदम मिलाकर चल रही थीं। एक और विशेषता यह भी थी कि आर्य समाज ने अपनी सेवाओं का कभी मुआवजा नहीं मांगा। मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि देश की निस्वार्थ सेवा यदि कभी किसी संस्था ने की है तो आर्य समाज ने की है। जब किसी प्रश्न को उठाया है तो राष्ट्रीय दृष्टि से उस पर विचार किया है, राष्ट्र हित सर्वोपरि है यह लक्ष्य कभी भुलाया नहीं गया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपना जीवन मानवता को समर्पित किया था। अपने हत्यारे को अभय दान देकर रास्ता बताया, किराया दिया और क्षमा कर दिया। वे मानव को बन्दी बनाने नहीं मुक्त कराने आये थे। उनके जीवन आचरण एवं व्यवहार से मानवता की झलक स्पष्ट नज़र आती है। आर्य समाज के दस नियम सार्वभौम सत्य पर आधारित हैं। इन नियमों के माध्यम से प्राणिमात्र और मानव जाति की सेवा और उपकार के भाव दर्शाये गये हैं। वे सार्वभौम मानवता के पुजारी थे।

आर्य समाज ने पिछले सौ वर्षों में देश की निस्स्वार्थ सेवा की है, उसी प्रकार अगली शताब्दी का कार्यक्रम भी बनाना है। नये कार्यक्रम तो बनेंगे ही, आर्य समाज के दस नियमों का सब से अधिक पालन आर्य बन्धुओं को करना होगा।

पिछले सौ सालों में हमने दूसरों की आलोचना अधिक की है। अब अगली शताब्दी में अपनी त्रुटियों को निकाल फेंकना होगा और दूसरों के गुणों की प्रशंसा करनी होगी। उदारता को हर क्षेत्र में अपनाना होगा। उदारता मनुष्य को महा मानव बना देती है।

एक विचारणीय प्रश्न आर्यसमाज के सामने यह भी है कि हमारी

भावी पीढ़ी आर्य समाज के सत्संगों, अधिवेशनों और उत्सवों में भाग नहीं लेती। हम अपनी सन्तति में आर्य संस्कारों के बीज नहीं डाल रहे। जब हमारे परिवार ही इस मानवीय संस्कारों की जन्मदात्री आर्य समाज से विमुख रहेंगे तो सारे संसार को आर्य बनाने का हमारा संकल्प नारा मात्र ही रह जायेगा। दूसरा प्रश्न है आर्य समाज को दलगत फूट और राजनीति से मुक्त रखने का। आर्य समाज ने राष्ट्र को एकता का पाठ पढ़ाया अब स्वयं परस्पर फूट का शिकार न बने यही मेरी शुभकामना है। तीसरा मुख्य प्रश्न है राजनैतिक छूत-छात का, इससे आर्य समाज को ऊपर उठना होगा। धार्मिक, जातीय छूत-छात से भी अधिक जहरीली और घातक राजनैतिक छूत-छात होती है। सारे भारत में आर्य समाज ही केवल भारत को ही नहीं अपितु विश्व को राजनीति का पाठ पढ़ा सकती है और राज गुरु का आसन ग्रहण करके मानवता पर आधारित राजनीति द्वारा संसार के लिए कल्याणकारी मार्ग बना सकती है। आर्य समाज का प्रचार तो जारी रहना ही चाहिये लेकिन अब अधिक जोर देना होगा भावी भारत सन्तानों में आर्य संस्कारों का बीजारोपण करना। तभी हमारा राष्ट्र सुन्दर, सुदृढ़ एवं सबल होगा।

मैं यह विचार आर्य शताब्दी समारोह के महोत्सव पर प्रकट कर रहा हूँ जब भारत की ऐतिहासिक नगरी दिल्ली में देश विदेश के आर्य नर नारी लगभग १० लाख की तादात में एकत्र होकर अपनी संस्था के सौ साल का महोत्सव मनाने जा रहे हैं। भावी कार्यक्रम में आर्य समाज को कुछ ठोस योजनाएं बनानी होगी जिन की ओर भी थोड़ा सा संकेत करना आवश्यक है :—

१. प्रत्येक ग्राम में आर्य समाज की स्थापना, आर्य समाज मन्दिर का निर्माण और उस में दयानन्द नर्सरी बाल विद्यालय चालू करना।
२. भारत के प्रत्येक नगर और कस्बे में दयानन्द शिक्षा संस्थाओं का जाल बिछाना होगा और दयानन्द या आर्य छात्रावासों का निर्माण करना होगा।
३. आर्य समाज के गुरुकुल और आश्रमों की व्यवस्था को दृढ़ और सुन्दर बनाना होगा। जो गुरुकुल और आर्यसमाज बन्द पड़े हैं उन को पुनः चालू करना होगा।
४. सेवा आश्रमों का निर्माण करें और देश के पिछड़े वर्गों के उत्थान की योजना बनाएँ।
५. आर्य समाज के मिशनरी, प्रचारकों तथा उपदेशकों के लिए बुढ़ापे में आश्रय देने का प्रबंध करना होगा।
६. सामाजिक कुरीतियों के निवारण हेतु ठोस योजना बनानी होगी। दहेज प्रथा, अनमेल विवाह तथा फिजूल खर्ची पर अंकुश लगाना होगा।
७. कुछ आर्थिक प्रोग्राम भी बनाने होंगे तभी हम गऊ रक्षा जैसे मानवीय प्रश्न का समाधान कर सकेंगे। शराब-बन्दी कार्यक्रम को सफल बनाना होगा।
८. जो लोग राजनीति में भाग लेंगे वे आर्य समाज के किसी भी उच्च पद पर आसीन नहीं होंगे ताकि आर्य समाज के प्रभाव को स्वार्थ सिद्ध के लिए प्रयोग न किया जा सके।
९. राजनीति में आर्य लोग भाग तो चाहे लें लेकिन आर्य समाज राजनैतिक अखाड़ा न बन जाये। साथ ही आर्य जनों को हिंसक राज नैतिक दलों में नहीं जाना चाहिये।
१०. प्रत्येक आर्य परिवार देश के लिए एक बच्चा समर्पित करके जिस का लक्ष्य आर्य समाजी जीवन बिता कर राष्ट्र की किसी न किसी क्षेत्र में सेवा करना हो और आर्य समाज का नाम रोशनकरे।
११. आर्य महिलाएं आगे आयें और जो घृणित, कुत्सित प्रचार सिनेमा रेडियो, टेलीविजन, इश्तहार द्वारा तथा विलासी और कामुक साहित्य द्वारा फैला कर राष्ट्र को अपराधी संस्कार दिये जा रहे हैं। उन के खिलाफ़ जनमत तैयार करें। इस अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष में आर्य महिलाओं को इस विलासिता के खिलाफ़ सम्मेलन कर के राष्ट्र में सादगी और सदाचार के संस्कारों का प्रचार एवं प्रसार आचरण एवं प्रचार साधनों द्वारा करना चाहिये तभी महिला वर्ष की सार्थकता होगा।

अन्त में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगौर की एक कविता के भावी भाव देकर आर्य जनता से अपील करूँगा कि वे इस कविता के भावों के अनुरुप कार्य करें। भाव इस प्रकार हैं "जब सूर्य अस्ताचल को चल पड़ा तो उसने चन्द्रमा से कहा मेरा काम अब तुम करो, मैं विश्राम करने जा रहा हूँ। चन्द्रमा ने विनम्रता पूर्वक अपनी असमर्थता को तो प्रकट की तो तारों से वही निवेदन किया गया जो चन्द्रमा से किया था, उन्होंने भी निराशा ही दिखाई, उसी सभा में मिट्टी का दीवला (दीप) भी उपस्थित था उसने नम्रता पूर्वक सूर्य को विश्वास दिलाया जब तक तेल और बत्ती रहेंगे मैं अन्धेरा हरता रहूंगा इसीं प्रकार हम करें। अपनी शक्ति, सामर्थ्य एवं योग्यतानुसार देश और राष्ट्र को सबल सुन्दर एवं शक्तिशाली बनाने के लिए योगदान देना चाहिए।

आर्य शताब्दी समारोह के शुभावसर पर मैं प्रत्येक भारतवासी एवं विदेशों में रहने वाले आर्य भाई, बहनों को सादर अभिवादन करता हूँ। प्रभु से प्रार्थना है कि हम अग्नि शिखा के समान उत्थान की ओर बढ़ते चले जायें।

वेदज्ञान का यथार्थ स्वरूप

• शास्त्रार्थ महारथी श्री पं० रामदयालु शास्त्री, तर्क शिरोमणि

प्रलय की अवस्था में देहधारी जिस स्थिति में अपने कारण में लीन हुए सृष्टि के प्रारम्भ में सुप्तप्रबुद्ध न्याय से उसी अवस्था में पूर्व कर्मों और संस्कारों के अनुरूप शरीर आदि से पुनः कार्यजगत् में द्रष्टव्य हुए। सृष्टि के प्रारम्भ में सब जीव अपने स्वाभाविक ज्ञान से मुक्त होते हैं। वह ज्ञान पशु जगत् के लिए पर्याप्त होता है। यह अपने भोजन ज्ञान से लेकर प्रत्येक आवश्यकता को नैसर्गिक ज्ञान से चलाता है। किन्तु मनुष्य का कार्य नैमित्तिक विवेक के बिना नहीं चल सकता। उसे किसी सिखाने वाले की आवश्यकता है। महर्षि पतंजलि ने "सपूर्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदात्" योग १-२४, वह सर्वप्रथम गुरु ईश्वर है वह गुरु जिस ज्ञान का प्रकाश करता है वह "बृहस्पते प्रथमंवाचो अग्रंयत् प्रैरत् नामधेयं दधानाः यदेषां श्रेष्ठं पदरि प्रमासीत् प्रेणातदेषांनिहितं गुहाविः ऋग्० १०-७१-१ सृष्टि के प्रारम्भ में सब प्राणियों की मूलरूप सब पदार्थों के नामों को धारण करने वाली वाणी को विद्वान् उच्चारण करते हैं जो सबसे श्रेष्ठ, सब के लिए समान होती है। वह वाणी ऋषियों की बुद्धि में धारण की हुई ईश्वर के द्वारा प्रेरित होती है। इस मंत्र में प्रथम्, वाचो अग्रम् शब्दों से सबसे प्रथम और सब मानवों की वाणियों से पहले होने वाली कहा है। श्रेष्ठम्-नामधेयंदधानाः से सर्वश्रेष्ठ और सब पदार्थों के नाम बतानेवाली कहा है। आदि प्रभू-प्रेणा-निहितं गुहाविः शब्दों से मनुष्यमात्र के लिए, जो पूर्वजन्म से श्रेष्ठ कर्मा ऋषि हैं उन की बुद्धियों में ईश्वर से प्रेरित होती है। चूँकि सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए मनुष्यों को नैमित्तिक विवेक से आयु-स्वास्थ्य-बुद्धि-स्मृति इन चार वस्तुओं की आवश्यकता थी। जीवनक्रम को आगे बढ़ाने के लिए एक सर्वश्रेष्ठ मनुष्य के हृदय में ज्ञान की प्रेरणा दी। केवल ज्ञानमात्र से काम नहीं चल सकता एक के हृदय में कर्म की प्रेरणा दी। उभाभ्यामपिपक्षाभ्यां यथा खेमक्षिणांगतिः। तथैव ज्ञानकर्माभ्यां प्राप्यते ब्रह्मशाश्वतम्। विद्यातपोभ्यां संपन्नो ब्राह्मणे योगतत्परः हारीत स्मृति अ० ७ जैसे आकाश में पक्षी दोनों पंखों के सहारे उड़ता है वैसे ही विद्या तप से संपन्न योगी ज्ञानकर्म के द्वारां ब्रह्म को प्राप्त करता है। अतः तीसरे हृदय में उपासना की प्रेरणा भी। संसार का व्यवहार चलाने के लिए तथा ज्ञानकर्म उपासना का ठीक उपयोग बताने के लिए विशेष ज्ञान-विज्ञान की प्रेरणा चौथे हृदय में दी। जिन चार हृदयों में प्रेरणाएँ दीं उनके नाम अग्नि-वायु-आदित्य-अंगिरा और प्रेरणाओं के नाम ऋग्-यजु-साम-अथर्व उनकी विशेषताओं के कारण हुए। विज्ञान का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। वह लौकिक व्यवहार के साथ ज्ञान-कर्म-उपासना की भी सही व्यवस्था बतलाता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती महाराज ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में लिखा है—"अथ चत्वारोवेदविषया सन्ति विज्ञान कर्मोपासना ज्ञानकाण्डभेदात् तथाहि विज्ञानविषयोहि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति परमेश्वरादारभ्यतृणपर्यन्तादि पदार्थेषुसाक्षाद्बोधान्वयस्यात्" अर्थात् ज्ञानकर्म उपासना इन चारों विषयों में विज्ञान सबसे मुख्य है क्योंकि परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षात् और सत्य विवेचन विज्ञान ही करता है। अग्नि-वायु-आदित्य अंगिरा चारों व्यक्ति वेदों के दृष्टा, जाननेवाले थे सृष्टा, रचयिता नहीं थे। ऋषयो मंत्र दृष्टारः य एवाप्तावेदार्थानां-दृष्टारः प्रवक्तारश्चेत एवा युर्वेद प्रभृतीनाम् न्याय भा० २-१-६७ आप्त ऋषि वेद के प्रवचनकर्ता और दृष्टा हुए, कर्ता नहीं। इससे इनकी ऋषि संज्ञा हुई। मुक्ता मुक्तयोरयोग्यत्वात् सां ५-४७ महर्षि कपिल ने कहा है कि मुक्त और अमुक्त दोनों प्रकार के मनुष्य वेद की रचना नहीं कर सकते। क्योंकि मुक्त तो आनन्द में मग्न रहते हैं कुछ कार्य नहीं कर सकते, अमुक्त अज्ञानी होने से असमर्थ होते हैं। अतः वेदज्ञान ईश्वर ही दे सकता है।

वेद शब्द की परिभाषा

विदज्ञाने, विदसत्तायाम्, विदलृलाभे, विद विचारणे, एतेभ्यो हलश्च, इतिसूत्रेण करणाधिकरण कारक योर्घञ् प्रत्यये कृते वेदः। श्रु श्रवणे इत्यस्मात् करण कारकेक्तिन् प्रत्यये कृते श्रुतिः। उपरोक्त चार धातुओं से घञ् प्रत्यय से वेद और श्रु धातु से क्तिन् प्रत्यय से श्रुति शब्द सिद्ध होता है। जिनका अर्थ है जिनमें सब सत्य विद्याएँ हैं जिनके द्वारा जानी जाती हैं विचारी जाती हैं, प्राप्त की जाती हैं उन्हें वेद कहते हैं। जिसके द्वारा लोग सब सत्य विद्याओं को सुनते आए हैं उसे श्रुति कहते हैं। इस प्रकार वेद और श्रुति दोनों नाम उस प्रेरणा के हैं जिसके ज्ञान-कर्म-उपासना-विज्ञान ये चार विषय और विभाग हैं।

श्री शंकराचार्य जी ने शास्त्रयोनित्वात् वेदान्त १-१-३ में महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेक विद्यास्थानोय वृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्यशास्त्रास्याग्वेदादि लक्षणस्य सर्वज्ञ गुणान्वितस्यसर्वज्ञानदन्यतः संभवोऽस्ति। इस सूत्र की व्यावृति में वेद ज्ञान का दाता ईश्वर को बताते हुए वेदों को अनेक विद्याओं का प्रकाशक सत्यशास्त्र बताया है। वेदों के विषयों को सुगमता से जानने के लिए ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्ववेद, अथर्ववेद का अर्थवेद, चार उपवेदों की रचना की गई जिनके अनुसार ऋक् का ज्ञान, यजु का कर्म, साम का उपासना, अथर्व का विज्ञान क्रम उचित बैठता है जिनके द्वारा आयु, स्वास्थ्य, बुद्धि, स्मृति चारों की साधना होती है। इन चारों में ही सांसारिक सुख, ऐश्वर्य और श्रेय मार्ग मुक्ति का निर्देश है सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्यों को इनकी आवश्यकता थी।

वेदों का नित्यत्व

वेद नित्य हैं और स्वतः प्रमाण हैं—इस सम्बन्ध में महर्षि गौतम ने "मंत्रायुर्वेद प्रामाण्यवञ्चतत् प्रामाण्यममाप्त प्रामाण्यात् न्याय २-१-६७ आप्तों द्वारा सदा से प्रामाण्य स्वीकार करते आने के कारण वेद का प्रामाण्य मानना चाहिये जैसा कि मंत्र, विचार और आयुर्वेद का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। महर्षिकणाद ने सदकारणवन्नित्यत्वम् वैशे ४-१-१ तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् १-१-३ ईश्वर का अन्य कोई कारण न होने के समान वेद नित्य है। ईश्वर का वचन होने से वेद की स्वतः प्रामाणिकता है। महर्षि कपिल ने निजशक्तयभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् सां ५-५१ ईश्वर की स्वामाविक शक्ति द्वारा प्रकाशित होने से वेदस्वतः प्रमाण हैं। महर्षि जैमिनि ने नित्यस्तुस्पाद्दर्शनस्यपरार्थत्वात् पू० मी० १-१-१८ शकका नित्वत्व होने से वेद नित्य हैं। महर्षिव्यासनेअतएव नित्यत्वम् वेदान्त १-३-२९ परब्रह्म से प्रकाशित होने के कारण वेद नित्य हैं। इस प्रकार दर्शनों ने वेदों को ईश्वर प्रदत्त नित्य और स्वतः प्रमाण माना है।

सायणाचार्य ने कहा है प्रत्यक्षेणानु मित्यावा यस्तूपायो न बुध्यते-एतंविदन्तिवेदेन तस्मात्वेदस्यवेदता इष्टप्राप्त्यनिष्ट परिहारायालौकिक मुपायंयोवेदयतिसवेदः। अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमानसे प्राप्तव्यज्ञान वेद के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। संसार के इष्ट पदार्थ सुख ऐश्वर्यो की प्राप्ति और अनिष्ट दुःखदैन्य को दूर करने का मार्ग वेद बतलाता है यही वेद की वेदतास्वरूप है। ऋग्वेद भाष्य भूमिका। कुमारिल भट्ट ने उक्तेतुशब्दपूर्वत्वात् मीमां १-१-२९ की व्याख्या तंत्रवार्तिक में लिखा है सर्वेहि यथा गुरुणाधीतंस्थैवाधि जिगांसन्ते, न पुनः स्वातंत्र्येण काश्चिदपिप्रथमोऽध्येता वेदानामस्ति यः कर्तास्यात्। तस्मात् कर्तृस्मरणाभावादपौरूषेया वेदा इतिभावः। बिना अध्ययन के वेदों का ज्ञान नहीं हो सकता। वेद किसी ने बनाये हैं यह आज तक किसी ने नहीं कहा, इससे वेद अपौरुषेय हैं, यह स्पष्ट है।

सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञान की आवश्यकता

सिंह बिल्ली स्वभाव से अपने शिकार पर आक्रमण करना सीख लेते हैं। पशुओं को पानी में तैरने की, बया को सुन्दर घोंसला बनाने की, कोयल को गाने की मोर को नृत्य करने की शिक्षा नहीं दी जाती, किन्तु मनुष्य को दूसरे के द्वारा सिखाए जाने वाले नैमित्तिक ज्ञान की सर्वतोभावेन आवश्यकता है। वह बोलना भी माता पितादि से सीखता है। बिना सिखाये वह कुछ भी नहीं जान सकता। इसी को वेद ने कहा है यज्ञेनवाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नषिषु प्रविष्टाम्। ऋक् १०-७३-३ सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञस्वरूप परमात्मा के द्वारा ऋषियों में प्रविष्ट हुई वाणी को मनुष्य प्राप्त करते हैं मनुजी ने कहा है—

सर्वेषांतु सनामानिकर्माणिच पृथक् पृथक्
वेदशकेभ्यं एवादौ पृथक् संस्थाश्चनिर्ममे। १-२१
चातुर्वर्ण्यत्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्
भूतंभव्यं भविष्यञ्चसर्ववेदात्प्रसिध्यति। १२-९७

कुल्लूकभट्ट १-२३ में कहते हैं "पूर्वकल्पेये वेदास्त एव परात्मपूर्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः तानेवकल्याणौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष। पूर्वसृष्टि में जो वेद थे वे ही सर्वज्ञ परमात्मा की स्मृति में स्थिति थे। वे ही ऋषियों को प्राप्त हुए। चारों वर्ण, तीन लोक, चार आश्रम भूत वर्तमान भविष्य का ज्ञान सब नाम और वस्तुएँ वेदों के शब्दों द्वारा ही लोगों को प्राप्त हुए।

महाभारत ने भी प्रारम्भिक ज्ञान की आवश्यकता बताते हुए लिखा है।

ऋषी णांनामधेयानि याश्चवेदेषु सृष्टयः।
नानारूपंचभूतानां कर्मणांच प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्यएवादौ विनिर्मीते स ईश्वरः।
शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभ्योविदधात्यजः। शान्तिपर्व अ २३२

सम्पूर्ण रचना, ऋषि एवं अन्य भूतों के नाम और कर्मों का व्यापार वेद के शब्दों से ही प्रकट हुए। पूर्वकला में गौ, अश्व, अज, हस्ती, गच्छ-भक्ष-पश्य आदि के जाना खाना देखना आदि जिस अर्थ में थे धाता यथापूर्वमकल्पमत्—ऋग् १०-१९० उसी प्रकार इस सृष्टि में हुए। यजुर्वेद पुरुष सूक्त में मनुष्या अजायन्त ऋषयश्चये गावोहजज्ञिरे, तस्माद श्वा अजावययेकेयोभयादतः के द्वारा विविध प्रकार की सृष्टि का वर्णन है जो पूर्व सृष्टि के अनुसार थी। व्रीहयश्चमे यवाश्च मे यजु १२ में धान जौ गेहूँ आदि अन्न तथा सूर्य चन्द्र ऋतुएँ पहले की तरह हुई इसका ज्ञान वेद से ही होता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती महाराज ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में लिखा है—ये परमात्मस्था शब्दार्थ सम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति वेद नित्यत्व विषये—ईश्वर के ज्ञान में और उसके द्वारा दिया गया जो शब्दार्थ सम्बन्ध है वह नित्य है, सृष्टि के आदि में जो पदार्थ उत्पन्न किये वेद में उनके नाम तथा उस विषय का ज्ञान भी वेद ने दिया, असह्य ज्ञान नित्य है आदि ज्ञान हैं।

वेद चार हैं

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादयाकषन्-सामानि यस्यलोभानि अथर्वांगिरसो मुखम्। अथर्व १०-७-२० यजुर्वेद परमात्मा का हृदय,

ऋग्वेद प्राण, सामवेद लोभ, अथर्ववेद मुख हैं। इस अलंकारिक वर्णन का अर्थ है वेद ईश्वर से भिन्न नहीं, परमात्मा वेद रूप है। वेद ईश्वर की तरह नित्य है। तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतऋचः सामानिजज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत। यजु ३१ अथर्व १९-७ ऋग् १०-९० यज्ञरूप परमात्मा से ऋग् साम अथर्व यजु चार वेद प्रकट हुए।

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ऽथर्वांगि रसः शतपथ १४-५-४ उस महान भूत परमात्मा से श्वास प्रश्वास की तरह चार वेद निःश्वासित और प्रकाशित हुए। काठक-संहिता ४०-७ के ब्राह्मण में ऋग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति, अथर्वभिर्जयन्ति। चारों वेदों का व्यावहारिक स्वरूप बताया है। ऋचन्ति स्तुवन्ति पदार्थानो गुणकर्म स्वभावान नया साऋक्। यजन्ति येनमनुष्याः ईश्वरं धार्मिकान् विदुषश्चपूजयन्ति, शिल्पविद्या संगति करणे च कुर्वन्ति, शुभ विद्या गुणदानंच कुर्वन्ति तद् यजुः। स्यति कर्माणि इति सामवेदः। थर्वतिश्चरति कर्मतत्प्रतिषेधः अथर्व निरु ११-१८। पदार्थों का शंसन करना, गुणकर्म स्वभाव बताना यह ऋग्वेद है। पदार्थ का ज्ञान हो जाने पर उसे कार्यरूप में परिणत करना होता है जिससे ईश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों से धर्मात्मा विद्वानों की पूजा, उनकी संगति शिल्प विद्याओं से सिद्ध पाना उत्तम गुणों का दान किया जावे, वह यजुर्वेद है। जिसके द्वारा मनुष्यों की कर्म शृंखला से समाप्त होती है वह सामवेद है। यह सब कुछ होने के पश्चात् विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है जिसके क्रियात्मक रूप से सर्वथा संशयों की निवृत्ति हो जाती है। वह अथर्व वेद है। ये चारों वेदों के मुख्य और प्रतिपाद्य विषय हैं यद्यपि अन्य विषय भी उनमें विद्यमान हैं। इस प्रकार ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड है आयु का प्रतीक है उपवेद आयुर्वेद होने से। यजुर्वेद कर्म-काण्ड है स्वास्थ्य का प्रतीक है धनुर्वेद उपवेद होने से। सामवेद उपासना काण्ड है बुद्धि का प्रतीक है गान्धर्व वेद उपवेद है। अथर्ववेद विज्ञान काण्ड है स्मृति का प्रतीक है अर्थवेद उपवेद है।

यस्मात् पक्वादमृतं संवभूव योगादमा अधिपतिर्वभूव-यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाष्टेनौदने नाहितराभिमृत्युम् अथर्व ४-३५-६। तथापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पो निरुक्तम्-इत्यादि। मुंडक १-१-५ चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्याः महाभाष्य ऋक्सामयोरेवाभि-षिच्यते। यजुर्भिरायस्योषेसामिदामदेय। आशीर्वाअथर्वभिः। काठक संहिता ३०-३, २-४, ५-४। इस प्रकार सर्वत्र चार वेदों का वर्णन उनके विशेषकाण्ड एवं प्रतिपाद्य विषयों के कारण हैं।

विज्ञान काण्ड की मुख्यता

मनुष्य को सर्वप्रथम ज्ञान की आवश्यकता होने से ऋग्वेद की गणना पहले की जाती है। मानव जीवन यदि उपासना से शून्य है तो व्यर्थ है। अतः गृहस्थ में पत्नी को ऋक् और पति को साम कहा है। ऋक्त्वं सामाहमस्भि। गीता में कृष्णजी ने कहा है—वेदानां सामवेदो-ऽस्मि ज्ञान-उपासना दोनों के मूल में कर्म है—कुर्वन्नेवेहकर्माणि में वह प्रेरणा है। तीनों वेदों के इस सम्बन्ध की शृंखला निश्चित है। किन्तु महर्षि दयानन्द जी ने विज्ञान विषयोहि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति-विज्ञान को प्रधानता दी है। इसी के द्वारा ज्ञान-कर्म उपासना का उचित उपयोग हो सकता है। इस कारण अथर्व का अधिक महत्व है।

महर्षि पाणिनि ने—वहुल छन्दसि, विभाषा छन्दसि आदि अनेक स्थानों पर छन्दः शब्द का प्रयोग वेद के लिए किया है किन्तु छन्दांसि-जज्ञिरे में छन्दः शब्द का केवल अथर्व के अर्थ में प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार मंत्राः मननाच्छन्दांसि छादनात् सोमः सृवनात् यजुर्यजते साम-सम्मितमृचा। निस ७-१२ मंत्र छन्द दोनों के अर्थ वेद है। इनकी परि-भाषा है—अविद्यादि दुःखानां निवारणात्सुखैराच्छादनात् छन्दोवेदः। अविद्यादिदुःखों के निवारण और सुखों से आच्छादित होने से छन्द नाम वेद का है। मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वेर्मनुष्यैः सस्याः पदार्थाः येनयस्मिन्वा स मंत्रोवेदः। जिसके द्वारा विद्याओं का सत्य मनन होता है यह मंत्र वेद है। निगच्छन्ति नितरांजानन्ति प्राद्रवन्ति या सर्वा विद्या यस्मिन् स निगमोवेदः। निरन्तर जो विद्याओं को देता है वह निगम वेद है। चारों वेदों की रचना सातच्छन्दों में हुई है इससे पाणिनि ने वेदों को छन्द कहा है। किन्तु विशिष्ट ज्ञान का प्रतीक होने के कारण अथर्व, ब्रह्म, निगद, छन्द ये नाम अथर्व के पाये जाते हैं तमृचश्च सरामानिच यजूंषि च ब्रह्मचानुकचलन। ऋचांचवैसाम्नाच यजुषांच ब्रह्मणश्च प्रियंधाम भवतिय एवं वेद। चत्वारो वाइमेवेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्म-वेदः। निगदोवाचतुर्थःस्यात् धर्मविशेषात्। ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषासह। अथर्वागिरसोमुखम्। इस प्रकार ब्रह्म निगद छन्द अथर्व चार नाम अथर्ववेद के पाये जाते हैं। महर्षि दयानन्द जी महाराज ने अथर्ववेद की परिभाषा में कहा है "अथर्ववेदेऽपित्रयाणांवेदानां मध्ये यो विद्याफल बिचारो विहितोऽस्तितस्यपूर्तिकरणेनरक्षणोन्नती विहितेस्तः।

अथर्ववेद में तीनों वेदों में जो विद्याफल विचार कहा है उसकी पूर्ति करने से रक्षण और उन्नति होती है। इस प्रकार विषय भेद से और चार ऋषियों के हृदयों से प्रकट होने से वेद चार हैं।

वेद तीन हैं

यस्मिनृचः सामयजूंषियस्मिन् प्रतिष्ठिता, यजु। अग्नेऋग्वेदः सूर्या-त्सामवेदः शतपथ। त्रयोवेदाअजायन्त ऋग्वेदाग्नेरजायत यजुर्वेदोवायोः सामवेद आदिष्यात् ऐतरेयब्राह्मण। यदेनऋग्भिःशंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिस्तुवन्ति निरुक्त। अग्नर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यर्गदस्यात् छान्दोग्य अग्नि वायु रविम्यस्तुत्रयंब्रह्मसनातनम् मनु। इस प्रकार तीन वेदों का उल्लेख मिलता है अथर्व का नहीं। इस विषय में हमारा विमर्श यह है कि ऋग् यजु साम तीनों के विषय ज्ञान कर्म उपासना हैं। ज्ञान-यज्ञ, कर्म यज्ञ उपासनायज्ञ, ये तीनों यज्ञ जीवात्मा को मोक्ष के आनन्द की प्राप्ति कराते हैं। इसीलिए मनु ने कहा है दुदोह यज्ञ सिध्यर्थमृग्यजुः साम-लक्षणम्। अर्थात् ऋग् यजु साम तीनों को यज्ञ की सिद्धि के लिए प्राप्त किया। अथर्व का उपवेद अर्थवेद है जिसका मुख्य विषय कृषि उत्पादन पशुपालन व्यापार से सम्बन्धित है। किन्तु मानव जीवन का मुख्य

उद्देश्य परमपद प्राप्ति है ।

दूसरी समीक्षा है तेयामृग्यमार्थवशेनपादव्यवस्था । गीतिषुसामाख्या शेषे यजुः शब्दः । मीमां २-१-३५-३७ । अर्थात् पादवद्धऋचाएँ ऋक् कहलाती हैं । गान विधायक मंत्र साम कहलाते हैं । शेष मंत्र जिनमें गद्यपद्य का मिश्रण है वे यजु कहलाते हैं । चारों वेदों में तीन प्रकार के मंत्र हैं और संसार की भाषाओं में पद्य गद्य गान तीन ही भेद पाये जाते हैं । महात्मा कौटिल्य ने १ आन्वीक्षिकी, सूक्ष्म तत्वों का अन्वीक्षण कराने वाली दर्शन विद्या । २ त्रयी ज्ञान कर्म उपासना । ३ वार्ता वृत्ति जीविका सिखानेवाली कृषि वाणिज्य पशु-पालन । शुक्राचार्य ने कुसीद बैंकिंग अर्थशास्त्र को इसके अन्तर्गत माना है । ४ दण्डनीति दण्ड व्यवस्था शासन विद्या आन्वीक्षिकीत्रयी के अन्तर्गत आ जाती है । अतः चारों वेदों में तीन प्रकार की विद्याओं का निरूपण होने से वेदत्रयी कहलाती है । मनु ने कहा है त्रैविद्येभ्यस्त्रयी विद्यांदण्डनीतिं च शाश्वतीम् आग्वीक्षिकींचात्मविद्याम् ज्ञान कर्म उपासना के अधिकारी न्याय दण्ड ब्रह्म तीनों के ज्ञाता राज्यसभा के सभासद् बनाये जावें । शतपथ ४-६-७ में त्रयीवैविद्या ऋचो यजूंषि सामानि इति चारों वेदों में तीन विद्याओं का नाम ऋक्-यजु-साम है महाभारत शान्तिपर्व में त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तमयागतः ऋक्साम वर्णाक्षरता यजुषोऽथर्वणस्त था । चारों वेदों में तीन विद्याओं का अन्वीक्षण करे । चौथी बात है गायत्री-अनुष्टुप-त्रिष्टुप जगती ये समछन्द हैं । इनके प्रत्येक पद में अक्षरों की संख्या समान होती है । पंक्ति छन्द अष्टाक्षर पाँच पदों में होता है । उष्णिक् वृहती छन्द मिश्रित हैं । इनके समीप समानाक्षर नहीं होते । सातों छन्द तीन विभागों में होने से वेद तीन कहलाते हैं । निरुक्त ७-१ में तास्त्रि-विधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः आध्यात्मिकाश्च । चारों वेदों के मंत्रों को तीन भागों में बाँटा गया है । अदृश्य अर्थों को, दृश्य अर्थो को ज्ञानगोचर आत्मा परमात्मा को, बतानेवाले तीन प्रकार के मंत्र हैं । प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानिंस्तोतव्यानि । आध्यात्मिकाश्च उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना । हनुमान्जी परोक्ष प्रत्यक्ष आध्यात्मिक तीनों के पूर्ण ज्ञाता थे । इस बात को किष्कि० सर्ग ३ में कहा है । नानृग्वेद विनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः । नासामवेद विदुषां शक्यमेव विभाषितुम् । ऋक्-यजु-साम के ज्ञाता होना प्रकट किया है ।

इस प्रकार छन्द, भाषा, विद्या, उपासना के आधार पर वेदत्रयी कहलाती है । चत्वारि शृंगेति वेदावासतउक्ताः । निरुक्त १३।७ चत्वारि शृंगा का अर्थ चारसींग नहीं अपितु चार वेद हैं, जो परोक्ष, प्रत्यक्ष, आध्यात्मिक मंत्र और ज्ञान से पूर्ण हैं ।

वेद दो हैं

स्वामीजी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में कहते हैं वेदेषु द्वे विद्ये वर्तेतं अपरापराचति । यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृति पर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथा वदुपकार ग्रहणंक्रियते सा अपरा । ययाचादृश्यादि विशेषण-युक्तं सर्वशक्तिमद्ब्रह्मविज्ञायतेसापरा । संपूर्ण भौतिक पदार्थों के ज्ञान से लाभ पाना अपरा विद्या है तथा जिसके द्वारा अदृश्य सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की प्राप्ति होती है वह परा है । चारों वेदों में सम्पूर्ण ज्ञान लौकिक और पारलौकिक है अतः बेदज्ञान दो हैं । इसी बात को महर्षि ने विद्या स्वार्था परार्था च भवति तस्यास्तद्विषयत्वात् । ऋ० भा० भू० । अपनी कार्यसिद्धि करनेवाली और परमार्थ देनेवाली । दो प्रकार की कहा है । सायणाचार्य ने सामवेद भाष्यभूमिका में कहा है—तस्मिश्चवेदेद्वौकाण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च । वेदों में एक कर्मकाण्ड है जिसमें यज्ञादि द्वारा ऐहलौकिक सिद्धि होती है दूसरा ब्रह्मकाण्ड है जिसमें ब्रह्म प्राप्ति से मुक्ति सुख मिलता है । इस प्रकार चारों वेदों को दो विद्याओं में और दो काण्डों में भी बांटा जा सकता है ।

वेद ज्ञानरूप में एक है

वेदोत्पत्ति विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती महाराज लिखते हैं । निरवयवात्परमेश्वराच्छब्दं मयोवेदः कथमुत्पद्येतेति । वेदस्य सूक्ष्मरचन-वज्जगत्यपिमहदाश्चर्यभूतं रचनयीश्चरेणकृतमस्ति । ईश्वरेणरचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थ रचनेकस्यामि सामर्थ्यस्यान्नान्यथा । अतः किं सिद्ध मग्निवास्यव्यदित्यांगिरो मनुष्य देहधारिजीवकारेण परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृतः । इन वाक्यों में महर्षि ने वेद को एक बताया है । आगे महर्षि लिखते हैं—मनुष्याणां नैमित्तिक ज्ञाने स्वातंत्र्याभावात् । स्वाभाविक ज्ञान मात्रेणैव विद्या प्राप्त्यनुमयतेश्च । यच्चो स्वकीगं ज्ञान मुत्कृष्टमित्यादिताफसमञ्जसम् । ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षय विपर्ययाभावात् । अर्थात् नैमित्तिक ज्ञान में मनुष्य स्वतंत्र नहीं है और स्वाभाविक ज्ञान से अनेक विद्याओं की उपलब्धि नहीं होती । स्वाभाविक ज्ञान कभी उत्कृष्ट नहीं हो सकता, ये विशेषताएँ ईश्वर के ज्ञान में हैं । ईश्वर के ज्ञान में वृद्धि क्षय परिवर्तन नहीं होते । ईश्वर एक है नित्य है । उसका वेद (ज्ञान) भी एक है नित्य है ।

सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास में लिखते हैं । रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है । चारों ही में वेद का प्रकाश किया अन्य में नहीं । पवित्र विद्या का प्रकाश उन्हीं में किया । हाँ वेद को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण निरुक्त छन्द आदि ग्रन्थ ऋषि मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिए किये हैं । जैसे जीव सुषुप्ति और प्रलय में ज्ञान रहित हो जाते हैं वैसे ईश्वर नहीं होता । उसका ज्ञान नित्य है । उक्त स्थलों में ज्ञान-वेद-विद्या तीनों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है । वह ज्ञान एक है जो चार ऋषियों के हृदय में प्रकट किया । इसी-लिए कहा है वेदेनपरमेश्वर ज्ञानेनचयुक्ताः सन्तः ज्ञानिनः स्युः । सर्वसुख प्रकाशिकां, सर्वविद्यामयीं वेदविद्यामुपदिशेत् । परमेश्वर के ज्ञान वेद से ही ज्ञानी बनें । सब सुखों की प्रकाशक सम्पूर्ण विद्याओं से पूर्व वेद विद्या का उपदेश किया । परमेश्वर का ज्ञान-वेद-विद्या एक है । वेद में भी यथे मां वाचंकल्याणीमावदानिजनेभ्यः यजु २६-२ । इमं या परमेष्ठिनी-वायू देवी ब्रह्मसंहिता अथर्व १९।९ वेदवाणी को एक कहा है ।

पुरुष विद्यानित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मंत्रोवेदे निरु १-३ बुद्धि पूर्वावाक्य-कृतिर्वेदे वैशं ६-१-१ रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । ब्राह्मणेन निष्का-रणो धर्मः षडंगोवेदोऽध्येयोज्ञेयश्च । महाभाष्य निरुक्त वैशेषिक में वेद को

एक कहा है। पाणिनि में वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए। ब्राह्मण को छः अंगों सहित वेद को पढ़ना और जानना चाहिये। चार कहते हुए भी वेद ज्ञान को एक कहा है हरिहर स्वामी ने शतपथ भाष्य के उपोद्घात में—वेदस्या पौरुषेयत्वेन स्वतः प्रामाण्ये सिद्धे। स्वतः प्रमाण सिद्ध करते हुए वेद को एक कहा है। स सर्वोऽभिहितोवेदे सर्वज्ञानमयोहि सः। मनु २-७४ भूतं भव्यं भविष्यम सर्ववेदात्प्रसिध्यति। वेद में जो कुछ भी है सब ज्ञानमय है। भूत वर्तमान भविष्यत् सब वेद से सिद्ध होते हैं—मनु ने वेद को एक कहा है। कुमारिलभट्ट ने तंत्र वार्तिक में वेद एवहि सर्वेषामादर्शः सर्वदास्थितः वेद हां सबका आदर्श है। अनादि निधना नित्यावागुत्स्रष्टा स्वयं भुवा- आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वप्रवृत्तयः। महा भा० शान्ति अ० २३२ में आदि अन्त नाशरहित वेदमयी वाणी परमात्मा ने दी उससे सब ने ज्ञान पाया। वेदवाणी को एक कहा है।

वास्तव में ईश्वर प्रदत्त नैमित्तिक ज्ञान एक है जो नित्य है। विभिन्न परिभाषाओं में उसे दो तीन और चार भागों में जाना जाता है। साररूप में ईश्वर का नैमित्तिक ज्ञान नित्य है और एक है विषय-भेद से वह चार ऋषियों के हृदयों में प्रेरित हुआ। □

(पृष्ठ १९८ का शेष)

कारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावे, परन्तु इन मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवें।"

मैं आशा करता हूँ कि इस पवित्र वर्ष में महर्षि दयानन्द द्वारा निर्धारित आर्य समाज के उद्देश्यों और मन्तव्यों पर हम गहराई से मनन करेंगे और आर्य समाज को उनके अनुरूप बनाने का प्रयत्न करेंगे। □

(पृ० २१५ का शेष)

पृथ्वी का रस जितना ही हृष्ट-पुष्ट तथा शक्तिशाली होगा, वृक्ष उतना ही बढ़ेगा।

इस प्रकार वेदों में बड़े अद्भुत विज्ञानों का मूलरूप में उल्लेख मिलता है, जिन्हें श्रद्धावान विद्वान जिज्ञासु ही प्राप्त कर सकते हैं। वेद वह अगाध समुद्र है जिसमें ज्ञान-विज्ञान के अनेक बहुमूल्य रत्न भरे पड़े हैं। □

देव-दयानन्द

• डॉ० राणा प्रताप सिंह 'राणा' गन्नौरी

आधुनिक भारत के निर्माताओं में महर्षि दयानन्द का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने भारतीय समाज को जागृत करने में क्रान्ति के अग्रदूत का काम किया। भारतीय जीवन का कोई भी क्षेत्र उनके तेजस्वी विचारों से अछूता नहीं रहा। उन्होंने एक महान मानवतावादी की तरह मनुष्य को मनुष्य बन कर रहने का सन्देश दिया। उन्होंने सब प्रकार के भेद भावों को भुला कर मानव के मानव भ्रातृभाव के विकास का प्रयास किया। उन्होंने मानव-मंगल को ही जीवन का लक्ष्य बना लिया। महर्षि दयानंद ध्वंसात्मक नहीं सर्जक क्रान्ति के प्रवर्तक के रूप में प्रकट हुये। विचारों में क्रान्ति, हृदयों में परिवर्तन और आचरण में तबदीली ही उन्हें अभीष्ट रही। ऋषिवर दयानंद ने घुटन तथा आडम्बर भरी रूढ़ियों के खण्डन तथा वेदाधारित आर्य मान्यताओं के मण्डन द्वारा भारत ही नहीं विश्व भर के प्रबुद्ध व्यक्तियों की आस्थाओं एवं निष्ठाओं का परिमार्जन किया। उन्होंने अपने अपूर्व पांडित्य से यह सिद्ध किया कि वेद सब सत्य विद्यायों का पुस्तक है और इसका पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना मानव मात्र का परम धर्म है। आर्य समाज रूप में उन्होंने एक आंदोलनकारी संगठन का गठन किया। जिसने ऋषि के जीवन काल तथा उसके पश्चात् देश में शिक्षा का प्रचार और रूढ़ि-विरोध का मूल्यवान कार्य सम्पन्न किया। ब्रिटिश संसद के सदस्य तथा भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष (१९०४ ई० बम्बई) सर हैनरी काटन ने आर्य समाज के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा है—"उत्तरी भारत में पाश्चात्य सभ्यता के प्रवाह को रोकने के लिए आर्य समाज से बढ़कर और किसी ने कार्य नहीं किया। और इसका सहज प्रवाह यह हुआ कि अंग्रेजों के दवदबे में बड़ा फ़र्क आ गया।"[१]

महानतम योगी, उच्चतम, दार्शनिक, गम्भीर विचारक, क्रांतदर्शी सन्देश-वाहक महर्षि दयानंद ने सत्य और नैतिकता को जीवन का मूलाधार घोषित किया और असत्य तथा अधर्म पर कठोर प्रहार करके समाज को उनके कुप्रभावों से बचाया। उन्होंने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, बाल-विवाह, छूआछूत और विधवापीड़न जैसी कुरीतियों एवं रूढ़ियों के मूलोच्छेदन में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। स्त्री-जाति के खोए हुए सम्मान को पुनः स्थापित करने का सर्वप्रथम श्रेय यदि किसी महापुरुष को है तो केवल ऋषि दयानंद सरस्वता को।

बाल ब्रह्मचारी, महान तेजस्वी, एवं असाधारण विद्वान ऋषि दयानंद ने न केवल भारतीयों-बल्कि अनेक विदेशी विद्वानों को भी अत्यधिक प्रभावित किया। फ्राँस के प्रसिद्ध विद्वान रोमन रौलैंड के मतानुसार—"आधुनिक युग में जितनी महान विभूतियाँ भारतवर्ष में हुई हैं, उनमें दयानंद सर्वश्रेष्ठ विभूति हैं।"[१]

स्वामी दयानंद संस्कृत के अद्वितीय विद्वान थे। उनका व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान तो अतुलनीय था। व्याकरण-पांडित्य का दम भरने वाले कितने ही बड़े बड़े विद्वान उनका लोहा मानते थे। रूसी विदुषी मैडम ब्लैविट्स्को ने स्वामी जी के संस्कृत ज्ञान तथा निर्भयता का उल्लेख करते हुए लिखा है—"यह निश्चित है कि शंकराचार्य के पश्चात दयानंद से अधिक संस्कृतज्ञ, गम्भीर अध्यात्मवेता, आश्चर्यजनक वक्ता और बुराई का निर्भीक प्रहारक भारत को प्राप्त नहीं हुआ।"[२]

कांग्रेस तथा थ्योसोफिकल सोसाइटी की अध्यक्षा श्रीमती डॉ ऐनी बेसंट के कथनानुसार "जब स्वराज्य मन्दिर भारत वर्ष में निर्मित होगा तो उसमें दयानंद की मूर्ति सब से ऊँची जगह पर स्थापित की जाएगी।[३] भारतीय जन जीवन में राष्ट्रीयता का संचार करने और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए उन्होंने युवकों के हृदयों में उदात्त भाव कूट कूट कर भर दिये। भारत हितैषी अंग्रेज पादरी रैवरैन्ड सी० एफ० इन्ड्रयूज़ स्वामी जी के गुणों का गान करते हुए लिखते हैं—" जिन गुणों के कारण मैं स्वामी दयानंदजी का सम्मान करता हूँ, उनमें सबसे ऊँचे स्थान में इस गुण को देखता हूँ कि वह सत्य के पुजारी थे। ···सत्य की खोज ही उनके जीवन की महत्ता का आधार थी। दूसरा गुण जिससे मैं स्वामी दयानंद को अधिक प्रेम करता हूँ, वह है उनकी निडरता। डर को वह जानते ही न थे। जितना भारी संकट होता था वह उतने प्रसन्न और शाँत होते थे। ···तीसरा गुण

१. महर्षि दयानंद संसार की नजरों में, सं० लाला उलफ़त राय, पृष्ठ १२

१. महर्षि दयानन्द संसार की नजरों में, सं० लाला उलफतराय, पृ० १२
२. स्वामी दयानंद सरस्वती आ० जगदीश विद्यार्थी, पृष्ठ २१९
३. महर्षि दयानंद संसार को नजरों में सं० लाला उलफत राय, पृष्ठ १५

जिससे भारत में ऋषि दयानंद का नाम घर-घर लिया जाता है वह है उनका सच्चा देशप्रेम । ... मैं जो विदेशी और अंग्रेज हूँ उनके देश प्रेम के लिए उनका सम्मान करता हूँ । मैं अपने देश इंगलैंड से हार्दिक प्रेम करता हूँ और यह जानकर प्रसन्न होता हूँ कि किस प्रकार स्वामी दयानंद अपने देश को प्यार करते हैं । उनका चौथा गुण है उनका महान सुधारक होना । उनके प्रयत्नों से जो सामाजिक सुधार हुआ, उसका अनुमान लगाना कठिन है । उनका जीवन न केवल आध्यात्मिक था बल्कि क्रियात्मक भी था । वह वर्षों तक एकान्त में रहे और वर्षों उन्होंने जन साधारण की भलाई करने में बिता दिये" ।[1]

महर्षि स्वामी दयानंद ने हिन्दुत्व की रक्षा के लिए जो महत्वपूर्ण कार्य किया उसका मूल्यांकन मद्रास के एक लाट पादरी के निम्नलिखित शब्दों में भली भाँति हो जाता है ।" —यदि दयानंद ४० वर्ष पहले पैदा हुआ होता तो हम इस समय में उत्तरी भारत के तिहाई भाग को अवश्य ईसाई बना चुके होते ।"[2]

शिमला के पादरी स्टोक्स ने उनके व्यक्तित्व का चित्रण इन शब्दों में किया है—"स्वामी दयानंद अद्भुत शक्ति-सम्पन्न एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व के स्वामी थे तथा महान आशय वाले महापुरुष थे । उनके विचार सब को आकर्षित करने वाले थे । किन्तु उनका साहस और संकल्प उन लोगों को अत्यधिक प्रभावित करता था जिनके जीवन स्वयंमेव पुरुषार्थ और जिज्ञासापूर्ण थे ।"[3] मिशन कालेज लाहौर के भूत-पूर्व प्रवक्ता प्रोफेसर ग्रेस्फोल्ड ए० ए० दयानंद सरस्वती की जर्मन सन्त-मार्टिन लूथर से तुलना करते हुए लिखते हैं—"दयानंद सरस्वती और मार्टन लूथर में कई समानताएँ हैं । जर्मन सन्यासी लूथर पाश्चात्य 'नवयुग' की उपज थे और गुजराती सन्यासी दयानन्द भारतीय 'नवयुग' की । दोनों ही अपने अपने ढंग से नूतन प्रवाह के प्रतिनिधि बने । लूथर ने क्षमा-पात्रों पर प्रहार किया, दयानंद ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध आवाज उठाई ।···लूथर का नारा था 'बाइबल की ओर मुड़ो' दयानंद का नाद था 'वेदों की ओर आओ' ।[4] जिन देशभक्तों के जीवन में स्वामी जी को प्रेरणाप्रद शिक्षाएं साकार हो उठीं थीं उनमें पंजाब केसरी लाला लाजपत राय का स्थान सर्वप्रमुख है । लाला जी ऋषि के प्रति कितनी श्रद्धा रखते थे इस का अनुमान इन शब्दों से लगाया जा सकता है—" मैं निस्संदेह कह सकता हूँ कि मुझे यदि मेरी सम्पूर्ण आयु के बदले स्वामी दयानंद के पुनीत चरणों में बैठकर उनसे एक बात करने के लिए कुछ क्षण मिल जाएँ तो मैं इसको मँहगा सौदा नहीं समझूंगा । स्वामी दया-ने मुझे मेरी आत्मा का दान दिया । मैं उनका मानस पुत्र होने के नाते उनका ऋणी हूँ ।···स्वामी दयानंद ने हिन्दुओं के लिए क्या किया, उनकी शिक्षाओं ने हिन्दु जीवन इतिहास के लिए क्या किया, उनकी शिक्षाओं का भारत के जन साधारण पर क्या प्रभाव पड़ा, यह ऐसे प्रश्न हैं जिनका ठीक उत्तर एक शताब्दी बाद मिल सकेगा ।···इस समय के लोग स्वामी दयानंद को शिक्षाओं की "स्पिरिट" को पूर्णतया समझने में असमर्थ हैं "[1]

१. महर्षि दयानन्द संसार की नजरों में, सं० लाला उलफतराय, पृष्ठ २३-२४
२. वही, पृष्ठ २६
३. वही, पृष्ठ ३०
४. वही, पृष्ठ ३४

गांधी जी और सरदार पटेल को भी उसी गुजरात ने जन्म दिया जिस की भूमि महर्षि दयानंद की जन्म-दात्री थी । दयानंद, गांधी और पटेल पर गुजरात और भारत जितना गर्व करें उतना कम है । भारत के आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में इन महानुभावों ने क्रान्तियों का सूत्रपात किया । युगनायक गांधीजी ने स्वामी दयानंदजी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा है—"स्वामी दयानंदजी एक बहुत बड़े विद्वान और सुधारक थे····देश प्रेम के लिए उन्होंने घर त्याग दिया ऐसे व्यक्तित्व का कोई भी व्यक्ति यदि अपमान करेगा तो मैं उसे पाप समझूंगा ।"[2]

एक अन्य स्थल पर उन्होंने आर्य समाज के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि—"आर्य समाज दयानंद की कीर्ति है । आर्य समाज के विरोधी भी स्वीकार करेंगें कि इसने भारत माता की बड़ी सेवा की हैं । आने वाली पीढ़ियाँ दयानंद का मूल्य आर्य समाज के काम से ही आंकेगी ।"[3] श्री वी०जे० पटेल ने स्वामी जी की राजनैतिक सूझ-बूझ की भूरि-भूरि सहारना इन शब्दों में की है—"मेरी दृष्टि में ऋषि दयानंद एक सच्चे राजनैतिक नेता थे क्योंकि उन्होंने पहले कहा था कि दूसरों का अच्छा शासन अपने बुरे शासन से भी बुरा होता है जो बातें हमें आज ज्ञात हो रहीं हैं, वे महर्षि ने बहुत पहले ही बता दी थी यदि हम उनके कहने पर चलते तो भारत कब का आज़ाद हो चुका होता ।"[4] भारतीय सामाजिक पुनरुत्थान में स्वामी दयानन्द के योगदान को सराहते हुए कांग्रेस अध्यक्ष, मद्रास उच्चन्यायालय के न्यायाधीश तथा कौंसिल आफ स्टेट के सदस्य सर शंकरन नायर ने उनके अगणित उपकारों का उल्लेख किया है और अपने कथन से उर्दू के प्रसिद्ध शायर प्रो० तिलोकचन्द 'महरूम' के इस शेर की पुष्टि की है :—

गिने जाएं मुमकिन है सहरा के जर्रे,
समंदर के कतरे, फलक के सितारे
दयानन्द स्वामी ! मगर तेरे एहसां
न गिनती में आएँ कभी हम से सारे ।

श्री शंकरन नायर के शब्दों से—"स्वामी दयानन्द ने भारत में एक महान क्रान्ति का सूत्रपात्र किया । ऋषि ने जो उपकार हिन्दू-जाति के प्रति किए हैं उन सब की गणना करना बहुत कठिन है किन्तु जो भलाई इन्होंने स्त्रियों और निम्न जातियों के साथ की है उसका उल्लेख किए बिना नहीं रह सकता···स्त्रियों के उद्धार के लिए बाबू केशवचन्द्र सेन थियोसोफिकल सोसाइटी और अन्य संगठनों ने कुछ काम किया है किन्तु जो सफलता ऋषि दयानन्द को प्राप्त हुई है वह आज तक किसी अन्य

१. महर्षि दयानंद संसार को नजरों में सं० लाला उलफ़त राय, पृष्ठ ४०-४१
२. वही, पृष्ठ ४२
३. वही, पृष्ठ ४३
४. वही, पृष्ठ ४३

सुधारक को प्राप्त नहीं हुई। में देखता हूँ कि जिस जगह आर्य समाज है वहाँ की स्त्रियों में जागृति आ गई है। मैं अपनी बहनों से अनुरोध करूँगा कि आर्य समाज के आलोक को अपनी अनपढ़ बहनों तक पहुँचा दें ताकि उनमें भी परिवर्तन आ जाए। आज हिन्दू-जाति आर्य समाज की ओर इस प्रकार आँखें लगाये हुए है जिस प्रकार एक कृषक घनघोर घटाओं की ओर आशा भरी दृष्टि से देखता करता है।"[१] भारत कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू के मतानुसार—"ऋषि दयानन्द उस दर्पण के समान हैं जिसमें लोग हर प्रकार के रंग देखते हैं। कोई उन्हें ऋषि तो कोई राजनीतिक नेता, कोई सच्चा मानव और धार्मिक नेता कहता है। निस्सन्देह वह इन गुणों के पुंज थे, किन्तु मैं ऋषि दयानंद को हर प्रकार की दासता अर्थात मानसिक, सामाजिक और राजनीतिक दासता से मुक्त कराने वाला मानती हूँ। ऋषि दयानन्द ने हमें आत्म-विश्वास सिखाया।"[२]

महर्षि अरविन्द घोष ने स्वामी दयानंद सरस्वती के प्रभावशाली अस्तित्व को भाव भरी श्रद्धांजलि इस प्रकार अर्पित की है।—"स्वामी दयानंद जी संस्कृत के महान विद्वान थे।··· वेद के विषयों की सारणि यदि किसी को ज्ञात हुई है तो वह दयानंद हैं। उन्होंने हमें वेद की कुंजी दे दी है जिसके द्वारा हम वेद में से उत्तम रत्न निकाल सकते हैं।···दयानन्द का दर्शन सच्चाई का दर्शन था। जहाँ सच्चाई देखी समझ लो कि इस पर दयानंद की छाप लगी है। जाति, देश धर्म की सेवा के लिए यदि कोई कार्य करना अभीष्ट हो तो वह निश्चित रूप से हो जाएगा क्योंकि इसके लिए दयानंद के अनुयायी मिल जाते हैं।"[३]

इलाहबाद के प्रसिद्ध पत्र 'लीडर' के प्रमुख सम्पादक तथा उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व शिक्षा मंत्री श्रीयुत सी०वाई० चिन्तामणि ने अपने एक व्यक्तव्य में स्वामीजी के कृतित्व का उल्लेख करते हुए कहा था कि—"स्वामी दयानंद द्वारा चलाया हुआ आर्य समाज रूपी आन्दोलन यदि न होता तो उत्तरी भारत के हिन्दुओं (नर-नारियों) की शिक्षा का राम ही राखा था।"[४] पूना के पत्र केसरी के सम्पादक तथा विधान सभा के अध्यक्ष श्री नरसिंह चिंतामणि केलकर के निम्नलिखित शब्द आर्यसमाज के समाज सुधार सम्बन्धी कार्य पर प्रकाश डालते हैं।—"मैं उन लोगों में से हूँ जो आर्य समाज को सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखते हैं। दक्षिण के बहुत से मेरे भाई मेरे विचारों के समर्थक हैं कि दयानंद के कारण ही हिन्दु जाति का अस्तित्व बना रहा। आर्य समाज सामाजिक कामों, विधवा विवाह अछूतोद्धार में सबसे आगे रहा है।···अछूतो-द्धार का जो कार्यक्रम गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने राष्ट्रव्यापी स्तर पर तैयार किया उसके लिए मार्ग प्रशस्त करने का श्रेय यदि किसी को है तो वह है राजा राममोहन राय और स्वामी दयानंद। यदि ये दोनों महानुभाव पहले यह सामाजिक कार्य प्रारम्भ न कर गए होते तो

१. महर्षि दयानंद संसार की नजरों में सं० लाला उलफत राय, पृष्ठ ४४
२. वही, पृष्ठ ४६
३. वही, पृष्ठ ४७
४. वही, पृष्ठ ५२

कांग्रेस को इस कार्य में सफलता मिलना कभी सम्भव न होता।"[१] भारत के स्वाधीनता सेनानी नेता जी सुभाष चन्द्र बोस सन् १९२९ में अमरावती में भाषण करते हुए कहा था कि "—आर्य समाज के सिद्धाँत अत्यंत उदार हैं। श्रीमान स्वामी दयानंद सरस्वती को मैं संसार के राजनीतिक नेताओं में सब से ऊँचा स्थान देता हूँ।"[२]

जिन महान प्राचीन ऋषियों का उल्लेख हम शास्त्रों में पढ़ते हैं, ऋषि दयानंद ने उसका प्रत्यक्ष स्वरूप हमारे सामने जीवन के माध्यम से प्रस्तुत किया। न जाने कितने कुपथगामी युवकों की जीवन रूपी कुधातु महर्षि दयानंद रूपी पारस के मृदुल स्पर्श से सुधातु में परिणत हो गई। वह कान्ति उनके व्यक्तित्वों में उत्पन्न हुई कि संसार की आँखें चका-चौंध हो उठीं। इस संदर्भ में स्वामी श्रद्धानंद, पंडित लेखराम, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक आदि कितने ही व्यक्तियों के नाम गिनाए जा सकते हैं। ऋषि की कृपा के फलस्वरूप कोई ईसाई बनने से बच गया तो कोई मुसलमान होने से। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के शब्दों में—"मैं अवश्य ईसाई हो गया होता यदि मैंने 'सत्यार्थ प्रकाश' और स्वामी दयानंद की जीवानी को अच्छी तरह न पढ़ा होता। अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के देश जो प्रलोभन हैं, वे नवयुवकों को पथभ्रष्ट करने वाले हैं किन्तु यद्यपि यहाँ मैं अकेला था तथापि ,मैंने इन सब प्रलोभनों का सामना किया। यह मेरा बल नहीं था यह केवल उस महात्मा के उपदेश का बल था।"[३]

भारत में विद्वान तो बहुत हुए हैं किन्तु स्वामी दयानंद जी से पूर्व ऐसा एक भी नही हुआ जिस का शरीर इतना सुगठित हो जितना कि ऋषि दयानंद का था। स्वामी दयानंद जहाँ अद्वितीय विद्वान थे, वहाँ वे एक अद्भुत बलवान भी थे। उन्होंने शरीर, बुद्धि तथा आत्मा तीनों के बल को संचित करके वास्तविक अर्थों में अपना सर्वांगीण विकास करते हुए अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया था और उनका यह व्यक्तित्व कितना प्रभावशाली था इसका प्रमाण झज्जर निवासी प्रसिद्ध सनातन धर्मी नेता पंडित दीनदयालजी व्याख्यान वाचस्पति के इन शब्दों से मिलता है कि "मैं जहाँ भी दयानंद का चित्र देखता हूँ तुरन्त उसके सम्मुख नतमस्तक हो जाता हूँ।"[४] कविराज भोलेनाथ शास्त्री व्याकरणाचार्य के शब्दों में—"यदि वह (ऋषि दयानंद) न आया होता, तो इस समय भारतवर्ष में हिन्दुओं के रहते हुए भी 'वेद' शब्द रहता इस में सन्देह है।"[५]

हम लोगों का स्वभाव बन गया है कि अपने यहाँ जो कुछ भी अच्छा हो रहा है, उस पर अनायास ही पश्चिम की छाप अनुभव करने लगते हैं। यदि स्वामी जी अंग्रेजी जानते होते तो हम यही समझ बैठते कि उन की रचनाओं की श्रेष्ठता का श्रेय अंग्रेजी को ही है। यह अच्छा ही हुआ

१. महर्षि दयानंद संसार की नजरों में सं० लाला उलफत राय, पृष्ठ ५५
२. वही, पृष्ठ ५६
३. वही, पृष्ठ ६४
४. वही, पृष्ठ ७६
५. वही, पृष्ठ

कि वे अंग्रेजी से पूर्णतया अपरिचित थे। अतः उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा भारत की मौलिक प्रतिभा को प्रमाणित किया है। संस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान पंडित गुरुदत्तजी एम० ए० ने ऋषि दयानंद की अमर कृति 'सत्यार्थ प्रकाश' की उपयोगिता एवं महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—"सत्यार्थ प्रकाश को मैंने अपने जीवन में १४ बार पढ़ा है। जब-जब मैंने पढ़ा तब-तब मेरी योग्यता तथा मेरे ज्ञान में वृद्धि हुई है। और हर बार मुझे नूतन ज्ञान की उपलब्धि हुई है।"[१]

ऋषि दयानंद जैसी महान विभूति के प्रति जिन लोगों ने जाने-अनजाने में अपमानपूर्ण व्यवहार किया हैं, उस पर ईंट-पत्थर बरसाए हैं अथवा उसके प्रति अपशब्दों का प्रयोग किया हैं उन्हें बाद में अपनी भूल पर पश्चाताप करना पड़ा है। स्वामी दयानंद वास्तव में ऐसे युगपुरुष थे जिन्होंने देश एवं जाति के प्रति बहुत बड़ा उपकार किया है।

देव समाज के प्रवर्तक श्री देव गुरु भगवान की सुपुत्री श्रीमति विकासदेवी ने महर्षि दयानंद के नारी-जाति के प्रति किए गए उपकार का उल्लेख इस प्रकार किया है।" मुझे खुशी है कि महर्षि दयानंद ने पुरुषों के साथ-साथ नारियों का भी उद्धार करने का पावनतम कार्य भी किया।…उनकी एक यह भी विशेष बात थी कि जब कभी स्त्रियाँ उनके पास आ कर उपदेश करने की प्रार्थना करतीं तो बाल-ब्रह्मचारी तुरन्त उत्तर देते—'तुम्हारे पति ही तुम्हारे गुरू हैं। उनकी सेवा करना तुम्हारा धर्म है। अपने पतियों के माध्यम से मेरा उपदेश ग्रहण किया करो'। धन्य है वे देश और जाति जिनमें ऐसे महर्षि का आदर भाव है।"[२] बलिदानी वीर पंडित लेखरामजी आर्य के शब्दों में स्वामीजी भारत वर्ष की आँखें खोल कर उनमें नेत्र-अंजन डाल गए हैं, जिससे भारतवर्ष "अब अज्ञान-निद्रा में नहीं सोएगा।"[३]

महर्षि के हिन्दी भाषा के प्रेम को राजस्थान के सर राजा नाहर सिंह के यह शब्द भली-भांति व्यक्त कर रहे हैं—"आज भारत के नेता हिन्दी को राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्रदान करने लगे हैं किन्तु मातृभाषा गुजराती होने पर भी अपनी सब रचनाएँ हिन्दी में लिख कर ऋषि दयानंद ने अपनी अद्भुत दूर-दर्शिता का प्रणाम दिया है उसका उदाहरण भारत के सुधारकों में शायद ही कहीं मिले।"[४]

स्वामी दयानंदजी कितने बड़े, प्रभावशाली और सफल वक्ता थे। आज हम लोग तो केवल अनुमान ही लगा सकते हैं किन्तु धर्मवीर स्वामी श्रद्धानंद जी जैसे महान व्यक्ति, जिन्होंने कि अपने कानों से उनके व्याख्यान सुने थे बल्कि कानों के रास्ते हृदय में भी उतार कर अपने जीवन की धारा ही बदल पाये थे, उनकी वक्तृत्व शक्ति का इन शब्दों में आभास देते हैं—"मैंने पंडित केशवचन्द्र सैन, बाबूलाल मोहन घोष, बाबू सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, श्रीमती ऐनीबेसेंट और अन्य अनेक प्रसिद्ध वक्ताओं के वक्तव्य सुने हैं और वे भी उनके चरमोत्कर्ष काल में, किन्तु मैं सच्चे हृदय से यह कह सकता हूँ कि जो प्रभाव मुझ पर बरेली में स्वामी जी के एक वक्तव्य का हुआ और जो क्षमता मुझे उनके सरल शब्दों में प्रतीत हुई वह अब तक तो दिखाई नहीं देती, भविष्य की ईश्वर जाने। …मुझे अपने नास्तिकपन पर बड़ा अभिमान था। मैंने दम्भ में भर कर उनसे ईश्वर के अस्तित्व के विषय में वाद, विवाद किया, फिर दूसरी बार, तीसरी बार भी। हर बार मेरी वाणी पाँच ही मिनट में बन्द हो गई। निदान मैंने उनसे कहा, 'आपने मेरी वाणी तो बन्द कर दी पर मुझे ईश्वर का विश्वास नहीं दिलाया'। तब महाराज पहले तो हँस पड़े फिर गम्भीर हो कर बोले—'देखो, तुमने प्रश्न किए मैंने उत्तर दिए। यह तो तर्क की बात थी। मैंने यह कब कहा था कि तुम्हारा ईश्वर पर विश्वास स्थापित करा दूँगा। ईश्वर पर विश्वास करना तो उस समय होगा जब ईश्वर स्वयं तुम्हारा विश्वास अपने ऊपर करायेंगे।"[१]

ऋषि दयानन्द के जीवन का प्रमुख कार्य धर्म-प्रचार था। और आर्य धर्म की प्रधानता के सूचक आत्म-ज्ञान के मूल-स्रोत वेदों में उनकी अपार भक्ति थी। ईश्वर पर उनका विश्वास था। परमात्मदेव की शरण में रहते हुए वह कठिन से कठिन विपत्ति से भी नहीं घबराते थे। आर्यों के स्वर्णिम अतीत पर भी उन्हें गर्व था। वह मानव मात्र के हितैषी थे। इसीलिए उन्होंने पक्षपात रहित होकर स्वदेशियों तथा विदेशियों की मिथ्या आडम्बरपूर्ण बातों का सुदृढ़ता से खण्डन किया। ब्रह्मचर्य के पालन को वह आवश्यक मानते थे और वर्णाश्रम मर्यादा को गुण कर्म के अनुसार मानना ठीक समझते थे। वे दलितों के उत्थान, शूद्रों के सुधार तथा नारियों के उद्धार के बड़े पक्षपाती थे। अतीतकालीन विदुषियों तथा वीरांगनाओं का स्मरण कर ऋषिवर श्रद्धा से भर उठते थे। शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने एक क्रान्ति लाने का प्रयत्न किया। आधुनिक युग का सर्वप्रथम एवं सर्वप्रमुख शिक्षा-शास्त्री यदि उनको कहा जाये, तो अतिशयोक्ति न होगी। उन्होंने सर्वप्रथम अनिवार्य शिक्षा का उद्घोष किया। इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है कि—"इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पाँचवें तथा आठवें वर्ष के उपरान्त कोई मनुष्य अपने लड़के व लड़कियों को घर में न रख सके। अवश्यमेव उन्हें पाठशाला में भेजे। यदि न भेजे तो दण्डित किया जाये।"[२]

सुजला, सुफला, शस्यश्यामला, रत्नगर्भा भारत भूमि की सन्तान को क्षुधा पीड़ित देखकर ऋषि दयानन्द प्रायः चिन्ताग्रस्त हो जाते थे। और पराधीनता को ही इस सारी आर्थिक विपत्ति का मूल कारण अनुभव करते थे। विदेशियों द्वारा किये जा रहे शोषण से उनका मन अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठता था देशवासियों की अकर्मण्यता को देख उन्होंने उनके लिए शिल्पकला की व्यवस्था कराने की योजना बनाई थी और इस सन्दर्भ में अपने पाश्चात्य शिष्य जर्मनी निवासी श्री जी० ए० बोस

---

१. मर्षि दयानंद संसार की नजरों में सं० लाला उलफत राय, पृष्ठ ८२
२. वही, पृ० ६१
३. वही, पृ० ६६
४. वही, पृ० ६६

---

१. महर्षि दयानन्द संसार की नजरों में, सं० लाला उलफतराय, पृ० ६८
२. श्रीमद्दयानन्द प्रकाश स्वामी सत्यानन्दजी, पृ० १३
काश हम स्वतन्त्रता के बाद विदेशियों की इस धारणा की कसौटी पर (जो ऋषि दयानन्द जैसे चरित्रवान त्यागी जन के कारण बनी थी) पूरे उतर सकते।

से पत्र-व्यवहार किया था। जिसके उत्तर में श्री बोस महोदय ने अपने २१ तथा ३० जून सन् १८८० के पत्रों में लिखा था—"जो जो विषय आपके विद्यार्थियों के प्रयोजन के लिए सबसे अधिक उपयोगी और आवश्यक प्रतीत होते हैं, वे सब हम उन्हें सिखा देंगे।...हम आपके विद्यार्थियों की विशेष शिक्षा पर ध्यान देंगे।...हम ऐसे प्रबन्ध करने के लिए सदा उद्यत रहेंगे। जो आपके देशवासियों के लिए और हमारे लिए सन्तोषजनक हों।...एक तो आपके देश में दैनिक वेतन सस्ता है। दूसरे आपके देश में सूक्ष्म काम को कुशलता से करने के लिए साधारणतः यूरोपियनों की अपेक्षा अधिक प्रवीण परिश्रमजीवी जन मिल जाते हैं। तीसरे, बहुत से यूरोपियनों की अपेक्षा आप लोगों का आचार अच्छा है। आप अपने ग्राहकों को सस्ती और निकम्मी वस्तुएँ देकर उनका रुपया नहीं बटोरेंगे। आप जीवन में वाणिज्य में और कला-कौशल में निर्दोष नियम पालन करेंगे। आप जब चाहें अपने विद्यार्थियों को हमारे पास भेज दें। जितना शीघ्र भेजें उतना ही उत्तम है।"[१]

स्वामी सत्यानन्दजी ऋषि के इस महत्वपूर्ण कार्य का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—"भारत की हित कामना के उपर्युक्त परमोपयोगी उद्योग को देखकर यह बात साहसपूर्वक कही जा सकती है कि स्वामी दयानन्द जी पहले महापुरुष थे जिन्होंने देश-दशा सुधारने के लिए इसकी नौका को भूख के भयंकर भंवर से निकालने के लिए और स्वदेश बन्धुओं का दारिद्रय धोने के लिए पूर्ण पुरुषार्थ किया। स्वामीजी जहाँ लोगों की आत्मिक भूख-प्यास को वेदोपदेश द्वारा दूर करते थे वहाँ उनकी शारीरिक क्षुत्पिपासा को उपशम करने के लिए शिल्प शिक्षा के सुदृढ़ सूत्रपात भी कर रहे थे।"[२]

महर्षि दयानन्द में ऐसे गुण थे कि जिनके कारण वे अपने समय के सब प्रबुद्ध जनों के सम्माननीय बने हुए थे। मुसलमानों के सर्वप्रमुख नीति निपुण नेता सर सय्यद अहमद खाँ अन्तरात्मा से स्वामीजी के

१. श्री मद्दयानन्द प्रकाश, स्वामी सत्यानन्द जी, पृ० १५
२. वही, पृ० १६

अनुगामी थे। इनकी विद्वत्ता की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा था कि —"वह (ऋषि दयानन्द) इतने अच्छे विद्वान आदमी थे कि प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के लिए सम्मान के पात्र थे।"[१] पादरी स्काट जैसे सज्जन उनको आदर देते थे। स्थान-स्थान पर उनको ईसाई गिरजाघरों में उपदेश देने के लिए आमन्त्रित किया जाता था। लाहौर में तो प्रतिष्ठित मुसलमानों ने ही उनके रहने के लिए अपने मकान देकर उनका आतिथ्य किया। केशवचन्द्र सेन, महात्मा देवेन्द्रनाथ ठाकुर, महामति गोविन्द रानाडे आदि गण्यमान्य सज्जन उनकी भक्तमाल के आभावान मोती थे। तीव्र आलोचक होते हुए भी इतनी विस्तृत प्रियता का महात्म्य दूसरे किसी व्यक्ति को कदाचित् प्राप्त हुआ होगा। उनके व्यक्तित्व में अतीतकालीन अनेक महापुरुषों के दर्शन एक साथ होते हैं। "उनका हिमालय की चोटियों में चक्कर लगाना, विन्ध्याचल की यात्रा करना, नर्मदा तट पर घूमना, स्थान-स्थान पर साधु-सन्तों के शुभ-दर्शन करना श्रीराम का स्मरण कराता है। कर्णसिंह की खड्ग को खण्ड-खण्ड कर आत्मा की अमरता में विश्वास प्रकट करने जैसी अनेक घटनाएँ श्रीकृष्ण को मानस नेत्रों के आगे मूर्तिमान बना देती हैं। प्यारी भगिनी और पूज्य चाचा की मृत्यु से वैराग्यवान होकर वन-वन फिरना, घोर तपस्या करना और मृत्यु पर विजय पाने का संकल्प ऋषि में बुद्धदेव के दर्शन कराता है। दीन-दुखियों के प्रति वे क्राइस्ट बन जाते हैं, धुरंधरवादियों के सम्मुख श्री शंकराचार्य का रूप दिखा देते हैं। एकेश्वरवाद और भ्रातृभाव की शिक्षा देते हुए दयानन्द श्रीमान मुहम्मदजी प्रतीत होते हैं। ईश्वर का यशोगान करते-करते दयानन्द गद्गद् कण्ठ और पुलकितगात हो जाते हैं तो सन्तवर रामदास, कबीर, नानक, दादू, चेतन और तुकाराम का समा बंध जाता है। वे सन्त शिरोमणि जान पड़ते हैं। आर्यत्व की रक्षा के समय वे प्रातः स्मरणीय प्रताप, श्री शिवाजी, तथा गुरु गोविन्दसिंह जी का रूप धारण कर लेते हैं।"[२]

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती, आचार्य जगदीश विद्यार्थी, पृ० २२४
२. श्री मद्दयानन्द प्रकाश, स्वामी सत्यानन्द जी, पृ० २२

नवभारत के निर्माण में महर्षि दयानन्द का सर्वोत्कृष्ट योगदान

• आचार्य धर्मदेव विद्यामार्तण्ड वेदभाष्यकार

की अत्यधिक शोचनीय दशा

१२ फरवरी सन् १८२४ ई० को जब बालक मूलजीवा मूलशंकर ो पीछे जाकर सुप्रख्यात महर्षि दयानन्द के नाम से सारे जगत में हुए) श्री कर्षणजी त्रिवेदी के घर में जन्म लिया देश की अवस्था क, सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, सब दृष्टियों से अत्यन्त शोच- थी। उस समय चारों ओर अज्ञान, अन्धकार छाया हुआ था। र पूजा के स्थान पर हजारों देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित हो ी। गुणकर्मानुसार चार वर्णों के स्थान पर हजारों जातियाँ और ातियाँ बन चुकी थीं और इस जात-पांत और अस्पृश्यता ने समाज ीर्णशीर्ण कर रखा था। दुधमुंहे बच्चों तक की शादी हो जाती जसके कारण न केवल लोगों की शक्ति का सर्वथा ह्रास हो रहा ल्कि बाल मृत्यु के कारण बाल-विधवाओं की संख्या बढ़ती जाती जिनका विवाह निषिद्ध माना जाता था। स्त्रियों को पैरों की जूती ामान तुच्छ माना जाता था और उनके लिए वेदादि शास्त्रों का यन निषिद्ध था। गंगा यमुनादि नदियों में स्नान और हरिद्वार, ा, द्वारकादि तीर्थों की यात्रा को पापनाशक माना जाता था। इस ास के कारण पाप करने में लोगों को संकोच न होता था। वेदों र्थ सहित अध्ययन लुप्तप्राय था और उनका स्थान अधिकतर णों और अतन्त्रों (वाममार्ग प्रतिपादक ग्रन्थों) ने जनता को मार्ग- ट कर दिया था। विदेशी अंग्रेज शासकों ने भारतीयों को पददलित रखा था। ईसाई और मुसलमान हिन्दुओं की निर्बलता से लाभ कर विशेषतया दलित वर्ग को निश्शंक होकर अपने में मिला रहे

र्श धार्मिक और सामाजिक सुधारक

ऐसी विषम परिस्थिति में जबकि कोई उनका साथ देनेवाला न था र्षि दयानन्द ने जो अद्भुत कार्य करके दिखाया। सोते हुए भारत- सियों को जगाया, अन्धकार में ठोकरें खाते और भटकते हुओं को मार्ग दिखाया, अज्ञान को दूर करके ज्ञान की ज्योति को जगाया का पूर्णतया वर्णन करना सम्भव नहीं। कवि सम्राट् नोबल पुर- स्कार विजेता श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने समाज सुधारक और आदर्श मार्गदर्शक गुरु के रूप में महर्षि को अपनी श्रद्धांजलि निम्न शब्दों में समर्पित की—

"I offer my homage of generation to Swami Dayananda, the great Pathmaker who through bewildering angles of creeds and practices, the dense undergrowth of the degenerate days of our counting, cleared a straight path that was meant to lead the Hindus to a simple and national life of devotion to God and service for man."

"My reverence to the great teacher Dayananad, whose vision found unity and truth in India's spiritual history, whose mind luminousiy comprehanded all departments of India's life; whose call to India is the call of awakening to truth and purity find investness of unreason and ignorance of the meaning of our past."

Commenenation Vol. P. 2-3)

अर्थात् मेरा प्रणाम हो उस महान् गुरु दयानन्द को जिसकी दृष्टि ने भारत के आध्यात्मिक इतिहास में सत्य और एकता को देखा, जिसके मन ने भारतीय जीवन के सब अंगों को प्रदीप्त कर दिया। जिस गुरु का उद्देश्य भारतवर्ष को अविद्या, आलस्य और प्राचीन ऐतिहासिक तत्त्व के अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता की जागृति में लाना था; उसे मेरा बारम्बार प्रणाम है।

मैं आधुनिक भारत के मार्गदर्शक उस दयानन्द को आदरपूर्वक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ कि जिसने देश की पतितावस्था में भी हिन्दुओं को प्रभु की भक्ति और मानवसमाज की सेवा के सीधे-सच्चे मार्ग का दिग्दर्शन कराया।

जिन्हें विश्वबन्धु महात्मा गांधी और चार्ल्स ऐन्ड्रूज जैसे सुप्रसिद्ध विदेशी सज्जन भी गुरुदेव के नाम से सदा स्मरण करते थे उन 'गुरुदेव' का महर्षि दयानन्द को गुरुदेव के नाम से स्मरण करते हुए भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करना अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है। धार्मिक सामाजिक सुधारक के रूप में महर्षि दयानन्द की विशेषता

यह थी कि उन्होंने वेदों को ईश्वरीय ज्ञान और निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानने के सर्वशास्त्र सम्मत सिद्धान्त का युक्तियुक्त समर्थन किया और वेदों का यथार्थ स्वरूप जगत् के विद्वानों के सम्मुख रखा। काशी-शास्त्रार्थ आदि पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन दिनों बड़े से बड़े स्वामी विशुद्धानन्द और बलशास्त्री जैसे विद्वान भी वेदों के यथार्थ तत्त्व को न समझते थे और मध्यकालीन श्री सायणाचार्य, उम्वट, महीधरादि भाष्यकारों ने अत्यन्त दूषित भाष्य करके उन्हें विचारशील विद्वानों की दृष्टि में गिरा दिया था। महर्षि दयानन्द ने अगाध पाण्डित्य और योग बल से वेदों की युक्तियुक्त सार्वभौम शिक्षाओं को जनता के सामने रखते हुए बताया कि मूर्तिपूजा, बाल्यविवाह, जातिभेद, अस्पृश्यता आदि समस्त प्रथाएँ वेद विरुद्ध, हानिकारक तथा त्याज्य है। तीर्थयात्रा, गंगा-यमुनादि नदियों में स्नान से पाप निवृत्ति को उन्होंने वेदोक्त कर्म नियम के विरुद्ध और पापवर्धक बताया। इस प्रकार उन्होंने सत्य सनातन वैदिक धर्म की उदारधारा धार्मिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। उन्होंने यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजयाभ्याथं शूद्रायचार्याय वारणामचस्वाया" (यजु० ३६.२) इत्यादि वेदमन्त्रों के आधार पर सप्रमाणसिद्ध किया कि वेदों के पढ़ने का सबको समान अधिकार है। अत्यन्त साहसी निर्भय समाज सुधारक के रूप में महर्षि दयानन्द ने जो कार्य करके भारतीय समाज को हिला दिया उसके विषय में जगद् विख्यात विचारक फ्रांसदेशीय महामनीषी श्री रौमांरौलां ने ठीक ही लिखा है कि—

"Dayanand transfered into the lanfind body of India, his our firnidable energy, his certainty, his lion's blood."

"Dayanand would not tolerate the abominable injustice of untouchables and no body has been a more cerdent champion on their outroged rights."

"Dayanand was no less generoues and no less bold in his cuesacle to improve the condition of women, a deplarable one in India. He was one of the most decent prophets of reconstruction and of national organisation, if feel that it was he who kept the visit."

(Life of Rama Krishna by Parna Rollond P. 164)

भावार्थ यह है कि स्वामी दयानन्द ने भारत के शक्तिशून्य शरीर में अपनी अजेयशक्ति, अविचल कर्मण्यता तथा सिंहतुल्य ये फूंक दिये। उन्होंने अस्पृश्यता के घोर अन्याय को सहन नहीं किया। उनसे अधिक अस्पृश्यों के अपहृत अधिकारों का उत्साही समर्थक दूसरा कोई नहीं हुआ।

भारत में स्त्रियों की शोचनीय दशा को सुधारने में दयानन्द सरस्वती ने बड़ी उदारता व साहस से काम लिया। वास्तव में राष्ट्रीय भावना और जन-जागृति के विचारकों के रूप में सबसे अधिक प्रबल शक्ति उन्हीं की थी। वे पुनर्निर्माण और राष्ट्र-संगठन के उत्साही अग्रणियों में से थे।

एक विदेशी जगद्विख्यात महामनीषी ने महर्षि दयानन्द को जो इस प्रकार की श्रद्धांजलि अर्पित की उससे भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि नवभारत के निर्माण में उनका कितना सर्वोत्कृष्ट योगदान था।

महर्षि दयानन्द और अन्य सुधारक

यह सत्य है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती के अतिरिक्त शताब्दी में अन्य भी कई सुधारक हुए जिन्होंने नवभारत के नि- योगदान किया। इनमें से ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजाराममो- आदि ब्रह्मसमाज के नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, नवविधान के श्री केशवचन्द्र सेन, प्रार्थना समाज के जस्टिस महादेव गोविन्द और पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि का नाम विश्व प्रसिद्ध है। इनमें से किसी को भी महर्षि दयानन्द जैसे विश्वतोमुख सुधा- तुलना में नहीं रखा जा सकता। हाँ, क्योंकि राजाराममोहनराय को से लोग वर्तमान भारत का पिता (father of modern Indi- नाम से पुकारते हैं और समाज सुधार का सबसे अधिक श्रेय उन्हें अतः उनके समाज सुधारादि विषयक कार्य, दृष्टिकोण तथा वैय- जीवन पर दृष्टिपात इस प्रसंग में अनुचित न होगा। श्री राज- मोहनराय ने सती प्रथा को विशेष आन्दोलन और प्रयत्न करके कराया, बाल्यविवाह, बाधित-वैधव्य, पर्दा-पद्धति, जातिभेद आ- विरुद्ध उन्होंने आन्दोलन किया और स्त्रियों की स्थिति को उन्नत का प्रयत्न किया अतः एक समाज सुधारक के रूप में उनकी करना उचित ही है, किन्तु उनके जीवन-चरित्र, लेख और का- दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका समाज सुधा- पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित था। उन्होंने संस्कृत शि- अत्यन्त कठोर शब्दों में विरोध का पत्र लॉड ऐमहर्स्ट के नाम जिसमें संस्कृत व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि का उपहास्य कर- उसका उपसंहार इन शब्दों में किया।

"The Sanskrit system of education woud be the calculated to keep this country in darkness, if such been the policy of the British legislator."

(A letter on English education P. 472)

अर्थात् संस्कृत शिक्षा पद्धति इस देश को अन्धकार में रख- सबसे उत्तम साधन बनेगी यदि ब्रिटिश शासकों की यही नीति है।

रोमां रोला नामक जगद्विख्यात मनीषी ने (जिसके स्वामी दया- सरस्वती विषयक विचारों की चर्चा की जा चुकी है) राजा राममो- राय के विषय में लिखा कि—

"He (Ram Mohan Ray) went so far as to wish people to adopt English as their universal languag- make India western social and then the achieve indepen- dence and enlighten the rest of Asia."

(Life of Rama Krishna by Rawa in Rolled P. 107)

अर्थात् राजा राममोहनराय यहाँ तक आगे बढ़े कि उन्होंने यह कि उनके देशवासी अंग्रेजी को सार्वभौम समाज के रूप में अपना- भारत सामाजिक दृष्टि से पाश्चात्यों जैसा बन जाए और तब स्वत- प्राप्त करके एशिया के अन्य भागों को वह शिक्षित करे।

हर्षि दयानन्द का बल वेदादिशास्त्रों की शिक्षा, प्राचीन भारतीय
। की शुद्ध रूप में रक्षा तथा स्वदेश भक्ति पर था जिसके अभाव
ह्मसमाज के नेताओं में प्रायः देखकर उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश में
—इन लोगों में स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण
े लिए हैं। खान-पान विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं।
देश की प्रशंसा व पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही उसके बदले
र निन्दा करते हैं। "इत्यादि (सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास)
ाममोहनराय के शिवनारायण द्विवेदी कृत हिन्दी जीवनचरित के
०० पर लिखा है कि 'राममोहनराय मांस-मदिरा को बुरा नहीं
े थे और वे स्वयं खाते-पीते थे। उनका सिद्धान्त था कि मांस के
परमात्मा के ज्ञान में कोई बाधा नहीं आती। (पृ० २००)
ओं के नाच देखने आदि का भी उनको शौक था और वे अपने घर
तिथियों के मनोरंजनार्थ इसका प्रबन्ध करवाते थे। यह उनके ग्रन्थों
ग्रह की भूमिका (Introduction p. xvii) में लिखा है वहाँ
ार्क (Fanny Park) की (Wandering of a Pilgrim Vol I
p. IV का उद्धरण दिया गया है—

"In various was of the house of Raja Ram Mohan
match girls were dancing and singing."

तु राजाराममोहन के घर के अनेक कमरों में वेश्याएँ नाच तथा गा
थीं।" ऐसे विचित्र चरित्र और विचारों वाले व्यक्ति को नवभारत
पिता कहना और उसे महर्षि दयानन्द जैसे त्यागी तपस्वी यती की
ा में रखना हमें सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है यद्यपि उनके कुछ
त सुधार के कार्यों की प्रशंसा की जा सकती है। राष्ट्र निर्माता
षि दयानन्द और राजाराममोहनराय जैसा महर्षि दयानन्द सरस्वती
वराज्य के महत्व की प्रतिपादन 'अब अभाग्योदय से और आर्यों के
स्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों पर राज्य करने की
कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड,
न्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ भी है सो
विदेशियों से पराक्रान्त हो रहा है।···कोई कितना ही करे, परन्तु
स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि होता है। अथवा मतमतान्तर
ाग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता-
ा के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी
सुखदायी नहीं है।" (सत्यार्थ प्रकाश अवम समुल्लास) इन महत्त्व-
शब्दों में किया वहाँ राजाराममोहन अंग्रेज़ों के राज्य को भारत के
ए लाभदायी समझते थे। अपने आत्मचरित (Auto Biogra-
ical Sketch) के पृ० १६ पर उन्होंने स्पष्ट लिखा कि—

"I became inclined in the favour of Europeans feel-
g persuaded that their rule, though a foreign Yoke,
ould lead more speedily and surely to the ameliration
the native inhabitants."

ात् मुझे यह विश्वास होने लगा कि यद्यपि अंग्रेज़ों का शासन एक
ी जुआ है; परन्तु उससे यहाँ के लोगों की दशा शीघ्र ही निश्चित
ें उद्धृत हो जाएगी। इसके ठीक विपरीत महर्षि दयानन्द के
विचार थे जो उन्होंने जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आए, गौ
आदि पशुओं के मारने वाले मद्यपापी राज्याधिकारी हुए हैं तब से
क्रमशः आर्यों के दुःख की वृद्धि होती जाती है।" इन शब्दों में प्रकट
किये। (सत्यार्थ प्रकाश दशम समुल्लास) आर्याभिविनय नामक प्रार्थना
प्रभाव में भी महर्षि दयानन्द ने अनेक स्थानों पर इस प्रकार की प्रार्थ-
नाएँ लिखी हैं कि 'अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों।"

'ऋजुनीती जो वहम' की व्याख्या में महर्षि ने लिखा—हम पर
सहाय करो जिससे सुकीर्ति युक्त कर हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े।"
(कपूर ट्रस्ट संस्करण पृ० ५३) शिक्षा के क्षेत्र में महर्षि दयानन्द ने
गुरुकुल शिक्षाप्रणाली को बालकों और कन्याओं के लिए खोलने का
प्रतिपादन सत्यार्थ प्रकाश में करके एक नई क्रान्ति लाई जिसको क्रिया-
त्मक रूप देने का श्रेय हमारे श्रद्धेय आचार्य पूज्यपाद स्वामी श्रद्धानन्दजी
महाराज को लाया। राजाराममोहनराय आदि पाश्चात्य शिक्षा पद्धति
के अनुयायी थे जबकि महर्षि दयानन्द के अनुयायी श्रद्धेय स्वा० श्रद्धानन्द
जी ने गुरुकुल शिक्षा-पद्धति में विज्ञानादि विषयों का समावेश करते हुए
उसे आदर्श राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का रूप दिया। श्री पं० ईश्वरचन्द्रजी
विद्यासागर का ध्यान विधवाओं की दयनीय दशा पर लगभग केन्द्रित
रहा और उन्होंने विधवा विवाह को वैध बनवा लिया पर अन्य समाज-
सुधार की बातों की ओर उनका ध्यान नहीं गया। श्री केशवचन्द्र सेन
का तो सारा झुकाव ईसाई मत की ओर रहा जिसका प्रभाव ब्रह्मसमाज
पर अच्छा नहीं पड़ा यद्यपि महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने पहले आचार्य के
रूप में उन्हें प्रोत्साहन देकर कुछ दुर्बलताकारी उनके दबाव में ही महर्षि
देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वयं वेदों के विद्वान् न होकर वेदों के ईश्वरीय ज्ञान
के सिद्धान्त के भी त्याग की घोषणा की तथा यज्ञोपवीतादि पवित्र
वैदिक चिह्नों का भी परित्याग किया किन्तु पीछे प्रतीत होता है उनको
पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने अपने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर इत्यादि पुत्रों
का यज्ञोपवीत संस्कार विधिवत् धूमधाम से कराया। इस प्रकार हम
देखते हैं कि महर्षि दयानन्द विश्वतोमुख सुधारक थे जबकि आर्यों का
सुधार एकांगीन था। आर्य भाषा (हिन्दी) को सारे राष्ट्र की भाषा
बनाने का आन्दोलन, गोहत्या विरोध आदि सभी आन्दोलन उनकी
विशाल दृष्टि के परिचायक हैं जिनके अनुसार आर्य समाज ने गत १००
वर्षों में नवभारत के निर्माण में पूर्ण योगदान किया। मात्र नेताजी
(श्री सुभाषचन्द्र बोस) ने महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के विषय में
ठीक ही लिखा था कि दयानन्द सरस्वती निःसन्देह उन अत्यधिक शक्ति-
शाली व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने वर्तमान भारत का निर्माण किया है
और जो उसके नैतिक पुरुस्कार और धार्मिक पुनरुद्धार के लिए उत्तर-
दायी है। उनका स्थापित किया हुआ आर्यसमाज हिन्दू भारत की
संस्थाओं के पुनर्निर्माण, सुधार और नवजीवन प्रदान के शक्तिशाली
तत्त्वों में से निश्चित रूप से एक है। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता
इत्यादि (अंग्रेजी में अनूदित) महर्षि दयानन्द के दिव्य सन्देश को पूर्ण-
तया क्रियानुक्रम देते हुए हमें देश-देशांतरों में उसका प्रसार करना
चाहिये।

वेदों में अद्भुत विज्ञान

• विद्याभास्कर सच्चिदानन्द शास्त्री, एम०ए०

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के नियमों में वेद को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक कहा है, और 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में लिखा है कि ईश्वर से लेकर तृणपर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उन सब का वर्णन वेद में है। श्री शंकराचार्यजी ने वेदान्त दर्शन का भाष्य करते हुए 'शास्त्रयोनित्वात्'—इस सूत्र के भाष्य में वेद को सब ज्ञान-विज्ञानों का स्रोत बतलाया है। इनके अतिरिक्त विदेशी विद्वानों ने भी कई स्थानों पर मुक्तकण्ठ से लिखा है कि अब तक जितना विज्ञान दृष्टिगोचर है वह सब वेदों में ही आया हुआ है। स्वामी दयानन्द ने इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

"वेद के विषय चार हैं। विज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इन सब में से विज्ञानकाण्ड मुख्य है क्योंकि उसमें परमेश्वर से लेकर तृण तक सब पदार्थों का साक्षात् बोध हो जाता है।"

वेदों के विषय में श्री योगी अरविन्द ने महर्षि दयानन्द से भी बढ़कर अपनी सम्मति दी है। वे लिखते हैं कि—

"वेदों में केवल धर्म ही नहीं, विज्ञान भी है। दयानन्द के इस विचार में चौंकने की कोई बात नहीं है। मेरा विचार तो यह है कि वेदों में विज्ञान की ऐसी बातें भी हैं जिनका पता आज के वैज्ञानिकों को नहीं चला है। इस दृष्टि से देखने पर तो यह दीखता है कि दयानन्द ने वेदों में निहित ज्ञान के विषय में अत्युक्ति नहीं, अपितु अल्पोक्ति से काम लिया है।"

वेदों में बहुत अद्भुत् विज्ञानों का वर्णन है। जो लोग प्राचीन भारत को असभ्य और जंगली समझते थे, वे वेदों में अद्भुत विज्ञानों को देखकर आश्चर्यान्वित हो जाते हैं।

आजकल व्यापार बहुत बढ़ा हुआ है व्यापार के नये-नये ढंग और साधन निकल आये हैं। समुद्र के मार्ग से भी व्यापार का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो चुका है। परन्तु अभी तक हवाई जहाज द्वारा आकाश के मार्ग से व्यापार का कार्य प्रचलित नहीं हुआ। वेदों को गडरियों का गीत कहने वाले यह बात आश्चर्य से सुनेंगे कि आकाश के मार्ग से व्यापार का वर्णन वेदों में बहुत उत्तम रूप में मिलता है। अथर्ववेद में मन्त्र है कि—

ये पन्थानो बहवो देवयाना, अन्तराधावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन, यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ।।

अर्थात् "आकाश और पृथ्वी के बीच में जो बहुत से मार्ग खूब चलते हैं, वे मुझे दूध और घृत से तृप्त करें, जिससे कि मैं वस्तुएँ खरीद कर धन कमाकर लाऊँ"। इस वर्णन में स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन विज्ञान से आकाश मार्ग से भी व्यापार हो सकता है और आकाश तथा पृथ्वी के मध्य के मार्ग खूब चलते रह सकते हैं।

आजकल इतना तो होता है कि व्यापारी लोग हवाई जहाज द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक चले जायें। परन्तु इस मन्त्र में दो बातें तो बहुत ही आश्चर्य में डालने वाली हैं। एक तो यह कि पृथ्वी और आकाश के मध्य मार्ग बने हुए हैं। हवाई जहाज के चालक दिग्द्योतक यन्त्र द्वारा ही आजकल मार्ग का ज्ञान करते हैं और उसी के आधार पर यात्रा करते हैं। दूसरी बात आश्चर्य में डालने वाली यह है कि उन मार्गों में घी और दूध का प्रबन्ध रहा करता था ताकि व्यापारी मार्ग में अपनी भूख को मिटा सकें और आसानी से यात्रा कर सकें।

इसी प्रकार के अनेक विज्ञान वेदों में भरे पड़े हैं जिनका ज्ञान वैज्ञानिकों को आज तक भी नहीं है।

सृष्टि-उत्पत्ति के पूर्व की दशा से लेकर सृष्टि के आविर्भाव तक की दशा का भावचित्र वेदों में है। तैंतीस देवताओं की गति-विधि की बात इनमें है, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण की बात इनमें है। पंच-महाभूत, पंचतन्मात्रा आदि का विवरण इनमें है। शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान, प्राणविज्ञान, आत्मविज्ञान आदि की बातें वेदों में हैं। वेदों में गणित विद्या, भूकम्प, जलप्लावन, विद्युत्कोप, वायुकोप, नीति विद्या, रसायन शिल्प, धनुर्विद्या, ज्योतिष आदि सब प्रकार की विद्याओं का वर्णन है। यही कहना कठिन है कि वेदों में मूलरूप से क्या नहीं है।

जिनको पहले वेदों में श्रद्धा नहीं थी और जो इन्हें कल्पित गीत बताया करते थे, वे पाश्चात्य विद्वान् भी अब यह मानने लगे हैं कि प्राचीन भारत खूब उन्नत अवस्था में था, और इसी ने यूरोप में अनेक प्रकार की विद्या, कला और अनेक वस्तुओं का प्रचार किया था। अब वे पाश्चात्य विद्वान् भी यह घोषणा करने लगे हैं कि पश्चिमी संसार

को जिन बातों पर अभिमान है वे वस्तुतः भारत से ही यहाँ आई थीं। वे यह भी लिखते हैं कि विविध प्रकार के फल-फूल, वृक्ष और पौधे जो इस समय यूरोप में उत्पन्न होते हैं, वे भारत ही से लाकर यहाँ लगाये गये हैं। इनके अतिरिक्त मलमल, रेशम, टीन, लोहे, सीसे तथा घोड़ों का प्रचार भी यूरोप में भारत ही के द्वारा हुआ था। केवल यही नहीं, किन्तु ज्योतिष, वैद्यक, गणित, चित्रकला और कानून भी भारतवासियों ने ही यूरोप वालों को सिखाये थे।

भारत में भी ये सब विद्याएँ तभी थीं जब यहाँ वेदों का खूब प्रचार था। अब तो समय के फेर से वेदों को समझने वाले ही भारत में नहीं रहे हैं। इन विद्याओं का प्रचार भी अब यहाँ कैसे रह सकता है। यद्यपि विदेशियों ने विज्ञान में इस समय उन्नति कर ली है तथापि यह बात तो वे स्वयं ही सिद्ध करते हैं कि यूरोप में विद्याएँ प्रारम्भ में भारत से ही आई थीं। यदि वेदों का प्रचार अब फिर हो जाये और परमेश्वर की कृपा से देश में पहला ही समय आ जाये तो वेदों के सब अद्भुत विज्ञान फिर से उन्नत हो सकेंगे। कुछ अद्भुत विज्ञानों का दिग्दर्शन यहाँ किया जाता है।

सूर्य की आकर्षण शक्ति और पृथ्वी का धारण

पौराणिक कथाओं में कहा गया है कि पृथ्वी एक बैल के सींगों पर खड़ी है। कथानक के रचयिता ने तो एक सारगर्भित कथा की रचना की, परन्तु हमारे विद्वान् बिना किसी प्रश्नोत्तर के वैसे ही मानते रहे। यहाँ तक कि यजुर्वेद के भाष्यकर्ताओं ने 'वृषभो दाधार पृथ्वीम्' इसका अर्थ 'बैल पृथ्वी को धारता है' इस प्रकार किया, परन्तु महर्षि यास्क के बतलाये 'वृषभ' शब्द के अर्थ को उन्होंने हृदयंगम नहीं किया। महर्षि यास्क ने लिखा है—वृषभः कस्मात्—वर्षयिता अपाम्' अर्थात् वृषभ शब्द का अर्थ है—पानी बरसाने वाला। क्या बैल पानी बरसाता है? पानी तो सूर्य द्वारा बरसाया जाता है। एक स्थान पर यजुर्वेद में मिलता है—'सहस्रशृंगो वृषभो उद्धीत'। अर्थात् हज़ारों सींगों वाला बैल निकला यहाँ शृंग शब्द का अर्थ 'सूर्य की किरणें हैं। महर्षि यास्क शृंग शब्द का अर्थ करते हुए लिखते हैं—'शृंगः कस्मात् शृणातेः'। अर्थात् शृंग वह है जो विश्लेषण करे। सूर्य की किरणें अपने ताप से समस्त पदार्थों को अलग-अलग करती हैं। अब 'सहस्रशृंगो वृषभो उद्धीत' का अर्थ यह हुआ कि 'सहस्रों किरणों वाला सूर्य चढ़ा'। वेद में आगे लिखा है कि "वृषभो दाधार पृथ्वीम्" अर्थात् 'सूर्य ने पृथ्वी को धारण किया है'। दाधार शब्द 'धृञ्' धातु से लिट् लकार में बना हुआ है, इसका अर्थ है धारण और पोषण। सूर्य भूमण्डल का धारण (अवलम्बन) करता है और अपनी उष्णता से प्राणिजगत् तथा वनस्पति जगत् का पोषण करता है।

इस प्रकार वेद ने हमें यह विज्ञान दिया कि हमारा भूमण्डल सूर्य के आश्रित है, और उसी के आकर्षण से स्थित है।

तीन अग्नियाँ

वेद विज्ञान के उच्चतम ग्रन्थ हैं। इनमें विज्ञान मूलरूप में संक्षिप्त एवं इंगित रूप में बतलाये गये हैं। वैदिक विज्ञान तीन अग्नियों पर अवलम्बित है। (१) पार्थिव अग्नि (FIRE), (२) अन्तरिक्षाग्नि (ELECTRICITY), (३) द्युलोक की अग्नि (SUN)। ऋग्वद में पार्थिव अग्नि के द्वारा विज्ञान को दर्शाया गया है। ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है :—

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

इस मन्त्र में पार्थिव अग्नि के कई विशेषण दिये गये हैं। पुरोहितम् =हमारे सामने विद्यमान। ऋत्विजम्=ऋतुओं को बनाने वाला। रत्नधातमम्=रत्न, हीरे आदि को पुष्ट करने वाला।

वास्तव में यह अग्नि प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। लता, वृक्ष, पौधे इसी के कारण बढ़ते और पुष्ट होते हैं। समस्त ऋतुएँ अग्नि-शक्ति की न्यूनाधिकता के कारण परिपुष्ट होती हैं। रत्नों का तेजोमय होना भी इसी पर अवलम्बित है। ये विज्ञान के सिद्धान्त हैं।

यजुर्वेद में अग्निस्तुति का एक मन्त्र है जिसमें इसी सिद्धान्त की सम्पुष्टि की गई है।

गर्भोऽस्योषधीनां, गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्नि गर्भोऽयाद्रसि॥ (यजु० १२-३७)

हे अग्नि! तुम औषधियों के गर्भ में हो, वनस्पतियों के गर्भ में हो, इत्यादि।

वनस्पति विज्ञान

विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि सूर्य भूमि के जल को ऊपर खींचता है। वृक्ष तथा लताओं में जो जल सींचा जाता है, सूर्य उसे अपनी ओर आकर्षित करता है। हमारी भौतिक अग्नि भी उसी जल के साथ ऊपर की ओर सरकती है। ज्यों-ज्यों अधिक रस खिचता जायेगा, त्यों-त्यों पेड़-पौधे बढ़ते जायेंगे।

वेद में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इस प्रकार दिया गया है कि—

"प्रमातुः प्रतरं गुह्यमिच्छम्, कुमारो न बीरुधःसर्पदुर्वी"। अर्थात् माता पृथ्वी की बहुत-सी लताओं में, और उन लताओं के उत्कृष्टतम गुह्यस्थान मूल में, इच्छा करता हुआ अग्नि बच्चे के समान सरकता है।

पेड़-पौधों के पत्ते हरे क्यों?

'पिशंगं द्रापि प्रतियुञ्जते कवि,'। (ऋ० ४।७३।२) अर्थात् लता तथा पेड़ों के पत्ते दोनों वर्णों (सूर्य का लाल और भूमि का रस कृष्णवर्ण) के मेल से हरे बनते हैं।

वृक्ष लम्बे और पुष्ट किस प्रकार होते हैं?

भूमि का रस जब (ऊर्ध्व प्रसरण) ऊपर की ओर खिंचता है तो वृक्ष बढ़ते हैं, जब तिर्यक् प्रसरण करता है तो पुष्ट होते हैं। यह एक वनस्पति-विज्ञान है। इसका प्रतिपादन 'प्रमानुः प्रतरम् गुह्यमिच्छन्' इस पूर्वोक्त मन्त्र के 'प्रतरम्' शब्द पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि

(शेष पृ० २०५ पर)

आर्य समाज के कुछ प्रमुख ज्ञान के केन्द्र

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी

• श्री वीरेन्द्र, मंत्री—आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब

श्री स्वामी दयानन्द जी की स्मृति में चूंकि सभा के एक पक्ष ने कालेज बनाने की योजना बना ली थी, दूसरे पक्ष ने नवम्बर १८९८ में सभा के आधीन गुरुकुल खोलने का प्रस्ताव स्वीकार करा लिया। इसका उत्तर-दायित्व श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी ने अपने ऊपर ले लिया और सन् १९०० में २६ दिसंबर को सभा से गुरुकुल के नियम भी स्वीकार करा लिए। विचार-विमर्श होता रहा कि गुरुकुल कहां स्थापित किया जावे। मुन्शी अमनसिंह जी ने १९०१ में हरिद्वार में गंगा के दूसरे किनारे पर अपनी सारी भूमि गुरुकुल खोलने के लिए दान कर दी। गुरुकुल के लिए लाला मुंशीराम जी ने दिन-रात एक करके धन संग्रह कर लिया।

१९०२ में गुजरांवाला का गुरुकुल हरिद्वार में गंगा के दूसरे पार अपने स्थान पर लाया गया और १९१२ में पहली बार स्नातकों का प्रथम वर्ग गुरुकुल ने जनता को अर्पित किया जिसमें लाला मुन्शीराम जी के दोनों सुपुत्र श्री हरिश्चन्द्रजी और श्री इन्द्र भी सम्मिलित थे। प्रति वर्ष गुरुकुल में इतने विद्यार्थी आने लगे कि उन्हें स्थानाभाव से न लिया जाता। जनता के आग्रह पर सभा ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर गुरुकुल खोले। श्री स्वामी दर्शनानन्दजी महाराज ने चूहा भक्तों (रावलपिण्डी) में गुरुकुल खोला जो उन्होंने बाद में पंडित मुक्तिराम जी के सुपुर्द कर दिया।

सभा ने १९०९ में मुलतान में, १९११ में कुरुक्षेत्र में, १९१२ में इन्द्रप्रस्थ में, १९१५ में भटिण्डा भैंसवाल तथा झज्जर में गुरुकुल स्थापित किए। जिला लुधियाना में भी रायकोट में श्री गंगागिरिजी की अधीनता में गुरुकुल की स्थापना की गई।

गुरुकुल कांगड़ी के लिए बड़े योग्य त्यागी तथा लगनशील व्यक्तियों की आवश्यकता थी। श्री पं० दामोदर सातवलेकर जी जैसे विद्वान महानुभावों ने गुरुकुल की सेवा की। श्री आचार्य रामदेव जी, एम० डी० विक्टर हाई स्कूल जालन्धर छावनी में प्रधानाध्यापक के रूप में कार्य कर रहे थे। उन्हें कोल्हापुर कालेज से प्रोफेसर पद के लिए निमंत्रण भी आ चुका था। परन्तु वे सभा की ७५ रु० मासिक की सेवा स्वीकार करके १९०६ में गुरुकुल कांगड़ी में पधारे।

१९१७ में जब लाला मुन्शीरामजी ने संन्यास ग्रहण किया और स्वामी श्रद्धानन्द बने, तो गुरुकुल के आचार्य श्री प्रो० रामदेवजी बनाए गए। गुरुकुल के लिए दूसरे विद्वान श्री पं० चमूपतिजी एम० ए, मिल गए। आप बाहावलपुर रियासत के रहने वाले थे। आप १९२४ में गुरुकुल कांगड़ी की सेवा में आ गए। आप बहुत योग्य व्यक्ति थे। आपकी लिखित पुस्तक रंगीला रसूल जिसे पं० राजपाल जी ने प्रकाशित किया था, सरकार ने जब्त करके महाशय राजपाल पर मुकद्दमा चला दिया था। मुकद्दमे से तो बरी हो गए थे परन्तु एक जनूनी मुसलमान ने उन्हें १९२९ में लाहौर में उनकी दुकान हस्पताल रोड पर कत्ल कर दिया था। पं० चमूपतिजी १९३४ में गुरुकुल के आचार्य बने और १९३७ में उनका देहान्त हो गया था। १९२१ में गुरुकुल को विश्वविद्यालय का रूप दिया गया। १९२३ में गुरुकुल में शिक्षा पटल बनाया गया। १९२४ में हरिद्वार के पास भयंकर बाढ़ आ गई जिससे गुरुकुल की सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई। १९२६ में देहली में श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज का कत्ल एक मुसलमान ने कर दिया। १९२७ में गुरुकुल की रजत-जयन्ती बनाई गई। १९३० में गुरुकुल को नए स्थान में स्थापित किया गया और उसके साथ ही एक फार्मेसी (गुरुकुल फार्मेसी) भी बनाई गई। डॉ० हरिप्रकाश इसका कार्य भली प्रकार संभाल रहे हैं।

कन्या गुरुकुल, देहरादून

कार्य के बढ़ जाने के कारण गुरुकुल कांगड़ी तथा प्रचार कार्य के लिए लगनशील योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता थी। इसके लिए दयानन्द सेवा-सदन की स्थापना १९२२ में की गई जिसमें निम्नलिखित व्यक्ति लिए गए :—

श्री आचार्य रामदेवजी, पं० चमूपतिजी, पं० सत्यव्रतजी, पं० बुद्धदेव-जी, पंडित ज्ञानचन्दजी, लाला मदनलालजी, इन्हें १०० रु० मासिक दक्षिणा, किराया मकान तथा बच्चों की पढ़ाई के साधन उपलब्ध किए गए। १९२३ में सभा ने एक कन्या गुरुकुल की देहरादून में स्थापना की। जिसमें आजकल भारतवर्ष के सभी प्रान्तों से आई कन्याएं शिक्षा ग्रहण कर रही हैं।

गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर (हरिद्वार)

• श्री विद्या भास्कर रमेशचन्द्र शास्त्री, एम० ए०

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर की स्थापना अक्षय तृतीया को बैसाख मास में १९६४ सम्वत् के अनुसार सन् १९०७ ईस्वी को वीतराग तपोपूत आर्य संन्यासी श्री पूज्यपाद १०८ स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज के कर कमलों से हुई। पं० गंगादत्तजी (स्वा० शुद्ध बोध तीर्थ) स्वा० दर्शनानन्दजी के सहयोगी बन कर आये औ रधीरे-धीरे प्रगति होने लगी और संस्कृत के विद्वान गुरुकुल महाविद्यालय में पधारने लगे जिनमें आचार्य श्री शुद्धबोध तीर्थ जी महाराज ने जीवन पर्यन्त गुरुकुल से कुछ न लेकर ब्रह्मचारियों को वेद विद्या का दान दिया, इनके साथ ही श्री पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ (श्री नरसिंह राव) भी हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश) गुरुकुल में ही आ गये और अपने अन्तिम समय तक इसके पालन पोषण में लगे रहे। आचार्य नरदेव शास्त्री आरम्भ से ही राष्ट्र सेवक एवं स्वराज्य आन्दोलन के सेनानी थे। अतः देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन में यह गुरुकुल देश की संस्थाओं में अग्रणी बना रहा। इसमें ब्रिटिश काल के पीड़ित नेता सदा आते रहे और आश्रय पाते रहे। इसके साथ ही राष्ट्र नायक के रूप में बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, विश्वबंधु, महात्मा गांधी, पं० जवाहर लाल नेहरू, डा० राजेन्द्र प्रसाद, पं० मोतीलाल नेहरू, महामना पं० मदन मोहन मालवीय, डा० सत्य मूर्ति, लाला लाजपतराय आदि अनेक नेता समय-समय पर पधारे और अपने विचारों से ब्रह्मचारियों में राष्ट्रभक्ति तथा भारतीय संस्कृति की प्रेरणा देते रहे।

भारत के स्वतंत्र होने पर प्रधानमंत्री के रूप में पं० जवाहरलाल नेहरू इस गुरुकुल की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर पधारे और नव-स्नातकों को दीक्षान्त के रूप में वैदिक सन्देश के साथ युगधर्म की प्रेरणा दे गये। डा० राजेन्द्रप्रसाद इस गुरुकुल में अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ में कुछ काल तक रहे और सबसे प्रथम हिन्दी लेखन कला का अभ्यास उन्होंने यहीं से प्रारम्भ किया। आपका हिन्दी का प्रथम लेख इसी गुरुकुल के मासिक पत्र भारतोदय में प्रकाशित हुआ। उस समय भारतोदय के सम्पादक पं० पद्म सिंह शर्मा सम्पादकाचार्य थे। पुनः जिस समय राष्ट्रपति के रूप में श्रद्धेय डा० राजेन्द्र प्रसाद सन् १९६१ में दीक्षांत भाषण के लिए पधारे उस समय उन्होंने अपने भाषण में इस बात की चर्चा की और कहा कि "मैं यहां का पुराना छात्र हूं और इस गुरुकुल पर मेरा उतना ही स्नेह है जितना यहां के स्नातकों का।"

इस समय संस्था में तीन विभाग कालेज स्तर पर चल रहे हैं, संस्कृत विभाग, आयुवद विभाग तथा स्नातकोत्तर महाविद्यालय (एम० ए० विभाग)।

संस्कृत विभाग :—इस विभाग में भारत के प्रायः सब ही प्रान्तों के छात्र हिन्दी और संस्कृत के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करते हैं। इसमें केरल, बंगाल, बिहार, हैदराबाद, गुजरात, मध्यप्रदेश, पंजाब, उत्तर प्रदेश एवं नेपाल तक के छात्र हैं। इन छात्रों के अध्यापनार्थ ३ व्याकरणाचार्य, २ साहित्याचार्य, ३ हिन्दी के एम० ए०, ३ विज्ञान प्रशिक्षक, २ गणित स्नातक, ३ सामान्य-ज्ञान, ३ चरित्र एवं संस्कृति तथा व्यायाम शिक्षक अध्यापक नियुक्त हैं।

आयुर्वेद विभाग :—इस विभाग में चार वर्ष का आयुर्वेद विज्ञान का अध्यापन आधुनिक शरीर विज्ञान के साथ कराया जाता है। इसमें अध्ययन करने वाले छात्रों की संख्या ३८० है और १२ सुयोग्य आयुर्वेद विशारद एवं दीक्षित व अनुभवी अध्यापक अध्यापन कराते हैं, शरीर ज्ञान के लिए शवच्छेदन तथा चीर फाड़ (सर्जरी) का भी ज्ञान छात्रों को दिया जाता है।

स्नातकोत्तर कालेज :—गुरुकुल महाविद्यालय की स्नातक उपाधि विद्याभास्कर आगरा तथा मेरठ विश्वविद्यालयों से बी०ए० के समकक्ष मान्य है। अतः मेरठ विश्वविद्यालय ने एम० ए० कक्षाओं की स्थायी मान्यता चालू वर्ष में प्रदान की है। संस्था के लगभग २५ ऐसे सुयोग्य स्नातक हैं जिनमें श्री पं० सूर्यकान्त जी, डा० हरिदत्त जी शास्त्री पंचदश तीर्थ आदि हैं।

कृषि विभाग :—विद्यालय की सैकड़ों एकड़ भूमि में कृषि की आधुनिक ढंग की व्यवस्था चौधरी सत्यपाल सिंह, (ग्राम सिंड काली जिला मुजफ्फर नगर) निस्वार्थ भाव से कर रहे हैं।

भविष्य में विकासशील योजना अनुसंधान पीठ :—वेद वेदांगसंस्कृत तथा आयुर्वेद विषयों के लिए एक अनुसन्धान पीठ की आवश्यकता यह संस्था अनुभव करती है।

आयुर्वेद कालेज :—इस विभाग के लिए पूर्ण सुविधायुक्त भवन की आवश्यकता है।

उपदेशक विभाग :—यह योजना भी शीघ्र ही कार्यान्वित होगी।

आर्ष गुरुकुल, एटा (उ० प्र०)

• श्री रामदत्त शर्मा, उपाचार्य

आज से २६ वर्ष पूर्व सम्वत् २००५ सन् १९४८ में आर्य जगत के प्रसिद्ध दार्शनिक एवं याजक पूज्य पाद श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जो दण्डी महाराज ने यज्ञों के विषय में प्रचलित भ्रमात्मक भावनाओं का प्रतिरोध एवं यज्ञ प्रक्रिया का पुनः प्रतिष्ठापन करने के लिये इस पुण्य-भूमि में एक चतुर्वेद ब्रह्मपरायण महायज्ञ का आयोजन किया था। जिसके ब्रह्मा पद को राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित महावैयाकरण पदवाक्य प्रमाणज्ञ तपोमूर्ति श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने सुशोभित किया था। इस यज्ञ में श्रद्धेय

स्वामीजी महाराज के भगीरथ प्रयास से आर्य जगत के प्राय: सभी मूर्द्धन्य विद्वान् विद्यमान थे। यज्ञ के अवसर पर गुरुकुल भूमि में तीन बृहद् यज्ञशालाओं तथा ६४ यज्ञकुण्डों का निर्माण किया गया था, सभी यज्ञकुण्डों में एक साथ यज्ञ होता था। गुरुकुल यज्ञस्थली महाराज अश्वपति एवं रघु के यज्ञों का नूतन दृश्य उपस्थित कर रही थी। इस यज्ञ तीर्थ में वैशाख शुक्ल २ सं० २००५ तदनुसार २६ अप्रैल १९४८ को आर्ष गुरुकुल की स्थापना कर दी।

उद्देश्य—

महर्षि दयानन्द द्वारा सत्यार्थ प्रकाश में निर्दिष्ट आर्ष पाठ विधि का अध्ययन-अध्यापन, महर्षि द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों का प्रचार, वर्णाश्रम व्यवस्थानुसार ब्रह्मचर्य पूर्वक अध्ययन द्वारा वेद के विद्वान् तैयार करना, प्राचीन संस्कृति एवं वैदिक धर्म का प्रचार करना।

आधारभूत मौलिक विशेषतायें

आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन के साथ-साथ विद्यार्थियों को सस्वर वेद पाठ, सामगान एवं सभी प्रकार के जटा, घन, शिखादि पाठों का सम्यक् ज्ञान कराया जाता है। इस गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के वेदपाठ की आर्य जगत का विद्वन्मण्डल, जन साधारण एवं भारत गणराज्य के राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने मुक्त कण्ठ से भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यहां वक्तृत्व कला एवं कर्मकाण्ड के विषय में अच्छी योग्यता कराई जाती है।

विद्यार्थियों के शारीरिक विकास के लिए व्यायाम के सम्पूर्ण साधन तथा खेलने के लिये विशाल क्रीड़ा क्षेत्र है। यज्ञ तीर्थ में ८४ खम्भों की वृहद् यज्ञशाला है जिसे अब वेद मन्दिर का रूप दिया जा रहा है अर्थात् संगमरमर पर सम्पूर्ण यजुर्वेद लिखा जा रहा है जो भारत में ही नहीं वरन् विश्व में अद्वितीय होगा। वेद मन्दिर का कार्य प्रारम्भ हो चुका है। गुरुकुल में श्रोत व स्मार्त यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले कई सौ काष्ठपात्र हैं। जो अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। महर्षि दयानन्द के करकमलों द्वारा शाहपुरा राज्य (राजस्थान) में स्थापित जो अग्नि मथुरा दीक्षा-शताब्दी में लाई गई थी वही अग्नि पूज्य स्वामी ब्रह्मानन्दजी दण्डी की प्रेरणा से गुरुकुल में लाकर स्थापित की गयी है जो १५ वर्ष से निरन्तर विद्यमान है।

गुरुकुल के मुख्य स्तम्भ

तपो पुंज त्याग मूर्ति श्रद्धेय श्री स्वामी ब्रह्मानन्दजी दण्डी इस गुरुकुल के संस्थापक हैं। जो कि अथक परिश्रम करते हुए गुरुकुल की उन्नति हेतु सम्पूर्ण सामर्थ्य से संलग्न हैं। श्री स्वामी जी के शिष्य एवं गुरुकुल के प्राण श्री सेठ मोहनलालजी वानप्रस्थी कलकत्ता निवासी इस गुरुकुल के संचालक थे, जो तेरह वर्ष पूर्व दिवंगत हो गये उनके निधन से गुरुकुल को महान् क्षति हुई। तदुपरान्त गुरुकुल के संचालक श्री नन्दलालजी मनचन्दा एवं देशराजजी बहल देहली, उपसंचालक महीपालजी वानप्रस्थी आगरा रहे। संरक्षक श्री पंडित मूलचन्दजी वैद्य, देहली एवं पंडित दया शंकर शर्मा बम्बई, हैं। विद्यावारिधि प्रकाण्ड विद्वान् श्रद्धेय पंडितराज ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु प्रारम्भ से गुरुकुल के कुलपति रहे। उनके निधन के पश्चात् अब महात्मा आनन्द स्वामीजी महाराज गुरुकुल के कुलपति हैं। श्री जिज्ञासुजी के शिष्य श्री पंडित ज्योति स्वरूपजी के आचार्यत्व एवं छत्र-छाया में यह गुरुकुल दिन प्रति दिन उन्नति के शिखर पर अग्रसर होता जा रहा है। श्री आचार्यजी के बनाये हुए सुयोग्य स्नातक एवं विद्यार्थी उनके सहयोगी बनकर गुरुकुल की सेवा कर रहे है। श्री आचार्यजी के सुपुत्र श्री वागीश कुमार शर्मा व्याकरणाचार्य एवं रामदत्त शर्मा द्विवेदी गुरुकुल के उपाचार्य हैं तथा श्री स्वामी वेदानन्दजी शास्त्री एवं ब्रह्मचारी विश्वदेवजी, सुरेशचन्द्रजी शास्त्री एवं स्नातक श्रेणी के छात्र अध्यापन आदि कार्य द्वारा गुरुकुल की सेवा कर रहे हैं। इस समय गुरुकुल के अधिष्ठाता इसी गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक श्री देवराज जी शास्त्री एवं श्री स्वामी शंकरानन्दजी दण्डी हैं। तथा संचालक—श्री ओमप्रकाशजी मेहरा, बम्बई एवं उपसंचालक—श्री किशोरीलालजी, देहली हैं तथा प्रधान श्री प्रताप भाई शूरजी वल्लभदास, बम्बई हैं।

यह संस्था आर्ष गुरुकुल ट्रस्ट एटा के नाम से रजिस्टर्ड है जो एटा तथा अन्य स्थानों के प्रतिष्ठित सुयोग्य सदस्यों के द्वारा निर्मित प्रबन्धक समिति के रूप में इस संस्था की व्यवस्था करता है इस प्रकार इस गुरुकुल की संपूर्ण चल-अचल सम्पत्ति सार्वजनिक है। इस गुरुकुल को दान दी हुई धनरशि पर आय कर (इनकम टेक्स) नहीं लगता है। ऐसी मान्यता ट्रस्ट ने राज्य सरकार से प्राप्त की हुई है। इसके अतिरिक्त श्री स्वामी नित्यानन्दजी, श्री पंडित सोमदेवजी अग्निहोत्री (भोजन व्यवस्था संरक्षण)। श्री विद्यानन्दजी वानप्रस्थी, श्री पंडित अर्जुनदेवजी (आय-व्यय लेखन) आदि कृषि गोशाला प्रवन्ध आदि कार्यों के द्वारा गुरुकुल को सहयोग दे रहे हैं।

गुरुकुल घरौंडा, करनाल

• पूज्य स्वामी रामेश्वरानन्दजी महाराज

यह संस्था १७ अप्रैल सन् १९३९ के आरम्भ में श्री धर्मवीर शास्त्री के सहयोग से मैंने स्थापित की थी। उस समय यद्यपि पंजाब में अंग्रेजों का राज्य था। किन्तु फिर भी यहां पर उर्दू भाषा एवं लिपि अनिवार्य थी। तीन-तीन मील के अन्दर कोई हिन्दी एवं संस्कृत विद्यालय स्थापित नहीं कर सकता था प्राइमरी परीक्षा उत्तीर्ण किए बिना हमारे विद्यालय में कोई बालक प्रविष्ट नहीं हो सकता था। यदि कोई विद्यार्थी प्रविष्ट होता तो उसके संरक्षकों पर अभियोग चलाकर आर्थिक दण्ड दिया जाता था। ऐसी अनेक घटनाएं हैं।यहां के हैडमास्टर और अन्य मास्टर इन्स्पेक्टर आदि बुलाकर हमको धमकियां दिया करते थे ऐसी विकट अवस्था में राजकीय सहयोग तो क्या होना था। किन्तु हमारे विद्यालय की शिक्षा-दीक्षा अत्युत्तम थी। और आर्यसमाज के सिद्धान्तानुसार अध्ययन—अध्यापन होता

था। मेरे यहां सदा अष्टाध्यायी महाभाष्य के अतिरिक्त वाराणसेय संस्कृत महाविद्यालय की प्रथमा मध्यमा शास्त्री की परीक्षा हुआ करती थी। इसके अतिरिक्त मैं अपने विद्यार्थियों को योगाभ्यास अर्थात् पाणिनीय अष्टाङ्ग योग के अतिरिक्त धौती, नेती वस्ती आदि का भी अभ्यास कराता रहा हूं। और अब भी कराया जाता है। इस विद्यालय से अब तक सहस्रों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करके सैनिक, वैद्य, अध्यापक, उपदेशक, भजनोपदेशक आदि बनकर देश के कोने-कोने में सेवा कर रहे हैं।

गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन (मथुरा)

• श्री नरदेवजी स्नातक

इस संस्था की स्थापना का श्रेय श्री स्वामी दर्शनानन्दजी महाराज को है। जिन्होंने विजयादशमी सन् १९०१ को सिकन्दराबाद, जिला बुलन्दशहर में सबसे पहले इस गुरुकुल की स्थापना की थी। उस समय इसका प्रबन्ध वहां के आर्य पुरुषों की स्थानीय समिति के हाथ में रखा गया था। १ दिसम्बर १९०५ को इसके समुचित विकास के लिए संयुक्त प्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा ने इस गुरुकुल का संचालन अपने हाथ में लिया और आज तक उसी के तत्त्वावधान में सुनियोजित हो गुरुकुल, वृन्दावन में कार्य कर रहा है।

गुरुकुल के विशाल कार्य, विस्तार, भावी योजनाओं आदि के व्यापक प्रसार के दृष्टिकोण से सिकन्दराबाद में इसके अनुरूप स्थान का अभाव प्रतीत होने लगा। अतः १७ सितम्बर १९०७ को आर्य प्रतिनिधि सभा ने इसका स्थानान्तरण फर्रुखाबाद में कर दिया, परन्तु समस्याओं का पूर्ण समाधान यहां भी न हो सका और यह स्थान भी अनुपयुक्त प्रतीत होने लगा। उचित स्थान की प्राप्ति के लिए प्रयासों के फलस्वरूप अच्छे फल की आशा होने लगी। वृन्दावन में यमुना नदी के किनारे शहर से दूर एकान्त स्थान में मुरसान के प्रसिद्ध देशभक्त, क्रान्तिकारी श्री राजा महेन्द्रप्रतापजी के सुन्दर सुरभित उद्यान की ओर सहसा समिति का ध्यान आकर्षित हुआ। गुरुकुलाश्रम के लिए जिस प्रकार के स्थान और परिस्थितयों की आवश्यकता थी उन सबका संग्रह इस स्थान पर था। आर्य नेता श्री कुंवर हुकम सिंहजी तथा पूज्य स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी के अथक सत्प्रयासों से महान क्रान्तिकारी, राजा महेन्द्रप्रतापजी ने वृन्दावन में स्थित अपना वह रम्य उद्यान, उसके आस पास की फैली हुई भूमि एवं वहीं पर निर्मित निज की कोठी सब कुछ बिना किसी शर्त के आर्य प्रतिनिधि सभा को दान कर दिया। धन्य हैं राजा महेन्द्रप्रताप। जिनकी उसीय अनुकम्पा से १६ दिसम्बर १९११ को फर्रुखाबाद से तत्कालीन मुख्य अधिष्ठाता श्री पं० भगवानदीनजी मिश्र के नेतृत्व में यहां आकर गुरुकुल खुले वातावरण में सांस लेने लगा। और अपने पूर्ण विकास की ओर अग्रसरित हो चला। इस उदारतापूर्ण कार्य के लिए गुरुकुल आर्य प्रतिनिधि सभा तथा आर्य समाज सदैव इनके ऋणी एवं कृतज्ञ रहेंगे। इस उद्यान तथा भूमि का उस समय आनुमानिक मूल्य १५ हजार रुपये था। इस प्रकार उपयुक्त स्थान की प्राप्ति हो जाने पर गुरुकुल का कार्य सुचारू रूप से चलने लगा।

संचालन-विधान

इस संस्था का संचालन उत्तर-प्रदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में हो रहा है। उत्तर-प्रदेश के ५४ जिलों में स्थापित लगभग १३० आर्य समाजों के विधिवत् निर्वाचित प्रतिनिधियों को मिलाकर इस सभा का संगठन बनता है। इसलिए इसका नाम आर्य प्रतिनिधि सभा रखा गया है। इसके पदाधिकारियों व अन्तरङ्ग (कार्यकारिणी) सभा का निर्वाचन प्रतिवर्ष होता है। सभा १८६८ के सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट के अनुसार एक रजिस्टर्ड संस्था है। उसका मुख्य कार्यालय इस समय लखनऊ में ५, मीराबाई मार्ग पर स्थित अपने निजी 'श्री नारायण स्वामी भवन' में है। सभा के मन्त्री गुरुकुल वृन्दावन के प्रथम मुख्याधिष्ठाता श्री नारायण-स्वामीजी महाराज के नाम पर इस भवन का नाम "श्री नारायण स्वामी भवन" रखा गया है।

आर्य प्रतिनिधि सभा के संचालन उसकी कार्यकारिणी रूप अन्तरङ्ग सभा करती है। सभा के प्रेस, पत्र, प्रचार, समाजों की व्यवस्था, शिक्षा आदि कई अनेक महत्त्वपूर्ण विभाग हैं। उन सबकी व्यवस्था अन्तरङ्ग सभा के द्वारा ही होती है।

शिक्षा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कार्य का निष्पादन करने के लिए अनेक संस्थाए इसके अन्तर्गत हैं। परन्तु जितना सीधा और साक्षात् सम्बन्ध इस गुरुकुल विश्वविद्यालय से है उतना अन्य किसी से नहीं।

गुरुकुल विश्वविद्यालय का कार्य सभा के अन्य विभागों की अपेक्षा बहुत विस्तीर्ण एवं महत्त्वपूर्ण है। सभा ने इसके कार्य को सुचारू रूप से संचालन के लिए "गुरुकुल विद्या सभा" की अलग स्थापना की है।

शिक्षा-व्यवस्था

गुरुकुल की स्थापना द्वारा आर्य समाज ने भारत में वर्तमान शिक्षण-क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण आदर्श उस समय उपस्थित किये थे वे सार्वभौम और शाश्वत आदर्श हैं इसलिए आज भी उनकी उपयोगिता वैसी ही बनी हुई है। उन्हीं मौलिक आदर्शों को लेकर हम गुरुकुल का संचालन कर रहे हैं। हम इस गुरुकुल पद्धति द्वारा ब्रह्मचारी के मानसिक विकास के साथ उसके चरित्र के निर्माण और उसकी शारीरिक और आत्मिक शक्तियों के विकास का समुचित अवसर देते हैं। अतएव हमारे गुरुकुल की शिक्षा धर्म प्रधान शिक्षा है। इसके बिना विद्यार्थी के जीवन में आस्तिकता तथा धार्मिकता का विकास नहीं हो सकता और न वह राष्ट्र के लिए कल्याणकारी हो सकती है। इसी उद्देश्य को लेकर हमने अपनी शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा हिन्दी को ही बनाया है, क्योंकि जो बालक अपनी मातृ भाषा द्वारा अन्य विषयों को सरलता से आत्मसात् कर सकता है वह अन्य भाषाओं द्वारा नहीं।

गुरुकुल का सम्पूर्ण शिक्षा-काल १४ वर्ष का है। ७ या ८ वर्ष का

बालक यहां की संपूर्ण शिक्षा समाप्त कर इक्कीस या बाईस वर्ष की आयु में स्नातक बनता है। प्रायः दस वर्ष में यहां की शिक्षा पूर्ण कर लेते है। शिक्षा के दो विभाग हैं—एक विद्यालय विभाग, दूसरा महाविद्यालय विभाग।

विद्यालय विभाग दशम् कक्षा तक रहता है और उसके आगे चार वर्ष का महाविद्यालय विभाग का पाठ्यक्रम रहता है। विद्यालय विभाग की अन्तिम परीक्षा अधिकारी परीक्षा कहलाती है। अधिकारी परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद चार वर्ष का महाविद्यालय विभाग का पाठ्यक्रम है। इसमें प्रथम दो वर्ष में पण्डित परीक्षा तथा अन्तिम दो वर्ष में शिरोमणि परीक्षा का पाठ्यक्रम पूर्ण होता है। शिरोमणि परीक्षा को उत्तीर्ण करने के बाद ब्रह्मचारी शिरोमणि बन जाता है। गुरुकुल वृन्दावन की ओर से निम्न लिखित परीक्षाओं का संचालन होता है—

परीक्षा का नाम—

प्रवेशिका परीक्षा	(कक्षा ५- ६)
प्रथमा ,,	(कक्षा ७- ८)
अधिकारी ,,	(कक्षा ९-१०)
पण्डित ,,	(कक्षा ११-१२)
शिरोमणि ,,	(कक्षा १३-१४)

केशव स्मारक आर्य विद्यालय

आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद की कार्यकारिणी ने ३० अक्तूबर १९३९ में इस बात का निश्चय किया; और तदनुसार २० जुलाई १९४० में स्व० श्री केशवरावजी की स्मृति में केशव स्मारक विद्यालय का आरम्भ हुआ। दक्षिण केसरी स्व० श्री विनायकरावजी विद्यालंकार, इसके संस्थापक-अध्यक्ष थे तथा २२ वर्ष पर्यंत वे इसके प्रेरणा स्रोत बने रहे।

इस समय केशव स्मारक शिक्षा समिति के तहत केशव स्मारक विद्यालय, केशव स्मारक प्राथमिक पाठशाला, केशव कन्या विद्यालय तथा विनायकराव विद्यालंकार प्रशिक्षण विद्यालय ऐसी कुल चार संस्थाएं कार्य रत हैं। लड़कों तथा लड़कियों के विद्यालयों में हिन्दी और तेलुगू भाषाएं शिक्षा का माध्यम हैं।

इस समय केशव स्मारक शिक्षा समिति के अध्यक्ष आंध्र प्रदेश के मुख्य न्यायाधीश श्री गोपालराव एकबोटे तथा मंत्री श्री एस० वेंकटस्वामी एडवोकेट हैं। केशव स्मारक विद्यालय, केशव स्मारक कन्या विद्यालय तथा विनायकराव विद्यालंकार प्रशिक्षण विद्यालय के प्रमुख हैं—क्रमेण सर्वश्री खंडेराव कुलकर्णी बी० ए०, डिप० एड०, मनोहर राव कुलकर्णी बी० ए०, बी० एड० तथा विद्याभूषण एम० ए०, बी० एड० हैं।

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस (अलीगढ़) उ० प्र०

• सुश्री अक्षयकुमारी शास्त्री

आर्य समाज के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी दर्शनानन्दजी की प्रेरणा से हाथरस निवासी पं० मुरलीधर जी ने २ लाख रुपये का दान देकर ६ अगस्त १९०९ को इस गुरुकुल की स्थापना की थी। परन्तु उपयुक्त कार्यकर्त्ता न मिलने के कारण कुछ ही वर्ष में गुरुकुल बन्द हो गया।

पुनरुद्धार—स्वर्गीय माता लक्ष्मीदेवीजी को जब यह पता लगा कि एक कन्या गुरुकुल इस प्रकार बन्द हुआ पड़ा है तब वे यहां आई और उन्होंने गुरुकुल को पुनर्जीवित किया। माता जी एक अनन्य ऋषिभक्त थीं और उनके हृदय में स्त्री शिक्षा प्रचार की धुन लगी हुई थी। उन्होंने अपना शेष जीवन इस पवित्र ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित रखने के लिए आहुत कर दिया। यह उन्हीं की लगन, त्याग, तपस्या का फल है कि यह गुरुकुल सफलता के साथ अपने उद्देश्यों को पूरा कर रहा है।

गुरुकुल के प्रारम्भिक जीवन में विशेष सहयोग देने वालों में आर्यसमाज के मूर्धन्य संन्यासी श्री महात्मानारायण स्वामीजी, हाथरस निवासी डा० कृष्ण प्रसाद जी, सासनी निवासी पं० मथुराप्रसादजी भार्गव, अलीगढ़ निवासी श्री ठा० झम्मनसिंहजी एडवोकेट, कुंवर सुरेन्द्रसिंहजी, हाथरस निवासी सेठ धन्नालालजी के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रबन्ध—गुरुकुल की स्वामिनी सभा (कन्या गुरुकुल परिषद्) सन् १८६० के सोसायटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट XXI के अधीन एक रजिस्टर्ड सभा है। इसके वर्तमान अधिकारी निम्नस्थ हैं:—

१. प्रधान—श्री ठाकुर फूलनसिंहजी, शिकोहाबाद।
२. मंत्री—श्री रमेशचन्द्र आर्य, बी० ए०, हाथरस।
२. कोषाध्यक्ष—श्री दुर्गेशप्रसाद भार्गव, सासनी।

स्थानीय अधिकारी—

१. कुलपति —प्रिं० महेन्द्रप्रताप शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०
२. मुख्याधिष्ठात्रा एवं आचार्य—श्रीमती अक्षयकुमारी शास्त्री।
३. विशेष अधिकारी—श्री बख्तावरसिंहजी।
४. प्रधानाध्यापिका—कु० कमलाकुमारी स्नातिका, एम० ए०, बी० एड०

अध्यापिकाओं, आश्रमाध्यापिकाओं तथा अन्य कर्मचारियों की संख्या ५० है।

उद्देश्य—गुरुकुल का उद्देश्य कन्याओं को प्राचीन भारतीय वैदिक वातावरण में रखकर भारतीय संस्कृति के अनुरूप में सीधा-सादा जीवन बिताते हुए संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, वेद, दर्शन, उपनिषद्, इतिहास, भूगोल,

गणित, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, गृहविज्ञान, संगीत तथा व्यायाम आदि की निःशुल्क शिक्षा देकर योग्य नागरिक बनाना है, जो आगे जाकर आदर्श जीवन बिताते हुए धर्म और समाज की सेवा में सहयोग दे सकें। धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा गुरुकुल की विशेषता है।

गुरुकुल की विशेषताएं

१. धार्मिक शिक्षा।	६. अनिवार्य आश्रम वास।
२. मातृभाषा द्वारा शिक्षा।	७. सबका एक सा रहन-सहन।
३. निःशुल्क शिक्षा।	८. सबसे एक सा बर्ताव।
४. स्त्रियोचित विषयों की शिक्षा।	९. गृह कार्यों में दक्षता।
५. बी० ए० स्तर तक की शिक्षा।	१०. सादा जीवन, उच्च विचार।

श्री मद्दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय हिसार (हरियाणा)

• श्री सत्यप्रकाश शास्त्री, प्राचार्य

आज से लगभग ९० वर्ष पूर्व दयानन्द कालेज प्रबन्धकर्त्री सभा लाहौर ने अंग्रेजी भाषा, संस्कृति, तथा ईसायत के प्रतिदिन बढ़ते प्रभाव के कारण देश के युवा वर्ग को वैदिक संस्कृति, सभ्यता एवं धर्म के प्रति उपेक्षा-भाव धारण करने की आशंका अनुभव करते हुए सन् १८८६ में वैदिक संस्कृति सभ्यता तथा संस्कृति के पुनरुद्धारार्थ एवं प्रचारार्थ निष्ठापूर्ण उत्साही प्रचारकों के निर्माणार्थ इस विद्यालय की स्थापना की थी।

१९५६ में स्व० डा० मेहरचन्द महाजन पूर्व प्रधान न्यायाधीश भारत सर्वोच्च न्यायालय एवं प्रधान दयानन्द कालेज प्रबन्धकर्त्री सभा, दिल्ली ने आर्यसमाज हिसार के अधिकारियों के आश्वासन पर उसी वर्ष हिसार में संचालित किया, इसके साथ उक्त प्रबन्धकर्त्री सभा ने १२००० रुपए भवन निर्माणार्थ और ५०० रु० प्रतिमाह सहायतार्थ देने का भार ग्रहण किया। १९६० में दयानन्द कालेज की सेवा से निवृत्त होने पर स्व० महाजनजी की प्रार्थना पर प्रि० ज्ञानचन्दजी ने इसके कार्यभार को संभाला, वास्तव में हिसार में इस विद्यालय के वे ही निर्माता हैं।

वातावरण—यह संस्था गुरुकुलीन पद्धति पर आधारित है, वातावरण शान्त, सुस्थिर, स्वास्थ्यवर्धक, नगर के कोलाहल से दूर एवं आध्यात्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत है, प्रतिदिन दोनों समय सन्ध्या-हवन के अतिरिक्त प्रत्येक दैनिक कार्य वेद-मन्त्रों से आरम्भ होता है, गुरु-शिष्यों का पुरातन काल के समान पिता-पुत्रवत् सम्बन्ध रहता हैं,प्रति सप्ताह वाग्वर्द्धिनि सभा के द्वारा भाषण कला का अभ्यास कराया जाता है, सभी कार्यों में उत्तम सिद्ध होने वाले छात्रों को पुरस्कृत कर प्रोत्साहित किया जाता है, विद्यालय बिजली, दूरभाष, फलश-लैट्रिन, मौलिक पुस्तकालय इत्यादि सभी आधुनिक साधनों से सम्पन्न है।

पाठ्यक्रम तथा छात्र—इस विद्यालय में चार वर्ष का पाठ्यक्रम है, जिसमें व्याकरण, साहित्य, दर्शन, उपनिषद्, वेद तथा महर्षि दयानन्द कृत विशेष रुपेण निहित है, विद्याप्रवेशिका, विद्यारत्न, विद्यानिधि और विद्यावाचस्पति ये चार उपाधियां हैं, अन्तिम विद्यावाचस्पति कक्षा पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ द्वारा अपनी संस्कृत 'विशारद' के समकक्ष स्वाकृत की गई है, पाठ्यक्रम इस विधि से रखा गया है कि जिससे छात्र भविष्य में वैदिक धर्म प्रचार के प्रति सचेत तथा निष्ठावान् रहें, इस समय विद्यालय में लगभग ४० छात्र प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं, जो पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, आसाम, महाराष्ट्र, आन्ध्र तथा बंगाल आदि सुदूर प्रान्तों के हैं।

प्राध्यापक—इस संस्था का यह प्रयास रहा है कि यथा शक्ति योग्य, लगनशील कर्मठ आचार्यों के द्वारा प्रशिक्षण दिया जावे जो स्वयं त्यागपूर्वक अपने अनुकरणीय जीवन से योग्य प्रचारक तैयार कर सकें, सम्प्रति निम्न प्राध्यापक हैं :—

१. श्री पं० सत्यप्रियजी शास्त्री, प्राचार्य। २. श्री पं० देवमित्रजी शास्त्री, प्राध्यापक ३. श्री पं० धर्मवीरजी शास्त्री, प्राध्यापक

कन्या महाविद्यालय, जालन्धर

• श्री रामचन्द्र जावेद

कन्या महाविद्यालय भारत की एक प्रमुख प्राचीन स्त्री-शिक्षा संस्था है जिसकी स्थापना १८८६ ई० में स्वर्गीय लाला देवराजजी के भरसक प्रयत्नों से हुई। आरम्भ में लगभग ८-१० वर्षों में अर्थात् १८८६ से १८९६ ई० तक इस संस्था की स्थापना के लिए कई बार प्रस्ताव पास हुए, कमेटियां बनाई गई परन्तु १८९१ तक कोई विशेष सफलता न मिली। १८९१ में आर्य कन्या पाठशाला के नाम से एक स्कूल खुला जिसमें १८९३ में ५५ छात्राएं थीं। १८९५ में कन्याओं के लिए साथ ही एक छात्रावास (कन्या आश्रम) खोल दिया गया जो कि इस दिशा में भारत में एक अपूर्व प्रयत्न था। १८९६ में इस पाठशाला का नाम कन्या महाविद्यालय हो गया और कन्या महाविद्यालय मुख्य-सभा के नाम से इसकी प्रबंध कर्तृ सभा को रजिस्ट्री हो गई।

शुरु-शुरु में इस संस्था के जीवन में कई विरोध और संघर्ष उत्पन्न हुए। स्त्री-शिक्षा के प्रति जनता की ओर से घोर विरोध था क्योंकि यह वह समय था जब कन्या के हाथ में अक्षर दीपिका देखकर उसकी सगाई टूटने की नौबत आ सकती थी। जब लड़कियों का सीधा होकर चलना उद्दण्डता समझा जाता था इत्यादि। फिर भी संस्था के संस्थापक लाला देवराजजी

बहुधा स्वयं संरक्षकों को समझा-बुझाकर कन्याओं को इकट्ठा करते। इस प्रकार अपने आरम्भिक जीवन के संघर्ष से इसमें बल आ गया और संस्था का दिनों-दिन अधिक विकास होता चला गया। सुशिक्षित वर्ग में कन्याओं को शिक्षा देने का भाव उत्पन्न हो रहा था। चूंकि उस समय भारत में कन्याओं की शिक्षा का सन्तोषजनक प्रबन्ध नहीं था। इसलिए दूर-दूर से कन्याएं विद्यालय में प्रविष्ट होने के लिए आने लगीं।

१६१० में दसवीं की ऊपर की श्रेणियां प्रचलित की गईं। १६१३ में इस संस्था का प्राइमरी से ऊपर की श्रेणियों का एक भाग नगर से वर्तमान स्थान पर लाया गया। इस संस्था की यह अपनी ही एक विशेषता रही कि इसने १८६६ से ही अपने लिए एक नई पाठ-विधि (सिलेबस) नियत की और अपनी ही परीक्षाएं तथा उपाधियां चालू कीं। अन्तिम उपाधि (डिग्री) स्नातिका कहलाती थी। बहुत वर्षों तक यह प्रणाली चलती रही परन्तु अन्त में समय-परिवर्तन से विवश होकर इसे बदलने की आवश्यकता अनुभव हुई।

आर्य संस्कृति—प्रेम के साथ राष्ट्रीयता एवं देश-प्रेम इस संस्था में आरम्भ काल से ओत-प्रोत रही। अंग्रेज़ी सरकार ने समय-समय पर आर्थिक सहायता के प्रलोभन से इसकी राष्ट्रीयता को मंद करना चाहा परन्तु इसके संचालकों ने विदेशी सरकारी धन के बदले अपनी राष्ट्रीय भावना को बेचने की अपेक्षा भिक्षा पात्र ही को अपनाए रखना श्रेष्ठ समझा। लाला देवराज तो संस्था के प्रसिद्ध भिखारी थे ही उनके अतिरिक्त इस संस्था की छात्राओं तथा इसमें काम करने वाली देवियों ने भी इस दिशा में बहुत काम किया। संस्था की स्नातिका तथा भूतपूर्व प्रिंसिपल कु० लज्जावती ने १६१६ में ५० हजार रुपया इसी ढंग से इकट्ठा किया।

कन्या महाविद्यालय ने पाठ्यक्रम और दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कालेज सैक्सन, आर्यसमाज के स्कूल और कालिज तथा गुरुकुल सैक्शन के गुरुकुलों के बीच का मार्ग अपनाया। अर्थात् इसमें दोनों पद्धतियों का समन्वय था। संस्था में संगीत जैसी ललित कला का शिक्षण भी शुरु से होता आया है और पंजाब में स्त्रियों में संगीत का प्रसार करने वाली भी यह पहली संस्था है।

पंजाब में गुरुनानक यूनीवर्सिटी के स्थापित हो जाने पर अब यह विद्यालय इस यूनीवर्सिटी से सम्बन्धित हैं। इस समय इसमें लगभग सभी श्रेणियों में १२०० से अधिक छात्राएं हैं जिनमें से ५०० छात्राएं आश्रम में रहती हैं। स्टाफ के लगभग ५० सदस्य हैं। हिमाचल के शिक्षा-विभाग की भूतपूर्व निर्देशिका कुमारी कृष्ण पसरीचा इस समय विद्यालय की प्रिंसिपल हैं।

प्रधान	सेठ सत्यपालजी मलिक, मैसर्ज अमीचन्द प्यारे लाल जालन्धर
उप-प्रधान	कु० लज्जावतीजी, श्री वीरेन्द्रजी, तथा श्री विशम्बर दासजी विज
महामंत्री	श्री जगन्नाथजी मित्तल
मंत्री	श्री रामचन्द्रजी जावेद
कोषाध्यक्ष	सेठ शिवचन्द्रजी

आर्ष गुरूकुल वाजेगांव (नांदेड)

श्री अनिल कुमार मिश्र

भारतीय संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार के पुनीत उद्देश्य को लेकर आर्ष गुरुकुल वाजेगांव की स्थापना हुई।

इस आर्ष गुरुकुल की स्थापना, और प्रगति में यह आर्षगुरुकुल नांदेड से ३ मीटर की दूरी पर एक समतल तथा रम्य भूमि पर उत्तर-दक्षिण राजमार्ग पर पवित्र गोदावरी के तट पर स्थित है।

इस आश्रम का स्वावलम्बी होना मुख्य ध्येय है। यहां केवल अनाथ बालक किसी प्रान्त के ४ वर्ष से १० वर्ष तक के प्रविष्ट किये जाते हैं, बिना भेदभाव के उनका लालन-पालन होता है। स्वामी दयानन्द महाराज के इच्छानुसार यहां सिर्फ अनाथ बालक ही रहते हैं। जो आगे चलकर देश और धर्म का ही कार्य करेंगे। पानी के सिचाई व्यवस्था भी है। प्रतिवर्ष वार्षिकोत्सव मनाया जाता है।

१. श्री शिवमुनिजी वानप्रस्थ, प्रधान (संस्थापक)
२. श्री शिवमुनीजी, अस्थाई (संचालक) स्थानरिक्त है।
३. पं० श्री नरेन्द्रजी सदस्य (प्रबन्ध कर्त्यृ सभा)
४. पदेनमंत्री (आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्य दक्षिण हैदराबाद)
५. श्री खुशालसिंह वर्मा ,,
६. श्री रामचन्द्रराव सोलंके ,,
७. श्री उग्रसेनराव एडवोकेट
८. श्री दयारामजी चाटोरिक
९. श्रीमती सौ० कमलसुभाष कंधारकर
१०. श्री अनिलकुमार मिश्रः (साहित्याचार्य एम. एस. सी.) आचार्य
११. श्री बापूराव जी सोनटक्के (अध्यापक तथा कार्यालय)
१२. श्री डॉ० सुभाष जी चन्द्र कन्धारकर (स्वास्थ्य)

गुरुकुल घटकेश्वर, हैदराबाद

• श्री भीष्मदेव 'शास्त्री' एम० ए०, साहित्यरत्न

१६३८ के सत्याग्रह-संग्राम के समाप्त होने के पश्चात् पुनः यदा-कदा आर्य विद्वानों के आगमन पर सरकार की ओर प्रतिबन्ध लगाये जाने आरम्भ हो गये। आर्य समाज के जागरूक प्रहरी श्री पं० बंशीलालजी 'व्यास' ने निजाम की चालबाजी को देखा और अपने मन में विचार किया कि स्टेट के भीतर ही एक गुरुकुल स्थापित करके क्यों न आर्य विद्वानों को

तैयार किया जाय, जिससे स्थानीय विद्वान् ऋषि के मिशन को सुचारु रूप से पूरा करते रहेंगे। दक्षिण-गंगा गोदावरी के तट पर श्री व्यासजी ने गुरुकुल स्थापना का दृढ़ संकल्प कर ही लिया। धुन के धनी श्री व्यासजी शुभ कार्य में जुट पड़े। 'कोऽति भार समार्थानाम्' के अनुसार भारतीय संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार के पुनीत उद्देश्य को लेकर संवत् १९९५ विक्रमी, तदनुसार सन् १९३८ ई० में युगादि के दिन हैदराबाद के निकट अनन्तगिरि के एक मन्दिर में वर्तमान गुरुकुल घटकेश्वर की स्थापना की। इस पुनीत कार्य का उद्घाटन वेदों के विद्वान् श्री पं० अनन्त गणेश धारेश्वरजी के कर कमलों द्वारा किया गया था। इस प्रकार स्वप्न दृष्टा का स्वप्न साकार हुआ।

इस गुरुकुल की स्थापना और प्रगति में श्री बंशीलालजी व्यास ने अपनी सर्वस्व सम्पत्ति अर्पित कर दी। श्वसुर श्री बद्रीनाथजी पंडित द्वारा प्रदत्त ६०० एकड़ भूमि भी संस्था के नाम कर दी। अनन्तगिरि की जल-वायु की प्रतिकूलता के कारण अपने शैशवावस्था के चार वर्ष वहां व्यतीत करने के पश्चात् यह गुरुकुल सन् १९४१ ई० में हैदराबाद की पूर्व दिशा में १४ मील के अन्तर पर घटकेश्वर ग्राम के पार्श्व में स्थित एक समतल एवं रम्य भूमि पर श्री रामगोपालजी राठी द्वारा दिये गये उद्यान में प्रतिष्ठित हो गया।

गुरुकुल घटकेश्वर में सम्प्रति ७०० विद्यार्थी विद्याध्ययन करते हैं। हिन्दी माध्यम से हाईस्कूल तक तथा तेलुगु माध्यम से उप महाविद्यालय (जूनियर कालेज) तक की पढ़ाई की सुव्यवस्था है। जूनियर कालेज की स्थापना सन् १९७२ में की गयी।

खेल, चिकित्सा, भोजन आदि की व्यवस्था

यहां देशी-विदेशी सभी प्रकार के खेलों का प्रबन्ध योग्य अध्यापकों की देख-रेख में किया गया है। क्रीड़ांगन प्रत्येक खेल के लिए पृथक्-पृथक् है। ब्रह्मचारियों को योगासन भी सिखाये जाते हैं। इस कार्य के लिए आसनाचार्य श्री पं० विद्याभिक्षुजी वानप्रस्थी नियुक्त हैं। ७५ वर्षीय वानप्रस्थीजी आश्रम में सोत्साह अहर्निश कार्य करते हैं।

आश्रमस्थ छात्रों के भोजन एवं निवास का उत्तम प्रबन्ध है। आश्रम निवासियों की सुविधा को ध्यान में रखकर सरकारी आयुर्वेद औषधालय भी गुरुकुल के एक भवन में ही प्रतिष्ठित किया गया है।

गुरुकुल के वर्तमान अधिकारी

सर्वश्री कुलमाता—जानकीदेवीजी व्यास, प्रधान—श्री बी० किशन-लालजी अग्रवाल, मुख्याधिष्ठाता—श्री पं० नरेन्दजी, व्यस्थापक—पं० कालिकाप्रसादजी पांडेय, विद्यालय विभागाध्यक्ष—श्री पं० ब्रह्मस्वरूपजी अग्रवाल एम० ए०, बी० एड० एल० एल० बी०, कार्यालयाध्यक्ष—श्री पं० लक्ष्मणजी झा व्याकरणाचार्य, आश्रमाध्यक्ष—आसनाचार्य श्री पं० विद्याभिक्षुजी वानप्रस्थी हैं।

आर्यविरक्त (वानप्रस्थ तथा सन्यास) आश्रम ज्वालापुर (हरिद्वार)

• श्री पं० शिवदयालु

इस आश्रम की संस्थापना १२ मई १९२६ ई० को भागीरथी के तट पर पञ्चपुरी हरिद्वार के अन्तर्गत ज्वालापुर में आर्य जगत् के लब्धप्रतिष्ठ मूर्धन्य कर्मठ नेता महात्मा नारायणस्वामीजी के द्वारा की गयी।

आश्रम का उद्देश्य, आर्य नर-नारियों को गृहस्थ के उत्तरदायित्वों से मुक्त होकर एकान्त स्थल में स्वाध्याय, आत्म-चिन्तन एवं आध्यात्मिक उन्नति की दिशा में प्रगति करने की विशेष सुविधा प्रदान करना तथा आर्य संन्यासी विद्वान् महानुभावों के आवास की समुचित व्यवस्था करना है।

आश्रम के पास सम्प्रति ४५ बीघा भूमि है, जो तीन कक्षों में विभक्त है। ज्वालापुर रेलवे स्टेशन से गंगनहर तक इसका विस्तार है। हरिद्वार तथा कनखल की सड़कें इसे तीन पृथक्-पृथक् भागों में विभक्त करती हैं।

आश्रम में ३०० से ऊपर पक्की कुटिया हैं। पानी बिजली आदि की सब कुटियों में सुन्दर व्यवस्था है। कुटियाँ प्रायः सभी आश्रम के स्थायी निवासियों ने बनवाई हैं। किन्तु इन सबका स्वामी आश्रम ही है।

आश्रम में एक भव्य विशाल सत्संग भवन व यज्ञशाला हैं, जिसमें ५०० व्यक्ति सुगमता से बैठकर यज्ञ-सत्संग आदि करते हैं।

आश्रम में हिन्दी, संस्कृत तथा धर्म शिक्षा का पठन-पाठन भी नियमित रूप से कक्षाबद्ध चलता है। वर्ष में अनेक वेदपरायण यज्ञ तथा गायत्री शतकादि होते रहते हैं। आर्य जनता अपने बालकों का यज्ञपवीत, नाम-करण तथा मुण्डन संस्कार भी यहाँ कराती हैं।

आश्रम का अपना प्रकाशन विभाग है, जिससे उपयोगी पुस्तकें प्रायः प्रकाशित होती रहती हैं। आश्रम के पुस्तकादि के बिक्री विभाग में आर्य साहित्य विशेषतया वेद, उपनिषद् आदि रखे जाते हैं। यह आश्रम आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश की संरक्षता में कार्य करती है। सभा ही इसकी चल-अचल सम्पत्ति की स्वामिनी है।

महात्मा हरप्रकाशजी, जिनकी आयु सम्प्रति ९० वर्ष के लगभग है, आश्रम के भीष्मपितामह स्वरूप संरक्षक हैं।

सम्प्रति आश्रम के प्रधान कविराज हरनामदासजी बी० ए० हैं तथा मन्त्री श्री जगदीश मुनिजी हैं।

हिन्दी महाविद्यालय, हैदराबाद

• श्री कृष्णदत्त

श्री विनायकरावजी विद्यालंकार हैदराबाद से संसत्सदस्य निर्वाचित हुए। उन्होंने हिन्दी महाविद्यालय की योजना डॉ० के० एल० श्रीमाली के सामने रखी। उन्हें योजना पसन्द आई। किन्तु बात आगे नहीं बढ़ी। उन्होंने इस योजना का बीजारोपण हैदराबाद में श्री खाण्डेराव और मेरे मस्तिष्क में भी करा दिया था। हम दोनों ने चुपचाप हिन्दी माध्यम के भावी कालेज के लिए धन-संग्रह आरम्भ किया। एक वर्ष में ८-१० हज़ार रुपये इकट्ठे हो गये। धन संग्रह का प्रारम्भ २५-२५ रुपयों के दो दान से किया गया था।

१९६० में स्व० विनायकरावजी को धन संग्रह की बात ज्ञात हुई तो वे बहुत प्रसन्न हुए। विधान बनाया और सबसे पहले वर्तमान अध्यक्ष श्री पन्नालाल पित्ती को संस्थापक सदस्य, तथा अध्यक्ष बनने के लिए राज़ी कर लिया।

जून १९६१ का आगमन हुआ। पी० यू० सी० की पढ़ाई प्रारम्भ हुई। बिना किसी समारोह के दक्षिण भारत के इस सर्वप्रथम और एकमात्र हिन्दी माध्यम के कालेज की शुरुआत हो गई। डॉ० श्रीमाली, तत्कालीन शिक्षा-मन्त्री से उद्घाटन समारोह सम्पन्न करवाना था। तिथि का निश्चय हुआ, किन्तु विश्वविद्यालय से मान्यता अभी नहीं मिली थी। निश्चित हुए कार्यक्रम को रोकना पड़ा। दौड़ धूप शुरू हुई। विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने कुछ बातों का स्पष्टीकरण मांगा था। काफ़ी परेशानियों के बाद विश्वविद्यालय ने मान्यता दी और अपने से सम्बद्ध कर लिया। अड़चनें काफ़ी आईं। पर उन्हें याद न करके यदि सुविधाओं का स्मरण किया जाए तो बात अधिक सुखद होगी। अड़चनों को तो आना ही था। उसी से उत्साह बढ़ता है और कार्यकर्त्ताओं में कर्मठता भी आती है। आन्तरिक और बाह्य अड़चनें आईं। जैसे आईं उसी प्रकार से दूर भी हो गईं। अन्ततः औपचारिक उद्घाटन के लिए १३ नवम्बर १९६१ का दिन निश्चित हुआ। यहसमारोह सफलता के साथ सम्पन्न हुआ।

सुदूर दक्षिण के अहिन्दी भाषी प्रदेश में और तथाकथित हिन्दी विरोधी वातावरण के बीच हिन्दी माध्यम का आर्ट्स, साइन्स और कॉमर्स कालेज का संचालन वस्तुतः व्यवस्थापकों का साहस ही है। यह एक प्रयोग है, जो विगत १२ वर्षों से चल रहा है। हमारी सम्मति में सफलता पूर्वक चल रहा है। आन्ध्र पितामह स्व० श्री एम० हणमंतरावजी ने जो आन्ध्र में तेलुगु माध्यम के सर्व प्रथम कालेज के मूल प्रेरक और संस्थापक थे, १९६२ में लिखे हुए एक पत्र में लिखा था, "यह लिखते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है कि भारतीय भाषा में चलने वाले आपके कालेज ने अन्य संस्थाओं को भारती भाषाओं में पी० यू० सी० के संचालन में सहायता दी है।" इस तथ्य का उल्लेख अनुचित नहीं होगा कि हैदराबाद में उर्दू और तेलुगु के कालेजों की स्थापना हिन्दी महावद्यिालय की स्थापना के एक वर्ष बाद १९६२ में हुई है।

आर्थिक संकट से प्रभावित होकर ही, संस्था के संचालकों ने हिन्दी माध्यम के बी० एड्० कालेज की स्थापना के विचार को स्थगित किया है।

भारतीय दर्शन : समन्वय

[महर्षि दयानन्द का दृष्टिकोण]

आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री

भारतीय दर्शन साधारण रूप से दो भागों में विभक्त हैं—आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन। आस्तिक दर्शनों में इन छह दर्शनों की गणना की जाती है—सांख्य, वैशेषिक, योग, न्याय, वेदान्त, मीमांसा। नास्तिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन, बौद्ध दर्शन तथा जैन दर्शन माने जाते हैं। आस्तिक-नास्तिक दर्शनों का भेद वेदों की मान्यता एवं अमान्यता पर आधारित है। फलतः सभी आस्तिक दर्शन वेदों को न केवल प्रमाण, अपितु 'स्वतःप्रमाण' स्वीकार करते हैं; जबकि नास्तिक दर्शनों को वेदों का किसी प्रकार का प्रामाण्य तक भी स्वीकार नहीं। इसलिए आस्तिक-नास्तिक दर्शनों के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों में अनेकत्र भेद का होना स्वाभाविक है; परन्तु जब आस्तिक दर्शनों में भी परस्पर भेदमूलक मान्यताएँ सम्मुख आती हैं, तो यह बड़ा असमंजस-सा प्रतीत होता है।

महर्षि दयानन्द को अपने काल में सर्वसाधारण समाज की तथा समाज में मूर्द्धन्य समझे जाने वाले विशिष्ट अंगों की भी गिरती हुई दशा को सुधार की ओर परिवर्तित करने के लिए सभी तरह के व्यक्तियों के साथ जूझना पड़ा, उसने देखा, कि शास्त्रीय चर्चाओं में विद्वान् समझे जाने वाले व्यक्ति भी वाद आदि कथाओं में दार्शनिक पद्धति की कितनी उच्छृंखलता के साथ अवहेलना करते हैं। दार्शनिक तथ्यों को अपने निराधार मनघड़न्त विचारों के अनुसार तोड़-मरोड़ कर निर्लज्जता से जनता के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। मूल दर्शनों की संस्थापना करने वालों को भी एक-दूसरे का विरोधी बताते हैं, क्या साक्षात्कृतधर्मा ऋषि-मुनियों का कथन परस्पर विरुद्ध माना जा सकता है? सत्य सदा एक होता है, सत्य के दो रूप नहीं हो सकते, तब क्या दर्शनों में उन ऋषि-मुनियों ने सत्य का उपपादन न कर असत्य को प्रस्तुत किया है? ऋषि ने दर्शनों की इस दुर्दशा को गहराई के साथ अन्तर्दृष्टि से देखा-परखा, और एक सूत्र खोज निकाला, जिसमें सब दर्शन-माला में मोतियों के समान गुंथे हुए हैं।

सभी दर्शनों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सृष्टि प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत करना है। निश्चित है, सृष्टि (जगत् = विश्व) की रचना का प्रकार एक ही हो सकता है। ऐसी कल्पना सर्वथा निराधार होगी, कि सर्गादिकाल में अपने अव्यक्त कारणों से विश्व की रचना के प्रकार अनेक हों, और एक-दूसरे से भिन्न हों। इसलिए दर्शनों के जिन व्याख्याकारों ने दर्शनों में विश्व के विभिन्न उपादान कारणों का एवं उनसे उत्पाद्यमान विश्व की विभिन्न रचना-प्रक्रिया का उल्लेख उभारा है, वह संगत नहां कहा जा सकता। इसको वास्तविक रूप से समझने और इसके समन्वय के लिए ऋषि ने अपने अमर-ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश में वह सूत्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"(पूर्वपक्ष) जैसा सत्यासत्य और दूसरे ग्रन्थों का परस्पर विरोध है वैसे अन्य शास्त्रों में भी है। जैसा सृष्टिविषय में छह शास्त्रों का विरोध है। मीमांसा कर्म, वैशेषिक काल, न्याय परमाणु, योग पुरुषार्थ, सांख्य प्रकृति और वेदान्त ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है; क्या यह विरोध नहीं है? (उत्तरपक्ष) प्रथम तो बिना सांख्य और वेदान्त के दूसरे चार शास्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति प्रसिद्ध नहीं लिखी; और इनमें विरोध नहीं, क्योंकि तुमको विरोधाविरोध का ज्ञान नहीं। मैं तुमसे पूछता हूँ कि विरोध किस स्थल में होता है? क्या एक विषय में अथवा भिन्न-भिन्न विषयों में? (पूर्वपक्ष) एक विषय में अनेकों का परस्पर विरुद्ध कथन हो, उसको विरोध कहते हैं, यहाँ भी सृष्टि एक ही विषय है। (उत्तर पक्ष) क्या विद्या एक है या दो? (पूर्वपक्ष) एक है। (उत्तरपक्ष) जो एक है तो व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष आदि का भिन्न-भिन्न विषय क्यों हैं? जैसा एक विद्या में अनेक विद्या के अवयवों का एक-दूसरे से भिन्न प्रतिपादन होता है, वैसे ही सृष्टि विद्या के भिन्न-भिन्न छह अवयवों का शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं। जैसे घड़े के बनाने में कर्म, समय, मिट्टी, विचार संयोग-वियोग आदि का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुम्भार कारण है; वैसे ही सृष्टि का जो कर्म कारण है, उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादान कारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्वों के अनु-क्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्तकारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या वेदान्त शास्त्र में है। इससे कुछ भी विरोध नहीं। जैसे वैद्यक शास्त्र में निदान, चिकित्सा, औषधिदान और पथ्य के प्रकरण भिन्न-भिन्न कथित हैं, परन्तु सबका सिद्धान्त रोग की निवृत्ति है, वैसे ही सृष्टि के छह कारण हैं। इनमें से एक-एक कारण की व्याख्या एक-एक शास्त्रकार ने की है। इसलिए इनमें कुछ भी विरोध नहीं। इसकी विशेष व्याख्या सृष्टि प्रकरण में कहेंगे।"

एवमेव पूर्व निर्देशानुसार इस विषय को अष्टम समुल्लास के सृष्टि प्रकरण-प्रसंग में इस प्रकार बताया है—

"(पूर्वपक्ष) सृष्टि विषय में वेदादि शास्त्रों का अवरोध है वा विरोध ? (उत्तरपक्ष) अविरोध है। (पूर्वपक्ष) जो अविरोध है तो—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः स व एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

यह तैत्तिरीय उपनिषद् (ब्रह्मानन्द वल्ली १) का वचन है। उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न-सा होता है, वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें ? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है। यहाँ आकाशादि क्रम से, और छान्दोग्य में अग्न्यादि, ऐतरेय में जलादि क्रम से सृष्टि हुई। वेदों में कहीं पुरुष कहीं हिरण्यगर्भ आदि से; मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में काल, न्याय में परमाणु, योग में पुरुषार्थ, सांख्य में प्रकृति और वेदान्त में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। अब किसको सच्चा और किसको झूठा मानें ?

(उत्तरपक्ष) इसमें सब सच्चे, कोई झूठा नहीं। झूठा वह है जो विपरीत समझता है, क्योंकि परमेश्वर निमित्त और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है।……छह शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है। मीमांसा में—'ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्म चेष्टा न की जाय।' वैशेषिक में—'समय न लगे बिना बने ही नहीं'। न्याय में—'उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता'। योग में—'विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाय तो नहीं बन सकता'। सांख्य में—'तत्त्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता' और वेदान्त में—'बनाने वाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके'। इसलिए सृष्टि छह कारणों से बनती है; उन छह कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है, इसलिए उनमें विरोध कुछ भी नहीं।"

[सत्यार्थ-प्रकाश, अष्टम समुल्लास; पृष्ठ १८९-१९०, उक्त संस्करण]

उक्त सन्दर्भों द्वारा भारतीय दर्शनों में अविरोध प्रकट करने के लिए ऋषि ने जो सूत्र सुझाया, उसका तात्पर्य केवल इतना है कि दर्शनों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय-सृष्टि प्रक्रिया अर्थात् सर्ग रचना के विभिन्न कारण रूप अंगों का उपपादन एक-एक दर्शन में हुआ है; इसलिए प्रत्येक दर्शन परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। सर्ग रचना रूप एक ही अर्थ का विवरण प्रस्तुत करने में सबका तात्पर्य है। सर्ग रचना के प्रसंग से सर्ग के स्रष्टा परमात्मा का तथा भोक्ता जीवात्मा का विशद वर्णन भी दर्शनों के प्रतिपाद्य विषय में आ जाता है। इसी क्रम से भोक्ता जीवात्मा के भोग साधन देह इन्द्रिय आदि का विवरण प्रसंगानुसार दर्शनों में प्रस्तुत किया गया है।

मीमांसा—शास्त्र में कर्मों का वर्णन है। ये कर्म ऐहिक एवं पारलौकिक फलों के उत्पादक हैं। सामाजिक अथवा मानवीय दृष्टि से यह कर्म यज्ञानुष्ठान रूप है, और मानव के एवं प्राणिमात्र के अभ्युदय तथा सुख-सुविधा व अनुकूलता का साधन समझा जाता है। गहन शास्त्रीय दृष्टि से विचारने पर प्रतीत होता है, यह कर्म समस्त विश्व में अनुस्यूत है; उसी कर्म व क्रिया को प्रतीक रूप में प्राणी के अभ्युदय के लिए प्रस्तुत शास्त्र में संकलित किया गया। इससे पूर्व भी यह सब अनुष्ठान ऋषियों द्वारा बोधित मानव समाज में क्रमानुक्रमपूर्वक चले आते हैं। सृष्टि-रचना में इनके अनुषक्त होने की भावना शास्त्र द्वारा अनेक प्रकार से प्रकट की गई है। इस रूप में जगत्स्रष्टा की भावना को उपनिषद् यह कहकर प्रकट करते हैं—

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत् किञ्चन मिषत्।
स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमांल्लोका नसृजत।"

[ऐतरेय उपनिषद्, प्रारम्भिक भाग]

सर्ग से पूर्व एक आत्मा ही था; अन्य कोई पदार्थ व्यापार या क्रिया करता हुआ न था। क्योंकि तब यह समस्त विश्व अपने मूल उपादान कारण में लीन था। उस ब्रह्मरूप आत्मा ने ईक्षण किया—मैं लोकों का निर्माण करूं। उसने इन सब लोकों को बनाया। उसीको अन्यत्र 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च' कहा है। उस जगत्स्रष्टा में अनन्त ज्ञान, बल, क्रिया स्वाभाविक हैं। सर्व व्यापक सर्वान्तर्यामी परमात्मा में केवल 'प्रेरणा' रूप क्रिया संभव है। वह उपादान तत्त्वों को अपनी अनन्त शक्ति से ज्ञानपूर्वक प्रेरित कर जगत् की रचना करता है। परमात्मा के 'प्रेरणा' रूप, कर्म अथवा क्रिया के प्रतीक रूप में मीमाँसा शास्त्र द्वारा यज्ञादि कर्म का वर्णन किया गया है।

वैशेषिक—के लिए कहा गया, वह कालरूप कारण का वर्णन करता है। **प्रत्येक कार्य** के होने में काल अवश्य कारण **रहता है**। इस शास्त्र के व्याख्याकारों ने कहा है—'**जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।**' समस्त उत्पन्न होने वाले पदार्थों का काल कारण होता है। इसी मान्यता को स्वीकार करते हुए महाभारत आदि में कहा गया है।

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।

वस्तुमात्र की उत्पत्ति और संहार आदि में सर्वत्र काल की कारणता निर्बाध स्वीकार की जाती है। इस आधार पर श्वेताश्वतर उपनिषद् की प्रारम्भिक दूसरी कण्डिका में विश्व के कारणों का विवरण देने की भावना से उपनिषद्कार 'काल' का सर्व प्रथम उल्लेख किया है। इस मान्यता का मूल आधार वैशेषिक का यह सूत्र है—

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति। [२।२।९]

देर, जल्दी, एक साथ, पर, ऊपर, छोटा, बड़ा आदि व्यवहार नित्य पदार्थों में नहीं होता, अनित्यों में होता है, इससे सिद्ध है—कार्यमात्र के कारण रूप में 'काल' का नाम लिया जाता है। यह विवरण वैशेषिक

दर्शन प्रस्तुत करता है।

न्याय शास्त्र—के विषय में कहा गया—वह उपादान कारण का वर्णन करता है। विचारणीय है—न्यायदर्शन में जिस प्रकार तत्त्वों का निरूपण किया गया है, उसका उल्लेख दर्शन के प्रथम सूत्र में हैं; पर वहाँ परमाणु या किसी मूल कारण तत्त्व का नाम तक नहीं। सत्यार्थ प्रकाश में यह बात न्यायदर्शन के किस विवरण के आधार पर लिखी गई है, यह ऋषि के गम्भीर अध्ययन एवं तत्त्वविवेचन के सूक्ष्मेक्षण को अभिव्यक्त करता है। शरीरादि-उत्पत्ति के प्रसंगवश चौथे अध्याय के प्रथम आह्निक में इसका स्पष्ट विवरण उपलब्ध होता है। वहाँ तीन सूत्र [११ से १३] द्रष्टव्य है।

उनका संक्षिप्त सार केवल इतना है, कि परम सूक्ष्म पृथिव्यादि परमाणुओं से स्थूल पृथिव्यादि तथा देहादि की उत्पत्ति होती है। वे परमाणु अतीन्द्रिय होते हुए भी व्यक्त हैं। व्यक्त जगत् अपने समानजातीय व्यक्त परमाणुओं से उत्पन्न हो सकता है। परमाणु से जगदुत्पत्ति का इतना स्पष्ट निर्देश अन्य किसी दर्शन में नहीं है।। यद्यपि यह तथ्य ऋषि की दृष्टि से ओझल नहीं था कि न्यायदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय जगत् के उपादान कारण का विवरण प्रस्तुत करना नहीं है; यह बात तृतीय समुल्लास के इस प्रसंग के प्रश्न का उत्तर देते हुए ऋषि ने लिखी है। वहाँ का लेख है—

"प्रथम तो बिना सांख्य और वेदान्त के दूसरे चार शास्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति प्रसिद्ध नहीं लिखी।"

इसका स्पष्ट तात्पर्य यही है, कि सृष्टि की उत्पत्ति के मुख्य कारण उपादान और निमित्त का केवल दो शास्त्रों में वर्णन किया गया है, साँख्य और वेदान्त में। सांख्य में उपादान कारण का विस्तृत विवरण है, तथा वेदान्त में निमित्त कारण का। जगत् का उपादान कारण प्रकृति और निमित्त कारण ब्रह्म है। शेष चार शास्त्रों में इन्हीं के अंगभूत तत्त्वों का विवेचन हुआ है; इस लिये इन सब में विरोध की आशंका सर्वथा निर्मूल है।

यह स्पष्ट है—ऋषि ने परमाणु को अनित्य माना है, और उसे अव्यक्त नित्य प्रकृति से उत्पन्न हुआ बताया है। अष्टम समुल्लास के इस प्रसंग में ऋषि ने एक संस्कृत-सन्दर्भ इस प्रकार लिखा है—

"नित्यायाः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां परमसूक्ष्माणाँ पृथक् पृथग्वर्त्तमानानाँ तत्त्व परमाणूनाँ प्रथमः संयोगारम्भः संयोगविशेषादवस्थान्त रस्य स्थूलाकार प्राप्तिः सृष्टिरुच्यते।"

यह संस्कृत सन्दर्भ ऋषि का अपना लिखा प्रतीत होता है। परन्तु इसका मूल योगदर्शन [१।४४, सूत्र] के व्यासभाष्य की वाचस्पति मिश्रकृत टीका-तत्त्ववैशादी-में उपलब्ध है।

ऋषि ने इन्हीं आधारों पर उपादान कारण के रूप में परमाणु के साथ प्रकृति का प्रायः सर्वत्र प्रथम निर्देश किया है। तात्पर्य है—कार्यमात्र समस्त विश्व का मूल उपादान कारण प्रकृति है; तथा स्थूल जगत् की उत्पत्ति से पूर्व का कारण पृथिव्यादि परमाणु हैं। इसी कारण उक्त सन्दर्भ के अन्त में 'संयोगविशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकारप्राप्तिः' पद दिये गये हैं।

इस प्रकार उक्त पंक्तियों द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि न्याय में उपादान कारण के विवरण की वास्तविकता क्या है; और उसके रहते शास्त्र के अविरोध एवं समन्वय का स्वरूप क्या हो सकता है।

योग—में "पुरुषार्थ एवं विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाय, तो नहीं बन सकता।" मानव द्वारा की गई प्रत्येक रचना में उक्त सभी बातों की आवश्यकता रहती है। इसी के अनुरूप सर्ग रचना में इनका अनुमान किया जाता है। योगशास्त्र आत्मज्ञान अथवा तत्त्वसाक्षात्कार एवं आत्माऽनात्मविवेक की प्रयोगात्मक पद्धति का विवरण प्रस्तुत करता है। अभ्यास अथवा प्रयोग के लिये आचरण में आने वाले विविध अंगों का एक विशेष अनुक्रम रहता है। यदि उसी प्रकार अभ्यास या प्रयोग किया जाता है, तो सिद्धि रचना की सफलता संभावित रहती है। प्रयोगात्मक पद्धति की इसी विशेषता का निर्देशन योगशास्त्र करता है; जो रचनामात्र में अपेक्षित है। इसका विरोध किसी के साथ संभव नहीं; न इसकी उपेक्षा की कहीं संभावना है। सर्ग रचना के इसी अंश का अभिव्यञ्जन योगशास्त्र करता है।

सांख्य—में "तत्त्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता।" 'तत्त्वों का मेल' इन पदों से केवल संयोगमात्र अपेक्षित नहीं है। कार्यमात्र के मूलभूत तत्त्व सत्त्व, रजस्, तमस् का परस्पर एक दूसरे में मिथुनीभूत हो जाना 'मेल' का तात्पर्य है। इन गुणों का ऐसा मेल तत्त्वों की एक भिन्न अवस्था को अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है। परस्पर नितान्त विजातीय इन गुणों [प्रकृति रूप मूल तत्त्वों] के मिथुनीभूत होने के प्रकार की कोई सीमा नहीं है, इसी कारण ये गुण मिथुनीभाव की प्रक्रिया से अनन्त प्रकारों में परिणत हो जाते हैं; जिसे विश्व के रूप में क्रान्तदर्शी मानव देखने का प्रयास करता रहता है। सत्त्व रजस्तमोरूप मूल प्रकृति के विविध परिणामों की प्रक्रिया का विवरण सांख्य दर्शन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार वास्तविक तथ्य के रूप में विश्व का उपादान कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति है। ऋषि ने इसी मान्यता को आदर दिया है, जैसा कि इसी लख में प्रथम निर्देश किया गया है।

वेदान्त—में "बनाने वाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके।" यह अत्यन्त स्पष्ट एवं निर्विवाद तथ्य है, कि वेदान्त दर्शन जगत्स्पष्टा ब्रह्म का सर्वांग पूण विवरण प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार छहों दर्शन सृष्टि रचना सम्बन्धी अपेक्षित विविध साधनाँगों का निरूपण करते हैं, जो एक-दूसरे के पूरक हैं।

यदि ऋषि के द्वारा सुझाये गये दार्शनिक समन्वय के इस सिद्धान्त को गम्भीरता एवं उदारतापूर्वक लिया जाय, तो तथाकथित नास्तिक दर्शनों के साथ भी समन्वय के मार्ग में कोई भारी अनिवार्य रूकावट दिखाई नहीं देती। तब ऐसा प्रतीत होता है, कि विभिन्न आचार्यों ने

अपने काल में तत्त्व जिज्ञासा की पूर्ति के लिये जिस अंश व अंग को तात्कालिक अभ्युदय एवं अन्य सामाजिक सुविधाओं व अनुकूलताओं के लिये अधिक उपयोगी समझा, उसका सुझाव दिया, जिसको कालान्तर में स्वार्थी अखाड़ेबजों ने अपनी संकुचित सिद्धि के लिये साधन बना डाला; मूल आचार्य का सद्भावना पूर्ण लक्ष्य सर्वथा तिरोहित कर दिया गया। आइये, इस पर विचार करें।

चार्वाक—दर्शन चेतन-अचेतन रूप में तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करता है। चार्वाक दर्शन की इस मान्यता को जब विचार-कोटि में लाया जाता हैं, कि इस समस्त चर-अचर एवं जड़-चेतन जगत् का मूल आधार तत्त्व केवल जड़ है; तब उसका तात्पर्य केवल इतने अर्थ के प्रतिपादन में समझना चाहिये, कि इस लोक में मानव मात्र की सुख-सुविधा—और सब प्रकार के अभ्युदय—के लिये सर्वप्रथम तथाकथित जड़तत्त्व की यथार्थता और उसकी प्राणि-कल्याणकारी उपयोगिता को जानना परम आवश्यक है। उसकी उपेक्षा कर संसार में हमारा सुखी रहना संभव न होगा।

चार्वाक दर्शन के सामने जब यह जिज्ञासा की जाती है कि क्या जड़ तत्त्व से अतिरिक्त चेतन तत्त्व का नित्य अस्तित्व नहीं माना जाना चाहिये? तब समाधान रूप में चार्वाक दर्शन का यही कहना है, कि चेतन के अस्तित्व से उसे कोई इन्कार नहीं है; पर वह नित्य है, या कैसा है, कहाँ से आता है, कहाँ जाता है? संसार को बनाने वाला कौन है? इत्यादि विचार-मन्थन उस समय तक अनपेक्षित है, जब तक उन तत्त्वों की यथार्थता व उपयोगिता को नहां जान लिया जाता, जिन पर हमारा वर्तमान अस्तित्व निर्भर हैं। मरने के बाद क्या होगा? इसकी अपेक्षा यह अधिक आवश्यक है, कि हम जीवित कैसे रह सकते हैं।

जैनबौद्धदर्शन—ये दर्शन जड़ तत्त्व से अतिरिक्त चेतन तत्त्व के स्वतन्त्र अस्तित्व का उपदेश करते हैं। जैनदर्शन चेतन [आत्म-] तत्त्व को जहाँ संकोच विकासशील बताता है दूसरा उसे ज्ञानस्वरूप मानकर क्षणिक कहता है, और उसके निर्विकार भाव को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहता है। बौद्ध-दर्शन में विभिन्न अधिकारी-स्तर की भावना से ज्ञान-रूप [अथवा-विज्ञान रूप] चेतनतत्त्व का विवेचन उस स्थिति तक पहुँचा दिया गया है, जहाँ यह प्रतिपादन किया जाता है, कि समस्त चराचर जड़-चेतन जगत् उस 'विज्ञान' का ही आभास है। बाह्य का स्वतन्त्र अस्तित्त्व कुछ नहीं। ये सब तत्त्व-विचार के विभिन्न स्तर हैं। फलतः चेतन-अचेतन के विभिन्न प्रकार के विवेचन में परस्पर विरोध की भावना न होकर जिज्ञासु अधिकारी के कल्याण की भावना अधिक है।

इस प्रसंग में वस्तुभूत तथ्य यह ज्ञात होता है, कि तथाकथित नास्तिक दर्शन के मूल प्रवक्ताओं ने ईश्वर-अथवा ऐसी परमशक्ति, जो समस्त विश्व का नियन्त्रण करती है—के अस्तित्व का निषेध नहीं किया। उन्होंने किन्हीं विशेष परिस्थितियों से बाधित होकर वैसा प्रवचन किया। वे परिस्थितियाँ चाहे जिज्ञासु जनों की योग्यता पर आधारित रही हों, अथवा ईश्वर या वेद के मानने वालों द्वारा अपनी मान्यताओं को अन्यथा प्रस्तुत करने से पैदा हुई हों; या तात्कालिक सामाजिक प्रवृत्तियाँ आदि अन्य कारण रहें हों, प्रतीत होता है—उस-उस काल के लोक कर्त्ता व्यक्तियों ने ईश्वर या तत्सम्बन्धी मान्यताओं को अवाञ्छनीय सामाजिक संघर्ष का अनवेक्षित कारण समझकर लोगों को सुझाया हो, कि अरे भाई! इन अदृश्य अज्ञेय तत्वों को थोड़ें समय के लिए एक ओर रहने दो, अपने वर्तमान जीवन को सुधारो, सबके कल्याण के लिए, सदाचार पर ध्यान दो, परस्पर सहानुभूति से रहना सीखो; उससे हमारा यह लोक सुखमय होगा, और परलोक भी। ऐसे आचरणों से ईश्वर तक भी पहुँचा जा सकता है। उन्होंने समाज के सदाचार पर अधिक बल दिया। इसकी तब अपेक्षा रही होगी। वस्तुतः इसकी अपेक्षा सदा रहती है। उन प्रवक्ताओं का तात्पर्य ईश्वर के अस्तित्व तथा वेदों की मान्यता के नकार में नहीं समझना चाहिए। तब ऐसे विरोध की भावना इन दर्शनों के मूल में कहाँ रह जाती है?

आदि प्रवक्ताओं के जन कल्याणकारी लक्ष्य विभिन्न विचारों की इन काली-पीली आँधियों में तिरोहित हो चुके हैं। तत्व की खोज में यही भावना जिज्ञासु को सचाई के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचा सकती है, कि सृष्टि के इस अनवरत प्रवाह में वे सब विचार अपने स्थान व अपने स्तर पर ठीक हैं, सत्य से अधिचारित हैं। उनमें छिपे यथार्थ को उभार लाने के लिए आज तक जो सफल प्रयास किये गये हैं, उनसे दार्शनिक तत्वों के यथार्थ स्वरूप को समझने में पूरा सहयोग प्राप्त हुआ है।

इस लघुकाय लेख में प्रकट किये विचार दिग्दर्शनमात्र हैं। आर्य विद्वान् इस पर गम्भीर विचार कर उपयुक्त सुझाव देंगे, तो बड़ा कार्य होगा।

स्वतन्त्रता संग्राम में आर्यसमाज का योगदान

● श्री मेवाराम गुप्त

स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज मुझे अपनी जानकारी में पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं क्योंकि स्वामी दयानन्द के साथ आर्य समाज का वजूद (अस्तित्व) जुड़ा हुआ है। इसी प्रकार मुझे आर्यसमाज और सत्यार्थ प्रकाश पर्यायवाची से शब्द लगते हैं। यदि आर्यसमाज का वजूद न होता तो सत्य का प्रकाश कौन करता। सत्य के प्रकाश का अर्थ मेरी बुद्धि से यह है कि सत्य को सत्य तथा असत्य को असत्य बताना। स्वामी दयानन्द ने इसी कार्य को तो अपने हाथ में लिया था। असत्य का उन्होंने खण्डन किया तो सत्य का मण्डन किया। अपने इस कार्य से वे कभी पीछे नहीं रहे। कभी भयभीत नहीं हुए। बिना किसी का लिहाज किए, बिना किसी का पक्ष लिए ठीक को ठीक कहना और झूठ को झूठ बता देना वास्तव में एक साहस का कार्य है जिसे हर कोई नहीं कर सकता। हमारे समाज में अनेक प्रकार की कुरीतियों ने, पाखण्डों ने तथा अंधविश्वासों ने अपना ऐसा प्रभुत्व जमा लिया है कि कोई उनके खिलाफ आवाज उठाता है तो उसकी वह आवाज मुश्किल से सुनी जाती है। उसका विरोध किया जाता है। उसे दण्ड दिया जाता है। उसे कभी-कभी मार भी डाला जाता है, उसे जहर का प्याला पीना पड़ता है उसे आग में जलाना पड़ता है उसे सूली पर चढ़ना पड़ता है और हर प्रकार के जुल्म उसे बर्दाश्त करने पड़ते हैं।

स्वामी दयानन्द जी को भी इसी प्रकार के जुल्मों का शिकार होना पड़ा था। अपने प्राण गंवाने पड़े थे। खैर उस लम्बी कहानी को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। मुझे बताना यह है कि स्वामी दयानन्द जी जब भारत के क्षितिज पर सूर्य बन कर चमके तो उनका वह प्रकाश सर्वत्र पड़ा। हर अंधेरा कोना जगमगा उठा। प्रकाश में किसी को यह बताने की आवश्यकता नहीं होती कि सड़क पर बच कर चलना आगे खड्डा है क्योंकि यदि चलने वाला अन्धा नहीं है तो उसे वह खड्डा स्वयं दिखाई दे जाएगा और अगर खड्डे के बारे में बता भी दिया जाय, जो आवश्यक न होने पर भी निरर्थक नहीं है, चलने वाला अधिक सावधान तथा सचेष्ट हो जाएगा। स्वामी जी को देश की कालिमा और दासता के गढ़े का दिख जाना स्वाभाविक था। जो लोग गुलामी को वरदान समझ बैठे थे। जो लोग अंग्रेजों को अपना आका और उद्धारक समझ बैठे और जो लोग दासता के खड्ड में पड़े रहना ही अपना जीवन समझ बैठे थे उन्हें भी चेत हुआ, होश आया। उन्होंने नया प्रकाश देखा और अनुभव किया कि विदेशी शासन कितता ही आकर्षक क्यों न हो, अपना शासन, अपना शासन होता है। इस प्रकार स्वामी जी के प्रचार बिना ही स्वराज्य की बात भारतीयों के मस्तिष्क में समाती गयी।

इसके उपरान्त यह भी हुआ कि स्वामी जी ने स्वशासन की बात भी कही है। अपनी भाषा तथा अपनी संस्कृति की सराहना भी की है। यदि स्वामी जी धार्मिक नेता न होकर सच्चे अर्थों में राजनीतिक नेता होते तो शायद वे बम-पिस्तौल की बात भी करते, क्रान्ति और बगावत की बात भी करते। किन्तु स्वामी दयानन्द तो एक धार्मिक नेता थे। इस नाते वे स्वराज्य तथा स्वदेशी के लिए जितना कह सकते थे या कर सकते थे उतना उन्होंने कहा भी और किया भी। धार्मिक नेता भी अपने-अपने ढंग पर क्रान्ति करते हैं। स्वामी जी ने भी क्रान्ति की, विचार-क्रान्ति की। लोगों को नया प्रकाश दिया। यह उनकी बड़ी क्रान्ति थी। उनके शब्द ही उनके बम और गोले थे। उनका कुल चिन्तन-मनन ही क्रान्ति कारक था। मैं स्वामी दयानन्द को सच्चे अर्थों में भारत का प्रथम क्रान्तिकारी समझता हूँ जिसने हमें नया प्रकाश दिखाया और विचार-क्रान्ति करके दिखा दी। और सच में अब तो हर आर्यसमाजी एक क्रान्तिकारी है।

प्रत्येक आर्य समाजी को मैं क्रान्तिकारी इस अर्थ में मानता हूँ कि आर्यसमाजी बन कर मनुष्य कई दुर्गुणों से पूर्णतया नहीं तो अंशतः तो दूर हो ही जाता है। उनका नैतिक स्तर ऊंचा हो जाता है। वह पहले से सदाचारी बन जाता है। सच बोलने की कोशिश करता है। स्वदेशी वस्तुओं से प्रेम हो जाता है। वह देश प्रेमी बन जाता है। उसे गुलामी से घृणा हो जाती है। आर्यसमाजी विदेशी शासन को कभी पसन्द नहीं करेगा। आर्यसमाजी बन कर यदि किसी पुरुष में थोड़े बहुत भी सद्गुण आ गए तो समझिए उसके जीवन में एक छोटी सी क्रान्ति हो गयी। इस लिए यदि कोई व्यक्ति आर्यसमाज को क्रान्तिकारी संस्था कहता है तो वह गलत नहीं कहता है। मैं स्वयं आर्यसमाज को एक क्रान्तिकारी संस्था मानता हूँ, और मेरा ऐसा मानने के मेरे पास पर्याप्त कारण भी है और पर्याप्त सबूत भी हैं।

यदि हम इस धारणा को छोड़ दें जो मेरे विचार से एक गलत धारणा है। यदि सब की न भी सही तो थोड़ों की तो है ही कि बम, पिस्तौल धारी ही क्रान्तिकारी होता है, मैं समझता हूँ क्रान्तिकारी असल वह है जिसके विचार क्रान्तिकारी हों। ऐसा दृष्टिकोण अपना लेने से मैं उन सभी नेताओं को क्रान्तिकारी मानता हूँ जिन्होंने आर्यसमाज की बहुत

सेवा की है। आर्यसमाज को नये-नये विचार दिए हैं। आर्यसमाज के लिए जिए और मरे हैं। इन महापुरुषों को आर्यसमाज ने जन्म दिया है। इन महापुरुषों में साधु सन्यासी भी हैं, 'विद्वान पंडित भी हैं' कवि, लेखक और वक्ता भी हैं और वे शहीद भी हैं जिनकी आस्था बम और पिस्तौल में थी। स्थानाभाव से हम कुछ नामों का ही यहाँ उल्लेख कर सकते हैं। श्री श्यामकृष्ण वर्मा जिन्हें स्वामी दयानन्द ने, कहा जाता है, स्वयं विदेश जाकर क्रान्ति के प्रचार की प्रेरणा दी थी। लाला हरदयाल, भाई परमानन्द, लाला लाजपत राय, लाला हंसराज, लाला देवराज, स्वामी श्रद्धानन्द, नारायण स्वामी, सरदार भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद और पंडित रामप्रसाद बिस्मिल आदि महान विभूतियाँ आर्यसमाज ही की तो देन हैं। क्या किसी दूसरी संस्था ने ऐसे नर रत्नों को ऐसी बड़ी संख्या में पैदा किया है?

यहाँ कितने हैं जौहरे एकता तहे खाक।
दफ्न होगा न कहीं इतना खजाना हर्गिज ॥

ऐसा भी नहीं कि ये नर रत्न भूतकाल में हो चुके हैं और अब होंगे ही नहीं। नहीं ऐसी बात नहीं। ऐसे नर रत्न आज भी मौजूद हैं और उन्हीं की प्रेरणा तथा मार्गदर्शन में आज भी आर्यसमाज का काम चल रहा है और कुछ महान विभूतियां भविष्य में भी पैदा होंगी। और आर्यसमाज का काम कभी रुकने वाला नहीं क्योंकि आर्यसमाज का एक ही कार्य अभीं तक पूरा हो पाया हैं और वह है सुशासन की, सुराज की स्थापना। यदि कान्तिकारियों के योगदान से देश में सुराज आया है तो मैं दावे से कह सकता हूँ कि उनमें 80 प्रतिशत आर्यसमाजी थे। आर्यसमाज ही तो वह संस्था है जो लोगों की नवीन प्रकाश देती है, लोगों को देश प्रेम सिखाती है। लोगों को देश के लिए मरना और जीना सिखाती है।

आर्यसमाज एक क्रान्तिकारी संस्था होने के नाते हर बुराई को दूर करना चाहती है। दासता एक सामाजिक बुराई थी उसे दूर कर दिया गया और समाज की अन्य बुराइयों को दूर किया जा रहा है और किया जाएगा। समाज कभी बुराइयों से अलिप्त नहीं रह सकता। समाज में बहुत सी बुराइयाँ कतई दूर हो गईं तो कुछ अंशतः दूर हुई है और यह भी पता नहीं कि भविष्य में और कौन-सी नई-नई बुराइयाँ समाज में आ जाएं। इन सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए ही तो महर्षि दयानन्द जी ने 7 अप्रैल 1875 ई० को बम्बई के काकड़वाडी में आर्यसमाज मन्दिर की स्थापना की थी। जब तक समाज है तब तक आर्यसमाज है। आर्यसमाज का काम कभी खत्म होने वाला नहीं और जब तक आर्यसमाज है उसके साथ महर्षि दयानन्द सारस्ती का नाम भी जुड़ा रहेगा। वह प्रेरणा भी देता रहेगा। स्वामी दयानन्द मरे नहीं वे तो आज भी जिन्दे हैं।

कौम वह दिल से हश्र (प्रलयकाल) तक तुझको भुला सकती नहीं,
तू वह जिन्दा है कि तुझको मौत कभी आ सकती नहीं ॥
तेरे नाम से रोशन कौम की है पेशानी।
पहले भी तू जिन्दा था आज भी है **लाफानी** ॥ (अमर)

अंग्रेज शासकों को क्रान्तिकारियों के गुप्त संगठनों से तो डर या भय था ही इसके पश्चात यदि उन्हें देश की किसी भी संस्था से भय था तो वह आर्यसमाज ही थी। वे अच्छी तरह जानते थे कि आर्यसमाज संस्था क्रान्तिकारियों की जननी है। अधिकांश क्रान्तिकारी इसी संस्था से आते हैं। मैं समझता हूँ उनकी यह शंका ठीक ही थी। वे देखते थे कि आर्यसमाज के कार्यकर्ता देश विदेश में फैले हुए हैं। वे जन जागरण का काम कर रहे हैं शिक्षा का प्रसार कर रहे हैं। वे स्त्री शिक्षा पर जोर दे रहे हैं। छुआछूत के भूत को भगा रहे हैं। हरिजन उद्धार कर रहे हैं। समाजवाद का प्रसार कर रहे हैं। हजारों की संख्या में वे स्कूल और कालेज चला रहे हैं। ये सब क्रान्तिकारी कार्य हैं जिन्हें आर्यसमाज जिस तेजी और लगन से चला रहा है और कोई संस्था नहीं चलाती है। आर्यसमाज स्वदेशी वस्तुओं के ही उपयोग पर जोर देता है और राष्ट्र धर्म का प्रचार करता है। ऐसी ही संस्था क्रान्तिकारी पैदा कर सकती है। यों तो हर आर्यसमाजी क्रान्तिकारी होता है। जैसा मैं पहले ही बता चुका हूँ किन्तु यहाँ मेरा आशय उन क्रान्तिकारियों से हैं जिन्होंने वास्तव में बम फेंके हैं, गोलियाँ चलायी हैं और देश के लिए शहीद हो गए हैं।

सरदार भगत सिंह जिनका कुल परिवार ही आर्यसमाजी है उन्हें हिंसक क्रान्ति की प्रेरणा अपने पक्के आर्यसमाजी गुरु श्री हरिश्चन्द्र विद्यालंकार से मिली थी। जब वे लाहौर के उस नेशनल कालेज में पढ़ते थे जिसकी स्थापना आर्यसमाज के मान्य नेता लाला लाजपत राय ने की थी। पंडित रामप्रसाद बिस्मिल को हिंसक क्रान्ति द्वारा देश को आजाद कराने का पाठ पढ़ाने वाले स्वयं स्वामी सोमदेव जी थे जो कुछ समय के लिए शाहजहांपुर के सदर बाजार स्थित आर्यसमाज में आकर रहे थे। यदि आर्यसमाजी स्वामी सोमदेव के सम्पर्क में रामप्रसाद बिस्मिल न आते तो वे अपने जीवन में कुछ भा बन सकते थे किन्तु 'शहीद' रामप्रसाद 'बिस्मिल' नहीं बन सकते थे। आत्मा अमर का सिद्धान्त उन्हें आर्यसमाज ने ही सिखाया था जब तो वे शान से यह कहते हुए 19 दिसम्बर 1927 ई० को गोरखपुर की जेल में प्राण देकर भारत-माता के ऋण से उऋण हो सके थे :

दिल फिदा करते हैं, कुर्बान जिगर करते हैं।
पास जो कुछ है वह माता की नजर करते हैं ॥

जब पंडित रामप्रसाद बिस्मिल का जिक्र आ ही गया है तो उनका संक्षिप्त जीवन परिचय यहाँ देना अथवा जान लेना विसंगत न होगा, विषयान्तर भी न होगा। इसके अतिरिक्त पाठकों को यह जानकारी प्राप्त होगी कि आर्यसमाज ने किस प्रकार के उच्चकोटि के क्रान्तिकारियों को जन्म दिया था।

पंडित राम प्रसाद बिस्मिल का जन्म शाहजहांपुर (उ० प्र०) में सन्

1898 में हुआ था। पिता का नाम पं० मुरलीधर था। पं० मुरलीधर ग्वालियर से आकर शाहजहाँपुर में रोजी रोटी की तलाश में बस गए थे। धनाभाव से बड़े कष्ट उठाए। मुरलीधर ने पहले नौकरी की बाद में कनहरी में स्टैम्प बेचने लगे। धनाभाव वाले व्यक्ति को प्रायः सन्तान का अभाव नहीं रहता है। पं० मुरलीधर की कुल 9 सन्तानें हुई। इनमें 5 लड़कियाँ और 4 लड़के थे। सबसे बड़े रामप्रसाद ही थे। कुल की प्रथा के अनुसार लड़कियों को मार डाला जाता था। रामप्रसाद की दादी लड़कियों का गला पैदा होते ही घोंट देने के पक्ष में थीं किन्तु माँ इस पक्ष में नहीं थीं। उन्हीं के प्रयत्न से रामप्रसाद की बहिनें जीवित रह सकीं और विवाह हुए अन्यथा इसके पूर्व उनके परिवार की कोई लड़की भी व्याही न गयी। इन बहिनों में केवल एक ही बहिन श्रीमती शास्त्री देवी आज भी जीवित हैं और वे ग्राम कोसमा जिला मैनपुरी (उ० प्र०) में रहती हैं। शेष भाई बहिन अब सब मर चुके हैं।

रामप्रसाद बिस्मिल बड़ी प्रखर बुद्धि के सुन्दर शरीर वाले बालक थे जिन पर माँ विशेष कृपा दृष्टि रखती थी। उनकी पढ़ाई-लिखाई पहले घर पर ही शुरू की गई थी किन्तु बाद को वह शाहजहाँ के मिशन हाई स्कूल में पढ़ने लगे और यहाँ वह हाई स्कूल तक पढ़े। यहीं पर उनकी मुलाकात श्री अशफाक उल्ला खाँ से हुई थी। यह भेंट तब हुई थी जब पंडित राम प्रसाद फरारी के बाद पुनः स्कूल में पढ़ने आए थे। वे मैनपुरी षडयन्त्र केस में फरार थे, उसमें उन्हें सजा हो गयी थी। शाही ऐलान के द्वारा औरों के साथ उन्हें भी छोड़ दिया गया था। जब श्री अशफाक उल्ला खाँ पंडित राम प्रसाद बिस्मिल से पहली बार मिले और उनसे मैनपुरी षडयन्त्र केस के विषय में बात करनी चाही तो उन्होंने टाल दिया। किन्तु अशफाक टलने वाले व्यक्ति न थे। वे रामप्रसाद के पीछे पड़ गये और उन्हें विश्वास दिला दिया गया कि वे भी क्रान्तिकारी बनकर देश की सेवा करना चाहते हैं। अन्त में अशफाक की विजय हुई। वे दोनों ऐसे अटूट दोस्त और मित्र बन गए कि उनकी मित्रता को कोई न तुड़ा सका तथा उनका साथ कोई न छुड़ा सका यहाँ तक कि मौत भी उन दोनों का साथ न छुड़ा सकी।

सन् 1921 के गाँधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन के समय दोनों ने स्कूल छोड़ दिया और ग्राम-ग्राम घूम-घूम कर स्वराज्य की अलख जगाने लगे और भावी क्रान्ति का प्रचार करने लगे। अब वे दोनों मित्र से बढ़कर एक दूसरे के भाई भी बन गए। ऐसे भाई जो एक थाली में कच्चा-पक्का भोजन करते थे। दूसरे साथियों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता था कि पंडित राम प्रसाद जैसे कट्टर आर्यसमाजी मित्र फंसा न दें। परन्तु राम प्रसाद बिस्मिल और अशफाक उल्ला खाँ की दोस्ती सच्ची दोस्ती थी। वह किसी निजी स्वार्थ की सिद्धि के लिए नहीं थी, वरन एक महान उद्देश्य पूर्ति के लिए थी। भारत माता के दास्ता के बन्धनों को काट कर फैंक देने के लिए दोस्ती थी। उन दोनों के जीवन का लक्ष्य जब समान था तो जीवन की अन्य असमान बातें गौण ही गयी। दोनों के हृदय एक थे उनके हृदय की धड़कनें एक थी। उनसे एक ही आवाज आती थी।

श्री अशफाक खाँ सदर बाजार से थोड़े ही फासले पर मुल्ला अमनजई में, जो रेलवे स्टेशन के निकट है, रहते थे। एक बार अशफाक सख्त बीमार पड़ गए। बुखार की बेहोशी में वह प्रलाप भी करने लगे। वे बार-बार राम-राम कह रहे थे। दूसरे लोग आश्चर्य कर रहे थे और कह रहे थे कि अल्ला-अल्ला कहो। किन्तु वे राम की ही रट लगाए रहे। उसी समय वहाँ एक ऐसे सज्जन आए जो इस बात को जानते थे कि अशफाक राम-राम कहकर किसकी याद कर रहे हैं। अशफाक का वह राम सदर बाजार के आर्यसमाज में रहता था। वह पंडित राम प्रसाद बिस्मिल थे। उन्हें बुलाया गया। उन्होंने आकर जब अपने मित्र और छोटे भाई के जलते-तपते माथे पर अपना स्नेह का हाथ रख दिया और कहा, "भाई अशफाक! आँखें खोल कर देखो तो तुम्हारा राम आ गया है।" अशफाक के कानों में 'राम' शब्द पड़ा। उन्होंने आँखें खोल दी। उन आंखों से दो गरम-गरम आंसू गालों पर लुढ़क पड़े। उन आसूओं के साथ शरीर की जलन तथा ताप भी निकल गया और वे शीघ्र स्वस्थ हो गए।

मन तो शुदम, तो मन शुदी, मन तन शुदम तो जां शुदी।
ता कस न गोयद बाद-अजीं, मन दी गरम, तो दी गरी।।

अर्थ—मैं तेरा हो गया, तू मेरा हो गया, मैं तन (शरीर) हो गया तू जां (प्राण) हो गया। जिससे कोई यह न कह सके के मैं दूसरा हूँ तू दूसरा है।

लगभग दो तीन वर्ष तक सन् 1922 से सन् 1924 तक मैं पंडित रामप्रसाद बिस्मिल के साथ ही सदर बाजार आर्यसमाज में रहता था। मेरे साथ मुडिया ग्राम के प्रेमदत्त, निधिपाल, वासुदेव, भोला ग्राम के राजाराम, ठकिया के भैरु सिंह तथा उदयवीर सिंह आदि कई लड़के रहते थे और हम सब उसी मिशन हाई स्कूल में पढ़ते थे। जिसमें सन् 1921 के पूर्व तक बिस्मिल और अशफाक पढ़ते रहे थे। पंडित रामप्रसाद आज भी मेरी आँखों के सामने चल फिर रहे हैं। हंस बोल रहे हैं। स्नान कर रहे, हवन कर रहे हैं, व्यायाम कर रहे हैं, भारी-भारी मुगदर घुमा रहे हैं और आयसमाज के अखाड़े में कुश्ती भी लड़ रहे हैं। हम सब लड़कों को लड़ा रहे हैं। उन्हें जोर करा रहे हैं। हम दो तीन लड़के एक साथ राम प्रसाद के साथ लड़ रहे हैं। उन्होंने एक-एक को पटक दिया है, हम अपनी धूल झाड़ रहे हैं। पंडित जी सर्दी के दिनों में भी प्रायः 4 बजे उठते हैं। शौचादि जाकर कुएँ का ताजा पानी निकाल कर स्नान करते हैं। वेद मन्त्र बोलते हैं। हम लोग अपनी रजाइयों में मुंह छिपाते और टाँगे समेटे पड़े हैं। परन्तु पंडित जी के डर से अन्यमनस्क उठ बैठते हैं। लालटेन जलाते हैं और जोर-जोर से पढ़ने लगते हैं ताकि पंडित जी को हमारे पढ़ने का भ्रम तो हो ही जाय।

स्नान कर पंडित जी हवन करते हैं उसके पश्चात् वायु सेवन के लिए निकल जाते हैं। लौट कर दण्ड बैठक करते हैं, मुगदर हिलाते हैं

और फिर उलटे सर के बल ५-१० मिनट तक खड़े रहते हैं यानि शीर्षासन करते हैं। नाश्ता करने के पश्चात् स्वाध्याय करते हैं। आए हुए मित्रों से भेंट वार्तालाप करते हैं और फिर चले जाते हैं। काम करने अपने रेशम के कारखाने में। वे स्वयं भी रेशम बुनते हैं। अखाड़े में कुश्तियां शाम को होती हैं।

पंडित राम प्रसाद बड़े सुन्दर, सुडौल शरीर तथा गौर वर्ण के व्यक्ति हैं। उनके बाल घुंघराले हैं पैरों में चप्पल है। बंगाली ढंग की धोती पहने हैं और उनकी कमीज उनके ही कारखाने के रेशम से बनी है।

पंडित रामप्रसाद के कमरे में, जो मेरी कोठरी से मिला हुआ है, एक तख्त पड़ा हुआ है। उस पर बिछौना बिछा हुआ है। एक तरफ एक मृगछाला पड़ा हुआ है जिसके निकट हवनकुण्ड रखा हुआ है। एक कोने में मुगदरों की एक जोड़ी रखी हुई है। अलमारी में कुछ पुस्तकें रखी हुई है। गर्मी के दिनों में एक सुराही और एक काँच का गिलास भी आ जाता है। मिलने वालों में अशफाक के अलावा प्रेमकृष्ण खन्ना, हर गोविन्द, पंडित मुरारी लाल, रघुनाथ सहाय वकील हैं। कभी-कभी चन्द्रशेखर आजाद और ठाकुर रोशनसिंह भी आ जाते हैं। और बहुत से लोग हैं। हम विद्यार्थी सुन ही नहीं सकते थे कि वे लोग क्या बातें करते हैं। हम लोग कुछ समझ नहीं पाते हैं कि पंडित जी के पास इतने आदमी क्यों आते हैं।

एक बार लोगों ने पंडित जी की दावत कर दी तो वे हम सभी लड़कों की रोटी अकेले ही खा गए। हमारे लिए महाराजिन को फिर से रोटी बनानी पड़ी। पंडित जी दो पहरी में छक कर भोजन करते तो रात के समय छक कर दूध पीते। इस प्रकार वे एक ही समय भोजन करते थे। आर्य समाज से लगा हुआ पंडित जी का आधा कच्चा पक्का घर था। घर वे केवल भोजन करने जाते थे।

पंडित जी लेखक, वक्ता तथा कवि थ, एक अच्छे व्यक्ति थे यह तो मैं जान सका किन्तु उनके साथ रहते हुए भी यह न जान सका कि वे साधारण क्रान्तिकारी ही नहीं बल्कि कुल उत्तर प्रदेश की क्रान्तिकारी सेना के सेनापति भी हैं। इस बात का पता चला २६ सितम्बर १९२५ ई० को जब पंडित रामप्रसाद को प्रातः ४ बजे सदर बाजार कोतवाली पुलिस ने गिरफ्तार करके कोतवाली में बन्द कर दिया था। उन्हीं के दो साथी इन्द्रभूषण मित्रा और बनारसीलाल गद्दार निकल गए थे उन्होंने सब भंडा फोड़ कर दिया था। पंडित जी को काकोरी ट्रेन डकैती केस में फाँसी की सजा मिली थी। पंडित जी के तीन अन्य साथियों श्री अशरफ उल्ला खाँ, श्री राजेन्द्रनाथ लाहड़ी तथा श्री रोशन सिंह को भी फाँसी की सजा मिली थी। १८ नौजवानों को लम्बी अवधि की सजाएँ मिली थीं।

पंडित रामप्रसाद को एक अवसर निकल भागने का २६ सितम्बर १९२५ को उस समय मिला था जब कि गिरफ्तारी के बाद वह कोतवाली में अकेले एक मुन्शी के सामने बैठे थे जिसके सामने अशफाक उल्ला के घर से लाई बन्दूक रखी थी। रात भर के जागे अधिकारी सो गए थे और मुन्शी बैठे-बैठे औंधा रहे थे। पंडित जी गरीब मुन्शी की रोजी-रोटी नहीं लेना चाहते थे। दूसरा अवसर जेल से भाग निकलने का उन्हें उस समय मिला जबकि उन्होंने अपनी कोठरी के जेल सींकचे काट डाले थे किन्तु जेलर पंडित चम्पक लाल को वह धोखा देना नहीं चाहते थे जो उन्हें अपने पुत्रों की भाँति स्नेह करने लगा था। पंडित जी पर यह सब प्रभाव आर्यसमाज के उच्च आदर्शों का ही तो था जो वे किसी के साथ छल करके अपने प्राण बचाना नहीं चाहते थे।

मुझे ही शाहजहांपुर के आर्यसमाज में न पंडित जी ने और न अन्य किसी व्यक्ति ने क्रान्ति का प्रशिक्षण दिया था किन्तु जब मैं शाहजहाँपुर से हाई स्कूल पास कर कानपुर के डी० ए० वी० कालेज में पढ़ने आया तो आधा क्रान्तिकारी था। यह आर्यसमाज में रहने ही का तो प्रभाव था। कानपुर में जब मेरी भेंट प्रसिद्ध क्रान्तिकारी पंडित सुरेन्द्रनाथ पाण्डेय तथा वीरेन्द्र पाण्डेय से हुई जो स्वयं आर्यसमाजी थे तब तो मैं भी पूर्णतया क्रान्तिकारी रंग में रंग गया। उसका परिणाम यह हुआ कि अपने राजनैतिक पंडित सुरेन्द्रनाथ पाण्डेय जी के साथ सन् १९२९ के प्रसिद्ध लाहौर षड्यन्त्र केस में पकड़ा गया जिसमें सरदार भगतसिंह, श्री शिवराम हरी राजगुरु तथा श्री सुखदेव को फाँसी हुई थी किन्तु मैं जल्दी ही छूट गया था। जब मैं डी० ए० वी० कालेज में पढ़ने गया तब तो अनेक क्रान्तिकारियों से भेंट हुई। स्वयं हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पंडित मुन्शीराम शर्मा 'सोम' क्रान्तिकारी थे जिनका सम्पर्क प्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आजाद से था। डी० ए० वी० कालेज उन दिनों क्रान्तिकारियों का गढ़ था। डी० ए० वी० कालेज में कितने छात्र और कितने प्रोफेसर क्रान्तिकारी थे यह बताना कठिन है। इसी कालेज के एक छात्र और साथी श्री शालिग्राम शुक्ल १ दिसम्बर १९३१ को कालेज के चौराहे पर ही उस वक्त शहीद हो गए जब उस दिन प्रातःकाल उनकी पुलिस से मुठभेड़ हो गयी थी। शहीद शुक्ल की एक प्रस्तर प्रतिमा डी० ए० वी० कालेज के प्रांगण में लगी आज भी महान क्रान्तिकारी स्वामी दयानन्द का जय-घोष कर रही है।

पंडित रामप्रसाद बिस्मिल ने गोरखपुर की काल कोठरी में बैठकर जो अपनी आत्म-कथा 'काकोरी के शहीद' नाम से लिखी थी जो छपते ही जब्त हो गयी थी किन्तु फिर वह श्री बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा "आत्म-कथा—रामप्रसाद बिस्मिल" के नाम से प्रकाशित हुई है उसके पढ़ने से पता चलता है कि 'बिस्मिल' पर आर्य समाज का कितना बड़ा प्रभाव था।

आर्यसमाज का प्रभाव पंडित रामप्रसाद पर था और रामप्रसाद का प्रभाव अपने साथियों पर था जभी उनके साथ उनके साथियों ने भी १९ दिसम्बर १९२७ को हँसते-हँसते अपने प्राण फाँसी की रस्सियों में झूल कर दे दिए थे। (शेष पृष्ठ २३६ पर)

वैदिक त्रैतवाद

—डॉ० प्रज्ञा देवी, आचार्या

ईश्वर जीव एवं प्रकृति ये तीन अनादि सत्तायें हैं, जिसको त्रैतवाद के नाम से व्यवहृत किया जाता है। इस त्रैतवाद के सिद्धान्त को वेद चतुष्टय के सहस्रशः मन्त्र तो पुष्ट करते ही हैं, किन्तु षड्दर्शनों से भी इस सिद्धान्त को पूर्ण समर्थन प्राप्त है।

न्यायदर्शन में परमाणु से प्रकृति की सत्ता का प्रतिपादन होता है, एवं ईश्वर जीव भी आत्मा[१] के द्विविध भेद से सिद्ध किया गया है। ईश्वर एवं जीव गुण आदि की दृष्टि से परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। एक शुद्ध चेतन, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सृष्टिकर्त्ता, सर्वदेशी है तो दूसरा अशुद्ध (अज्ञता होने से) चेतन अल्पज्ञ अल्प शक्तिमान् एकदेशी है। वैशेषिक दर्शन के दूसरे सूत्र **"तद्वचनात् आम्नायस्य प्रामाण्यम्"** से ईश्वर के होने तथा उसके द्वारा ही वेद के प्रवचन की बात कही गई है। इस प्रकार जो लोग कहते हैं कि न्यायदर्शन में ईश्वर का परवर्त्ती विकास है वह भी ठीक नहीं।

सांख्य शास्त्र में भी प्रथमतः जड़ और चेतन के रूप में दो विभाग हैं, उसके पश्चात् चेतन के अन्तर्गत पुनः ईश्वर और जीव दो विभाग माने गये हैं। इस प्रकार यहाँ भी त्रैतवाद समर्थित है। सांख्य सूत्र के पञ्चमाध्याय के प्रारम्भ[२] में ईश्वर को कर्मफलप्रदाता कहकर ईश्वर का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। साथ ही इसके समानतन्त्र योगसूत्र में तो **"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः"** सूत्र से ईश्वर का अलग से ही प्रतिपादन है। सङ्ख्य के **'ईश्वरासिद्धेः'** (साँ० द० १।९२) सूत्र का अर्थ इतना ही है कि पादानभूत ईश्वर असिद्ध है; अर्थात् जिस प्रकार अद्वैत वेदान्ती लोग ईश्वर को जगत् का विवर्ती उपादान मानते हैं, वह ठीक नहीं; पर निमित्त कारण के रूप में तो ईश्वर है ही। वेदान्त दर्शन में तो प्रथम सूत्र ही **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** अब ब्रह्म की जिज्ञासा-जानने की इच्छा है। अर्थात् ब्रह्म के सम्बन्ध में यहाँ से आगे विचार किया जायेगा ऐसा आता है। यहाँ जिज्ञासा किसी जिज्ञासु की अपेक्षा से ही सम्भव है, सो जीव और ब्रह्म सिद्ध हो गये। इसी प्रकार **'शास्त्रयोनित्वात्'** (वे० द० १।१।३) **नेतरोनुपपत्तेः, 'भेदव्यपदेशाच्च'** (वे० द० १।१।१६,१७) **'साक्षादप्यविरोध जैमिनीः'** (वे० द० १।२।२८) इत्यादि सूत्रों से जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट कथित है। ब्रह्म को **'जन्माद्यस्य यतः'** सूत्र के कारण सृष्टि की रचना का उपादान कारण मानना कथञ्चिदपि उचित न होगा, क्योंकि इससे ब्रह्म विकारी, परतन्त्र, एवं परिणामी सिद्ध हो जायेगा। वास्तव में निमित्त एवं उपादान कारण होते ही भिन्न-भिन्न हैं। संसार में ऐसा कोई भी दृष्टान्त नहीं है जहाँ निमित्त एवं उपादान कारण भिन्न-भिन्न न हो।

वेदान्त-दर्शन जिसमें प्रारम्भ से ही त्रैतवाद का सिद्धान्त व्याख्यात है, उसको छोड़ कर शंकराचार्य जी का अद्वैत का प्रतिपादन करना सचमुच ही बड़ी भारी प्रवञ्चना एवं आश्चर्य है। वेद चतुष्टय का एक भी मन्त्र अद्वैतवाद का प्रतिपादन नहीं करता, अतः वेद का एक भी प्रमाण अपने मत के समर्थन में न प्राप्त होने के कारण ही श्री टी० शंकराचार्य जी ने सब प्रमाण[३] उपनिषदों से ही लेकर अपने भाष्य की रचना[४] की है। उदाहरण के लिये प्रारम्भिक चतुःसूत्री के अन्तर्गत **'तत्तु समन्वयात्'** सूत्र में समन्वय के जितने प्रमाण दिये हैं वे सब गीता एवं उपनिषद् के ही हैं अपने समर्थन में उन्हें वेद एवं स्मृति का कोई प्रमाण नहीं मिल सका, सम्भवतः इसीलिए उन्होंने उपनिषद्[५] को श्रुति (वेद) एवं गीता को स्मृति का ऊँचा पद दे दिया, ताकि उनकी बात की प्रबल पुष्टि समझी जा सके, जो कि अत्यन्त अनुचित है। अब तक शंकराचार्य जी से पूर्व उपनिषदों को श्रुति एवं गीता को स्मृति बताने का दुस्साहस किसी ने नहीं किया था। वैसे उपनिषदें एवं गीता भी त्रैतवाद की ही समर्थिक हैं, उन्हें भी अद्वैतवादपरक अर्थ में घसीटना तो खींचातानी[६], अर्थ का

---

१. न्याय दर्शन के **"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्" (न्या० द० ४।१।१९)** सूत्र से स्पष्ट ईश्वर की सिद्धि होती है, तथा तर्कभाषा एवं मुक्तावली के **'आत्मा द्विविधः। जीवात्मा परमात्मा चेति'** आदि पाठ से आत्मा का द्वैविधः स्पष्ट है।

२. नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः (साँ० द० ५।२)

३. जो दो एक वेद के मन्त्र उन्होंने प्रमाण के रूप में प्रस्तुत भी किये हैं, उनके अर्थ का अनर्थ ही किया है, यह हम आगे लिखेंगे।

४. वास्तव में तो एकादश उपनिषदों से भी अभेदवाद सिद्ध करना उनके साथ अन्याय है, जो हम लिखेंगे।

५. उपनिषत्तु (वेदानाँ समीपे) नितराँ योग्याः समर्थाः भवन्ति इति उपनिषद् इस व्युत्पत्त्यनुसार उपनिषदें वेद कभी नहीं है।

६. अद्वैत के समर्थक **"तत्त्वमसि" प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म" सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** (छान्दोग्य०) **"स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"** (मुण्डक० ३।२।९) इत्यादि वाक्यों की उचित सङ्गति महर्षि दयानन्द

अनर्थ एवं प्रकरणविरुद्ध व्याख्यान[१] ही है।

शंकराचार्य जी ने द्वैतप्रतिपादक प्रामाणिक वचनों का जो खण्डन किया वह तो बड़ा ही हास्यास्पद है, जिनमें से एक यहाँ पाठकों के मनोरञ्जनार्थ उद्धृत किया जाता है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् का वचन है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानाः स्वरूपाः।
तयोरेको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
(श्वेता० ४।५)

इसका वास्तविक संक्षिप्त अर्थ यही है कि सत्वरज-तमोगुण रूप प्रकृति से स्वरूपाकार=बहुत प्रकार की परिणामिनी प्रकृति हुई। इस अजा=अनादि नित्य प्रकृति का भोग करता हुआ अज=अनादि जीव फँस जाता है, किन्तु अज=परमात्मा उस भोग में नहीं फँसता। यही ब्रह्म और जीव का भेद है। यहाँ "न जायते इति अजा" इस व्युत्पत्ति से अजा का अर्थ प्रकृति एवं अज का अर्थ प्रकरण-भेद से जीवात्मा तथा परमात्मा होगा। शंकराचार्य जी ने साङ्ख्यवादियों के मत का, जो इस उपनिषद् के वचन से त्रैतवाद सिद्ध कर रहे थे, खण्डन करते हुए **"कल्पनोपदेशाँच्च मध्वादिवदविरोधः'** (वे० द० १।४।१०) इस सूत्र पर लिखा है—"यथा हि लोके यदृच्छया काचिदजा रोहितशुक्लकृष्णावर्णा स्यात् बहुबर्करा सरूपबर्करा **च** ताँ च कश्चिदजो जुषमाणोऽनुशयीत कश्चिच्चैनाँ भुक्तभोगाँ जह्यात्…"। पाठक देखें कि 'न जायते इति अजा' अर्थात् नित्य प्रकृति इस अर्थ को मानने से शंकराचार्य जी के मायावाद रूपी बालू पर खड़ा हुआ महल ध्वस्त हो जाता, अतएव शब्द नित्य प्रकृति यह अर्थ न हो जाय, इसलिए अजा शब्द का रोहित-शुक्ल-कृष्ण वर्ण की अर्थात् चितकबरी बकरी एवं अज शब्द से उस बकरी का सम्पर्क करने वाला बकरा विशेष अर्थ करके इस वचन को कितना हास्यास्पद बना दिया है। नित्य प्रकृति मानने पर मायावाद न टिक सकेगा; इसलिए इस असँगत तर्कहीन बकरी-बकरे के नाटक को शंकराचार्य जी को खेलना पड़ा। इसी प्रकार **'द्वा सुपर्णा सयुजा०…'** इत्यादि[२] मन्त्र भी अनुचित रूप से शाँकर भाष्य में व्याख्यात हैं। यद्यपि इस ऋग्वेद के मन्त्र में अत्यन्त स्पष्ट एवं आलङ्कारिक रूप से त्रैतवाद कथित है।

ऋषि दयानन्द ने 'वेदान्ति ध्वान्तनिवारणम्' पुस्तक में नवीन वेदान्तियों के चार मुख्य दोष गिनाये हैं, जो ध्यान देने योग्य है। (१) जीव को ब्रह्म मानना (२) स्वयं पाप करना और कहना कि हम अकर्त्ता और अभोक्ता हैं। (३) जगत् को मिथ्या कल्पित मानना (४) मोक्ष में जीव का ब्रह्म में लय मानना।

शंकराचार्य जी के चतुःसूत्री मात्र का ही भाष्य देखने से स्पष्ट पता चल जाता है कि वेदान्त सूत्रों का उन्होंने अर्थ एवं व्याख्यान=भाष्य नहीं किया[४] है; किन्तु वह भाष्य के नाम से माया—विवर्त्त अध्यास (जिन सबका मूल 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वचन है) इत्यादि मनगढ़न्त बातों की, स्वतन्त्र रचना मात्र है; क्योंकि इन चारों सूत्रों में तो इन विवर्त्त आदि शब्दों की गन्ध भी नहीं है। इन काल्पनिक ऊट-पटाँग विचारों की फिटिंग उन्होंने जबरदस्ती वेदान्त सूत्रों के साथ कर दी है।

कोई भी बड़े से बड़ा नवीन वेदान्ती इन प्रश्नों का उत्तर कदापि नहीं दे सकता कि[१] आखिर ब्रह्म को अज्ञान=अविद्या माया ने घेर कैसे लिया ? इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि माया ब्रह्म से भी प्रबल हुई जो ब्रह्म के सिर पर चढ़ बैठी।[६] नवीन वेदान्ती इस माया को अनादि मानते हैं, जब यह अनादि है तो फिर सान्त कैसे हो सकती है ? एक किनारे की नदी कोई नहीं होती! यह सब माया-वादियों का झूठा प्रपञ्च है। (३) इन मायावादियों के यहाँ ब्रह्म ही उपादान कारण है और ब्रह्म का लक्षण है 'ब्रह्म सत्यम्'। अब सत्य उपादान से घड़ा हुआ यह जगत् सत्य ही तो होना चाहिये 'जगन्मिथ्या' कैसे[५] ? उधर ब्रह्म को उपादान मानने से वह विकारी और परिणामी भी सिद्ध हो गया तो वह 'ब्रह्म सत्यम्' कैसे रहा ? उसे अपरिणामी अविकारी सत्य कोई भी नवीन वेदान्ती कैसे सिद्ध कर सकेगा ? ये कुछ चुने हुये ऐसे प्रश्न हैं जिन्हें कोई भी वैदिक त्रैतवाद का समर्थक चाहे वह अबहुश्रुत ही क्यों न हो, बड़े से बड़े नवीन वेदान्तियों से करके उन्हें धराशायी कर सकता है।

शंकरदिग्विजय में एक मनोरञ्जक कथा आती है कि "एक बार शंकराचार्य जी गंगा स्नान के लिये जा रहे थे। रास्ते में चार भयानक कुत्तों को साथ लिये हुये एक चाण्डाल खड़ा हुआ मिला। शंकर ने उस अस्पृश्य समझे जाने वाले चाण्डाल को देखकर लगभग चीखते हुये

---

१. कृत वेदान्तिध्वान्त निवारणम्' इस लघु पुस्तिका में एवं श्री स्व० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय लिखित 'अद्वैतवाद' नामक पुस्तिका में देखें। विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखा जा रहा है।

२. ईशोपनिषद् में **'आत्मैवाभूद विजानतः'** इत्यादि से एकत्व सिद्ध किया जाता है, पर उसके प्रारम्भ में ही **'ईशावास्यमिदं सर्वम्०'** से इन सबका खण्डन हो जाता है। यहाँ 'ईशा' इस करण प्रयोग से ईश्वर को तथा 'इदम् सर्वम्' से इस समस्त विश्व को अलग से बताया गया है।

३. देखें—१।३।७ सूत्र का शाङ्कर भाष्य।

४. किन्हीं सूत्रों का भाष्य या व्याख्यान उसे ही कहा जा सकता है जिसकी व्याख्या सूत्रानुसारी हो, सूत्र के पदों के अन्तर्गत ही वह व्याख्या विद्यमान हो। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में व्याख्यान (भाष्य) के सम्बन्ध में कहा है—**'यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत'** अर्थात् जो सूत्र से भिन्न व्याख्यान करे वह नादः=उस सूत्र से भिन्न अर्थात् नाद=घोषमात्र समझा जाये, सूत्र का व्याख्यान नहीं। इसी लिये नागेश ने कहा—"सूत्रेष्वेव हि तत् सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्त्ति के"।

५. कारणगुण पूर्वकः कार्यगुणे दृष्टः (वै० द० २।१।२४)

कहा—"गच्छ[1] दूरमिति" परन्तु वह श्वपच भी बहुत पक्का था। वह उनकी डाँट से बिलकुल भी नहीं घबराया और उसने भी ज़ोर से कहा कि अद्वैत के समर्थक होते हुये भी द्वैत की भावना रखते हो[2]। जब मैं भी ब्रह्म हूँ तुम भी ब्रह्म हो तो अस्पृश्यतारूपी यह भेद अर्थात् द्वैत-भावना तुम्हारी बड़ी विचित्र है? उसके इतना कहने पर भी आचार्य शंकर उससे कुछ देर तक तो हटने का आग्रह[3] करते ही रहे पर जब वह बड़ी दृढ़ता से वाद-विवाद पर डटा ही रहा तो शंकर को सन्देह हो गया कि हो न हो यह चाण्डाल के वेश में कोई आत्मज्ञानी पुरुष तो नहीं हैं? इसलिये उन्होंने तत्काल अपने चित्त से द्वैत बुद्धि को समाप्त कर उसे उसके सामने ही आत्मज्ञानी पुरुष स्वीकार कर लिया। यहाँ देखना यह है कि शंकराचार्य जी ने जब उसे श्वपच समझा था तब भी उनके हृदय में द्वैत बुद्धि (शंकर एवं श्वपच के रूप में) थी और जब उसे आत्म-ज्ञानी पुरुष समझ लिया तब भी तो द्वैत बुद्धि शंकर एवं आत्मज्ञानी पुरुष के रूप में रही ही। वह तो समाप्त होने वाली चीज़ थी ही नहीं तो समाप्त कैसे होती? इस प्रकार श्वपच से प्रताड़ित होने से पूर्व एवं वाद की अवस्था में शंकर में अन्तर क्या हुआ? साथ ही श्वपच की प्रताड़ना से उनके सिद्धान्तों की हार भी स्पष्ट होती है। ऐसी अनर्गल बातों से जहाँ अद्वैत सिद्ध किया जाये और मूढ़मति पाठक बिना विचारे उसे मानते जायें, तो क्या कहा जा सकता है।

शंकराचार्य जी के मायावादरूपी अद्वैत के अतिरिक्त एक दो भिन्न प्रकार के भी अद्वैतवादी हैं, जिनका अति संक्षेप से यहाँ वर्णन किया जाता है—प्रथम हैं आधुनिक वैज्ञानिक जिन्हें "जड़ अद्वैतवादी" कहा जा सकता है, क्योंकि वे मानते हैं कि "मूलरूप में एक ही जड़तत्त्व है उससे ही समस्त जगत् का तथा चेतना का विकास हुआ है। जड़-तत्त्वों के संयोग से चेतना अपने आप ही आ जाती है ऐसा कहने वालों से हमारा प्रश्न है कि यदि जड़ तत्त्वों में स्वयं चेतना उत्पन्न हो जाती है तो वह सर्वत्र क्यों नहीं होती? यदि कुछ तत्त्वों के संयोग से ही जीव का प्रादुर्भाव होता है तो वह जीव उसमें पहले से था या नहीं? यदि था तो उसे जड़ तत्त्वों से उत्पन्न हुआ नहीं मानना चाहिये। यदि नहीं था और उत्पन्न हो गया तो अभाव से भाव की उत्पत्ति कैसे हुई? एक और भी बात है कि यदि चेतना उन विशेष संयोगों का आवश्यक परिणाम है तो उस 'सेल' का प्रयोगशाला में अब तक वैज्ञानिक निर्माण क्यों नहीं कर सके? 'सेल' को यदि दबा दें तो उसकी चेतना लुप्त हो जाती है, पर जड़ तत्त्वों का संयोग वही बना रहता है तो फिर चेतना क्यों लुप्त हो जाती है? इस शरीर के निर्माण में वैज्ञानिकों ने जीवित 'सेल' को कारण माना है, इसका मतलब है कि 'सेल' के रहने पर भी कभी वह जीवित रहता है कभी नहीं। जड़ तत्त्वों में स्वयमेव चेतना का उत्पन्न हो जाना, मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध भी है, क्योंकि समाधि अवस्था में 'योगज प्रत्यक्ष' से जीव अपनी सत्ता का स्वयं अनुभव करता है।

द्वितीय अद्वैतवादी मुसलमान भाई हैं, यद्यपि इन लोगों का सम्पूर्ण मत ढुलमुल सिद्धान्तों से भरा हुआ है; परन्तु यहाँ विशेष आलोच्य यह है कि ये भी अभाव से भाव की उत्पत्ति मानते हैं, अर्थात् ब्रह्म को उपादान के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि खुदा इल्लतमाद्दी = सर्वशक्तिमान् है, अतः उसने अपनी सर्वशक्तिमत्ता से जगत् को बिना उपादान कारण के रच दिया। यदि ऐसा मान लें तो इनके पक्ष में भी नवीन वेदान्तियों की तरह ही ब्रह्म विकारी एवं परिणामी सिद्ध हो जायेगा। साथ ही जगत् के तत्त्व उत्पन्न किये जाने के कारण प्रकृति नाशवान् भी सिद्ध हो जायेगी। अनेकों दोष उनके ऐसा मानने में हैं।

तीसरा बौद्धों का जीवात्मा का क्षणिकवाद मानना बड़ा ही विचित्र सिद्धान्त है। शंकराचार्य जी का विवर्त्तवाद एवं जड़ वेदान्तियों का अद्वैतवाद ये दोनों ही बुद्ध के शब्दों में एक अन्त अर्थात् सीमा है। इनको छोड़ कर बौद्धों को 'मध्यमा प्रतिपत्' अर्थात् वेद द्वारा उपदिष्ट त्रैतवाद में प्रतिपन्न होना चाहिये। वैसे देखा जाय तो बौद्धों का निर्वाण भी क्षणिक विज्ञान का विनाश ही तो है? तो क्या आत्म-विनाश की चेष्टा के लिये ही उनका निर्वाण प्राप्त्यर्थ इतना जप, तप और संयम हुआ?

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि अद्वैतवाद के समर्थक आचार्य शंकर जैसी प्रबल युक्तियों को उपस्थित करने वाला संसार में कोई नहीं हुआ। कुछ हद तक यह भी सच है कि मायावाद की पुष्टि में दी हुई उनकी युक्तियाँ अपरिपक्व मस्तिष्क वालों को कुछ देर के लिये सचमुच ही मायावाद (अज्ञान) से घेर लेती हैं, पर ध्यानपूर्वक विचार करने पर उनके द्वारा मान्य न्याय दर्शन के पञ्चावयव वाक्य जिनसे वह अपनी प्रतिज्ञा सिद्ध करते हैं। उनका थोथापन ही सिद्ध होता है। दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्ति में साम्य ही नही। दृष्टान्त 'स्वप्नवत्' कह कर स्वप्न का दिया जाता है और दार्ष्टान्ति जागृत अवस्था का। वैसे मैं तो कहती हूँ कि पाण्डित्य एवं तार्किकता इसमें नहीं कि मनुष्य अनेक प्रकार के शास्त्र-विरुद्ध वाक्छल-वाग्जाल एवं हेत्वाभास पूर्वक भ्रमोत्पादक तर्क उपस्थित करे,

---

१. सोऽन्त्यजं पथि निरीक्ष्य चतुर्भिर्भीषणैः श्वभिरनुद्रुतमारात्। गच्छ-दूरमिति निजगाद प्रत्युवाच च स शंकरमेम् (६।२५)

२. अद्वितायमनवद्यमसंग सत्यबोधसुखरूपमखण्डनत्।
आमनन्ति शतशो निगमान्तास्तत्र **भेदकलना तव चित्रम्** (६।२६)

३. शुचिर्द्विजोऽहं श्वपच व्रजेति मित्थ्याग्रहस्ते मुनिवर्यकोऽयम्।
सन्तं शरीरेष्वशरीरमेकमुपेक्ष्य पूर्णं पुरुषं पुराणम्॥ (६।३०)

४. विद्यामावप्यापि विमुक्ति पद्यां जागर्ति तुच्छा जनसंग्रहेच्छा।
अहो महान्तोऽपि महेन्द्रजाले मज्जन्ति मायाविवरस्य तस्य॥
(६।३२)

५. व्याकरण शास्त्र की परिभाषा है 'व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिन हि सन्दे सन्देहदालक्षणम्' अर्थात् आगा पीछा प्रकरणादि समझकर विशेष प्रतिपत्ति करनी चाहिये सन्देह मात्र से अलक्षण किसी बात को सिद्ध नहीं करना चाहिये।

जिससे सत्य बात का गोपन एवं मिथ्यात्त्व का प्रचार हो। अद्वैत के प्रबल समर्थक होते हुये भी कई स्थलों में तो शंकराचार्य जी ऐसे फँस जाते हैं कि उन्हें न करते हुये भी त्रैतवाद को मानना पड़ ही जाता[1] है।

वेद के **"यदग्ने स्यामहं त्वं-त्वं वा घा स्या अहम"** (ऋ० ८।४४।२३) जैसे मन्त्रों में जो कहा गया है, कि हे अग्ने ! मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जा' इनसे जो अद्वैत का बीजारोपण करते हैं वह भी महान् अनर्थ है क्योंकि जब दो (जीवात्मा-परमात्मा) हैं तभी तो दोनों के लिये प्रार्थना की गई कि 'मैं (जीवात्मा) परमात्मा को अत्यन्त सन्निकट समझूँ, ध्यानावस्थित होकर इतना तल्लीन हो जाऊँ कि तेरा सान्निध्य ही मेरा अस्तित्त्व हो' यह तो ब्रह्मानन्द में मग्न जीव की अवस्था मात्र का वर्णन है ऐसा जानना चाहिए। वेद के **'न तं विदाथ य इमा जनान'**० (यजु०) **'इयं विसृष्टियर्त आ बभूव'**० (ऋ० १०।) **'द्वा सुपर्णा'** (ऋ० १।१६४।२०) इत्यादि सैकड़ों मन्त्रों से जो त्रैतवाद का प्रतिपादन होता है उन सबको उद्धृत करना यहाँ सम्भव नहीं।

इस प्रकार त्रैतवाद का सिद्धान्त हमारे लिये सर्वप्रकारेण सम्पुष्ट एवं अकाट्य रूप से मान्य है, ऐसा जानना चाहिये।

(पृष्ठ २३२ का शेष)

१९ दिसम्बर १९२७ की प्रातः बेला ठीक ४ बजे पंडित रामप्रसाद जी उठ बैठे। आज उन्हें गोरखपुर (उ० प्र०) की जेल से जीवन की अन्तिम यात्रा करनी थी। शौचादि से निवृत्त होकर उन्होंने स्नान किया फिर सन्ध्या वन्दन कर रोज की तरह हवन किया। मातृभूमि के हवन कुण्ड में अपने जीवन की अन्तिम आहुति देने के नाम पर उन्होंने हवन कुण्ड में अन्तिम आहुति डाली और फिर वे उसी समय गाने की पंक्तियाँ गुनगुनाने लगे जिसे गाते हुए वे, और उनके साथी लखनऊ की अदालत में अपने मुकदमों का तमाशा देखने दो वर्ष तक जाते रहे थे :

सर फरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है॥
अब न अगले बलबले हैं और न अरमानों की भीड़ा।
एक मर जाने की हसरत अब दिले बिस्मिल में है॥

जेल के यमदूत जब प्रातः लगभग ६ बजे उन्हें लेने आ पहुँचे तो वे प्रसन्न मुद्रा में फाँसी घर के लिए चल दिए। उन्होंने भारत माता की जय के नारे लगाए और फिर 'विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि' वेद-मन्त्र पढ़ते हुए फाँसी पर लटक गए।

यह था स्वतन्त्रता संग्राम में आर्यसमाज की ओर से उनका योगदान।

---

१. देखें—गीता का १३। १९ का भाष्य। यहाँ शंकराचार्य जी को प्रकृति और जीव दोनों को अनादि मानना पड़ा है। जब प्रकृति संसार का कारण है तो वह उपादान कारण हो ही गई। इसी प्रकार माया से आच्छादित ब्रह्म का अंश एवं शुद्ध चैतन्य ब्रह्म ये दो प्रकार के ब्रह्म मानने भी तो प्रच्छन्नतया द्वैत (जीवात्मा = परमात्मा) का ही तो समर्थन है। अब शंकराचार्य जी सीधी तौर पर नाक न पकड़ कर (अल्पज्ञ गुण विशिष्ट जीवात्मा, सर्वज्ञ गुण विशिष्ट परमात्मा ये दो न मानें तो) द्रविड़ प्राणायाम करें तो, इलाज ही क्या है ?

आर्य समाज और राजनीति

डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

अपने देश में दो प्रबल विचार-धाराएँ बड़े वेग से चल रही हैं। एक है, 'सांस्कृतिक' विचार-धारा और दूसरी है 'राजनैतिक' विचार-धारा। भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया, तो भारत की प्राचीन संस्कृति, वह संस्कृति जिसके विषय में हम कहा करते थे कि उसने विजेताओं को भी पराजित कर दिया, वह संस्कृति जिसके विषय में हम कहते थे कि ईजिप्ट और मैसेपोटामिया की संस्कृति नष्ट हो गई, परन्तु भारत की संस्कृति नष्ट नहीं हुई, भारत के स्वतंत्र होने पर अब उस संस्कृति का पुनरुज्जीवन होना चाहिये, इतना ही नहीं कि उस संस्कृति का पुनरुज्जीवन होना चाहिये, अपितु उस संस्कृति का संदेश लेकर हमारे सन्देश हर देश-विदेश में जाने चाहियें, एक तो यह विचार-धारा है। दूसरी विचार-धारा यह है कि हमें संस्कृति की तरफ अपना समय व्यर्थ में नहीं खोना, हमारा मुख्य कार्य राजनैतिक है, राजनैतिक अर्थात् मुख्य तौर पर आर्थिक। राष्ट्र का निर्माण कैसे हो, भूख की समस्या का हल क्या किया जाए, बेकारों को काम कैसे दिया जाय—हमारा काम मुख्य तौर पर इन प्रश्नों को हल करना है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण के व्यक्ति मुख्यतः आर्यसमाजी हैं, राजनैतिक दृष्टिकोण के व्यक्ति कांग्रेसी हैं, सोशलिस्ट हैं, या कम्युनिस्ट हैं। राजनैतिक नेता किसी ऐसे शब्द से घृणा करते हैं जिस से 'धर्म' या 'संस्कृति' की गंध आती हो। उन्होंने यह घोषणा कर दी है कि भारतीय राष्ट्र का निर्माण असाम्प्रदायिक नींव पर होगा, इसमें किसी धर्म को मुख्यताः न होगी, किसी धर्म को मानने के कारण किसी के अधिकार नहीं छिनेंगे। राजनैतिक नेताओं की यह घोषणा इतनी युक्ति-युक्त तथा संगत है कि इसके विरुद्ध सांस्कृतिक नेता भी कुछ कह नहीं सकते। आखिर, यह तो कोई भी नहीं कह सकता कि किसी भी राष्ट्र में किसी धर्म के कारण अधिकारों का बंटवारा हो। पाकिस्तान क्रिया में भले ही कुछ क्यों न करता हो, परंतु वहाँ भी कहने को यही घोषणा की जाती है कि पाकिस्तान सब धर्मों के साथ एक सा बर्ताव करेगा। विश्व की प्रगतिशील राजनीति में आज कोई अपने को खुल्लम-खुल्ला साम्प्रदायिक कहे, और दूसरों के साथ एक ही श्रेणी में बैठ सके, ऐसा नहीं हो सकता। इसी का यह परिणाम है कि आज अत्यन्त उग्र साम्प्रदायिक कही जाने वाली संस्थाओं ने भी यह घोषणा की है कि वे भी भारत को असाम्प्रदायिक-राष्ट्र ही बनाना चाहती है। राजनैतिक नेताओं की इतनी बात मान लेने के बाद कि भारत असाम्प्रदायिक-राष्ट्र होगा, धर्म-भेद के कारण कोई ऊँचा नहीं माना जायगा, कोई नीचा नहीं माना जायगा, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भारत की कोई अपनी संस्कृति होगी या नहीं, कोई ऐसी संस्कृति जो यूरोप की नहीं होगी, जो पाकिस्तान की नहीं होगी, जो भारत की अपनी होगी, और जिसे वह अपने पुराने इतिहास के अनुसार संसार के सामने रखने का साहस करेगा।

संस्कृति का ऐसा प्रश्न है जिसमें राजनैतिक नेताओं को फिर धर्म की गंध आती है। वे यह मानने के लिए तैयार हो सकते हैं कि भारतीय संस्कृति का देश-विदेश में प्रचार हो, परन्तु उन्हें हर समय यह खटका बना रहता है कि संस्कृति के नाम से फिर धर्म जाग उठेगा और जिस बात से वे निपटना चाहते हैं, वही खतरा उन्हें फिर घेर लेगा। परिणाम यह हो रहा है कि धर्म के साथ-साथ संस्कृति पर भी राजनैतिक नेताओं का प्रहार हो रहा है, और वे यह कहते हुए सुने जाते हैं कि आखिर भारतीय संस्कृति है क्या चीज? भारतीय संस्कृति क्या चीज है, इसे समझाना तो कठिन है, सिर्फ झुंझलाहट में आकर ही कोई ऐसा प्रश्न पूछ बैठता है। आखिर, जो संस्कृति हजारों सालों से चली आ रही है, जिसके विषय में स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व हमारे ही नेता मेजें तोड़ दिया करते थे, जिसका नाम लेकर सोतों को जगाया करते थे, वह आज अगर स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने के बाद रही ही नहीं, तब तो उन्हीं नेताओं का दोष है, संस्कृति का नहीं। अब प्रश्न यह है कि अगर भारत की अपनी कोई संस्कृति है, जिसे मानकर ही हम आगे विचार कर रहे हैं, तो उसकी रक्षा का, उसके बढ़ने का, उसके प्रचार का क्या प्रयत्न किया जाय?

राजनैतिक नेता जब यह देखते हैं कि संस्कृति-वादी लोगों की विचार-धारा भी काफी प्रबल है, उनके भी काफी अनुयायी हैं, तो वे उन्हें कहते हैं कि आप राजनीति में दखल मत दो, फिर भले ही अपने विचारों का प्रचार करते रहो।

परन्तु क्या इस स्थिति को मान लिया जाए कि संस्कृतिवादी लोग राजनीति से अलग होकर जंगल में अपना हल चलाने लगें? यह तो माना जा सकता है कि धर्म के नाम पर कोई संस्था राजनीति में प्रवेश न करे, इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतवर्ष एक असाम्प्रदायिक राज्य ही बनना चाहिए, इसमें धर्म के कारण भेद-भाव, ऊंच-नीच नहीं होना चाहिए, परन्तु यह कैसे माना जा सकता है कि भारतीय-संस्कृति के नाम

पर भी कोई राजनीति में प्रवेश न करे ? हम चाहते हैं कि यहां की राजनीति यूरोप के ढंग से न चले, अमरीका के ढंग से न चले, भारतीय-संस्कृति के ढंग से चले । हम चाहते हैं कि यहाँ का राष्ट्रपति दस हजार रुपया मासिक वेतन न लेकर जनता के समान सम्मानित स्तर में अपना गुजारा करे, हम चाहते हैं कि वह ब्रिटिश वाइसरायों की तरह न रहकर महात्मा गाँधी की तरह रहे । अगर हम यह सब-कुछ चाहते हैं, तो तभी तो चाहते हैं क्योंकि हम अपनी पुरातन भारतीय संस्कृति को, उस संस्कृति को जिसमें धन को वह स्थान प्राप्त नहीं था जो आज प्राप्त हो गया है, राजनीति के क्षेत्र में पनपता हुआ देखना चाहते हैं । और, अगर हम भारतीय राजनीति को भारतीय सांस्कृतिक विचारधारा के अनुसार फूलता-फलता देखना चाहते हैं, तो क्यों न हम राजनीति में भाग लें ? आखिर यह तो मानी हुई बात है कि वर्तमान युग में सारी शक्ति राजनैतिक नेताओं के हाथ में रहती है । वे जो नियम बना दें, अच्छे हों, बुरे हों, वे चलेंगे ही । राजनीतिक-क्षेत्र तो एक साधन है, एक शक्ति है, इस शक्ति का सहारा लेकर देश को किधर-से-किधर ले जाया जा सकता है । आखिर, राजनैतिक नेता भी तो अपने आदर्शों को क्रिया में परिणत करने के लिए राजनैतिक शक्ति को अपने हाथ में लेना चाहते हैं । कांग्रेसी अगर राजनैतिक-शक्ति को अपने हाथ में लेना चाहते हैं, तो इसीलिए कि जैसा वे चाहते हैं वैसा देश को बना दें । इसी प्रकार सोशिलस्ट और कम्युनिस्ट भी राजनैतिक-शक्ति को अपने हाथ में इसीलिए लेना चाहते हैं कि वे देश को सोशिलस्ट या कम्युनिस्ट बना दें । ये सब आर्थिक दृष्टिकोण पर ही बल देते हैं, परन्तु समाज का ढाँचा सिर्फ आर्थिक नहीं, सांस्कृतिक भी होता है । हमारे बच्चे कैसी शिक्षा ग्रहण करें, उन पर किस प्रकार के संस्कार पड़ें, वे सिनेमा या टेलीविजन द्वारा फैलाई जाने वाली गन्दगी से बचें या न बचें, उनका चरित्र कैसा हो—यह सांस्कृतिक दृष्टिकोण ही तो है । ऐसी स्थिति में संस्कृति-वादी क्यों न राजनैतिक शक्ति को अपने हाथ में लें, और क्यों राजनैतिक-क्षेत्र से अलग रहें ? कहा जा सकता है कि संस्कृति तो है ही अपनी इच्छा की चीज, इसके विस्तार में राजनैतिक शक्ति का उपयोग क्यों किया जाय ? परन्तु यह तभी कहा जा सकता है अगर संस्कृति का अर्थ-धर्म समझ लिया जाय । राजनैतिक लोग गलती से, या जान-बूझकर 'संस्कृति' और 'धर्म' को एक कहने लगते हैं, परन्तु ये दोनों एक नहीं हैं । जैसे राजनैतिक विचारों के लिए राजनैतिक शक्ति को अपने हाथ में लेना जरूरी है, वैसे सांस्कृतिक विचारों के लिए भी राजनैतिक शक्ति को अपने हाथ में लेना उतना ही जरूरी है । वैसे तो, राजनैतिक विचार के लोग भी तो जबर्दस्ती नहीं करना चाहते । क्या कांग्रेसी कहते हैं कि हम अपने विचारों को जबर्दस्ती जनता पर लाद देंगे ? सोशिलस्ट और कम्युनिस्ट भी नहीं कहते कि उन्होंने जबर्दस्ती करनी है । सभी डेमोक्रेसी' और 'जनता' का नाम लेते हैं । संस्कृतिवादी लोगों को भी राजनैतिक शक्ति का प्रयोग उसी प्रकार जनता के हित के लिए करना है जिस प्रकार राजनैतिक संस्थाएँ करने को कहती हैं । अगर कांग्रेस को, अधिकार है कि वह राज्य-शक्ति को अपने हाथ में लेकर देश में अपने अनुकूल वातावरण उत्पन्न करके अपने विचारों के अनुसार शासन स्थापित करे, अगर सोशिलस्टों को अधिकार है कि वे जनता की वोट अगर उनके साथ हो, तो राज्य शक्ति को अपने हाथ में लें, और यहाँ की राजनीति को समाजवादी बनायें, तो संस्कृति-वादियों को भी उतना ही अधिकार है कि वे भारतीय संस्कृति के नाम पर संगठन बनायें, चुनाव लड़ें, अपने अनुकूल वातावरण उत्पन्न करें, और भारत के आर्थिक प्रश्नों के साथ-साथ सांस्कृतिक एवं चारित्रिक प्रश्नों को भी हल करें । जो लोग समस्त एशियाई देशों की बड़ी-बड़ी कान्फ्रेंसें करके घोषणा करते हैं कि भारत एशिया का नेतृत्व करेगा उन्हें मालूम होना चाहिए कि एशिया के नेतृत्व के लिए 'डेमोक्रेसी' 'सोशियलिज्म' या 'कम्युनिज्म' काम नहीं आएगा, उन देशों के नेतृत्व के लिए भारतीय संस्कृति काम आयेगी । 'डेमोक्रेसी' का नेतृत्व होगा इंग्लैंड या अमेरिका से, 'सोशियलिज्म' या 'कम्यूनिज्म' का नेतृत्व होगा 'रूस' से—वे इन बातों में हम से बहुत बढ़े-चढ़े हुए हैं । हम नेतृत्व करना चाहें, तो हमें अपनी संस्कृति संसार के सम्मुख रखनी होगी, वह संस्कृति जिसमें 'एटम-बम्ब' से संसार का संहार करना हमारा लक्ष्य न होगा, प्राणि-मात्र की रक्षा हमारा लक्ष्य होगा, जिसमें अशोक की तरह हमारा राष्ट्र सांस्कृतिक-विजय के लिए अपनी विचारधारा को लेकर निकल पड़ेगा । पं० जवाहरलाल नेहरू को जो अमेरिका में सफलता मिली थी वह 'डेमोक्रेसी' का नारा लगाने के कारण नहीं, भारतीय संस्कृति के प्राण महात्मा गांधी की 'सत्य' और 'अहिंसा' का जगह-जगह प्रचार करने के कारण, भारतीय संस्कृति का प्रतीक होने के कारण मिली थी ।

इस सम्पूर्ण विवेचन का यह अभिप्राय है कि संस्कृति-वादियों के एक ऐसे प्रबल संगठन की आवश्यकता है जो संस्कृति के नाम पर खड़ा हो, और संस्कृति तथा चरित्र-निर्माण के नाम पर ही राजनीति में भाग ले, चुनाव लड़े, और भारतीय संस्कृति को इस राष्ट्र की ऐसी चीज बना दे जिससे यह देश सचमुच अन्य देशों का मूर्धन्य बन जाय ।

आर्यसमाज का इतिहास एक विचित्र इतिहास रहा है । प्रगतिशील हिन्दू आर्यसमाजी बन जाता है, ढीला-ढाला आर्य समाजी हिन्दू रह जाता है । प्रगतिशील होने के कारण आर्यसमाजियों ने सब क्षेत्रों को घेर रखा है । यद्यपि नीति के तौर पर आर्यसमाजी यही घोषणा करते रहे हैं कि आर्यसमाज का सामूहिक रूप से राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तो भी प्रत्येक आर्यसमाजी क्योंकि एक जागा हुआ व्यक्ति है इसलिए वैयक्तिक रूप से वह राजनीति से अलग नहीं रहता । अर्सा हुआ जब पटियाला में आर्यसमाजियों की धर-पकड़ हुई थी, और यह कह कर हुई थी कि आर्यसमाज अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यंत्र रचने वाली प्रच्छन्न राजनीतिक संस्था है । लाला लाजपतराय का राजनीति में झुकाव ही आर्यसमाजी होने के कारण हुआ था । उन दिनों के आर्य-

समाजी नेताओं ने जब देखा कि अपने राजनैतिक विचारों के कारण आर्यसमाज सरकार की कोपभाजन हो रही है, और इस कारण आर्य-समाज का धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम भी सन्देह से देखा जाने लगा है, तब उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी से यह घोषणा की कि आर्यसमाज सामूहिक रूप से राजनीति में भाग नहीं लेगा, वैयक्तिक रूप से प्रत्येक आर्यसमाजी राजनीति में भाग लेने के लिए स्वतन्त्र है, परन्तु इस हालत में किसी व्यक्ति के राजनैतिक विचारों का उत्तरदायित्व आर्य समाज पर नहीं होगा। इस घोषणा से आर्यसमाज की संस्था के रूप में जान तो बच गई, परन्तु इस का परिणाम यह हुआ कि प्रगतिशील युवक आर्य समाज को एक निकम्मे बुड्ढों का, डरपोक लोगों का समुदाय समझने लगे, और तभी से आर्यसमाज शिथिल होना शुरू हो गया। आज यह अवस्था आ गई है कि जो लोग सालों से आर्य समाजी चले आ रहे हैं वे तो साप्ताहिक सत्संगों में दिखाई देते हैं, नया खून आना बन्द हो गया है। पुराने व्यक्ति प्रायः वृद्ध हो चुके हैं अतः आर्य समाज में प्रायः पके हुए बाल ही नजर आते हैं। वे भी आर्यसमाज के साथ इसलिए चिपटे हुए हैं क्योंकि उनकी पुरानी गद्दियाँ बनी हुई हैं, नई गद्दियाँ ढूंढ़ने और उन्हें बनाने में जिस नवीन शक्ति की आवश्यकता है वह उनमें रही नहीं। अक्सर वे लोग शिकायत करते सुने जाते हैं कि पुराने जमाने में यह होता था, नये जमाने में कुछ नहीं होता, वे यह भूल जाते हैं कि नये जमाने को ही उन्होंने ऐसा बना दिया है जिसमें कुछ हो ही नहीं सकता।

आर्यसमाज के पास बड़ा भारी संगठन है, परन्तु वह बेकार पड़ा हुआ है। अभी तक कांग्रेस के अपने भवन नहीं है, उनके प्रचारक नहीं हैं। आर्य समाज के पास प्रायः प्रत्येक बड़े शहर में अपने भवन हैं, प्रति-निधि सभाएँ बनी हुई हैं, अपना प्रचारक-मंडल है, गाँव-गाँव में आर्य-समाजें बनी हुई हैं, जनता प्रायः आर्य-समाजी विचारों के अत्यन्त निकट है। यह सब-कुछ होते हुए आर्यसमाज अपने सांस्कृतिक कार्यक्रम में इसलिए पिछड़ा हुआ है कि इसने राजनीति का पल्ला कभी का छोड़ा हुआ है। अगर आर्यसमाज किसी प्रकार भी राजनीति को अपना सके तो इसके सब कार्यक्रमों में जान आ सकती है, इसमें पुनः प्राण-प्रतिष्ठा हो सकती है, तब युवकों का फिर से आर्यसमाज केन्द्र बन सकती है।

यह पूछा जा सकता है कि आर्यसमाज को पुनज्जीवित करने की आवश्यकता ही क्या है? कोई संस्था सदा बनी रहे, यह कोई आवश्यक बात नहीं। अगर वह जनता को अपील करती है, तो रहेगी, नहीं करती तो खतम हो जायगी। क्या आवश्यकता है कि सिर्फ आर्यसमाज को पुनरुज्जीवित करने के लिए आर्यसमाज के साथ राजनीति का पल्ला बाँधा जाय। अगर राजनीति के बगैर आर्यसमाज जिन्दा रह सकती है, तो जिये, नहीं रह सकती, तो समाप्त हो जाय। इस दृष्टि से तो हरेक धार्मिक संस्था को जिन्दा रखने के लिए उसके अनुयायी उसका राजनीति के साथ पल्ला बाँधने लगेंगे, और फिर धार्मिक बखेड़े खड़े हो जायेंगे। इसका उत्तर यही है कि आर्य-समाज केवल धार्मिक-संस्था नहीं है। आर्यसमाज राजनीति में भाग ले, सिर्फ इस दृष्टि से मैं नहीं कहता कि आर्यसमाज केवल धार्मिक-संस्था नहीं है, परन्तु आर्य-समाज के सभी नेता सदा से आर्यसमाज के चौमुखे कार्यक्रम पर बल देते रहे हैं। आर्य-समाज का धार्मिक प्रोग्राम है, और बड़ा जबर्दस्त है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, परन्तु धार्मिक कार्यक्रम के साथ-साथ आर्यसमाज का सामाजिक, सांस्कृतिक, चारित्रिक तथा शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम भी है। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश में जो कुछ लिखा है वह सब आर्य-समाज का कार्यक्रम है। मैं आर्यसमाज को पुनरुज्जीवित करने के लिए नहीं कहता कि वह राजनीति में भाग ले, परन्तु मैं तो यह कहता हूँ कि आर्यसमाज अपने चौमुखे प्रोग्राम को अपने हाथ में ले। क्या कारण है कि हम केवल ईश्वर, जीव, प्रकृति तक ही अपने को सीमित रखें? हमारे कार्यक्रम में यह क्यों नहीं आता कि म्यूनिसिपैलिटी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, एसेम्बली के सदस्य आर्य समाजी विचारों के हों जो शीघ्र से शीघ्र आर्यसमाज के सांस्कृतिक, सामाजिक, चारित्रिक तथा शिक्षा संबंधी विचारों को क्रिया रूप में परिणत करें। हिन्दू, सिख, ईसाई, मुसलमान तो हैं ही सिर्फ धार्मिक संस्थाएँ, उस दृष्टि से आर्यसमाज सिर्फ धार्मिक संस्था नहीं है, अगर हो गई है, तो इसके रूप को बदलना आवश्यक है। हमें इस बात को समझना होगा कि आर्यसमाज ने अंग्रेजों के काल में अपने बचाव के लिए सिर्फ धार्मिक संस्था होने के रूप को धारणा किया था, असल में ऋषि दयानन्द ने इसे यह रूप नहीं दिया था। ऋषि दयानन्द का मन्तव्य एक ऐसी संस्था उत्पन्न करना था जो चौमुखा कार्य करे, चौमुखी लड़ाई लड़ें, और किसी क्षेत्र से अपने को अलग न रखे। हाँ, यह प्रश्न जरूर बना रह जाता है कि जब आर्यसमाज का धार्मिक कार्यक्रम भी है, तब वह अगर राजनीति में प्रवेश करेगी तो अपने धार्मिक प्रोग्राम को भी प्रचलित करेगी और इस अवस्था में यह एक साम्प्रदायिक कार्य हो जाएगा।

इसी समस्या का हल करने के लिए ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में तीन सभाओं का वर्णन किया है। 'धर्मार्य सभा', 'विद्यार्य सभा'-'राजार्य सभा'। कोई समय था जब आर्य समाज सामूहिक रूप से तीनों सभाओं का कार्य करता था। आर्य समाज की अन्तरंग सभा ही जलसे करती थी, प्रचार करती थी, उपदेश कराती थी, वही स्कूल-कालेज खोलती थी, गुरुकुल खोलती थी, वही समय पड़ने पर राजनैतिक प्रश्नों का भी हल कर देती थी। पहले-पहल आर्यसमाज को राजनीति की दिक्कत पेश आयी। देश में विदेशी लोग शासन कर रहे थे, परन्तु ऋषि दयानन्द ने घोषणा की थी। कि विदेशी राज्य कितना ही अच्छा हो वह देशी राज्य का स्थान नहीं ले सकता। आर्य समाजी क्या करते? उन्होंने पेट पालने के लिए रोटी भी कमानी थी, विदेशियों की नौकरी भी करनी थी, उन्हें वे अपना शत्रु भी समझते थे। इस दुविधा में से निकलने का सबसे उत्तम उपाय तो यह था कि वे 'राजार्य'-सभा' की स्थापना कर देते, और जो आर्यसमाजी दम-खम वाले होते, वे 'राजार्य-सभा' के सदस्य

होकर उसके नाम से विदेशियों ले टक्कर लेते, जो इस दिशा में कार्य न कर सकते, वे धर्मार्य सभा' तथा 'विद्यार्य-सभा' के सदस्य रह कर उसके द्वारा अपना सेवा-कार्य जारी रखते । उस समय के आर्य-नेताओं ने सोचा होगा कि विदेशी लोग 'राजार्य-सभा' के नाम से भी चिढ़ेंगे, और उसके बहाने आर्यसमाज का कार्य नहीं चलने देंगे, इसलिये उन्होंने राजनीति को सामयिक तौर पर अलग कर दिया, और अपना कार्य सिर्फ प्रचार करने तथा स्कूल-कालेज-गुरुकुल खोलने जो 'धर्मार्य-सभा' तथा 'विद्यार्य-सभा' के कार्य थे वहीं तक परिमित कर दिया । अब शुरू-शुरू में 'धमार्य सभा' तथा 'विद्यार्य-सभा' की अलग-अलग स्थापना भी नहीं की गई थी, बहुत पीछे जाकर, जब धर्म-प्रचार और विद्या-प्रचार के कार्य बहुत बढ़ गये, तब किसी-किसी प्रतिनिधि-सभा ने अपने क्षेत्र में दो सभाएं बनाई, और भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार कोई 'धर्मार्य-सभा' और कोई 'विद्यार्य-सभा' में कार्य करने लगे । क्योंकि किसी भी संस्था के पिछले इतिहास को भुलाया नहीं जा सकता इसलिये यह बात तो ठीक है कि आर्यसमाज सामूहिक-रूप से राजनीति में क्योंकि अब तक भाग नहीं लेता रहा, तो अब भी न ले, परन्तु जिस प्रकार आर्यसमाज ने अपने प्रचार-कार्य के लिए 'धर्मार्य-सभाओं' की स्थापना की है, जिस प्रकार उसने अपने शिक्षा-सम्बन्धी कार्य के लिए 'विद्यार्य-सभाओं की स्थापना की है, उसी प्रकार अपने शुद्ध साँस्कृतिक तथा शिक्षा कार्यों को सशक्त बनाने के लिए 'राजार्य-सभा' की स्थापना करके राजनीति में भाग क्यों न लें ?

जैसा ऊपर कहा गया है, राजार्य सभा का काम आर्यसमाज के सांस्कृतिक तथा शिक्षा संबंधी दृष्टिकोण को राज-शक्ति का सहारा देना होगा । राजार्य-सभा की स्थापना करते हुए आर्यसमाज को यह तो निश्चित कर लेना होगा कि राजार्य-सभा के तत्वावधान में जो आर्य-समाजी एसेम्बलियों तथा पार्लियामेंट में चुने जायेंगे उन्हें यह समझ कर ही जाना होगा कि इस देश में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी-धर्मों के लोगों को रहना है, सभी को अपने-अपने धर्म की स्वतन्त्रता होगी, राज्य की तरफ से किसी के धर्म में हस्तक्षेप नहीं होगा, परन्तु जहाँ तक संस्कृति का तथा शिक्षा का संबंध है वहाँ तक आर्यसमाज की शक्ति से चुने हुए सदस्यों को पूरे बल से इस बात का प्रयत्न करना होगा कि इस देश की संस्कृति का निर्माण तथा विकास पाश्चात्य ढंग से न हो, इस देश की शिक्षा का विकास इस प्रकार से हो जिससे हमारे देश के युवक इस देश की संस्कृति के रंग में रगे हों । देश का आर्थिक निर्माण तथा सांस्कृतिक-निर्माण-ये दो बातें हैं जिस पर भिन्न-भिन्न संगठन भिन्न-भिन्न प्रकार से बल देते हैं । आर्थिक-निर्माण पर बल देने वाले अपने को यहीं तक सीमित रखते हैं कि सब को भर पेट खाना मिले, पहनने को कपड़ा मिले, रहने को मकान मिले, आर्थिक-विषमता दूर हो, कोई बहुत अमीर, कोई बहुत गरीब न हो । इससे आगे देश का क्या होता है, इससे उन्हें कोई सरोकार नहीं । जितनी राजनैतिक-संस्थाएँ हैं, वे यहीं अपना कार्य-क्षेत्र समझती हैं । परन्तु क्या देश का निर्माण बस इतने से हो जाता है ? खाना मिले, कपड़ा मिले, मकान मिले, पैसा मिले—इस सब मिलने के बाद रेडियो तथा टेलीविजन में गन्दे, अश्लील गाने सुनने को मिलें, सिनेमा घरों में जवान लड़कियों का नंगा नाच देखने को मिले, बड़े-बड़े घरों के लड़के बन्दूक-पिस्तौल लेकर दिन-दहाड़े बैंकों पर डाके डालें, बड़े-छोटे घरों की लड़कियां, बहू-बेटियाँ शराब घरों में नाच, राग-रंग मनाएं—इस तरफ किस का ध्यान जाता है ? अगर किसी राजनैतिक नेता से पूछा जाय कि रोज-रोज़ रेडियो से ये जो गीत चिघांड़ा जाता है—"हम तुम एक कमरे में बन्द हों, और चाबी खो जाए"—जिस गीत को सुनकर आज बच्चा-बच्चा यही तराना उड़ाता फिरता है, क्या यही देश का निर्माण हो रहा है ? तो नेता जी का इस प्रश्न के संबंध में क्या उत्तर है ? असल में, देश के सामने दोनों विकट समस्याएं हैं—आर्थिक समस्या तथा सांस्कृतिक समस्या । आर्थिक समस्या पर राजनैतिक लोग अपना दिमाग लड़ाते रहें, इस पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती । आर्थिक-आधार पर कांग्रेस, सोशियलिस्ट, कम्यूनिस्ट, जनसंघी—जो भी मैदान में आये ठीक है, परन्तु क्योंकि देश की समस्या सिर्फ आर्थिक ही नहीं है, सांस्कृतिक भी है, इसलिए भारतीय संस्कृति पर बल देने वाली संस्था—आर्यसमाज—का भी 'राजार्य-सभा' के निर्माण द्वारा राजनीति में प्रवेश करना आवश्यक है । सब आर्य समाजियों के 'राजार्य-सभा' के सदस्य बनने की आवश्यकता नहीं, सब आर्यसमाजी 'धर्मार्य-सभा' या 'विद्यार्य-सभा' के भी तो सदस्य नहीं है । 'राजार्य-सभा' आर्यसमाज का राजनैतिक पक्ष होगा जिसका मुख्य उद्देश्य एसेम्बलियों तथा पार्लियामेंन्ट में इस घोषित उद्देश्य से प्रवेश करना होगा कि वे देश का निर्माण करने में भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण को पुष्ट तथा क्रियात्मक रूप देने में राजनैतिक-शक्ति का सहारा चाहेंगे । अगर कोई कहे कि रेडियो पर गन्दे गीत गाने की स्वतंत्रता होनी चाहिये, सिनेमा में नंगा नाच करने तथा दिखाने की छुट होनी चाहिए, अगर कोई कहे कि यूरोप की तरह लड़के-लड़कियों को विवाह के पूर्व यौन-संबंध करने की आजादी होनी चाहिये, तो कहने दो उन्हें, यह सब तो हो ही रहा है, परन्तु ऐसेम्बलियों तथा पार्लियामेन्ट में ऐसे लोगों का रहना भी जरुरी है, जिनका मुख्य उद्देश्य आर्थिक-समस्या का हल करना न होकर इस नारकीय विचार-धारा पर लगाम डालना हो । आर्थिक-समस्या का हल करने पर तो सभी लगे हुए हैं, इतनों के लगे होने पर वह तो कभी-न-कभी हल होगी ही, परन्तु सांस्कृतिक—चारित्रिक—भविष्य के युवा-युवतियों के जीवन-निर्माण की समस्या पर किस का ध्यान है ? यही समझा जा रहा है कि सब को भरपेट खाने को मिल जाय, अमीर-गरीब का भेद मिट जाय, तो देश में स्वर्ग उतर आयेगा । यह कोई नहीं सोचता कि खाने-पीने वाले, मकान-महल वाले सब भौतिक सुख-संपदा पाकर भी अगर चरित्र खो बैठे, तो सब कुछ पाकर भी कुछ न पा सके । आज इस चरित्र पर किसी राजनैतिक नेता का ध्यान नहीं जाता क्योंकि उनका अपना चरित्र ही डांवाडोल है । इसी चरित्र-निर्माण को—जिसे मैंने सांस्कृतिक दृष्टिकोण कहा है—भारतीय राजनीति में उच्च-शिखर पर ला बैठालने के लिए

आर्यसमाज द्वारा 'राजार्य सभा' के संगठन की आवश्यकता है जिसके तत्वावधान में चुने जाकर हमारे प्रतिनिधि देश की विधानसभाओं में इस नए दृष्टिकोण की हलचल मचा दें, ठीक ऐसी हलचल मचादें जैसे कम्युनिस्ट कम्युनिज्म की, सोशियलिस्ट सोश्यलिज्म की हलचल मचाया करते हैं। चरित्र निर्माण के इस पक्ष को विधान-सभाओं तथा संसद में आग की लपटों की तरह जगा देना 'राजार्य-सभा' के तत्वावधान में चुने गए सदस्यों का मुख्य-लक्ष्य होना चाहिये।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि चरित्र-संबंधी सदाचार की जो बातें हम ने लिखी हैं जिन्हें हमने भारतीय संस्कृति का नाम दिया हैं उन्हें तो सब कोई मानते हैं, भारत में ही क्या सब देशों में मानते हैं, फिर उन्हें भारतीय-संस्कृति क्यों कहा जाय, और उसके लिए आर्यसमाज को ही क्यों राजनीति में प्रवेश करने की जरूरत हो। यह ठीक है कि सब देश वैयक्तिक तथा सामाजिक चरित्र की भी बात करते हैं, परन्तु बात ही तो करते हैं, चलती बात करते हैं व्यवहार में चरित्र कहाँ है ? हमारी राजनीति ऋषि दयानन्द या महात्मा गाँधी की राजनीति नहीं है। यह ठीक है कि शराब नहीं पीनी चाहिए, सब कोई इसे मानते हैं, परन्तु पब्लिक में शराब न पीने का लेक्चर झाड़कर प्राइवेट में वे इसकी बोतलों पर बोतलें खाली कर देते हैं, यह ठीक है कि रिश्वत नहीं लेनी चाहिए, इसे वे भी उच्च-घोखा स्वीकार करते हैं, परन्तु रिश्वत ले-लेकर उनके बैंक के खाते दिनों-दिन बढ़ते जाते हैं; यह ठीक है कि सरकार का काम नवयुवकों तथा नवयुवतियों के लिए ऐसा सामाजिक वातावरण उत्पन्न करना है जिससे उनके चरित्र का निर्माण हो, परन्तु सरकार द्वारा संचालित रेडियो तथा टेलीविजन में गन्दे, अश्लील गाने तथा दृश्य रोज दिखलाये जाते हैं; यह ठीक है कि अमोद-प्रमोद के लिए जनता को सिनेमा-नाटक की जरूरत है; परन्तु इन्हीं सिनेमा-नाटकों को देखकर हमारे युवक युवतियों का अपहरण करना, बैंकों की डकैतियाँ आदि सीख जाते हैं परन्तु राजनैतिक नेताओं के आर्थिक-समस्याओं में ही उलझे रहने के कारण इधर किसी का ध्यान नहीं जाता; यह ठीक है कि पिछले २५ साल से हर विधान-सभा में, पार्लियामैन्ट में शिक्षा-सुधार की रट लगाई जाती है, जिस दिन देश स्वतंत्र हुआ उस दिन जो बच्चा पैदा हुआ वह आज स्वयं बच्चों का बाप हो चुका है, परन्तु हमारी शिक्षा का रूप आज भी जहाँ का तहाँ खड़ा है। क्या इस सब का यह अर्थ नहीं कि हमारे राजनैतिक क्षितिज में एक भूचाल लाने की जरूरत है, राजनैतिक क्षेत्र में ऐसे लोगों के प्रवेश करने की आवश्यकता है जो अमीरी गरीबी की समस्या को हल करने के लिए हमारे नेता कितना जोर लगा रहे हैं उन्हें तो उतना जोर लगाने ही दें, परन्तु उसके साथ देश के सांस्कृतिक-निर्माण, चारित्रिक उत्थान की आवाज भी उसी तरह बुलन्द करते रहें। आज संस्कृति का अर्थ नाचना-गाना समझा जाता है। हमारे देश से सांस्कृतिक-दल विदेशों में भेजे जाते हैं, विदेशों से सांस्कृतिक-मंडलियाँ हमारे देश में आती हैं। ये सांस्कृतिक-मिशन क्या होते हैं ? नाचने-गाने वालों के समूह होते हैं ये। इस सारे दृष्टिकोण को बदलना होगा। कोई युग था जब अशोक ने सांस्कृतिक मिशन देश-विदेश भेजे थे। आज तक उनकी छाप लंका, बर्मा, चीन, जापान, इंडोनेशिया में मौजूद हैं। अशोक-चक्र को हमने अपना राष्ट्रीय चिन्ह माना है। क्या अशोक ने नाचने-गाने वाले देश-विदेश भेजे थे ? हमारे किस राजनैतिक नेता का संस्कृति के इस पक्ष की तरफ ध्यान है ? अगर हमने सब आर्थिक समस्याओं का हल कर लिया, अमीर-गरीब का भेद मिटा दिया समाजवाद की छाया में सारा देश आ गया, परन्तु समाजवादी आर्थिक समस्याओं से मुक्त होकर चैन की बंसी बजाते हुए घर में बैठ कर शराब की बोतलें उंडेलने लगे, नाच-गाने में मस्त रहने लगें, रेडियो टेलीविजन ही देखते रहे, तो उनकी सिर्फ आर्थिक-समस्या ही तो हल हुई उन्होंने इन्सानियत का सवाल तो नहीं हल किया। हमारे कथन का यह अर्थ नहीं है कि हमारी राजनीति में चरित्र को, हमारी संस्कृति को कोई स्थान नहां है, है—परन्तु आवान्तर रूप से हैं, जो कुछ है, वह न होने के बराबर है, कभी-कभी उससे चरित्र का विनाश भी हो रहा है। इस राजनीति में चरित्र का जबर्दस्त पुट देने की आवश्यकता है, बिना चरित्र का पुट दिये हमारी राजनीति फैल हुई जाती है, हम जिस राजनीतिक या आर्थिक संगठन की रचना करते हैं उसी में साथ-साथ भ्रष्टाचार के बीज पनपते जाते हैं क्योंकि चारित्रिक-निर्माण की तरफ हमारा ध्यान नहीं है।

यह ठीक है कि इने-गिने आर्यसमाजियों के विधान-सभाओं या संसद में आ जाने से देश में नैतिक परिवर्तन नहीं हो जाएगा। परन्तु इस में संदेह नहीं कि जो नैतिकता के, संस्कृति के, चरित्र के नारे को लेकर चुने जायेंगे, वे बीस-तीस भी होंगे, तो देश की राजनीति को नैतिक मोड़ दे सकेंगे। अब तो वहाँ कोई इस आवाज को उठाने वाला ही नहीं है। जो कोई आर्य समाजी वहाँ जाते हैं, वे केवल आर्यसमाज पर नहां जाते, किसी पार्टी विशेष के बल पर जाते हैं और इसलिए अपने को उस पार्टी का पहले, और आर्य समाज का पीछे मानने लगते हैं। यह कहा जा सकता है कि यह काम आर्य समाज ही क्यों करे, यह तो सब-किसी के करने की बात है। ठीक है, सब-किसी के करने की बात है, परन्तु करता तो कोई नहीं। आर्य समाज सदा से इस दिशा में काम करता रहा है, अपनी नींव पड़ने के दिन से करता रहा है, इसलिए आज जब हम इस संस्था की नींव पड़ने की शताब्दि मनाने जा रहे हैं, तब आर्यसमाज की गति-विधि को व्यापक बनाने के लिए, देश के हित के लिए यह घोषित कर देना चाहिए कि आर्यसमाज गाँव-गाँव, जिले-जिले प्रान्त-प्रान्त में 'राजार्य-सभा' का संगठन बनायेगी, उस संगठन द्वारा सीधी देश की राजनीति में प्रवेश करेगी, उसका उद्देश्य राज्य-शक्ति के माध्यम से भारतीय-संस्कृति का प्रचार करना होगा, युवकों तथा युवतियों के चरित्र का निर्माण करना होगा, शिक्षा-संस्थाओं का भारतीय दृष्टिकोण से सुधार करना होगा, रेडियो-टेलिविजन-सिनेमा-नाटक आदि से अश्लीलता का लोप करना होगा, यह सब कुछ करते हुए वह किसी के धर्म-

(शेष पृष्ठ २४७ पर)

हिन्दी के प्रचार-प्रसार में आर्य समाज का योग

डा० सूर्यदेव शर्मा, एम० ए० डी० लिट्

किसी भी देश की राष्ट्रीय एकता का मूल मंत्र उस देश की राष्ट्र भाषा और संस्कृति में सन्निहित होता है। जिस राष्ट्र की एक भाषा नहीं, एक लिपि नहीं, एक संस्कृति नहीं, वह देश कभी संगठित होकर उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। अतः राष्ट्र की रक्षा एवं सर्वांगीण उन्नति के लिए राष्ट्रभाषा का बड़ा ही महत्व है। वेद में भी इसी भावना को व्यक्त करते हुए प्रत्येक मानव एवं समाज के लिए तीन देवियों की ओर संकेत किया गया है। (१) मातृ भाषा (२) मातृ भूमि (३) मातृ संस्कृति, ये तीन देवियाँ समाज के लिए अति कल्याणकारी हैं। ये सर्वदा हमारे राष्ट्रयज्ञ में हमारे सम्मुख विराजमान रहनी चाहिएं।

भारत में इस समय विघटनकारी प्रवृत्तियों के कीड़े कुलबुला रहे हैं, और अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाओं की प्रथृक्-प्रथृक् प्रगति में संलग्न हैं।

परन्तु इन सब भाषारूपी मणियों को एक स्वर्ण-सूत्र में पिरोये बिना राष्ट्रीय एकता की कल्पना करना नितान्त हास्यास्पद है। इसी मान्यता को साकार रूप देने के लिए हमारे संविधान में यह प्रावधान रखा गया है कि हिन्दी ही समस्त भारत की एकमात्र राष्ट्रभाषा है, और और नागरी लिपि ही हमारी राष्ट्रीय लिपि होने की सबसे अधिक अधिकारिणी है।

परन्तु देश का दुर्भाग्य कहिए अथवा विधि की विडम्बना कहिए कि सँविधान के अनुसार जब २६ जनवरी १९६५ से हिन्दी को समस्त देश की सरकारी राज-भाषा का केन्द्रीय सरकार ने प्रयोग करना चाहा तो कुछ अहिन्दी भाषी राज्यों में एक हिन्दी विरोध बवण्डर उठ खड़ा हुआ और हिन्दी के विरोध के नाम पर अनेक स्थानों पर हिन्सात्मक उपद्रव भी हुए; योगी अरविन्द का आश्रम और राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् के पुस्तकालय तक को आग लगा कर भस्मसात् कर दिया गया।

परन्तु सारा भारत जानता है कि हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि के प्रचार एवं प्रसार के लिए ऋषि दयानन्द ने और उनके द्वारा संस्थापित आर्यसमाज ने अपने आरम्भ काल से ही कितना महान् प्रयत्न किया है, और समय-समय पर कितने संकट सहे हैं। यहाँ हमें यही देखना है।

सर्वप्रथम १८६७ में हरिद्वार के कुँभ मेले में ऋषि दयानन्द ने अपनी "पाखण्ड खण्डिनी पताका" फहराई थी, और तब से ६ वर्ष तक वे संस्कृत में ही व्याख्यान देते रहे। मार्च सन् १८७३ में कलकत्ते में ब्रह्मसमाज के नेता श्री केशव चन्द्र सेन के परामर्श पर उन्होंने हिन्दी में व्याख्यान देना प्रारम्भ किया। तब से उनका यह विश्वास जम गया कि भारत की अधिकाँश जनता की भाषा हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा के पद पर सुशोभित हो सकती है। उनके हृदय में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की कितनी प्रबल उत्कण्ठा थी, वह उनके एक पत्र के प्रकट होती है जो उन्होंने १४ अगस्त सन् १८८२ में फर्रुखाबाद के लाला कालीचरण को लिखा था। जिसमें हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने के लिए एक मैंमोरेंडम भारत-सरकार को भेजने की बात कही गई है।

स्वामीजी ने जहाँ गौरक्षा के लिए एक स्मरण पत्र (Memorandum) तैयार कराया था, वहाँ आर्य भाषा हिन्दी को समस्त देश में राजकार्य में प्रवृत्त कराने के लिए भी एक स्मरण पत्र तैयार किया था। जिस पर सहस्त्रों लोगों के हस्ताक्षर कराने का जोरदार अभियान देश में चलाया था। वे इन दोनों मैंमोरेंडमों पर भारतीय नागरिकों के अधिक से अधिक हस्ताक्षर कराके महारानी विक्टोरिया के पास भेजना चाहते थे। उन दिनों में जन-जागृति न होने के कारण आन्दोलन करने का यही एक वैधानिक उपाय था।

स्वामी दयानन्द ने संसार के साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रंथ वेदों का प्रथम भाषानुवाद करके जनता का तथा हिन्दी भाषा का जो उपकार किया वह अकथनीय है। यद्यपि भारत में अब तक ज्ञात वेद भाष्यकारों की संख्या २७ है, परन्तु यह श्रेय स्वामी दयानन्द को ही है कि उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी में वेद भाष्य करके और उनके पश्चात आर्य समाज के अन्य विद्वानों ने अपना वेद भाष्य भी हिन्दी भाषा में करके हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की है।

आर्य समाज की स्थापना ७ अप्रेल सन् १८७५ में बम्बई में हुई थी। उस समय आर्य समाज के २८ नियम निश्चित हुए थे। उनमें नवाँ नियम इस प्रकार था :—

प्रत्येक आर्य समाज में वेदानुकूल संस्कृत और आर्य भाषा (हिन्दी) में नाना प्रकार की सदुपदेश की पुस्तकें रखना आवश्यक होगा, और एक आर्य पत्र हिन्दी में प्रति सप्ताह निकलेगा"।

इसी प्रकार लाहौर में ३५ वाँ उपनियम इस प्रकार स्वामीजी द्वारा रखा गया था, "सब आर्यों और आर्य सभासदों को संस्कृत तथा आर्य भाषा (हिन्दी) जानना अनिवार्य होगा।" इस प्रकार आर्यसमाज के प्रत्येक सभासद के लिए हिन्दी का ज्ञान अनिवार्य बनाकर स्वामीजी ने हिन्दी के महत्व को कितना बढ़ाया और हिन्दी का राष्ट्रीय मूल्यांकन

करने वाली सर्वप्रथम संस्था होने का श्रेय आर्यसमाज को दिया। यह घटना स्वामीजी के उत्कट हिन्दी-प्रेम की परिचायक है।

स्वामीजी ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में राजस्थान को ही अपना प्रचार-क्षेत्र बनाया था। वे राजाओं को धर्म उपदेश के साथ हिन्दी पढ़ने की भी प्रेरणा देते थे। हिन्दी में ही उनको पत्र लिखते थे। ११ अगस्त सन् १८८२ से एक मार्च सन् १८८३ तक स्वामी दयानन्द उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह के अतिथि रहे। महाराणा प्रतिदिन तीन-चार घन्टे स्वामीजी का सत्संग करते और उनसे हिन्दी में राजनीति तथा धर्म शास्त्र पढ़ते थे। स्वामीजी के आदेश से ही महाराणा ने नागरी लिपि और हिन्दी भाषा में राजकाज किये जाने की आज्ञा जारी की थी। इसी प्रकार इन्दौर नरेश महाराजा तुकोजीराव शाहपुराधीश महाराजा नाहरसिंह जी तथा बाद को जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह जी स्वामीजी से हिन्दी पढ़ते रहे और हिन्दी प्रचार की प्रेरणा लेते रहे। वहाँ रावराजा तेजसिंह तथा सरकर्नल प्रतापसिंह जी भी स्वामीजी से बहुत प्रभावित हुए। स्वामीजी ने बाद को एक पत्र में जोधपुर महाराजा को लिखा था कि राजकुमार को प्रथम देवनागरी, देवभाषा और पुनः संस्कृत विद्या पढ़ाने का प्रबन्ध करें। पश्चात् यदि आवश्यकता और समय हो तो अंग्रेजी पढ़ानी चाहिए।

स्वामीजी द्वारा प्रकाशित अब तक जो २१ विज्ञापन प्राप्त हुए हैं, उनमें से दो संस्कृत में है तीन संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में हैं। और १६ पूर्णतया हिन्दी में हैं। यह था स्वामी जी का हिन्दी प्रेम।

स्वामीजी ने छोटे-बड़े अनेक ग्रंथों की रचना की है। वे सब हिन्दी में ही लिखे गये हैं। उनकी निजी मातृभाषा गुजराती होते हुए भी और गुरु-भाषा संस्कृत होते हुए भी उन्होंने हिन्दी में ही अपने ग्रंथ लिखना उचित समझा। रचनाओं की दृष्टि से स्वीमीजी का एक ग्रंथ अकेला "सत्यार्थ प्रकाश" ही भातेन्दु हरिश्चन्द्र की समस्त मौलिक रचनाओं के लगभग बराबर ही है। परन्तु प्रभाव की दृष्टि से वह सहस्त्र गुना आगे बढ़ा हुआ है। लगभग २२ भाषाओं में सत्यार्थ प्रकाश का अनुवाद हो चुका है। और लगभग २५ लाख की संख्या में वह हिन्दी में ही छप चुका है।

भारत के अहिन्दी भाषी प्रान्तों के अनेक विद्वानों ने तो "सत्यार्थ प्रकाश" को पढ़ने के लिए ही हिन्दी भाषा और नागरी लिपि को विशेष प्रयत्न से सीखा है, जैसा कि असीम राज्य के ऐंजल के श्री रामप्रसाद उपाध्याय ने अपने एक पत्र में जुलाई १९६५ में लिखा था। उसे मैंने अपनी एक पुस्तक "हिन्दी और आर्य समाज" में उद्धृत किया है।

आर्य समाज में सर्वप्रथम हिन्दी में जो समाचार पत्र प्रकाशित हुआ, वह था सन् १८७० में "आर्य दर्पण" (शाहजहाँपुर) और उसके पश्चात् तो आर्य समाज की अब तक ७० से अधिक आर्य पत्र पत्रिकाएँ भारत के विभिन्न नगरों से हिन्दी में प्रकाशित होती रहीं और हो रही हैं। उन सबके नामों की सूची देने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। इन समाचार पत्रों के प्रकाशन में विशेषतः तीन उद्देश्य सम्मुख रखे गये थे जो निम्न प्रकार से थे:—

(१) आर्य सिद्धान्तों का प्रचार तथा विधर्मियों के आक्षेपों का उत्तर देना (२) हिन्दी भाषा का प्रचार (३) राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करना; और आर्य समाज अपने इन तीनों उद्देश्यों में पूर्णतया सफल भी रहा है। एक महत्वपूर्ण विचित्र बात इस पत्रकारिता के इतिहास में यह हुई कि पंजाब के कई उर्दू आर्य समाचार पत्रों की केवल लिपि उर्दू होती थी, किन्तु उनकी भाषा पूर्णतः सरल हिन्दी थी। आर्य समाज ने दक्षिण हैदराबाद में हिन्दी तथा धार्मिक कृत्यों पर वहाँ की निजाम सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगाये जाने पर सन् १९३९ में एक महान् सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसमें १२ हजार से अधिक सत्याग्रही जेलों में गये, २८ आर्य वीरों ने जीवन बलिदान किया और लगभग १२ लाख रुपये इस सत्याग्रह पर आर्य समाज की ओर से व्यय हुए। इसी प्रकार सन् १९५६ में पंजाब के हिन्दी सत्याग्रह भी आर्य समाज ने लाखों रुपया व्यय करके सहस्त्रों सत्याग्रहियों को वहाँ हिन्दी की रक्षा के हित जेल में भेजा था।

आर्यसमाज के विद्वानों ने अब तक सहस्त्रों की संख्या में हिन्दी में छोटे बड़े ग्रन्थों की रचना और प्रकाशन किया है। हिन्दी गद्य पद्य इतिहास, भूगोल, भाषा विज्ञान, दर्शन शास्त्र, राजनीति, समाज शास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, अर्थशास्त्र, कृषि विज्ञान, साहित्य पर्यटन, सँस्मरण, शिक्षा-शास्त्र आदि अनेक विषयों पर आर्य विद्वानों द्वारा लिखित उच्च कोटि के अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं, जो हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। इन विद्वानों द्वारा वैदिक व्याकरण छंद, स्वर मीमान्सा आदि वैदिक विषयों पर भी उच्चकोटि के ग्रंथ लिखे गये हैं। साहित्यक क्षेत्र में सबसे बड़ा पुरस्कार "मंगला प्रसाद" पारितोषिक प्राप्त करने वालों में आर्य विद्वानों की सँख्या प्रारम्भ में सर्वाधिक रही है। जिन सबके नाम यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है। गद्य के अतिरिक्त पद्य-साहित्य को भी आर्यसमाज के ज्योतिमय कवियों ने बहुत कुछ आगे बढ़ाया है। कविता-कामिनी-कान्त पं० नाथूराम शंकर शर्मा जैसे कई कवि अति उच्चकोटि के हुए हैं। वेदों पर आधारित "आर्याभिविनय," "वैदिक राष्ट्रगीत" "पुरुष सूक्त" आदि अनेक ग्रंथों में वेद मन्त्रों का हिन्दी पद्यानुवाद प्रकाशित हुआ है।

सन् १८८२ में भारतीय स्कूलों में कौनसी भाषा पढ़ाई जाये, इसका निश्चय करने के लिये एक "हंटर कमीशन" सरकार की ओर से कलकत्ता में नियुक्त किया गया। उस सरकारी कमीशन द्वारा प्रकाशित प्रश्नों के उत्तर में आर्य समाजों ने भारत के समस्त विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम एक मात्र हिन्दी को ही बनाने का समर्थन किया तथा हिन्दी की ७१ पाठ्य पुस्तकों के नाम लिखकर भेजे। दक्षिण भारत में हिन्दी प्रसार के लिए सन् १९२० में स्वामी श्रद्धानन्द ने एक योजना बनायी और वहाँ धर्म और हिन्दी प्रचार के लिए आर्य समाज के अनेक विद्वान तथा गुरु कुल के स्नातक भेजे गये। (३) इसी प्रकार असम में तथा केरल, तमिलनाडू तथा आँध्र प्रदेश में हिन्दी प्रसार तथा धर्म-प्रचार के लिए आर्य

(शेष पृष्ठ २४७ पर)

वैदिक समाज एवं मानव

कु० कुसुमलता आर्य, एम० ए० शोध कर्त्री

ऋग्वेद १०-९० का एक समाजशास्त्रीय पुनरध्ययन

पुरुष-सूक्त (ऋ० १०-९०) में प्रश्नमुख से जिज्ञासा की गई है कि जिस (विराट्) पुरुष का विधान (विकल्पन) किया गया, उसे कितने प्रकारों से कल्पित किया गया ? उसका 'मुख' क्या हुआ ? उसके 'बाहु' कौन बनाए गए, उसके 'ऊरू' (जांघ) कौन हुए ? और उसके पाद (पैर) कौन कहे जाते हैं (११)'। और अगली ही ऋचा में इसका उत्तर देते हुए कहा गया है: ब्राह्मण उसका 'मुख' था (हुआ, कल्पित किया गया); राजन्य वर्ग (=क्षत्रिय) उसका 'बाहू' किया गया; जो वैश्य था वह उसका 'ऊरू' हुआ और उसके 'पादौ' के लिए शूद्र वर्ण कल्पित हुआ।

इस विभाजन की सबसे पहली विशेषता यह है कि—पुरुष-शरीर के 'मुख, बाहु, ऊरू और पाद' ये चार अंग ही मुख्य हैं, शेष अंग सामान्य। दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक अंग के साथ एक-न-एक कर्मेन्द्रिय को जोड़ दिया गया है : मुख के साथ वाक्, बाहु के साथ कर, और ऊरू, के साथ पायूपस्थ; पाद स्वयं कर्मेन्द्रिय है ही। इससे यह बात तो स्पष्ट है कि वर्णों का आधार और कुछ हो न हो, कर्म तो है ही।

समाज के इस चतुर्धा विभाजन में हाथों के प्रतिनिधित्व का प्रत्यक्षतः उल्लेख नहीं हुआ : जिस प्रकार ऊरुद्वय के साथ चरण जुड़े हुए हैं, उसी प्रकार बाहुद्वय के साथ कर जुड़े हुए हैं; मुख, बाहु, ऊरू' और पाद के प्रतिनिधि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं, किन्तु हाथों के प्रतिनिधि का कोई उल्लेख यहाँ नहीं हुआ है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि मनुष्यकृत समाज रचना में कोई दोष न रहने पाए, इसके लिए परमात्मा द्वारा पुरुष देह में उस व्यवस्था का साक्षात्कार करा दिया गया : कि जिस प्रकार 'कर' शरीर के प्रत्येक अवयव के लिए हैं, उसी प्रकार व्यक्ति के वे ही कर समाज के अवयवभूत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद (पंचजन) के लिए हैं, मानो राष्ट्र के पंचजन कर की पंचागुलियों के प्रतिनिधि हों। अंगुलियों की सम्मिलित शक्ति का नाम राष्ट्र है (शतपथकार (१३-२-९-७) ने इसकी पुष्टि में कहा भी है कि मुष्टि ही राष्ट्र है—'राष्ट्रं मुष्टिः')। मुख का ब्राह्मण, बाहु का क्षत्रिय, ऊरू का वैश्य, पाद का शूद्र, और कर—मुष्टि का राष्ट्र-तः प्रतिनिधित्व करते हैं।

व्यक्तिपुरुष को लक्ष्यप्राप्ति हेतु गति (=मनन), कृति, स्थिति और गति की आवश्यकता होती है; किसी एक के भी अभाव में लक्ष्यसिद्धि असम्भव है। इसलिए पुरुष को निसर्गतः मति (मनन) के लिए मस्तिष्क (मुख), कृति के लिए 'बाहू' (एवं करौ), स्थिति के लिए 'ऊरू' (उदर, नाभि) संस्थान, और गति के लिए 'चरणों' मिले हैं। समाज पुरुष को, भी न थै व अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिए मति, कृति, स्थिति और गति की आवश्यकता रहेगी। और उसके लिए राष्ट्रपुरुष को भी मुख, मस्तिष्क, बाहू, ऊरू, उदर और चरणों का वरण करना होगा।

पुरुष को व्यक्तिशः आधिदैविक दुःखों के अन्तर्गत अज्ञान, अन्याय एवं अभाव की निवृत्ति करनी होती है, जिसके लिए उसे मुख, बाहु और ऊरू (अंग) प्राप्त हैं। वह मुख—मस्तिष्क से अज्ञान की, बाहू-कर से अन्याय की, और ऊरू-उदर से अभाव की निवृत्ति करता है। समाज पुरुष को भी मुखोपलक्षित ब्राह्मण द्वारा 'अज्ञान' दुःख की, बाहूपलक्षित राजन्य द्वारा, 'अन्याय' दुःख की और ऊरूपलक्षित वैश्य द्वारा 'अभाव' दुःख की निवृत्ति करनी होगी। समाजपुरुष को इसके लिए जन-आह्वान करना होगा, जिससे कि उसके अंगभूत व्यक्ति अज्ञान, अन्याय और अभावरूप त्रिविध दुःखों में से किसी एक दुःख की अत्यन्त-निवृत्यर्थ अन्यन्त-पुरुषार्थ करने को उद्यत हों। कोई मुखवत् ब्राह्मण, कोई बाहुवत् राजन्य एवं कोई ऊरुवत् वैश्य बन कर दिखाए—जिससे अज्ञान, अन्याय एवं अभावरूप त्रिविध दुःखों की निवृत्ति हो सके। जो समाजपुरुष का मुख बनना वरण करेंगे उनको ब्राह्मण-वर्ण से, जो बाहु बनना वरण करेंगे उनको क्षत्रिय-वर्ण से, जो ऊरू, बनना वरण करेंगे उनको वैश्य-वर्ण से, और जो पाद बनना वरण करेंगे उनको शूद्र-वर्ण से सम्बोधित किया जाएगा। महर्षि व्यास ने ऐसे राष्ट्रपुरुष को ही 'वर्णात्मा' पुरुष कह कर नमस्कार किया है—ब्रह्मवक्त्रं भुजौक्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः।

पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मैं वर्णात्मने नमः॥ शा० पृ० ४६.६७

अज्ञान, अन्याय अभावरूप त्रिविध दुःखों के अतिरिक्त 'समाजपुरुष' का एक परम दुःख और भी है (और वह परम शत्रु है)—आलस्य। इसका प्रतिकार किए बिना उक्त त्रिविध दुःखों की निवृत्तिरूप अत्यन्त-पुरुषार्थ असम्भव है। आलस्य के निवृत्यर्थ 'समाज-पुरुष' की पादोपलक्षति शूद्र व्यक्ति। वर्ग की आवश्यकता होगी जो गति और तपरूप अयतन्तपुरुपार्थ से आलस्य की निवृत्ति कर सकेगा—'तपसे शूद्रम्' (यजु० ३०।५)।

इस प्रकार हमने देखा कि 'विराट्' पुरुष के तत्र शब्दप्रमाणम्-

चतुर्धा-विकल्पन का आधार भी व्यक्ति-व्यक्ति के गुणकर्म-स्वभाव ही होते हैं : स्वभावबोध से संकल्पाग्नि उद्बुद्ध होती है और वह झट-व्रत (√वृङ्,-व्रयादिगण)-रूपी लौ में परिणत हो जाती है। यही लौ उसे दिन-रात आत्मपूर्त्ति की ओर अभिप्रेरित (√वर्ण,-पुरादि) करती रहती है। आत्मबुद्ध होकर अब वह जिस दिशा का स्वयं वरण (√वृञ्, स्वादिर) करता है वह प्रायः, इन्हीं त्रिविध दुःखों में से किसी एक के अपवारण (णिजन्त) का निमित्त बन जाता है। परदुःखनिवृत्ति में ही अन्ततः आत्मसंतोष (उपवर्ण, नामधातु) प्राप्त होता है। और आत्म-संतोष का ही एक अपर नाम होता है ना—आत्मविस्तार।

पद्भ्याँ शूद्रो अजायत

उक्त चरण का अर्थ विभिन्न भाष्यकार इस प्रकार करते हैं—

शौनक—ये शूद्राः, ते पद्भ्यां अजायन्त-इति कल्प्यते तदस्योत्पन्न-त्वादिति (उ० भा०—यजु० ३१,११, के प्रसंग से उद्धृत)।

सायण—पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत (ऋ० १०-९०-१२ पर)।

महीधर—तथास्य पद्भ्यां शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत=उत्पन्नः (यजु० ३१-११ पर)।

मंगल—पद्भ्यामंघ्रिभ्यां शूद्रोऽजायत=अजनि (पुरुषसूक्त भाष्यम्, ११)।

विल्सन—The Sudra was born from his feet (Rig 10-90-12)

ग्रिफ्थ—From his feet the Sudra was produced (Atharva, 19-6-6)

म्यूर—The Sudra sprang from his feet (Rig 10-90-12)

पीटर्सन—The pariah was forn form his fet (Selections from the Rig)

दयानन्द सरस्वती ने यजु० भाष्य में इसकी व्याख्या कुछ भिन्न प्रकार से की है—पद्भ्यां=सेवानिरभिमानाभ्यां शूद्रः मूर्खत्वादि गुण-विशिष्टों मनुष्यो ऽजायत=जायते।

डॉ० सुधीरकुमार गुप्त इस प्रसंग में लिखते हैं—पिछले मन्त्र की दृष्टि में 'अजायत' का भाव 'उच्यते' है। अतः, यहाँ पंचमी नहीं मानी जा सकती। 'जटाभिस्तापसः' के समान 'इत्थंभूतलक्षणं' में तृतीया है—गतिशीलता, श्रम और तप के कारण 'विराज्' शूद्र कहलाता है। (वेद-लावण्यम्)

'पद्भ्यां' जहाँ पादद्वय का द्योतक है, वहाँ गति-स्थिति का भी। इसको इस प्रकार कहा जा सकता है—'पद्भ्यां गतिस्थैर्याभ्यां शूद्रो-ऽजायत' [मनु के शब्दों में : एकमेवतुशूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया (१.९१)]।

तत्र शब्द प्रमाणम्: संसार-भर के विविध दुःख को दूर करने की हवस से ही, कभी ऋषि दयानन्द ने गृहत्याग किया था; सत्रह वर्ष की इस घोर तपस्या में उनका शरीर छलनी-छलनी हो गया था—यहाँ तक कि एक बार तो आत्महत्या तक का विचार भी मन में आया। तभी कपिलमुनि की यह उक्ति उनको नव-जीवन दे गई—'अथ त्रिविधदुःखा-त्यन्तनिवृतिर अत्यन्तपुरुषार्थः'। जीवन का मूलमन्त्र भी तो यही कुछ है—अत्यन्त पुरुषार्थ, अर्थात् आलस्य से सदा-सदा के लिए मुक्ति। और इसी भावना के मूर्त्त प्रतीक रूप में शूद्र को वर्णव्यवस्था का आधार ('पद्भ्यांधर्मोऽस्मि') माना गया है।

उपर्युक्त निर्वचनों के आधार पर शूद्र का जो स्वरूप सम्मुख आता है, वह है एक ऐसे व्यक्ति का—

(क) जो वेदाध्ययनादि से जी चुराये, दूर भागे;

(ख) जो निर्वश अन्य वर्णियों के शोक से द्रवित हो;

(ग) जिसके मुख से कर्मरति-ज स्वाभाविका कान्ति फूट रही हो;

(घ) जो तत्काल (पक्कफल की भाँति द्रवित=प्रस्तुत=प्रत्यस्त=शीर्ण) गतिशील हो जाता है।

किन्तु 'शूद्र' की गणना वर्णों में किए जाने से ज्ञात होता है कि वेद में किसी प्रकार का कोई 'मध्यकालीन' पक्षपात इस वर्ण के साथ कभी इष्ट नहीं था, नहीं है। वह भी अभी समाजपुरुष का उतना ही सक्रिय अंग है जितना कि शीर्षस्थ ब्रह्मणवर्ग।

(ii) (c) ऊरु तदस्य यद्वैश्यः

मन्त्र-चरण में वैश्य को राष्ट्र का ऊरुभाग कहा गया है; ब्राह्मण को मुख, क्षत्रिय को बाहु, और शूद्र को चरण। मुख बाहु और चरण तीनों ही अंग इतने प्रसिद्ध हैं कि इनके समझने में कोई कठिनाई पेश नहीं आती; 'ऊरु' के विषय में प्रत्युत, एक निश्चित मत प्राप्त नहीं होता। तथापि, बात का निर्णय अथर्ववेदीय पु० सू० में 'ऊरू' के स्थान पर 'मध्यं' पद के प्रयोग से स्वतः हो जाता है; परन्तु एक नवीन प्रश्न अब उठ आता है कि—यह मध्य भाग कौन सा? अर्थात् जो शरीर का मध्य भाग होगा, उसी की संज्ञा 'ऊरू' होगी, और शरीर का मध्य भाग जान लेने से 'ऊरू' स्वतः स्पष्ट हो जाएगा।

अब शरीर का विभाजन ही यदि ऐसा किया जाय कि वह तीन भागों में विभक्त हो जाए, तो मध्य भाग स्पष्ट हो जाएगा। ऐसी विभक्ति के लिए स्वभावतः किसी मापक की आवश्यकता होगी (और वह मापक कहीं बाहर का न होकर मनुष्य शरीर के साथ ही संयुक्त है।) : शरीर के रचयिता ने अंगुल, वितस्ति (बालिश्त), हाथ आदि ऐसे मापक बनाए हैं कि जिनसे किसी भी वस्तु को सहज ही नापा जा सकता है। अतः हम शरीर के मध्य भाग को नापने का मापक हाथ को ही बनाएंगे। मनुष्य सावधान स्थिति में खड़ा होकर यदि एक चिह्न कोहनी वाल स्थान पर, और दूसरा चिह्न मध्यमा अंगुली के अग्रभाग वाले स्थान पर, लगाए तो—चिह्नान्तर्गत वह भाग शरीर का मध्य भाग होगा—उस (मध्य भाग) में उदर और जंघाएँ दोनों सम्मिलित होंगे और उसीको हम वैश्यभाग स्वीकार करेंगे।

(क) महाभारतकार ने इसी कारण लिखा होगा 'कृत्स्नभूरुदरं विशः' (म० भा० / व० प० ४७.४३); महर्षि दयानन्द सरस्वती भी 'ऊरू' के विषय में लिखते हैं—"कटि के अधोभाग और जानु के उपरिस्थ भाग का नाम 'ऊरू' है" (सत्यार्थ-प्रकाश पृ० १८०)।

(ख) मध्य भाग में उदर, नाभि, वायु, उपस्थ और ऊरुद्वय सम्मिलित हैं। इनको ही **मर्मस्थल** एवं गुप्तस्थल कहा जाता है। मध्य भाग (के इन अंगों के) कार्यों का निरीक्षण करके वैश्य के कर्तव्यों को सरलता से जाना जा सकता है (क्योंकि इधर जहाँ यह चिह्नित अंश शरीर पुरुष का **मध्य भाग** है, उधर वहाँ वैश्य समाज पुरुष का मध्य भाग है)। जिस प्रकार शरीर पुरुष का उक्तस्थल अर्थ और काम का व्यवस्थापक है, तद्वत् समाज पुरुष का वैश्यवर्ण भी अर्थ और काम का व्यवस्थाक कहलाएगा। जिस प्रकार शरीर के मध्य भाग पर उरस् और चरण की स्थिति होती है, तद्वत् समाज पुरुष के मध्यस्थानी **वैश्य** पर क्षत्रिय और शूद्र आश्रित होते हैं। जिस प्रकार शरीर पुरुष का मध्य भाग मर्म है तद्वत् वैश्य भी 'मर्मा' है; जिस प्रकार उदर शिश्न गोपनीय अंग होते हैं तद्वत् राष्ट्र के अर्थ और काम गोपनीय होते हैं।

बाहू राजन्यः कृतः

मन्त्र-पद में 'राजन्य' को बाहुस्थानीय माना गया है। इस बाहु (बाधते शत्रूनिति कोषकारः; (बाहुमिव) उपबृंहते/उपायंस्त महास्त्राणि/पत—रखा) के अन्य पर्यायवाची (लौकिक साहित्य में) उरस्, वर्म, क्षत्र/छत्र आदि हैं। जिनकी 'अन्तर्गत' समान भावना 'त्राण' की है। त्राण, छादन, अपवारण, आच्छादन (छदि अपवारणे) के अतिरिक्त आश्रय देना भी]।

शरीर पुरुष का हृदय भाग क्षत्रिय है। यही वह कोष है जहाँ प्राणों का आयात-निर्यात अविश्राम होता रहता है (प्राणो हिवै क्षत्रं शत० ब्रा० १४.८.४.१)। आयातित वायु का नाम 'प्राण' है और निर्यातित वायुद्वय में से एक का नाम अपान और दूसरे का नाम व्यान है। 'व्यान' नामक वायु शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियों में संचार करता है। इसी के आश्रित होकर 'शरीर पुरुष' स्वस्थ और सुदृढ़ रहता है। प्राणों को क्षत्र कहने का एक कारण यह भी है। 'निश्चय ही ये प्राण शारीर पुरुष का (क्षणि होने से) त्राण करते हैं—'त्रायन्ते हैनं प्राणः क्षणितोः' (शत० ब्रा० १४.८.१४.४)।

अपि च प्राणविज्ञान की परिभाषा में हृदय के तीन इति कर्तव्य होते हैं। **'हृ'** (आयात) **'द'** (निर्यात) और **'यम्'** (नियमन)। तदनुसार समाज पुरुष के बाहुरूप क्षत्रिय का भी यह कर्तव्य है कि वह (समाज अथवा राष्ट्र की सामान्य स्थिति में) अर्थ एवं काम की रक्षा में रत रहे जिससे राष्ट्र में समृद्धि सम्पन्नता सदैव बनी रह।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्

शब्दसाक्षी स्पष्ट है कि इस पुरुष का मुख ब्राह्मण है, और यह भी कि मुख और ब्राह्मण (शब्द) एक दूसरे की व्याख्या है।

प्रसंग में कुछ विद्वान् तो 'मुख' शब्द के प्रयोग होते ही मुख में शिरोभाग भी सम्मिलित मानते हैं जबकि सामान्यतः व्याख्याकार, इसका सूक्ष्म भेद करते हुए, शिरोभाग को पृथक् और मुख भाग को पृथक् मानते हैं (उनका कहना है कि भ्रूरेखा [भौहें] वह रेखा है जो शिरोभाग और मुखभाग को पृथक् करती है): भ्रूरेखा से ऊपर का भाग मुख है। खैर; यह सब कुछ होते हुए भी ये दोनों भाग परस्पर इतने अनुस्यूत हैं कि इनको पृथक् नहीं किया जा सकता।

तैत्तिरीय संहिता (५.२.७१) में वर्णित हैं कि प्रजापति ने ब्रह्ममुख वाली प्रजा का निर्माण किया, इसलिए प्रजाओं में ब्राह्मण **मुख्य** हैं; न केवल मुख्य है, अपितु प्रजाओं के गुरू भी हैं; गुरू ही नहीं, अपनी दिव्यताओं के कारण मनुष्य लोक में वह देव भी है (ष० ब्रा० १.१) वर्णों में ब्राह्मण को दिव्य 'वर्ण' वाला माना भी गया है, और शिर की भांति ब्राह्मण भी दिव्य भावों का 'कोश' है।

जन्म से प्रत्येक शूद्र होता है, व्रत से वह द्विज बनता है, वेदाभ्यास करने से वह विप्र कहलाता है।' 'जो ब्रह्म (परमेश्वर और वेद) को सम्यक् अधिगंत कर चुका हो, वही ब्राह्मण कहलाने योग्य है।' फिर भी, आदि-ब्राह्मण को जन्मना ब्राह्मण कैसे माना जा सकता है? इसका समाधान यही होगा कि वह (ब्राह्मण) **ब्रह्म अर्थात् वेद** का अपत्य है (जिसका प्रण है कि वेद का नित्य स्वाध्याय करूँगा और [वेद] वंश का पतन न होने दूँगा)।

ब्राह्मण का ज्ञानवान्[१] होना **गुण** है, व्याख्याता[२] होना **कर्म** है, तपस्वी[३] और संवेदनशील[४] होना **स्वभाव** है। जो व्यक्ति ['चतुर्मुख' हो] ज्ञानवान्, व्याख्याता, तपस्वी और संवेदनशील हो—वही समाज-पुरुष का 'मुख' बनने योग्य है और उसी मुख की संज्ञा वेद की 'ब्रह्म' है, 'ब्राह्मण' है।

ब्राह्मण मुख है, और मुख में पुनः **तीन प्रमाणों के आधार भी तो निहित है**: ज्ञानेन्द्रियाँ (बाह्य प्रमाण) प्रत्यक्ष-प्रमाण का, अन्तःकरण अनुमान प्रमाण का और वागिन्द्रिय शब्द-प्रमाण का आधार। ब्राह्मण को समाज पुरुष का मुख होने के कारण—मुखवत् ही प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-प्रमाण पर आधारित वक्तव्य देना चाहिए (समाज उसे प्राप्त मानता है और उसके उपदेश को 'शब्द' प्रमाण)।

'अव्यवस्था' जन्म से, 'व्यवस्था' कर्म से

'वर्ण' शब्द पर विस्तृत विचार होने के पश्चात् एक ज्वलन्त प्रश्न अन्त में उपस्थित है, कि—वर्ण का आधार जन्म है अथवा कर्म? प्रश्न ज्वलन्त इसलिए है कि इस व्यवस्था ने हिन्दु समाज को ही नहीं अपितु मनुष्य समाज को प्रभावित किया है। दृष्टिकोण में अन्तर आते ही समाज-व्यवस्था पर विषम प्रभाव पड़ता है। 'जन्मना वर्ण' अथवा 'कर्मणा वर्ण' को लेकर महाभारत काल से भी पूर्वकाल से (द्र० म० भा०/व० प० १७७.१५-३३) शास्त्रार्थ होते आये हैं। दोनों ही पक्ष अपने पक्ष के समर्थन में प्रमाण और युक्ति देते है; अन्ततोगत्वा दोनों का आधार

पुरुष-सूक्त का प्रसिद्ध मन्त्र—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' ही ठहरता है। अतः, विचारणीय है कि इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ क्या है—

उद्धृत विद्वानों के अर्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उन्होंने पुरुष के मुखादि से ब्राह्मणादि की उत्पत्ति मानी है जिसका आधार भी सभी ने एकमत्या उक्तमन्त्र के अन्तिम चरण 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' को ही ठहराया है। इसी के बल पर वे आरम्भिक तीन चरणों में वर्तमान मुखादि का विभक्ति-व्यत्यय करते हैं और 'आसीत्' एवं 'कृत' क्रियापदों को 'अजायत' का प्रतिबोधक मानते हैं। जरा एक दृष्टि या पत् पुनः दोनों मन्त्रों पर डालें तो—प्रश्न में पूछा गया था कि उस 'कल्पित पुरुष' (समाज पुरुष) का मुख क्या हुआ? उसके बाहु कौन बनाए गए? उसके ऊरू कौन हुए? और कौन उसके पादौ कहे जाते हैं? प्रश्न के इसी प्रवाह में अगले मन्त्र में उत्तर दिया गया—ब्राह्मण उसका मुख हुआ (कल्पित किया गया); राजन्य वर्ग (क्षत्रिय) उसका बाहुस्थानीय किया गया; जो वैश्य था वह उसका 'ऊरू' हुआ; और पैरों के लिए शूद्रवर्ण कल्पित किया गया। अर्थात्—प्रसंग में ब्राह्मणदि के मुख से उत्पन्न होने का कोई प्रसंग/वर्णन ही यहां प्रसक्त था, न है।

इस सबका निष्कर्ष यह निकला कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने तईं मुख, बाहु, उरू और पादरूप अंगचतुष्टय में से कोई एक अंग बनना वरण करे: वह मुख बने तो समाज-पुरुष का, और चरण बने तो 'समाज पुरुष' के। ब्राह्मण, समाज के प्रत्येक व्यक्ति का मुख बन कर बोले; बाहु उठे आक्रमण करे, रक्षा करे तो उसी समाज की भुजा बन कर; व्यापारी आयात और निर्यात में प्रवृत्त हो तो समाज पुरुष का उदर बन कर; और कर्मकार गति-स्थिति करे तो वह भी उसी समाज पुरुष के ही चरण बन कर: जिससे कि—समाज पुरुष के मूर्त/सजीव सहस्रशीर्षाक्षपादस्वरूप का ही जीवन में पग-पग पर गोचर हो।

पृष्ठ २४१ का शेष

विशेध में हस्तक्षेप नहीं करेगी क्योंकि उसका उद्देश्य एक परिमित सीमा में बंधा हुआ होगा, ऐसी सीमा में बंधा होगा जिसका—चरित्र निर्माण का—हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, मुसाई, कांग्रेसी, नान-कांग्रेसी, सोश्यलिस्ट, कम्यूनिस्ट सभी अनुभव करते हैं, परन्तु जिसकी तरफ कोई ध्यान नहीं देता, परन्तु जिस ध्यान न देने के कारण देश आगे बढ़ता-बढ़ता पीछे खिसकता जाता है, जिस ध्यान न देने के कारण हमारा सब किया-कराया मिट्टी में मिला जाता है। यह काम आर्य समाज ही कर सकता है, और आज इस काम के करने का समय आ गया है।

पृष्ठ २४३ का शेष

समाज ने सैकड़ों प्रचारक भेजे।

पंजाब में तो डी० ए० वी० स्कूलों और पाठशालाओं का जाल सा बिछा दिया गया और वहाँ आर्य समाज की त्रिमूर्ति स्वामी श्रद्धानन्दजी ने गुरुकुल काँगड़ी महात्मा हंस राज ने डी० ए० वी० कालेंज लाहौर तथा (३) लाला देवराज ने कन्या महाविद्यालय जालधर जैसी मूर्धन्य शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना कर हिन्दी को अनिवार्य विषय बनाकर पंजाब भर में हिन्दी का बोल बाला कर दिया। तथा बाद में वहाँ हिन्दी सत्याग्रह की सबसे प्रबल चौथी माँग यह रखी गयी कि शासन के प्रत्येक स्तर पर अंग्रेजी का स्थान हिन्दी को दिया जाना चाहिए। यह हिन्दी सत्याग्रह जून १९५७ से ७ महीने तक चलता रहा, जिसमें लगभग १५ सहस्त्र सत्याग्रही जेल गये।

आर्य समाज के नेताओं ने सदा ही यह प्रयत्न किया कि सरकारी काम काज में और न्यायालयों में हिन्दी का प्रयोग किया जाये। १७मार्च १९६१ को ११३ संसद सदस्यों से प्रतिज्ञा-पत्र भरवाकर श्री पं० प्रकाश वीर जी शास्त्री संसद्-सदस्य ने देव नागरी को देश भर की सामान्य लिपि स्वीकार कराने के लिए संसद में प्रस्ताव भी प्रस्तुत किया था।

भारत देश में आर्य समाज ने हिन्दी साहित्य-सृजन और हिन्दी और नागरी लिपि के प्रचार एवं उसे राष्ट्र भाषा बनवाने के लिए सतत प्रयत्न किया है। साथ ही भारत के समस्त राज्यों के अतिरिक्त आर्य समाज के विद्वान प्रचारक अफ्रीका, मारीशस फीजी, अमेरिका, जमैका ब्रिटिश, गुयाना ट्रिनिडाड, बर्मा, मलाया, स्यामा, सिंगापुर आदि में भी समय समय पर जाते रहें और वैदिक धर्म के साथ साथ हिन्दी प्रचार का कार्य भी करते रहें। इस सब विदेश प्रचार का इतिहास लिखना यहाँ आवश्यक नहीं। संक्षेप में हम कह सकते हैं।

भारत के पूर्व राष्ट्रपति डा० जाकिर हुसैन ने कितना सुन्दर लिखा था "हिन्दी वह धागा है जो विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं रूपी फूलों को पिरोकर भारत माता के लिए सुन्दर हार का सृजन करेगा। प्रशासन के लिए देश में एक भाषा का रखना जरूरी है, और हमें देश की एकता को स्थिर रखने के लिए हिन्दी को ही अपनाना होगा"। इसी प्रकार महात्मा गाँधी जी ने सन् १९३५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन की अध्यक्षता करने हुए कहा थाः—

"अगर हिन्दुस्तान को हमें सचमुच एक राष्ट्र बनाना है तो चाहे कोई माने या न माने, उसकी राष्ट्रभाषा हिन्दी ही बन सकती है।"

हिन्दी-पत्रकारिता को आर्य समाज की देन

डा० लक्ष्मीनारायण दुबे, एम० ए० पी-एच० डी०

आर्य समाज को हिन्दी पत्रकारिता को जन्म देने वाली अग्रणी शक्ति स्वीकार कर लिया जाए तो इसमें कोई आपत्ति या अत्युक्ति नहीं होगी। हिन्दी पत्रकारिता के विकास तथा उन्नयन में आर्य समाज ने ऐतिहासिक भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वाह किया था। महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन-काल के कुछ पूर्व ही ४ अप्रैल, १८२३ ई० को अंग्रेज सरकार ने समाचार पत्र तथा मुद्रण-सम्बन्धी नूतन कानूनों को चरितार्थ किया था। स्वामी जी की शिशुवस्था के काल में युगल किशोर शुक्ल ने कलकत्ता से हिन्दी का प्रथम पत्र साप्ताहिक 'उदन्त मार्तण्ड' के प्रवेशांक को ३० मई, सन् १८२६ को प्रकाशित किया था।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार हेतु पत्रकारिता के महत्त्व को स्वीकार किया और उसे विशेष अपनत्व प्रदान किया। वे आर्य भाषा के महान् समर्थक तथा उन्नायक थे इसीलिए उन्होंने आर्य भाषा में पत्र-पत्रिकाओं के मुद्रण-प्रकाशन के व्यवस्था की स्थिति को सम्पुष्ट किया। इस दिशा में ब्राह्म-समाज ने भी उनको प्रभावित किया था। यद्यपि 'ब्राह्म-समाज' (२० अगस्त, सन् १८२८) के संस्थापक राजा राममोहन राय (सन् १७७२-१८३३) उनके अग्रगामी थे परन्तु दयानन्द (सन् १८२४-१८८३) सन् १८७२ में कलकत्ता पहुँचे थे जहाँ ब्राह्म-समाज की गतिविधियों ने उनको सोचने-समझने के के उपयुक्त अवसर प्रदान किये थे। 'नव विधान समाज' (२४ जनवरी, १८६८ ई०) के प्रवर्त्तक केशवचन्द्र सेन (सन् १८३८-१८८४) स्वामी जी के मित्र थे जो कि बंगला में साप्ताहिक 'सुलभ-समाचार' और मासिकी 'वामाबोधिनी' (सन् १८६३) प्रकाशित करते थे। इसी परिवेश ने स्वामी जी को भी पत्रकारिता की ओर समुचित रूप में उन्मुख किया।

स्वामी जी ने सम-सामयिक परिस्थितियों के कारण 'आर्य-समाज' (सन् १८७५) की स्थापना की जिसने पत्रकारिता के सम्बल से तात्कालिक परिवेश को प्रभावित तथा निर्देशित करने की सार्थक चेष्टा की।

उक्त युग में 'भारतेन्दु-युग' (सन् १८७५-१९००) के प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् १८५०-१८८५) और स्वामी दयानन्द ने हिन्दी पत्रकारिता के साहित्यिक तथा सामाजिक पक्ष का न केवल प्रवर्तन ही किया अपितु उसका नेतृत्व भी किया। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाएँ स्वामी जी के विज्ञापनों, सूचनाओं, पत्रों तथा समाचारों को भ्रामक रूप में प्रकाशित कर दिया करते थे अतएव स्वामी जी ने स्वतंत्र तथा पृथक् रूप से पत्रकारिता के सम्वर्द्धन का दृढ़ संकल्प किया था। स्वामी जी आर्य-समाज, वैदिक-धर्म, आर्य भाषा और सामाजिक सुधार हेतु पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के परमोच्छुक थे। सनातनी तथा ईसाइयों के आघात, आक्रमण और दुष्प्रचार के निराकरण एवं समाधान हेतु स्वामी जी ने पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आवश्यक समझा।

स्वामी जी की प्रेरणा से उनके सम सामयिक युग में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का सुचारू प्रकाशन हुआ।

महर्षि दयानन्द के जीवन की सांध्य-बेला में 'आर्य दर्पण' (सन् १८७०), 'आर्य भूषण' (सन् १८७६) तथा 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' (सन् १८७९) प्रकाशित हुए थे। शाहजहाँपुर से मुन्शी बख्तावर सिंह के सम्पादन में आर्य समाज का सर्व प्रथम पत्र मासिक 'आर्य दर्पण' था जो कि सन् १९०६ तक प्रकाशित होता रहा और उसने पश्चिमोत्तर प्रान्त में आर्य समाज-आन्दोलन की गति में वृद्धि लाने हेतु क्रियात्मक योगदान दिया था। यहीं से ही दूसरा मासिक पत्र 'आर्य-भूषण' निकला था।

स्वामी जी ने 'भारत दुर्दशा समर्थक' मासिक का नाम-परिवर्तन कर उसे 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' कर दिया था। यह गणेशप्रसाद शर्मा के सम्पादन में फर्रुखाबाद आर्य समाज प्रकाशित करता था। एक बार इसमें नाटक प्रकाशित हो गया था जिसके कारण दयानन्द जी ने अपने १६ अक्टूबर, १८८२ ई० के पत्र द्वारा सम्पादक को भविष्य में नाटक न प्रकाशित करने का आदेश दिया था। यह मासिक लंदन भी जाता था। यह जुलाई, १९१२ ई० में साप्ताहिक हो गया।

स्वामी जी ने स्वर्गवास के पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी के शेषांश में सन् १८८४ में 'आर्य प्रकाश' और 'वेद प्रकाश', सन् १८८५ में 'आर्य समाचार' एवं 'आर्य विनय', सन् १८८७ में 'आर्य सिद्धान्त', और 'आर्यावर्त', सन् १८८८ में 'भारत-भगिनी', सन् १८८९ में 'राजस्थान समाचार' एवं 'सद्धर्म प्रचार', सन् १८९० में परोपकारी', 'तिमिर नाशक' एवं ब्रह्मावर्त और सन् १८९७-९८ में 'आर्य मित्र' और पांचाल पंडिता' प्रकाशित हुए।

दयानन्द सरस्वती की पुनीत प्रेरणा से सन् १८८४ में (स्वामी जी के निधन के एक वर्ष पश्चात्) तुलजाराम चु० खाण्डवाला के सम्पादकत्व में बम्बई प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुख पत्र 'आर्य प्रकाश' प्रचार-कार्य हेतु प्रकाशित हुआ था।

वास्तव में उपरिलिखित पत्र पूर्व रूप में 'वेद धर्म प्रचारिणी सभा' (सन् १८८१) का मासिक मुख पत्र था जिसका तीन-चार वर्ष का ही जीवन-काल था। यह पत्र उसकी स्मृति में चला और उक्त सभा के सदस्य आर्य समाज में सम्मिलित हो गए थे। मासिक पत्र के सम्पादक मोतीलाल त्रि दलाल और प्राण जीवन दासगुप्त थे। सन् १८९३ में साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन स्थगित हो गया। बीच के तीन-चार वर्षों में यह पत्र बड़ौदा से भी प्रकाशित हुआ। इसका पुनर्प्रकाशन हुआ और इसके सम्पादक माधवेन्द्र शास्त्री (सन् १८६८) बने।

प्रथमतः 'वेद-प्रकाश' कानपुर का साप्ताहिक था और फिर मेरठ से तुलसीराम ने सन् १८९७ में मासिक रूप में निकाला। यह पत्र १९०७ में गुरुकुल कांगड़ी से निकला, सन् १९१२ में दिल्ली से और वह पुनः सन् १९१५ में कांगड़ी परावर्तित हो गया।

'आर्य-समाचार' मेरठ का मासिक था और 'आर्य-विनय' मुरादाबाद का।

सम्पादकाचार्य रुद्रदत्त शर्मा का सम्बन्ध 'आर्य-विनय' तथा 'आर्यावर्त' के साथ रहा है।

'भारत-भगिनी' ने नारी-उत्थान और शिक्षा में पूर्ण योगदान दिया था। साप्ताहिक 'राजस्थान-समाचार' को अजमेर से मुन्शी समर्थदान ने निकाला था। 'सद्धर्म-प्रचारक' के प्रवर्तक स्वामी श्रद्धानन्द थे। 'परोपकारी' अजमेर से और 'ब्रह्मावर्त' खीरी से सम्बन्धित था।

'परोपकारी' और 'आर्य मित्र' पुराने मासिक हैं। 'पांचाल पंडिता' (जलंधर) ने वही कार्य किया जो कि 'भारत-भगिनी' ने।

मध्यप्रदेश तथा विदर्भ आर्य प्रतिनिधि सभा की मासिक मुख पत्रिका 'आर्य सेवक' (सन् १९००) से बीसवीं शताब्दी की आर्य समाजी पत्रकारिता का श्रीगणेश होता है। इसके पाक्षिक रूप के सम्पादक नरसिंहपुर के गणेश प्रसाद शर्मा थे और सन् १९०९ में यह मासिक बना। इसका 'आर्य समाज परिचय अंक' (जुलाई, अगस्त, सितम्बर, अक्टूबर, सन् १९७१) विशेष उल्लेखनीय है। आर्य-समाज शताब्दी के साथ इसकी हीरक-जयंती रायपुर में मनायी जा चुकी है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की प्रथम जन्म-शताब्दी (सन् १९२५) तक आर्य समाज ने अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया।

सन् १९०९ में मासिक 'भारतोदय' (ज्वालापुर) और मासिकी 'उषा' (लाहौर), सन् १९१० में मासिक 'नवजीवन' तथा साप्ताहिक 'सत्य सनातन धर्म' (कलकत्ता), सन् १९१४ में मासिक 'आर्य' (लाहौर), सन् १९१८ में साप्ताहिक 'ब्रह्मर्षि' (मेरठ) और 'धर्मवीर' (साप्ताहिक), सन् १९१९ में साप्ताहिक तथा मासिक 'आर्य कुमार' और द्विमासिक 'वैदिक मार्तण्ड' (कोल्हापुर), सन् १९२० में मासिक 'भारती (जालंधर) और साप्ताहिक 'श्रद्धा' (कांगड़ी), सन् १९२१ में 'वैदिक-सन्देश' (कांगड़ी), सन् १९२२ में 'हिन्दी' (दक्षिण अफ्रिका) और मासिक 'जलविद् सखा' (जालंधर), सन् १९२३ में दैनिक 'अर्जुन', और साप्ताहिक 'आर्य मार्तण्ड' (अजमेर), सन् १९२४ में मासिक 'अलंकार' (कांगड़ी), मासिक 'आर्यजगत्' (पंजाब-सिन्ध-बिलोचिस्तान आर्य प्रतिनिधि सभा), 'आर्य गजट' (लाहौर), 'आर्य-जीवन' (बंगाल-बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा) और मासिक 'गुरुकुल समाचार', सन् १९२५ में साप्ताहिक 'सत्यवादी और साप्ताहिक 'प्रकाश' (लाहौर) प्रकाशित हुए।

फरवरी, सन् १९२५ में मथुरा में दयानन्द-जन्म-शत-वार्षिकी मनायी गयी थी। इस शुभावसर पर सभा द्वारा बीस पत्रिकाएँ प्रकाशित की गयी थीं।

गाँधी-युग (सन् १९२०-१९४८) में आर्य समाज की अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं जिन्होंने भारतीय स्वाधीनता संग्राम में अविस्मरणीय योगदान दिया।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र 'सार्वदेशिक' सन् १९२७ में प्रकाशित हुआ। यह आज कल समस्त आर्य समाज की गतिविधियों तथा मूलभूत चेतना का प्राण बना हुआ है। इसके विशेषांक ऐतिहासिक महत्व रखते हैं जिनमें स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान-अंक (२४ दिसम्बर, १९६५) और महर्षि दयानन्द जीवन विशेषांक २० अगस्त १९६७ उल्लेखनीय है।

दैनिक 'हिन्दी मिलाप' (सन् १९२८ : लाहौर : जालंधर), मासिक 'वेदोदय' (सन् १९३० : प्रयाग), साप्ताहिक 'गुरुकुल' (सन् १९३६ : कांगड़ी), 'आर्य-सन्देश' (सन् १९३६-३७ : आगरा), दैनिक तथा साप्ताहिक 'जाग्रति' (सन् १९४० : बंगाल), साप्ताहिक 'सम्राट' (सन् १९४७ : दिल्ली) आदि पत्र महत्वपूर्ण रहे हैं।

स्वतंत्र भारत में आर्य समाज ने अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रवर्तन-संचालन किया। जिनमें गुरुकुल, कांगड़ी की मुख पत्रिका 'गुरुकुल पत्रिका' (सन् १९४८), मासिकी 'वेदवाणी' (सन् १९४९ : वाराणसा)' मासिक 'वेदपथ' (सन् १९४९ : सहारनपुर), 'मानव-पथ' (सन् १९५२ : दिल्ली) और मासिकी 'आर्य शक्ति' (सम्वत् २०१० : बम्बई) विशेष उल्लेखनीय हैं।

आर्य समाज ने हिन्दी को अनेक श्रेष्ठ पत्रकार-सम्पादक दिये जिनमें महात्मा मुंशीराम (सन् १८५६-१९२६), सम्पादकाचार्य रुद्रदत्त शर्मा, पद्मसिंह शर्मा, डा० हरिशंकर शर्मा, इन्द्र विद्यावाचस्पति, सत्यदेव विद्यालंकार, सत्यकाम विद्यालंकार, हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, इन्द्रदेन विद्यालंकार कृष्णचन्द्र विद्यालंकार, जयंत वाचस्पति, अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार आदि के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं। गणेश शर्मा, गुरुदत्त, महाशय कृष्ण आदि आर्य समाज के तपस्वी पत्रकार थे।

आज कल अनेक आर्य समाज अपने मुख-पत्र प्रकाशित कर रहा है। सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा के मुख्य-पत्र साप्ताहिक 'सार्वदेशिक' के सम्पादक ओमप्रकाश त्यागी और सह-सम्पादक रघुनाथप्रसाद पाठक है। तथा अखिल भारतीय दयानन्द सेवाश्रम संघ के प्रमुख मासिक पत्र का सम्पादन आर्ययुवक नेता एवं प्रसिद्ध पत्रकार श्री अशोक कुमार भारद्वाज व श्री ओम्प्रकाश त्यागी संसद सदस्य कर रहे हैं। मध्यप्रदेश के मुख

(शेष पृष्ठ २५६ पर)

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

श्री वीरेन्द्र, (सभा मंत्री)

१. स्थापना

श्री स्वामी दयानन्दजी महाराज भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जब वैदिक धर्म प्रचारार्थ भ्रमण कर रहे थे, तो मार्च सन् १८७७ में आप पंजाब में भी आए। यहाँ वह १८७८ तक ठहरे और एक दर्जन बड़े-बड़े नगरों में प्रचार कर सके। पंजाब के आर्यों पर आपके विचारों का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि जहाँ वह गए आर्य समाज की स्थापना होती गई। जहाँ उनके स्मारक के रूप में दयानन्द स्कूल की स्थापना का तुरन्त निश्चय हो गया, वहाँ प्रान्त भर की आर्य समाजों की संगठित करने के लिए एक प्रधान समाज जिसे बाद में 'प्रतिनिधि सभा' का नाम मिला बनाने का विचार भी बल पकड़ गया। इस विषय पर विचार करने के लिए एक अधिवेशन १७-१८ अक्तूबर १८८५ को अमृतसर में सम्पन्न हुआ जिसमें पंजाब की बीस समाजें सम्मिलित हुईं। जिसमें आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब को स्थापित करने का निश्चय किया गया। तत्पश्चात् १८८६ में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की स्थापना हो गई और इसका मुख्य कार्यालय लाहौर में रखने का निश्चय हुआ। संभवतः सारे देश में यह पहली प्रतिनिधि सभा थी। १८८६ से लेकर १८९४ तक अधिकारी वर्ग बिना किसी क्लर्की सहायता से स्वयं पत्र व्यवहार करते और जो थोड़ा बहुत प्रचार का कार्य था, वह भी अवैतनिक प्रचारकों द्वारा कराते रहे। १८९४ की साधारण सभा में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किए गए—

१. वेदप्रचार फण्ड की निधि स्थापित की जावे।

२. उपदेशक रख कर प्रचार कराया जाए और साहित्य भी तैयार कराया जावे।

३. उपदेशक तैयार करने के लिए विद्यालय बनाया जावे।

४. सभा के अधीन एक वैदिक पुस्तकालय स्थापित किया जावे।

५. चूंकि डी-ए-वी कालेज लाहौर प्रारम्भ हो चुका था। विद्यार्थियों के साथ सम्पर्क बनाए रखने के लिए संस्था के अधीन विद्यार्थी आश्रम भी स्थापित किया जाए। १८९५ में एक क्लर्क रखा गया और ४ रु० मासिक पर आर्यसमाज वच्छोवाली लाहौर में एक कमरा किराए पर लिया गया। १८८७ में एक क्लर्क और एक अकाउटेण्ट की नियुक्ति की गई। सन् १९१२ में लाहौर में सभा के गुरुदत्तभवन कार्यालय की आधारशिला म० मुन्शी- राम ने रखी थी।

२. आरंभिक कार्यकर्त्ता

सभा के प्रथम प्रधान लाला साईंदासजी और मन्त्री लाला मदन सिंह जी और कोषाध्यक्ष लाला जीवनदास जी थे। परन्तु उस काल के आर्यसमाज की वागडोर दो नवयुवकों के हाथ में थी, वे थे पं० गुरुदत्तजी विद्यार्थी और लाल हँसराज जी। लाला हँसराज जी जीवन दान देकर दयानन्द स्कूल के हैडमास्टर हो गये और पं० गुरुदत्त जी दयानन्द स्कूल तथा प्रतिनिधि सभा दोनों का एक साथ संरक्षण करने लगे। सन् १८८९ में जालन्धर के लाला मुन्शीराम जी और जगरावां के लाला लाजपतराय जी भी इनके साथ आगए। सन् १८९० में पं० गुरुदत जी विद्यार्थी परलोक सिधार गये और सन् १८९५ में लाला मुंशीराम जी सभा के प्रधान बन गये।

सभा क विभिन्न विभाग

३. वेद प्रचार विभाग

सभा का मुख्य कार्य वेदप्रचार था। इसके लिए एक अलग विभाग आरम्भ से बनाया गया। पं० मणिराम, पं० आर्य मुनीजी, इसके पहले और एक मात्र उपदेशक थे। आरम्भ में वेद प्रचार की आय २००० रु० वार्षिक हुई, जो १८९५ में ११००० रु० वार्षिक हो गई। जो प्रति वर्ष बढ़ती रही। १८९२ में केवल सात उपदेशक थे, जो १८९५ में १५ हो गए। १९४६ में हीरक जयन्ती पर उपदेशकों की संख्या १०० के लगभग थी और एक लाख रुपये के वेद प्रचार की आय हो गई थी।

४. सभा के आधुनिक शिक्षणालय

स्वर्गीय महाशय कृष्णजी के काल में इस सभा ने भी कई स्थानीय शिक्षणालयों को अपने संरक्षण में लिया। मोगा में तो सभा ने ही दयानन्द मथुरादास कालेज की स्थापना की थी। इसी प्रकार लुधियाना, नवाँशहर और पानीपत में भी सभा ने आर्य स्कूल और आर्य कालेज चलाए। लुधियाना में तो सभा का एक दयानन्द मेडिकल कालेज भी है।

५- वैदिक पुस्तकालय

सभा की स्थापना के साथ पुस्तकालय की स्थापना भी कर दी गई जिसमें आरंभ में केवल ५०० पुस्तकें थीं। श्री पं० लेखरामजी, तथा श्री लाला मुन्शीराम जी एडवोकेट ने अपना सारा पुस्तकालय सभा को दान कर दिया जिससे पुस्तकों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई। १९४७

में पाकिस्तान बनने पर सभा के वैदिक पुस्तकालय गुरुदत्तभवन लाहौर में लगभग ७०-८० हजार पुस्तकें थी, जिनका आज मिलना असम्भव है। इस पुस्तकालय के लिए आरम्भ में श्री लाला मदनलाल जी की सेवाएं प्राप्त की गईं। जिन्हें बाद में आजीवन सदस्य बना लिया गया।

६. सभा के पत्र

आरम्भ में आर्य गजट (उर्दू) इस सभा का पत्र था जिसका सम्पादन कुछ काल पंडितजी ने भी किया। पश्चात सन् १६०६ में इसे आचार्य रामदेवजी ने पुनर्जीवित किया। और पच्चीस वर्ष तक इसका सम्पादन करते रहे। हिन्दी में भी सभा का आरम्भ में एक मासिक पत्र 'आर्य' नाम से बड़े लम्बे समय तक चलता रहा। जिसके सम्पादन का श्रेय आचार्य रामदेवजी पं० चमूपति जी, पंडित बुद्धदेव जी, पं० भीमसेनजी, पं० प्रियव्रत जी, स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ आदि विद्वानों को मिलता रहा। संभवतः यही पत्र विभाजन के पश्चात साप्ताहिक हो गया जिसका सम्पादन पं० भीमसेनजी तथा अन्य सभामन्त्री करते रहे। यही आर्य कुछ काल पश्चात आर्योदय और आर्यमर्यादा में परिवर्तित हो गया।

७. दयानन्द उपदेशक विद्यालय :

उपदेशक तैयार करने के लिए सभा ने ऋषि जन्म शताब्दी महोत्सव पर जो सन् १६२५ में मनाया था[१] एक उपदेशक विद्यालय स्थापित करने का निश्चय किया। श्री स्वामी सत्यानन्दजी महाराज ने जो ऋषि ग्रन्थ पढ़कर १८६६ में समाज में प्रवेश करके इस संख्या में विशेष स्थान प्राप्त कर चुके थे। महाशय कृष्ण जी की प्रार्थना पर उपदेशक विद्यालय की स्थिर निधि के लिए एक लाख रुपया एकत्रित कर दिया। सभा ने १६२५ में गुरुदत्त भवन लाहौर में दयानन्द उपदेशक विद्यालय की स्थापना कर दी और अपना भवन भी बना लिया। उपदेशक विद्यालय के प्रथम आचार्य श्री स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी महाराज थे। उनके साथ श्री स्वामी वेदानन्द जी महाराज मुख्य अध्यापक का कार्य करते रहे। इन के समय में लगभग २०० उपदेशक तैयार हुए जो अब भी समाजों में कार्य कर रहे हैं।

पाकिस्तान बनने के पश्चात उपदेशक विद्यालय बंद हो गया था। पुनः श्री महाशय कृष्ण जी की प्रार्थना पर श्री स्वामी आत्मा नन्द जी महाराज के वैदिक साधन आश्रम यमुनानगर में उसे चलाया। परन्तु लाहौर जैसी सफलता प्राप्त न हो सकी।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा किए गए विशेष कार्य

१. सन् १६२५ में महर्षि दयानन्दजी की शताब्दी में बढ़ चढ़ कर भाग लिया और पंजाब से हजारों व्यक्ति इस में सम्मिलित होने के लिए मथुरा गए।
२. १६३६ में सभा की अर्द्धशताब्दी प्रधान आचार्य रामदेवजी कांगड़ी वाले की अध्यक्षता में मनाई गई तथा वेदप्रचारार्थ ६५ हजार रुपया एकत्र किया गया।
३. १६३६ हैदराबाद सत्याग्रह में पंजाब ने लाला खुशहालचन्द महात्मा आनन्द स्वामी जी तथा म० कृष्णा जी डिक्टेटर भेजे] ४ लाख रुपया तथा १० हजार वालंटियर दिए।
४—१६४६ में सभा की स्वर्ण जयन्ती मनाई गई श्री दीवान बदरीदास जी प्रधान श्री म० कृष्ण जी मन्त्री थे। वेद प्रचारार्थ लगभग १ लाख रुपया एकत्र किया गया।
५—सन् १६५७ में हिन्दी सत्याग्रह किया। श्री स्वामी आत्मा नन्द जी महाराज, प्रधान श्री जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती मन्त्री थे। यह सत्याग्रह सार्वदेशिक सभा की देखरेख में चलाया गया। जिसमें भारत वर्ष के कोने-कोने से लोग सत्याग्रह करने आए। इसके लिए लाखों रुपया और १५ हजार सत्याग्रही पंजाब ने दिए। इसके अतिरिक्त स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने ५० हजार रुपये वेदप्रचारार्थ एकत्र किए।
६—१६६२ अम्बाला छावनी में लेखराम बलिदान जयन्ती मनाई गई जिसके प्रधान पंडित बुद्धदेव जी विद्यालंकार तथा मन्त्री डा० हरिप्रकाश जी थे।

इसके अतिरिक्त कांगड़ा, क्वेटा, आदि भूकम्पों में व अन्य प्रान्तों में जब भी कोई दैवी संकट आया, आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से पूरा-पूरा सहयोग दिया जाता रहा।

आर्यप्रतिनिधि सभा बिहार

ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ से ही बंगाल और बिहार दोनों एक ही प्रशासन सूत्र में बंधे हुये थे। १६०१ ई० में आर्य समाज दानापुर के २४ वें वार्षिकोत्सव के अवसर पर प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा के संगठन पर शुभ विचार किया। आवश्यक तैयारी के पश्चात् ५ अक्तूबर १६०४ ई० को दानापुर के वार्षिकोत्सव के अवसर पर ही बिहार, बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना की गई सभी के प्रथम प्रधान श्री बालकृष्ण सहाय वकील राँची तथा मन्त्री श्री मिथिला शरण सिंह, वकील कोथवां, पटना निर्वाचित हुये। प्रारम्भ में तीन वर्षों तक सभा का कार्यालय आर्य समाज दानापुर में रहा। पश्चात् श्री मिथिला शरणसिंह, मन्त्री के निवास स्थान पटना में कार्यालय का संचालन होने लगा। बिहार बंगाल का प्रशासन सूत्र एक होने पर भी बिहार ही आर्य समाज के जागृति का केन्द रहा। पीछे चलकर बिहार में आर्य समाजों के विस्तार तथा प्रगति को ध्यान में रखते हुये प्रांत के ४३ आर्यसमाजों के ५४ प्रतिनिधियों ने २६ मार्च १६२६ ई० को पटना हिसार आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना की सभा के प्रथम प्रधान श्री वैद्यनाथ प्रसाद जी, बी० ए० सीवान तथा मन्त्री श्री पं० अयोध्या प्रसाद जी वैदिक रिसर्च स्कालर चुने गये। श्री वैद्यनाथ प्रसाद जी ने आगे चलकर सिवान में डी० ए० वी० महा विद्यालय की स्थापना की और पं० अयोध्या प्रसाद जी वेदों के मर्मज्ञ विद्वान के रूप में प्रख्यात हुये जिन्होंने

मरिका के विश्व धर्म सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व किया था। सभा का विधिवत् निबंधन ८ मई, १९३९ ई० को हो चुका है। सभा का प्रधान कार्यालय श्री मुनीश्वरानन्द भवन, पटना-४ में अवस्थित है। राज्य के अन्तर्गत सभा से सम्बन्धित आर्य समाजों की संख्या निम्न प्रकार है :—

क्रमांक	जिला का नाम	संख्या	: क्रमांक	जिला का नाम	संख्या
(१)	पटना	४९	: (१०)	गोपालगंज	६
(२)	नालन्दा	१६	: (११)	मुजफ्फरपुर	१०
(३)	गया	११	: (१२)	वैशाली	३४
(४)	नवादा	२३	: (१३)	पूर्वी चम्पारण	२२
(५)	औरंगाबाद	६	: (१४)	पश्चिमी चम्पारण	३७
(६)	भोजपुर	२३	: (१५)	भागलपुर	२०
(७)	रोहतास	१२	: (१६)	दरभंगा	
(८)	सारण	१४	: (१७)	समस्तीपुर	२०
(९)	सिवान	१२	: (१८)	मधुबनी	—
(१९)	मुंगेर	४५	: (२६)	गिरिडीह	५
(२०)	बेगुसराय	३	: (२७)	रांची	६
(२१)	पूर्णिया	१२	: (२८)	सिंहभूमि	७
(२२)	(कटिहार)	१	: (२९)	धनबाद	८
(२३)	संथाल परगना	२२	: (३०)	सहर्षा	२
(२४)	पलामू	७	:		
(२५)	हजारीबाग	२६	:		

कुल योग—४६९

४६९ आर्य समाजों के सदस्यों की प्रायः २१ हजार से अधिक है। इसके अतिरिक्त सहायकों, सदस्यों की संख्या लाखों की है।

आर्य प्रतिनिधि सभा अपने जीवन के ४७ वर्ष पूरे कर चुकी है। सभा का ४८ वाँ वार्षिक अधिवेशन पटना में श्री डा० पद्मभूषण दुखन-राम जी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। पदाधिकारियों की सूची निम्न प्रकार है :—

प्रधान—श्री पद्मभूषण डा० दुखन राम जी, पटना-१
उपप्रधान—पं० वासुदेव शर्मा, झाउगंज, पटना सीटी
,, —आचार्य रामानन्द शास्त्री, बलथरी, गोपालगंज
,, —श्री इन्द्रदेव नारायण, अधिवक्ता, डिसके, आरा
,, —डा० के० आर० कपूर, एम० डी०, बोकारो सीटी
प्रधान मन्त्री—श्री कुबेर सिंह जी, चांदवारा, मुजफ्फरपुर
सह मन्त्री—श्री शास्त्री वैद्यनाथ पल्लव, मुजफ्फरपुर
,, —राजेश्वर प्रसाद जी, दानापुर
,, —जगदम्बा प्रसाद एम० ए०, गया
,, दयाराम पोद्दार, राँची
कोषाध्यक्ष—श्री डा० आर० पी० लाल, राजेन्द्र नगर, पटना।
लेखा निरीक्षक—जगन्नाथ प्रसाद आर्य, छपरा
संस्था निरीक्षक—राम राज सिंह, अधिवक्ता, आरा
पुस्तकाध्यक्ष—राजेन्द्र प्रसाद, पटना सीटी

इसके अतिरिक्त कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या २१ है।

आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ

एक ओर जब कि आर्य जगत अपनी जन्म शताब्दी मनाने की तैयारी कर रहा है तब आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्यप्रदेश व विदर्भ जिस की स्थापना विधिवत रूप से १८९९ ई० में हुई थी अपनी हीरक जयन्ती मनाने जा रही है। इस पौन शताब्दी की अवधि में सभा ने जहाँ क्षेत्र में आर्य समाजों के गठन, वेद प्रचार व्यवस्था आदि कार्य किए हैं वहाँ उसने क्षेत्र की आर्यसमाजों को मार्गदर्शन एवं नेतृत्व प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

यह तो सर्व विदित है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती महाराज द्वारा सन् १८७५ में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की गई थी। तब से सारे देश में आर्य समाजों की स्थापना का क्रम चल पड़ा। १८७५ से १८८३ की अवधि महर्षि दयानन्द सरस्वती महाराज के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण कार्यकाल है। महर्षि दयानन्द की विचारधारा रूपी सूर्य अपनी प्रखर किरणें भूतल पर बिखेर रहा था। जहाँ-जहाँ महर्षि गए वहां आर्यसमाजों का गठन व वैदिक विचारधारा ओतप्रोत हुई। महर्षि मध्य-प्रदेश व विदर्भ क्षेत्र में पहली बार सन् १८७३ ईस्वी में खण्डवा आए तथा सन् १८७४ में जबलपुर आए थे तब तक आर्यसमाज की स्थापना नहीं हो पाई थी। महर्षि दूसरी बार जबलपुर पधारे १८८१ में। उनकी प्रेरणा स्वरूप ही जबलपुर में १८८२ में आर्यसमाज का गठन हुआ। यही समय है जबकि मध्यप्रदेश व विदर्भ क्षेत्र में आर्यसमाज के कार्य का बीजारोपण हुआ। कालान्तर में अंकुरित होकर वह बीज आज विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुका है। जबलपुर के पश्चात् क्रमशः नरसिंहपुर, अमरावती, चाँदूर रेल्वे, खण्डवा, सागर, कामठी, बिलासपुर, रायपुर आदि स्थानों पर आर्यसमाजों का गठन हुआ और अब तो प्रदेश में २५० से ऊपर आर्यसमाजें हैं।

मध्य प्रदेश व विदर्भ की आर्य प्रतिनिधि सभा का स्थापना वर्ष १८९९ है परन्तु सभा का गठन अनौपचारिक रूप से १८८३ में ही हो गया था। उसे औपचारिक रूप देकर व्यवस्थित करने में इतना समय लग गया प्रतीत होता है।

२. क्षेत्राधिकार

आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्यप्रदेश व विदर्भ के गठन के पूर्व यहाँ की समाजों का सम्बन्ध राजस्थान एवं मालवा प्रतिनिधि सभा से था। इस सभा का जब गठन हुआ तब भारत प्रान्तों में बंटा हुआ था। वर्तमान मध्यप्रदेश प्रतिनिधि सभा का क्षेत्र मध्य प्रान्त एवं बरार के नाम से जाना जाता था। इस इकाई को ध्यान में रखकर ही इस सभा का गठन किया गया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति एव राज्यों के भाषा के आधार

पर पुनर्गठन के पश्चात् प्रदेशों का जो नवीन नक्शा बना उसमें मध्य-प्रदेश के हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में मध्यभारत एवं विन्ध्य प्रदेश को सम्मिलित करके नए मध्यप्रदेश का जन्म हुआ। विदर्भ को बम्बई प्रदेश में मिला लिया गया पर इस राजनैतिक विभाजन के बावजूद सभा का क्षेत्र लगभग वही बना रहा। इसमें विन्ध्य प्रदेश क्षेत्र सम्मिलित कर लिया गया। अब स्थिति यह है कि आर्य प्रतिनिधि सभा क्षेत्र में मध्यप्रदेश राज्य के महाकौशल, छत्तीसगढ़ तथा विन्ध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र राज्य का विदर्भ क्षेत्र आते हैं। यह ३३ जिलों का क्षेत्र है इसका क्षेत्रफल २,१५,२६५ वर्गमील है तथा वर्ष १९७१ की जनगणना के अनुसार इसकी जनसंख्या ३,८४,५१,२६० है। सन् १९७१ की जनगणना के अनुसार आर्यों की जनसंख्या ४०६ थी। एक अनुमान के अनुसार यह जनसंख्या अब २० हजार से ऊपर है।

इस सभा की स्थापना नरसिंहपुर नगर में २७ दिसम्बर १८९९ ई० को हुई। इसका मुख्य कार्यालय नरसिंहपुर रहा फिर बाद में जबलपुर, दुर्ग, रायपुर आदि स्थानों पर रहा। सन् १९४३ से इसका कार्यालय नागपुर आ गया। अब यह अपने स्वयं के भवन में जिसे 'दयानन्द भवन' कहते हैं, नागपुर में है।

सभा के वर्तमान पदाधिकारी निम्नानुसार हैं—

(१) प्रधान —श्री जयसिंह गायकवाड़, जबलपुर
(२) उपप्रधान —(१) श्रीमती कौशल्यादेवी, रायपुर
(२) श्री प्राणनाथकुमार, जबलपुर
(३) श्री रामगोपाल आर्य, लालपुर
(४) श्री हरिशचन्द्र आलमचन्दानी, अकोला
(३) मंत्री —श्री रमेशचन्द्र श्रीवास्तव, भिलाई
(४) उपमंत्री —(१) श्री शिवपूजन मिश्र, नागपुर
(२) श्री बंशीलाल उपाध्याय, रायपुर
(३) श्री सुभाष आर्य, जबलपुर
(४) श्री गणेशप्रसाद साहा, रीवां
(५) कोषाध्यक्ष —श्री गयादीन पेन्टर, नागपुर
(६) पुस्तकाध्यक्ष —श्री दयाराम कनल, नागपुर
(७) अन्तरंग सदस्य—(१) श्री वि० प्र० शर्मा, नागपुर
(२) श्री राजेन्द्रनाथ वासुदेव, जबलपुर
(३) श्री कान्तिमुनी वानप्रस्थी, आकोट
(४) श्री भूमित्र गुप्त, भिलाई
(५) श्री शान्तिकुमार जाधव, अकोला
(६) श्री सदाशिव गुप्त, रीवां
(७) श्री जयकृष्णदास, जबलपुर
(८) श्री दालचन्द यादव, जबलपुर
(९) श्री गुलाबचन्द बँसल, भिलाई
(१०) कु० पद्मावती गायकवाड़, जबलपुर
(११) श्री कृष्णदेव कोहली, सागर
(१२) श्री संगतराम आर्य, नागपुर
(१३) श्रीमती रामेश्वरीदेवी गुप्त, रायपुर

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली का संक्षिप्त इतिहास विवरण।

वेदों के महान् प्रचारक एवं समाज सुधारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सबसे प्रथम आर्य समाज बम्बई नगर में स्थापित किया। वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए तथा आर्य समाजें स्थापित करते हुए भारत के प्रान्तों में प्रचार भ्रमण पर निकले। इस महान् प्रचार कार्य में आठ वर्ष से थोड़ा अधिक समय हुआ था कि उनको विष दे दिया गया और प्रभो! तेरी इच्छा पूर्ण हो, यह कह कर अजमेर नगर में ३० अक्टूबर १८८३ को दीवाली को अपना भौतिक शरीर छोड़ गये। इस वज्रपात के बाद आर्य समाज के उस समय के नेता लाहौर में एकत्रित हुए, निश्चय किया गया कि महर्षि की पुण्य स्मृति में अमर और स्थायी स्मारक संस्थान खोला जाये। वहाँ पर ८ जून १८८६ को दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज की स्थापना कर दी गई। भारत के इस सर्वप्रथम आर्य समाज के महान शिक्षण संस्थान के लिये जीवन व यौवनमेधी तपोमूर्ति महात्मा हंसराज जी ने अपनी आहुति दे दी। वही डी० ए० वी० कालेज के सर्वप्रथम प्रिंसिपल बने तथा अवैतनिक रूप से अपना जीवन अर्पित कर दिया। तदनन्तर डी० ए० वी० संस्थाओं का नगरी में जाल बिछता गया। डी० ए० वी० कालेज मैनेजिंग समिति बन गई। उसमें बड़े-बड़े योग्य, अनुभवी सज्जन अधिकारी थे। ये डी० ए० वी० शिक्षणालय विद्याप्रसार में जुट गये। विद्याप्रचार के साथ-साथ महात्मा जी ने आर्य समाज के कार्य की ओर भी ध्यान दिया। इसके लिए डी० ए० वी० कालेज की ओर से समाजों में प्रचार करने एवं नई-नई समाजों की स्थापना के लिये पंडित जगत सिंह जी, सरदार अर्जुन सिंह जी, कई मान्य प्रचारक जुटे हुए थे। समाजों में प्रचार का कार्य भी उत्साह से जारी था। यह कार्य भी फैलता गया। समाजें बनती गई। फिर नियमित रूप से इस वेद प्रचार के मिशन को संगठित करते हुए पूज्य महात्माजी ने सभा की स्थापना कर दी। इस सभा का नाम रखा गया—आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, पंजाब सिन्ध बलोचिस्तान। इसकी नियमित रूप से स्थापना सन् १८९५ में हो गई। इस प्रकार डी० ए० वी० स्कूलों, कालेजों के द्वारा तो शिक्षा का कार्य होता था और आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के द्वारा वेद प्रचार का कार्य। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के नगरों व कस्बों में समाजों का निर्माण होता गया तथा उनका इस सभा से सम्बन्ध होने लगा। इस प्रकार यह सभा अपने संगठन के साथ-साथ वेद प्रचार के पवित्र कार्य को दूर-दूर तक फैलाने लगी। पूज्य महात्मा जी स्वयं इसकी देखभाल करते थे और समाजों के जलसों पर पधार कर भाषण देते थे। सीमा प्रान्त, सिन्ध, बिलोचिस्तान, पंजाब के साथ देहली आदि में सभा की समाजें बड़ी तेजी से स्थापित

होती गई। इनके जलसों का जोश भरा दृश्य भी देखने योग्य था। इसके साथ-साथ जम्मू-कश्मीर, काँगड़ा, मण्डी, आदि जिलों व रियासतों में भी इस सभा की समाजें बनकर बहुत उत्साह से प्रचार कार्य में लग गई। डी० ए० वी० कालेज कमेटी से सम्बन्धित डी० ए० वी० स्कूलों का भी विशाल जाल शहरों व कस्बों में बिछता चला गया। समाज की ये शिक्षण छावनियाँ अपनी शिक्षा शैली, परीक्षा परिणाम, प्रतिष्ठा तथा सुप्रबन्ध से सभी स्थानों पर फैल गई तथा प्रख्यात होती गई। इधर पूज्य महात्माजी डी० ए० वी० कालेज के प्रिंसिपल रूप उच्च भार से मुक्त हो गये। सन् १९११ में आपने आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की बागडोर सम्भाली। समाजों के सारे विशाल परिवार पूज्य महात्माजी को सभा के प्रधान पद के ऊँचे आसन पर बिठा दिया। त्यागी, देवता जिस कार्य को सभा के संचालन सूत्र को सम्भालेगा वही कार्य, सभा बहुत उन्नति के शिखिर पर पहुँच जायेगी। महात्माजी ने अब अपना सारा ध्यान इस सभा को दूर-दूर फैलाने शक्तिशाली बनाकर इसके द्वारा समाजों की स्थापना करके वेद प्रचार करने की ओर दिया। आर्य प्रादेशिक सभा चमक उठी। कराची, क्वेटा, मुलतान, सरगोधा, खानेवाल, लोरालाई, पेशावर, मानसहरा, कोहार, मण्डी, काँगड़ा, पालमपुर, शिमला, श्रीनगर, जम्मू, सीताराम बाजार, देहली और लाहौर आदि में बड़ी-बड़ी प्रसिद्ध समाजें बनी तथा धूमधाम से जलसे होने लगे। पूज्य महात्माजी स्वयं जलसों पर जाते थे। इस प्रकार सभा का विस्तार होता गया।

आर्य प्रादेशिक सभा के महान् प्रचार कार्य के विविध रूप है। इनमें से तीन तो बहुत प्रसिद्ध हैं—(१) वेद प्रचार का कार्य। इसमें प्रेस और प्लेटफार्म दो मुख्य साधन होते हैं। वेदों के द्वारा तो प्रचार होता है और प्रकाशन के द्वारा साहित्य प्रकाशन एवं मुखपत्र भी होता है।

(२) जन-सेवा का कार्य—इसके द्वारा सभा समय-समय पर भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में समय-समय पर आई हुई विपत्तियों में घिरे जन-वर्ग की सेवा करने के लिए अपने को अर्पित कर देती है।

(३) समाज सुधार का मिशन। इसमें बहुत कुछ आ जाता है। इसके लिये साहित्य प्रकाशन का कार्य भी किया जाता है।

(४) कार्मकर्ताओं का भी निर्माण करना।

वेद प्रचार के महान मिशन में आर्य प्रादेशिक सभा ने पूज्य महात्मा हंसराजजी के नेतृत्व में बड़ा भारी कार्य किया है। वह स्वयं इसके मान्य प्रधान थे। समाजों के जलसों पर हर देश में स्वयं पधार कर अपने ओजस्वी भाषणों से चेतना का संचार कर देते थे। मान्यवर श्री लाला खुशहालचन्दजी खुर्सन्द (वर्तमान महात्मा आनन्द स्वामी जी) सभा के मन्त्री बनाये गये। प्रचार कार्य में सभा में मान्यवर महता रामगोपालजी शास्त्री, महता सावन मलजी, मास्टर अमरनाथ जी, पं० बुद्धदेव जी मीर पुरी और ठाकुर अमरसिंह जी आर्य पथिक जैसे शास्त्रार्थ महारथी महोपदेशक कार्य करते थे। पं० विश्वम्बरदत्त जी, पं० दीना नाथ जी, पं० गंगाशरण जी, पं० सन्तराम जी, पं० ज्ञान चन्द कर्मचन्द की प्रसिद्ध चिमटा मण्डली आदि बहुत बड़ी संख्या में उपदेशक मण्डल कार्य करता था। इधर होशियारपुर में मान्य लाला देवीचन्द जी, एम० ए० ने अपना जीवन समाज के अर्पण कर दिया। होशियारपुर जिला में डेरा लगा दिया। डी० ए० वी० स्कूलों का जाल बिछा दिया तथा समाजों की स्थान-स्थान पर स्थापना भी कर दी। होशियारपुर का सारा जिला शिक्षा में तथा वेद प्रचार से भरपूर होता गया। आर्यसमाज के स्तम्भों में प्रिंसिपल रलारामजी, प्रिंसिपल वजीरचन्द जी, ऊना, प्रिंसिपल रामदासजी अब भी कार्य करते हैं। देसरी और लाला रामप्रसादजी ने करनाल जिले में विख्यात मूर्ति पं० लखपतराय जी ने हिसार जिले में महान् कार्य किया। तपस्वी देवता प्रिंसिपल मेहरचन्द जी जालन्धर ने कितना भारी कार्य किया। जालन्धर के मान्य स्वर्गवासी मास्टर नन्दलालजी और उनके परिवार, श्रदेय बाबू राधेराम जी वकील ने समाज में भारी सहयोग दिया। मान्यवर प्रिंसिपल ईश्वर दास जी, देहली, प्रिंसिपल सांई दास जी, प्रिंसिपल मेहरचन्द जी, प्रिंसिपल ज्ञानचन्दजी, प्रिंसिपल दीवानचन्दजी, श्रीयुत डा० जी० एल० दता जी, प्रिंसिपल रामदितामल जी, प्रिंसिपत सूर्यभानु जी, प्रिंसिपल भगवान दास जी, प्रिंसिपल राम सहाय जी, कराची, सरीखे कितने मान्य स्तम्भों ने सभा कार्य को आगे बढ़ाने में योगदान दिया तथा देते हैं। इस प्रकार सभा का यह वेद प्रचार का कार्य चन्दन की सुगन्धि के समान दूर-दूर फैलता गया। एक ओर डी० ए० वी० संस्थाओं का सभा के प्रचार कार्य में पूरा-पूरा सहयोग मिलता रहा दूसरी ओर सभा का प्रचारक वर्ग प्रचार में जुटा रहा। समाजों का परिवार बहुत विस्तृत होता गया। पूज्य महात्मा हंसराज जी, प्रधान एवं महात्मा आनन्द स्वामी जी सभा मन्त्री रहे।

सभा का प्रकाशन विभाग—सभा का साहित्य प्रकाशन भी साथ-साथ चलने लगा। पूज्य महात्मा जी के समय चारों वेदों के शतक सभा द्वारा प्रकाशित किये गये। सत्यार्थ प्रकाश पर विस्तृत भाष्य भी कई समुल्लासों का प्रकाशित हुआ। महात्मा आनन्द स्वामी जी ने तो अपने समय सामवेद भाष्य आचार्य वैद्यनाथ जी से कराकर सभा द्वारा प्रकाशित कराया। आर्यसमाज के इतिहास में आर्य गजट उर्दू साप्ताहिक सबसे पुराना पत्र है। पूज्य महात्मा हंसराज जी स्वयं इसका सम्पादन करते रहे। बाद में महात्मा आनन्द स्वामी जी भी सम्पादक रहे। सभा का साहित्य विभाग बड़ा सुन्दर कार्य करता रहा। बाद में सभा ने अपना साप्ताहिक मुखपत्र आर्य जगत जारी किया। पहले प्रो० दीवान चन्द जी इसके सम्पादक रहे। बाद में श्री सत्यार्थी जी। अब वर्षों से पं० त्रिलोक चन्द जी शास्त्री सम्पादक हैं तथा सभामन्त्री श्री दरबारी लाल जी, एम० ए० इसके प्रकाशक व अधिष्ठाता है। इस प्रकार सभा का साहित्य विभाग भी सुचारु रूप से कार्य करता है। अब तो इसका बहुत विस्तार हो गया है। इसमें उत्तम-उत्तम ग्रन्थों का प्रकाशन है। सभा ने उर्दू सत्यार्थ प्रकाश भी प्रकाशित किया।

सभा का वर्तमान युग

सभा अपने जालन्धर नगर के कार्यालय के द्वारा प्रचार व साहित्य प्रकाशन का कार्य करने का महान् कर्तव्य पूर्ण करती रही। इधर हिमाचल तथा जम्मू-कश्मीर में भी अपनी सारी समाजों व संस्थाओं का उत्साह से भरा हुआ समर्थन तीनों तन-मन-धन की शक्तियों से मिलता रहा। सारे जलसें भी होते रहे। हिमाचलों के समाजों में जोगेन्द्र नगर, मण्डी की समाजें भी जलसों व कथाओं में बढ़-चढ़ कर कार्य में लगी होती है। श्री नगर में आर्य समाज वजीर बाग के मान्य अधिकारी प्रिंसिपल राधाकृष्णजी गंजू, श्री अमोलक राम जी सेठी, श्री जंग बहादुर जी नन्दा, श्री सतीश चन्द जी आदि सभा के बड़े हितैषी है। प्रति वर्ष सभा को पूरा-पूरा सहयोग देते रहते हैं। सभा के उपदेशक पं० त्रिलोक चन्द शास्त्री, सम्पादक आर्य जगत सभा द्वारा श्री नगर में जाकर जलसें के साथ-साथ एक मास रह कर वहाँ के अपने डी० ए० वी० हा० सै० स्कूल के छात्रों में धर्मोपदेश भी करते रहते हैं। सभा की हिमाचल व जम्मू कश्मीर पर भी मान है। जालन्धर में सभा के सारे मान्य अधिकारियों ने विचार किया कि सभा के कार्य को विशाल रूप देने तथा इसे खूब सभी प्रकार से दृढ़ करने के लिये सभा के मुख्य कार्यालय को देहली ले जाना चाहिए तथा मान्यवर डा० गोवर्धन लाल जी दत्त से सभा का प्रधान बन कर इसे समुन्नत करने की प्रार्थना करनी चाहिए। ऐसा ही किया गया। सभा का अधिवेशन व वार्षिक बजट बैठक आर्य समाज अनारकली मन्दिर मार्ग में रखी गई। आर्य समाज अनारकली सभा का देहली में प्रसिद्ध समाज है। इसके प्रधान श्री लाला मुल्खराज जी भल्ला माने हुए उद्योगपति है। बड़े प्रसिद्ध दानी हैं। सभा के वहाँ पर वार्षिक बजट अधिवेशन में प्रस्ताव पारित कर दिया गया पूज्य डा० गोवर्धन लाल जी दत्त सभा के सर्वसम्मति से प्रधान चुने गये। मान्यवर लाला मुल्खराज जी भल्ला कार्यकर्ता प्रधान श्री बाबू दरबारी लाल जी एम० ए० महामन्त्री बनाये गये। सारे अधिकारी सभा की उन्नति में लग गये। सभा कार्यालय आर्यसमाजी अनारकली में आ गया। तथा सभा का महात्मा हंसराज साहित्य विभाग व प्रकाशन विभाग भी यहीं आ गया। जालन्धर से आर्य जगत् भी यहाँ पर आ कर प्रकाशित होने लगा। सभा मन्त्री श्री बाबू दरबारी लाल जी एम० ए० इसके भी मुद्रक,, प्रकाशक और अधिष्ठाता बनकर पूरी रुचि लेने लगे।

इसके साथ--साथ पंजाब, हरियाणा, देहली में सभा की प्रान्तीय उपसभाएें गठित हो गई। पंजाब उपसभा के प्रधान श्री प्रिंसिपल भीम सेनजी बहल जालन्धर तथा मन्त्री डा० वेदीरामजी शर्मा बने। हरियाणा में पहले प्रिंसिपल भगवान दास जी प्रधान तथा डा० साहब जी मन्त्री बनें। हिमाचल में प्रिंसिपल सत्यप्रकाश जी शिमला को तथा जम्मू कश्मीर में प्रिंसिपल राधा कृष्ण जी गंजू (श्री नगर) को प्रधान बनाया गया। देहली में भी उपसभा का प्रधान श्री रतन चन्द जी सूद प्रधान एवं कर्मठस्तम्भ बाबू रामनाथ जी सहगल मन्त्री बनाये गये। इस प्रकार से सभा का प्रधान कार्यालय देहली आकर विशाल कार्य में ल गया। देहली सभा में पं० त्रिलोक चन्द जी शास्त्री, पं० मदनमोहन जी, पं० पुरुषोत्तम जी शर्मा आदि प्रचारक कार्य में लगे है। सभा की ओर से बम्बई प्रान्त, हैदराबाद दक्षिण, जम्मू कश्मीर, हिमाचल, उत्तर प्रदेश एवं समय-समय पर पंजाब हरियाणा में केन्द्र के प्रचारक भी प्रचार में लगे रहते हैं। प्रान्त की उपसभाएं भी अपने-अपने कार्य में लगी है। सभा का कार्य विशाल होता गया। पूज्य डा० जी० एल० दत्त जी, सभाप्रधान, पूज्य लाला मुल्ख राज जी भल्ला, बाबू दरबारी लाल जी के महामन्त्री बनने से सभा का कार्य बढ़ता गया। अपनी सारी संस्थाओं का सहयोग मिलने लगा।

पूज्य डा० गौवर्धन लाल दत्त जी ने सभा की आर्थिक अवस्था को सुधारने की तरफ पूरा-पूरा ध्यान दिया। शिक्षा-क्षेत्र में आपका बड़ा ऊँचा स्थान है। आप अनेक कालेजों के संस्थापक है। विक्रम यूनिवर्सिटी उज्जैन के आप वायस चासंलर रहे हैं। सारा जीवन शिक्षा क्षेत्र में बीता है आपके शिष्य इस समय,बहुत ऊँचे-ऊँचे क्षेत्रों में कार्य करते हैं। आर्य समाज के लिये, वेद एवं ऋषि दयानन्द के लिये आपमें निष्ठा भरी है। कई कालेजों के तो आप संचालक व प्रिंसिपल रहे हैं। लाहौर में प्रसिद्ध आर्य समाज अनारकली के वर्षो प्रधान भी रहे हैं। आर्य समाज का रंग जीवन में खूब चढ़ा है। जीवन में सरलता है तनिक भी अभिमन नहीं है, छोटा हो या बड़ा सभी से मुस्करा कर मिलते बाते करते, उत्साह बढ़ाते हैं। यह विशेषता बहुत बड़ी है। सभा कार्य में समय देते है। इस प्रकार के महान् अनुभवी, स्तम्भ का सभा कार्य को संभालना सभी के लिये गौरव का विषय है। ऐसे विरले ही मिलते हैं।

सभा के वर्तमान अधिकारी तथा प्रचार वर्ग और उपसभाओं के अधिकारी निम्नलिखित हैं :

आर्य प्रादेशिक सभा मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली के मान्य अधिकारियों में—

प्रधान--पूज्य डा० गोवर्धन लाल जी दत्त
कार्यकर्त्ता प्रधान—श्रीयुत लाला मुल्ख राज जो भल्ला
महामन्त्री—बाबू दरबारी लाल जी, एम० ए०
अन्य भी स्तम्भ सारे सहयोगी हैं।

पंजाब उपसभा में इस समय—

प्रधान—प्रिंसिपल विद्यावती जी आनन्द, जालन्धर
महामन्त्री—प्रो० वेदप्रकाश जी मलहोत्रा, जालन्धर
अन्य स्तम्भ भी सहयोगी हैं।

हरियाणा उपसभा में इस समय—

प्रधान—श्री जगन्नाथ जी कपूर, यमुना नगर
मन्त्री—श्री वोरुराम जी, एम० ए० अम्बाला।
अन्य भी सारे स्तम्भ योगदानी है।

हिमाचल प्रान्त में इस समय—

प्रिंसिपल सत्य प्रकाश जी प्रधान है। उनके साथ दूसरे सज्जन भी सहयोगी है।

जम्मू कश्मीर में इस समय—

प्रिंसिपल राधा कृष्ण जी गंजू श्रीनगर, प्रधान है। इसके साथ अन्य महानुभाव सहयोगी हैं।

दिल्ली उपसभा में इस समय—

श्री रतन चन्द जी सूद प्रधान है तथा कर्मठ स्तम्भ श्री राम नाथ जी सहगल मन्त्री है। सारे सहयोगी हैं।

ऐसे प्रत्येक प्रान्त में सभा का कार्य, प्रचार, समाजों की समय-समय पर स्थापना जारी है। सभा के साथ सैंकड़ों समाजे हैं। नगरों और ग्रामों में इनका जाल बिछा हुआ है। जलसों, कथाओं, समारोहों का कार्य चलता है। सभा के प्रचारक वर्ग के साथ-साथ अपने कालेजों स्कूलों के मान्य विद्वान भी समाजो के उत्सवों पर जाने की सदा कृपा करते रहते हैं। अपने दूसरे स्तम्भ भी योगदान देते हैं। यह सभा परिवार के समान ही मेल मिलाप प्यार एकता से कार्य करती है। मनमुटाव का कभी नाम नहीं। यह आर्य समाज के गौरव का विषय है। स्कूलों कालेजों का सभा को पूरा-पूरा सहयोग मिलता है। सभा द्वारा सम्पन्न अमृतसर के शताब्दी समारोह के विशाल दृश्य ने इसका प्रमाण दे दिया कि ये संस्थाएँ बड़ी सुन्दर छावनिया हैं। सभा का वर्तमान कार्यक्रम की गतिविधियों में वेद प्रचार के महान्कार्य की विस्तार देने की योजना तो है ही, ताकि दूर-दूर तक प्रचार कार्य किया जा सके। साथ-साथ उत्तम साहित्य प्रकाशन का संकल्प भी है। पूज्य महात्मा आनन्द स्वामी जी जैसे परम सन्त का भी सदा शुभाशी भरा प्रचार सहयोग मिलता है। इसके साथ-साथ सभा प्रधान पूज्य डा० जी० एल० दत्त जी की मनोभावना है कि वेदों के हिन्दी भाष्य के साथ अंग्रेजी में भाष्य के महान् कार्य को भी किया जाये। यह कार्य समाज के इतिहास में अद्वितीय रहेगा। इसके लिये सभी का हर प्रकार का योगदान अपेक्षित है। वेद तो परम धर्म है। सभा के इस महान् शुभ कार्य में सभी हाथ बटावें।

सभा के मान्य प्रचारक वर्ग में इस समय—

केन्द्र में—पं० त्रिलोक चन्द शास्त्री जी, पं० पुरुषोत्तम जी शर्मा, पं० मदन मोहन जी, पं० शेरसिंह जी, पं० हरिदत्त जी आदि कार्य करते हैं। बाबू मगनानन्द जी सभा कार्यालय में कार्य करते हैं।

पंजाब उपसभा में—

पं० खुशी राम जी शर्मा, पं० मेलाराम जी, पं० हजारी लाल जी, कार्य करते तथा पं० जमनादास जी कार्यालय में कार्य करते हैं।

हरियाणा में उपसभा में—

पं० चन्द्रसेन जी, पं० अमर सिंह जी, पं० जगतराम बस्ती राम जी, डा० दुर्गा सिंह जी, पं० नत्थू राम जी, पं० भूराराम जी, पं० प्रभुदयाल जी, पं० सुमेरा सिंह जी आदि कार्य करते हैं। सारा कार्य सुन्दरता से चलता है सभा का प्रतिवर्ष वार्षिक साधारण बजट अधिवेशन होता है। कार्य विवरण प्रस्तुत होता है। बजट प्रचार, साहित्य विभाग, आर्य जगत् फिरोजपुर अनाथालय युवकों में प्रसारादि का पारित होता है। सभा के मान्य अधिकारियों का भी निर्वाचन होता है। परम्परा से आये हुए एकता व श्रद्धा के रूप में विशाल परिवार के नाते यह कार्य सामान्य होता है। प्रभु कृपा तथा सभा के सहयोग से सभा उन्नति पथ पर बढ़ती जाये वेद प्रचार व जन सेवा कार्य में लगी रहे। ०००

पृष्ठ २४६ का शेष

पत्र मासिक 'आर्य सेवक' के सम्पादक विश्वम्भर प्रसाद शर्मा हैं। इसका 'मौरशिस आर्य सम्मेलनांक' (सितम्बर-अक्टूबर, १९७३) अविस्मरणीय है। परोपकारिणी सभा, अजमेर का मुख पत्र मासिक 'परोपकारी' है जिसके सम्पादक डा० मानकरण शारदा, श्रीकरण शारदा, प्रबंध सम्पादक डा० भवानीलाल भारतीय और आदरी सम्पादक डा० शिवपूजन सिंह कुशवाह हैं। इसमें महर्षि दयानन्द स्मारक न्यास, टंकारा का मुख पत्र 'टंकारा-पत्रिका' भी सम्मिलित है। 'परोपकारी' के प्रत्येक वर्ष प्रकाशित 'कृषि मेला विशेषांक' द्रष्टव्य हैं। उत्तर प्रदेश आर्यप्रतिनिधि सभा का मुख पत्र 'आर्य्य मित्र' है जिसके सम्पादक उमेशचन्द्र स्नातक और आचार्य रमेशचन्द्र हैं तथा प्रबंध सम्पादक नारायण प्रिय हैं। दक्षिण आर्यप्रतिनिधि सभा का मुख पत्र मासिक 'आर्य जीवन' है जिसके सम्पादक हरेन्द्र हैं। स्वाध्याय मण्डल, बम्बई की मुख पत्रिका मासिक 'वैदिक धर्म' है जिसके संस्थापक श्रीपाद दामोदर सातवलंकर हैं। इसके सम्पादक नवीनचन्द्र पाल हैं और परामर्शदाताओं में सत्यकाम विद्यालंकार, शंकरदेव विद्यालंकार और महेशचन्द्र शास्त्री है। दिल्ली दीवानहाल आर्य समाज का मुख्य पत्र मासिक 'आर्य गजट' है जिसके आदरणीय सम्पादक महात्मा आर्य भिक्षु और व्यवस्था-सम्पादक दुर्गादास शर्मा है।

आर्य समाज स्थापना शताब्दी (अप्रैल, १९७५) के सांस्कृतिक अवसर पर अनेक पत्र पत्रिकाओं के विशेषांक प्रकाशित किये जिनमें साप्ताहिक 'सार्वदेशिक' (दिल्ली), 'आर्य मित्र' (लखनऊ), 'आर्य गजट' (दिल्ली), 'वैदिक धर्म' (बम्बई), 'परोपकारी', साप्ताहिक 'मानव-प्रहरी' (उज्जैन) के नाम चर्चित हुए। 'परोपकारी' ने मार्च, १९७५ में 'महर्षि दयानन्द-आत्मकथा विशेषांक' निकालकर हिन्दी-जगत् की अपूर्व सेवा की। आर्य समाज स्थापना-शताब्दी के अवसर पर 'परोपकारी' के सचित्र विशेषांक के रूप में 'परोपकारिणी सभा का इतिहास' एक महत्वपूर्ण देन है।

आर्य समाज की हिन्दी पत्रकारिता ने देश को राष्ट्रीयता, संस्कृति, धर्म-चिंतन तथा स्वदेशी का पाठ पढ़ाया। उसने हिन्दी को गद्य तथा स्वभाषा प्रेम प्रदान किया। आर्य समाजी हिन्दी पत्र कारिता वास्तव में आधुनिक काल का इतिहास तथा भारतीय स्वतंत्रता समर की प्रेरणास्पद् गाथा है। हिन्दी पत्रकारिता को आर्य समाज ने सर्वतोमुखी आयामों, प्रगतिशील सोपांनां और बहुमुखी आधुनिक चेतना से सफलतापूर्वक सम्पृक्त किया है। ०००

श्रीमती परोपकारिणी सभा—अजमेर

डॉ० भवानी लाल भारतीय (संयुक्त मन्त्री)

योग विद्या निष्णात दयानन्द अपनी क्रान्तदर्शिता से यह अनुभव कर चुके थे कि जीवन संध्या वेला अधिक दूर नहीं है अतः उनके परलोक गमन के पश्चात् भी उनके द्वारा उक्त ग्रन्थों का प्रकाशन सुचारू रूप से होता रहे, देश देशान्तर तथा द्वीप द्वीपान्तर में धर्म प्रचार, अनाथ, अबलारक्षण तथा अन्य लोक हितकारी कार्य सम्पन होते रहें, इस प्रयोजन से उन्होंने अपनी स्थानापन्न एक सभा की स्थापना की जिसका नाम परोपकारिणी सभा रखा गया। परोपकारिणी सभा की प्रथम स्थापना स्वामी जी ने मेरठ में की। तदर्थ एक स्वीकार पत्र (Will) १६ अगस्त १८८० ई० का लिखा तथा उसी दिन मेरठ के सब रजिस्ट्रार कार्यालय में उसे पंजीकृत कराया। इस स्वीकार पत्र में लाहौर निवासी राय मूलराज एम० ए० को प्रधान तथा आर्य समाज मेरठके उपप्रधान लाला रामशरणदास को मंत्री बनाया। इस पत्र के अनुसार स्वामी जी ने १८ सभासदों की इस सभा को अपने पुस्तक, वस्त्र, धन और यंत्रालय आदि का अधिकार प्रदान किया। प्रथम स्वीकार पत्र के अनुसार जो परोपकारिणी सभा संगठित की गई उसमें अन्यान्य सभा सदों के अतिरिक्त थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक-द्वय कर्नल एच० एस० आल्काट तथा मैडम एच० बी० ब्लैवैट्स्की को भी सदस्य नियुक्त किया गया था।

कालान्तर में जब श्री स्वामीजी १८८३ ई० के प्रारम्भ में उदयपुर पधारे तो उन्होंने एक अन्य स्वीकार पत्र लिखा तथा उदयपुर की कचहरी में उसे पंजीकृत कराया। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम स्वीकार पत्र के अनुसार थियौसोफिकल सोसाइटी के संस्थापकों तथा मुरादाबाद निवासी मुन्शी इन्द्रमणि को जो सभासद बनाया गया था, अब उनके साथ स्वामी जी का सैद्धान्तिक मतभेद हो जाने के कारण उन्हें परोपकारिणी सभा में रखना अवाँछनीय समझा गया। एक कारण द्वितीय स्वीकार पत्र लिखने का यह भी हो सकता है कि उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह जैसे प्रतिष्ठित तथा आर्य जाति के मूर्धाभिषिक्त नरेश को अपनी स्थानापन्न सभा का अध्यक्ष नियत करने तथा मेवाड़ तथा अन्य राजस्थानी राज्यों के क्षत्रिय सामन्तों को इस सभा में लेकर वे उसे अधिक व्यापक तथा प्रभावशाली बनाना चाहते थे। फाल्गुन कृष्णा पंचमी १९३९ वि० (२७ फरवरी १८८३ ई०) को द्वितीय स्वीकार पत्र लिखकर राज नियमानुसार रजिस्ट्री कराया गया। इस स्वीकार पत्र के अनुसार जो परोपकारिणी सभा संगठित की गई उसमें सदस्यों की संख्या २३ थी। स्वामी जी को अपने परलोक गमन का कोई पूर्वाभास हो गया था या क्या बात थी कि उन्होंने किसी प्रसंग में मैडम ब्लैवैट्रेस्की को एक बार कहा था कि वे १८८३ वर्ष का अन्त नहीं देखेंगे। जो हो, इस स्वीकार पत्र के लिखे जाने के आठ मास पश्चात् कार्तिक अमावस्या १९४० वि० (३० अक्तूबर १८८३) को महाराज का परलोक वास हुआ।

जिस समय श्री महाराज का अजमेर में निधन हुआ उस समय परोपकारिणी सभा के उपमन्त्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या वही उपस्थित थे। यद्यपि परोपकारिणी सभा के प्रधान महाराणा सज्जनसिंह ने स्वामी जी के निधन के पूर्व से ही यह सम्मति भेजी थी कि यदि दैव दुर्विपाक से महाराज का शरीर छूट जाय तो चार पाँच दिन तक उनकी अन्त्येष्टि न की जाय ताकि वे अजमेर आकर अन्तिम दर्शन कर सकें, परन्तु स्वीकार पत्र की भावना को ध्यान में रखकर शरीर पात के दूसरे ही दिन ३१ अक्तूबर १८८३ को मलूसर श्मशान में महाराज की भौतिक देह का अन्त्येष्टि संस्कार कर दिया गया। २ नवम्बर १८८३ को पण्डयाजी ने स्वामीजी के द्रव्य, पुस्तक तथा अन्य वस्तुओं की सूची बनाकर उस पर प्रतिष्ठित पुरुषों के हस्ताक्षर कराये और सभा मंत्री के रूप में इन्हें अपने अधिकार में ले लिया।

परोपकारिणी सभा का वास्तविक कार्य स्वामी जी के परलोक गमन के पश्चात ही प्रारम्भ हुआ। अपने स्वीकार पत्र में स्वामीजी ने परोपकारिणी सभा के लिये निम्न लक्ष्यों की पूर्ति हेतु कार्य करने का विधान किया था—

(१) वेद और वेदांगादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या करने—कराने, पढ़ने—पढ़ाने सुनने—सुनाने, छापने—छपवाने का कार्य।

(२) वेदोक्त धर्म के उपदेश और शिक्षा अर्थात् उपदेशक मण्डली नियत करके देश देशान्तर और द्वीपद्वीपान्तर में भेजकर सत्य के ग्रहण और असत्य को त्याग कराना।

(३) आर्यवर्तीय अनाथ और दीन मनुष्यों के संरक्षण, पोषण और सुशिक्षा का कार्य।

आर्य समाज के मन्तव्यों के प्रचार की समस्या और समाधान

• श्री शिवकुमार शास्त्री, संसद् सदस्य

ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि ऋषि पर्यन्त स्वीकृत वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार के लिए ऋषि ने जो संघटन बनाया उसका नाम आर्य समाज है ऋषि ने जीवन पर्यन्त इन सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार में ही सम्पूर्ण शक्ति लगायी। शास्त्रार्थ, साहित्यसृजन, आर्यसमाज की स्थापना, भिन्न भिन्न, फर्रुखाबाद, काशी, कासगंज, छलेसर आदि स्थानों पर पाठशालाओं का निर्माण। ये सब प्रयत्न उसी एक शृंखला की कड़ियां थीं। हम ऋषि के जीवन चरित्र में पढ़ते हैं कि इन पाठशालाओं को कहीं तीन वर्ष और कहीं छः वर्ष तक चलाकर, अभीष्ट सिद्ध न होता हुआ देखकर बन्द कर दिया। क्योंकि इन पाठशालाओं में अध्यापक वैसे नहीं मिले जिससे छात्र वैदिक धर्मानुयायी बन सकें और इससे भी बढ़कर उसके प्रचारक और प्रसारक हो सकें। ऋषि ने देखा कि यह शक्ति और अर्थ दोनों का अपव्यय है। अत: पाठशालायें बन्द कर दीं और यहीं उस मद का पैसा था तो उसे वेद भाष्य के व्यय की पूर्ति के लिए लगा दिया।

इसका सार यह हुआ कि ऋषि का मुख्य लक्ष्य वैदिक विचारधारा का प्रचार और प्रसार था। वे उन्हीं कामों में अपनी शक्ति लगाने को उद्यत थे। जो काम उसमें साधन के रूप में हों। परोपकारिणी सभा की स्थापना के उद्देश्यों से भी उल्लिखित स्थापना की सुतरा पुष्टि होती है।

ऋषि का उत्तराधिकारी संघटन आर्यसमाज है। अत: उन उद्देश्यों की पूर्ति का दायित्व भी आर्यसमाज पर ही है। गत एक शताब्दि के आर्यसमाज के कार्यकलाप की समीक्षा की जांवे तो आर्यसमाज ने भी ऋषि के उन स्वप्नों को साकार करने के लिए ही अपने समस्त कार्य प्रारम्भ किये।

कन्याओं के विद्यालय और गुरुकुल, लड़कों के लिए, दयानन्द आर्य-स्कूल, कालिज और गुरुकुल उसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्थापित हुए थे। डी० ए० वी० विद्यालयों की स्थापना विदेशों के लिए आर्यमिशनरी तैयार करने के लिए विशेषरूप से हुई थी। आप इन विद्यालयों की उस समय की पाठविधि उठाकर देखेंगे तो आपको आश्चर्य होगा और पता चलेगा कि संस्थापकों की भावना क्या थी? यही बात लड़कियों की शालाओं के लिए भी थी। विचारा गया था कि आर्य वायुमंडल में अधीन और संरक्षित ये बालाएं जब गृहस्थ में जावेंगी तो एक आदर्श गृहस्थ बनेगा। जहां विधिपूर्वक पन्च महायज्ञ चलेंगे। स्वाहा और स्वधा की ध्वनि गूंजेगी। गुरुकुलों की स्थापना का उद्देश्य इन सब से उत्कृष्टतर था। वहां से तो आशा लगायी गयी थी कि कपिल और कणाद बनेंगे। गुरुकुलों की स्थापना के समय एक आर्यकवि ने लिखा था कि 'आएंगे खत अरब से जिनमें लिखा ये होगा, गुरुकुल का ब्रह्मचारी हलचल मचा रहा है।"

किन्तु देखना यह है कि 'क्या सोचा, क्या पाया।' मुझे यदि कटुसत्य कहने के लिए क्षमा किया जावे तो मैं कहूंगा कि कुछ प्रारम्भिक वर्षों को छोड़कर इन संस्थाओं पर आर्यसमाज की शक्ति व्यर्थ नष्ट हुई है और इस समय तो ये एक ऐसा निराशाजनक उदाहरण उपस्थित कर रही है कि आश्चर्य होता है कि आर्यसमाज इन संस्थाओं को अपनी क्यों कहता है।

क़ाबाए दिल में दिन-रात बुतों का मजमा।
क्या से क्या होगई अल्लाह के घर की सूरत।।

हमारी ये अधिकांश संस्थायें आर्यसमाज के मूल उद्देश्य की प्राप्ति में साधक तो क्या बाधक हैं। गुजरात, पंजाबी में आर्यपुत्री पाठशाला जो एक हाईस्कूल के रूप में थी। उसमें एक ईसाइन मुख्याध्यापिका थी उसको क्या लगाव हो सकता है आर्यसमाज की विचारधारा से। हमारी इन संस्थाओं की असफलता का मुख्य कारण यह है कि इन संस्थाओं के महान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जैसे तपस्वी महात्माओं की आवश्यकता थी। ये हमें नहीं मिलें। क्योंकि इन संस्थाओं के सफल संचालन के लिए मुख्य बात है 'आचार्य पूर्वरूपम्" जैसा आचार्य होगा वैसा अपवाद को छोड़कर छात्र भी होगा। आचार्य वह सूर्य है जिसके चारों ओर संस्था का समस्त नक्षत्र मंडल घूमता है" इन संस्थाओं का प्रारम्भिक दिनों में जो सफलता मिली उसका कारण भी उस समय के तपोनिष्ठ संचालक ही थे। महात्मा मुंशीराम जी, महात्मा हंसराज और उनके सहयोगी आदर्श गुरु थे। जिनके जीवन से प्रत्येक समय शिक्षा मिलती थी। मुझे विदित है कि जब पं० विश्वम्भर नाथजी को गुरुकुल कांगड़ी में मुख्याधिष्ठाता के पद पर कार्य करने के लिए नियत किया गया तो पं० जी ने अपने परिवार को छोड़कर आश्रम में रहना आरम्भ कर दिया। उन्होंने कहा, "मुझे ब्रह्मचर्य आश्रम में काम करना है। अत: मुझे भी वही सब मर्यादाएं पालनी चाहिए, जो मैं आश्रम के ब्रह्मचारियों से पालन करवाना चाहता हूं।" इस एक बात से आपको

आभास हो जाएगा कि वे लोग कैसे थे ? इसीलिए उस समय इन संस्थाओं का उत्पादन भी अच्छा हुआ। डी० ए० वी० कॉलिजों में भी अबसे कुछ समय पहले तक एक मंजे और तपे, सरल और सादे म० हंसराजजी की प्रेरणा पर चलने वाले प्रिंसिपल थे। वहां भी अब वह क्रम समाप्त हो गया। अतः अब आर्यसमाज इन संस्थाओं का व्यर्थ बोझ ढो रहा है। अब तो सरकारी अड़ंगे भी इतने हैं कि आप चाहें तब भी प्रचार की विचार-धारा से कुछ नहीं कर पावेंगे।

इसलिए हमें ऋषि के जीवन के उदाहरणों से शिक्षा लेकर इन संस्थाओं का मोह छोड़कर तथा इनकी वैधानिक आधार पर जो भी व्यवस्था हो सकती हो करके अपनी पूरी शक्ति प्रचार के काम में लगानी चाहिए। हां प्रचारक की दृष्टि से जहां उपयोगिता हो वहां चलाएं उसमें कोई आपत्ति नहीं है। हम देख रहे हैं कि हमारे प्रचार केन्द्र प्रतिनिधि सभाएं निष्प्राण हो रही हैं। जो आर्यसमाज कभी उत्तर भारत में नगर और उपनगरों की सीमा को लांघकर देहातों पर भी छा गया था। अब सब जगह रिक्तता आ रही है। स्वाध्याय शीलता समाप्त हो गयी है और बिना स्वाध्याय के आर्यसमाज तो जीवित रह नहीं सकता। क्योंकि यह कोई कीर्तन-मंडली तो है नहीं जिसके लिए चार तुकबंदिया ही बहुत हो जावें।

आर्यसमाज का प्रचार एक कठिन कार्य अवश्य है। इसकी शिक्षाओं को जीवन में ढालना भी असिधारा व्रत है। यहां सस्ती मुक्ति नहीं है। किन्तु सफलता में कोई सन्देह भी नहीं है। क्योंकि मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। उसे जैसे विचार दिए जावेंगे उसके मस्तिष्क में वैसी ही विचार तरंगें अवश्य उठेंगी। दिए हुए विचारों का यदि एक वायुमंडल ही तैयार हो जाए तो उन विचारों को आचार का रूप धारण करने में कोई देर नहीं लगती।

बुराई को छोड़कर अच्छाई को अपनाना तो एक साधारण बात है— हमारे यहां तो हमारे पूर्वजों ने विचार देकर सारे समाज को ही मृत्युंजयी बना दिया था। यहां चारपाई पर लेटकर मरना कोई जानता ही नहीं था। या तो प्रभु का भजन करते हुए बैठे-बैठे मृत्यु का आलिंगन करते थे अथवा शत्रु का मातृभूमि पर आक्रमण होने पर युद्ध में प्राणों का परित्याग करते थे। इसके अतिरिक्त जीवनलीला समाप्त करने का और कोई प्रकार नहीं था। ऋषि पाराशर ने अपनी स्मृति में लिखा है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमंडल भेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः।

किन्तु प्रचार में सफलता तब तक नहीं मिलेगी जब तक कि समाज का प्रत्येक विचारशील व्यक्ति स्वयं प्रचारक नहीं बनेगा। वेद ने प्रचार का दायित्त्व प्रत्येक ज्ञानी पर डाला है । "विश्वेदेवासो अधिवोचतानः" ऋग्वेद। हे संसार के समस्त विद्वानों ! तुम अपने ज्ञान का प्रचार करो। ऋषि का वेदभाष्य उपदेशक की महिमा से भरा हुआ पड़ा है। यदि हम मुट्ठीभर आदमियों का काम ही प्रचार करना समझ लें तो इससे कुछ नहीं होगा । क्योंकि वायुमंडल के बिना दिया हुआ विचार विरोधी विचारधारा से टकराकर समाप्त हो जाएगा इसलिए अगली शताब्दी के लिए मुख्यकार्य प्रचार होना चाहिए। हां प्रचार की भावना से ओत-प्रोत महानुभाव उसी दृष्टि से शिक्षणालय और अस्पताल भी चला सकते हैं। किन्तु चलें तब तक जब तक वे उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हों वे व्यावसायिक केन्द्र बनकर न रह जाएं। हम देख रहे हैं कि हम विश्व को आर्य बनाने के नारे ही लगाते रह गए। किन्तु कल-परसों के अनेक ढोंगी और चरित्रहीन लोग इंग्लैंड और अमेरिका में जा धमके और अपनी दुकानें जमा लीं। संसार को देने के लिए और मानव-मात्र के कल्याण के लिए जो विचार आर्यसमाज के पास हैं वे अन्यत्र नहीं है। कमी है तो धुन के धनी प्रचारकों की है।

इसके साथ ही यह प्रश्न भी जुड़ा हुआ है कि गत पच्चीस-तीस वर्ष से आर्यसमाज के प्रचार के क्षेत्र में प्रतिभा सम्पन्न और योग्य व्यक्तियों का आना ही बन्द हो गया है। जो आ रहे हैं 'अनन्यगतिक हैं' और कहीं जमने को स्थान है नहीं इसलिए पड़े हैं। इस स्थिति का विश्लेषण करके देखेंगे तो आप इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि प्रचारकों को जो सम्मान और सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिएं, उनका सर्वथा अभाव रहा है । गत सारी स्थिति भी विवेचना के लिए यहां स्थान का अभाव है। अतः इसमें परिवर्तन के लिए हमें पिछले व्यवहार का प्रायश्चित करना होगा। हमें यह समझना होगा कि जो व्यक्ति घरबार छोड़कर रात-रात-भर जगते हुए बिस्तर पर सीट के नीचे बैठकर सफर कर रहा है, वह अपनी जीविका के लिए नहीं केवल अपितु एक मिशन की पूर्ति के लिए। निश्चित ही वह हमारी अपेक्षा जो हम प्रथम श्रेणी में सोते हुए जाते हैं और यात्रा की समाप्ति पर पुष्पहार लिए झुंड के झुंड हमारे स्वागत के लिए तैयार खड़े रहते हैं—की अपेक्षा अधिक सम्मान का पात्र है । मुझे ज्ञात है कि आर्यसमाज के एक मान्य-विद्वान जो बाद में संन्यासी भी हो गए थे जब रेल की प्रथम श्रेणी में यात्रा करते थे तो अनेक पैसे वाले आर्यसमाजी उनकी आलोचना करते हुए उसे आर्यसमाज के पैसे का दुरुपयोग कहते थे। अब आप देख सकते हैं कि हमारा स्तर कितना आकर्षक रहा है ? क्या जिस व्यक्ति ने आजीवन ब्रह्मचारी रहकर प्रचार के निमित्त अपना जीवन अर्पण कर दिया। वह इस सुविधा का पात्र भी नहीं है ! क्या वह व्यवसाय में लगता तो आप की ही तरह कोठियां और कार नहीं बना सकता था ?

इसलिए मेरा परामर्श है कि एक बार इस परिस्थिति में परिवर्तन लाने लिए उपदेशकों के वेतन कॉलिज के प्रोफेसरों से भी अच्छे रहने चाहिए। उनकी यात्राओं की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए उनके बच्चों की शिक्षा की भी उचित व्यवस्था होनी चाहिए। फिर देखिए इधर रुचि रखने वाले कॉलिज छोड़-छोड़कर आपके केन्द्र में आते हैं कि नहीं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ओर आर्यसमाज ने विचार कर व्यावहारिक पग उठाया तो ये निराशा की बदलियां तुरन्त छट जावेंगी।

मेरे इस प्रस्ताव का यह अभिप्राय सर्वथा नहीं हैं कि मैं उपदेशकों को कोई आराम तलब और ऐकान्तिक सुविधावादी बनाना चाहता हूं। मुझे तो केवल इतना अभिप्रेत है कि उन्हें उनकी उचित आवश्यकता पूर्ति के लिए आश्वस्त कर दिया जावे।

मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि वर्तमान् में अनेक लोगों को मेरे ये

विचार अटपटे लगेंगे। किन्तु आर्य समाज के हितों के लिए इस ऐतिहासिक अवसर पर मैं अपने इन विचारों का प्रकाशन अपना पुनीत कर्तव्य मानता हूं। प्रभु हमें सद्बुद्धि दें कि हम अपने श्रेयस्कर मार्ग को पहचान-कर अपना सकें।

*

यूरोप में भाषा विषयक एक अनुभव

• श्री रघुवीरसिंह शास्त्री, वेदवाचस्पति

पहले मैं सन् १९६८ में जर्मनी और फ्रांस गया था। यह यात्रा क्योंकि सरकारी थी अतः सब स्थानों पर उसका प्रबन्ध सरकारी स्तर पर ही होता था और विमान, मोटर, रेल, होटल आदि की सब व्यवस्था इस प्रकार से होती थी कि हमें इसमें पड़ने का प्रसंग ही नहीं आता था। अन्य कार्यों एवं गतिविधियों में भी अंग्रेजी भाषी-दुभाषियां सदा साथ रहता था; अतः कोई कठिनाई भी नहीं आती थी। अंग्रेजी में सम्भवतः इसीलिए ऐसी यात्रा को संचालित यात्रा (Conducted Tour) कहते हैं। इस बार हमारी यात्रा बेल्जियम में आयोजित 'धर्म तथा शान्ति' विषयक विश्व सम्मेलन के सम्बन्ध में थी, अतः एक सामान्य यात्री के रूप में यूरोप के जन-जीवन के प्रत्येक पार्श्व एवं क्षेत्र को देखने का अवसर मिला। इसी उद्देश्य से हमने यह भी निश्चय किया कि पेरिस तक विमान से पहुंचकर आगे जहां भी जाना होगा, रेल या बस में जाएंगे। पेरिस से बेल्जियम, बेल्जियम से लन्दन तथा लन्दन से फ्रांस भी हम रेल से गए और दोनों बार इंगलिश चैनल समुद्री जहाज से पार की। अपने आप में यह यात्रा बहुत ही रुचिकर तथा अनुभव पूर्ण सिद्ध हुई।

भाषा के सम्बन्ध में हमारे देश में यह धारणा है कि अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है, सारे भूमण्डल पर समझी और बोली जाती है। यूरोप में तो विशेषतः इसका पूरा बोलबाला होगा। इसी कारण किसी भी अंग्रेजी जानने वाले को यूरोपीय यात्रा अथवा व्यवहार में कोई असुविधा होने की कल्पना सी नहीं हो सकती।

परन्तु ऐसी धारणा वास्तविकता से बहुत दूर है। १९६८ की जर्मन यात्रा में हमें केवल दो व्यक्ति ऐसे मिले थे जो अंग्रेजी में बातचीत कर सकते थे। इनमें से एक बर्लिन के एक प्रसिद्ध सामाजिक मनोरंजन केन्द्र का संचालक था। पूछने पर उसने बताया कि मेरी पत्नी इंगलिश है, इस लिए मैं इंगलिश जानता हूं। दूसरे सज्जन ने बताया कि वह अनेक वर्ष भारतीय सेवा में रह चुके हैं। ये दोनों सज्जन अपवाद स्वरूप होने के कारण उल्लेखनीय हैं।

इस बार की यात्रा में पद-पद पर भाषा सम्बन्धी नया अनुभव मिला। हम दो व्यक्ति साथ थे—मैं और श्रीमती प्रभात शोभा पंडित (माननीय प्रोफेसर शेरसिंह जी की पत्नी) यूरोप तथा अमेरिका की सारी यात्रा मैंने उनके साथ ही की। वह एक प्रबुद्ध तथा उद्यमी महिला हैं, उन्हें विदेश यात्रा का अनुभव भी मेरे से अधिक है, अतः उनका साथ मेरे लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा।

इस यात्रा में भाषा के कारण हमें काफी कठिनाई रही। रेलवे, बस, होटल, काफी घर, डाकखाना, बैंक, दुकान आदि में जहां भी हम गए, कोई अंग्रेजी समझने वाला न मिला। अपेक्षित जानकारी भी न मिल पाती थी। इसके लिए कुछ घटनाएं उल्लेखनीय हैं:—

एक दिन ग्यारह बजे रात को हम पेरिस नार्द (नार्थ) स्टेशन पर उतरे। हमें वहां से ओरली हवाई अड्डे पर जाना था। टैक्सी बहुत मंहगी हैं, इसलिए रेल में जाना चाहते थे। एक बार हवाई अड्डे से हम इसी स्टेशन तक रेल से गए थे, हमें हवाई अड्डे पर सब जानकारी मिल गयी थी। रेल भूमि के अन्दर चलती हैं और कई जगह बदलनी होती है। परन्तु बदलने के स्थान हमने नोट नहीं किए थे। पूरा एक घंटा हमारा रेलवे सम्बन्धी जानकारी लेने की दौड़-धूप में बीत गया, परन्तु हमें कोई अंग्रेजी भाषी न मिला जो रास्ता समझा सके। वैसे सारे पश्चिमी देशों (अमेरिका समेत) में यह प्रवृत्ति है कि किसी से भी रास्ता पूछने पर वह बड़ी रुचि के साथ समझाता है और तब तक समझाता ही रहता है जब तक उसे यह विश्वास न हो जाए कि पूछने वाले ने ठीक-ठीक समझ लिया है। हमारे देश के लोगों के लिए उनका यह व्यवहार अनुकरणीय है। परन्तु इस मामले में भाषा सम्बन्धी बाधा थी। थककर अन्त में हमने

टैक्सी ही पकड़ी। पैरिस जैसे अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के नगर के रेलवे स्टेशन पर खड़े टैक्सी चालक से तो आशा ही की जाती है कि वह काम चलाऊ अंग्रेजी तो समझ ही लेगा। परन्तु हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब कि टैक्सी में बैठने के बाद भी उसने हमें अपनी उंगुली घुमाकर एकदम जोर से ऊपर करते हुए हवाई जहाज के आकाश में उड़ने का संकेत देकर पुनः स्पष्टीकरण चाहा कि हम हवाई अड्डे पर जाना चाहते हैं। हमने भी उसी प्रकार का इशारा देकर 'हां' की। उस समय तो हमारी स्थिति आदिमानव जैसी थी।

दूसरी घटना लोवेन की है। यह एक छोटा किन्तु प्राचीन नगर है। सम्मेलन यहीं हुआ था। सम्मेलन के प्रतिनिधियों के आवास का प्रबन्ध दो तीन स्थानों पर था। एक दिन रात को मेरे एक मित्र प्रतिनिधि का मुझे फोन मिला कि ब्राजील की श्रीमती बेन्डीरा नामक प्रतिनिधि का नीदरलैंड से एक आवश्यक टेलीफोन है, सम्मेलन का कार्यालय आपके पास है, आप वहां जाकर यह पता लगा लें कि महिला कहां ठहरी हैं और उसे यह सूचना दे दें। मैं कार्यालय में गया। सम्मेलन की एक भाषा अंग्रेजी भी थी, अतः अंग्रेजी भाषी कार्यकर्ता थे। एक अमेरिकन औरत मुझे मिली, मैंने उसे बताया। वह युवती घंटों प्रयास करती रही, परन्तु जहां वह महिला ठहरी थी, उस बिल्डिंग की टेलीफोन आपरेटर अंग्रेजी से अनभिज्ञ होने के कारण कुछ भी समझ न पायी और घंटों माथापच्ची करने के बाद मैं निराश अपने स्थान पर लौट आया।

तीसरी घटना लोवेन रेलवे स्टेशन की है। हमें लन्दन जाने के लिए जानकारी लेनी थी। हम स्टेशन के पूछताछ कार्यालय में काउन्टर पर बैठे सज्जन से बातें कर रहे थे, परन्तु वह कुछ समझ ही न पाता था। संयोगवश पास में एक युवती खड़ी थी, वह कुछ अंग्रेज़ी समझ बोल सकती थी। उसने हमें सारी जानकारी दी।

चौथी घटना यह है कि सम्मेलन के प्रतिनिधियों का स्वागत दो नगरों के मेयरों द्वारा वहां के टाउनहाल में हुआ। एक लोवेन तथा दूसरा ब्रूज। ब्रूज अपने विशिष्ट सौन्दर्य के कारण बेल्जियम का वेनिस कहा जाता है। दोनों ही स्थानों पर मेयरों के स्वागत भाषण अपनी भाषाओं में हुए। अधिकांश प्रतिनिधियों के पल्ले कुछ न पड़ा और अपनी रुचि के अनुसार फलों का रस अथवा बीयर पीते हुए आपस में बातें करते रहे।

बेल्जियम की जनसंख्या एक करोड़ से कम ही है, भाषायें तीन हैं, जर्मन, फ्रैंच और डच। जर्मन केवल जर्मनी के साथ लगे थोड़े से सीमावर्ती क्षेत्र की भाषा है। परन्तु फ्रैन्च तथा डच दोनों प्रायः समान स्थिति की भाषाएं हैं और सारे राजकाज में दोनों का समान व्यवहार होता है। परन्तु भाषा सम्बन्धी आग्रह का यह देश भी अपवाद नहीं। लोवेन जैसे छोटे नगर में ही दो विश्वविद्यालय हैं। दोनों कैथोलिक ही हैं, परन्तु भाषा के आधार पर पृथक-पृथक स्थापित किये गये हैं। एक यू० सी० एल० (यूनिवर्सिटी कैथोलिक लोवेन) हैं इसकी भाषा फ्रैन्च है। दूसरा के० यू० एल० (कैथोलिक यूनिवर्सिटी लोवेन) है जिसकी भाषा फ्लेमिश (डच) है। दोनों में पच्चीस-पच्चीस हज़ार छात्र हैं।

बेल्जियम के सारे नगरों अथवा रेलवे-स्टेशनों के नाम भी दोनों भाषाओं में लिखे हैं। यद्यपि लिपि रोमन है तो भी स्पेलिंग अलग-अलग हैं। लोवेन के स्पेलिंग सर्वत्र दो प्रकार के मिलेंगे—LEUVEN—LOUVAIN इसी प्रकार राजधानी ब्रुसेल्स के स्पेलिंग भी दोनों भाषाओं के भिन्न हैं—BRUSSELS—BRUXELLES। फ्रैंच का उच्चारण प्रकार भी इंगलिश से सर्वथा विलक्षण ही है। राजनीति में भी भाषा का प्रभाव रहता है। निर्वाचनों में यह पक्ष पूरी तरह उभरकर आता है। अपनी ही भाषा वाले को मत देने की प्रवृत्ति है। एक सज्जन ने बताया कि इस देश में फ्रैन्च भाषी कभी प्रधानमन्त्री नहीं हो सकता, क्योंकि डच भाषियों की संख्या अधिक है। पश्चिमी यूरोप के इंगलिश चैनल के तटवर्ती तथा इंगलैंड के निकटस्थ इन देशों में भी अंग्रेज़ी भाषा की यह स्थिति सर्वथा आश्चर्यजनक है। इन देशों के तो इंगलैंड के साथ राजनीतिक, ऐतिहासिक तथा राजवंशीय सम्बन्ध रहे हैं। इस मामले की गहराई में जाने पर तो हमें यह भी पता चला कि फ्रांस तथा जर्मन आदि देशों में अंग्रेजी भाषा के प्रति एक प्रकार की ग्लानि सी है और अंग्रेजी बोलने वाले व्यक्ति के साथ भी उनका व्यवहार इसी कारण कुछ उपेक्षापूर्ण रहता है। पश्चिमी तथा मध्य यूरोप की यह दशा है तो पूर्वी यूरोप की तो चर्चा का ही प्रश्न नहीं उठता।

इसके विपरीत हमारे देश के पढ़े-लिखे लोग अंग्रेज़ी के पक्ष में तरह-तरह की दलीलें देते हुए कहते हैं कि अंग्रेज़ी के अभाव में ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में कठिनाई आयेगी। यूरोप की यात्रा करने का एक बड़ा लाभ तो यही है कि इन दलीलों अथवा दावों का खोखलापन सामने आ जाता है। इनसारे देशों में अंग्रेज़ी के बिना ही ज्ञान-विज्ञान की स्पृहणीय प्रगति हो रही है और इनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार ठीक चल रहा है। वास्तविकता यह है कि अंग्रेजों के साम्राज्य की भाषा रही है। जहां उनका शासन रहा वहीं उन्होंने अपनी भाषा, शिक्षा तथा राजकाज में प्रचलित की। इसी कारण अंग्रेज़ी अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया की भाषा बन गई। अपनी भाषा के प्रति हीन भावना और अंग्रेज़ी का मोह हमारे लिये भी विदेशी शासन की देन है। खेद है कि दासता का यह भूत अब हमें पहले से भी अधिक चिपटकर अभिभूत कर रहा है। प्रशासनिक कामकाज तथा शिक्षा की भाषा हमारी अपनी हो तभी देश प्रगति कर सकेगा। अन्य चीज़ें समाज की हों, परन्तु भाषा समाज की न हो तो यह समाजवाद या जनतंत्र कैसा ?

विश्व सम्मेलन में भी एक दिन हिन्दू प्रतिनिधियों की बैठक में भी इस मनोवृत्ति का हमें सामना करना पड़ा। प्रत्येक धर्म की ओर से एक-एक दिन प्रार्थना होती थी। चर्चा का विषय था कि हिन्दू धर्म की ओर से होने वाली प्रार्थना का क्या रूप हो ? सब लोग अंग्रेज़ी में ही बोलते थे, मैंने हिन्दी में बोलना आरम्भ किया तो कई प्रतिनिधियों ने कहा कि अंग्रेज़ी में बोलना चाहिए। इस पर मैंने कहा कि विदेश में आकर तो हमारी आंखें खुल जानी चाहिये। सम्मेलन की कार्यवाही में तो अंग्रेज़ी में बोलना होता ही है परन्तु यहां आपसी चर्चा में भी अंग्रेज़ी का आग्रह शोचनीय है। फिर मैं तो हिन्दी में ही बोला। यहां प्रसंगवश यह भी कह दूं कि प्रार्थना के सम्बन्ध में मेरा सुझाव ही स्वीकार हुआ क्योंकि हिन्दुओं में प्रार्थना के मामले में एकमत होना सरल नहीं है। ● ●

विदेशों में आर्य समाज

• श्री विमल चन्द्र विमलेश'

ज्ञान एकदेशीय नहीं होता वह सार्वदेशिक और व्यापक होता है। आज जब हम शताब्दी पर्व मना रहे हैं उस समय भारत की सीमाओं से दूर विश्व के अनेक भागों में फैले आर्य बंधुओं और उनके क्रिया कलापों की ओर हमारा ध्यान बरबस पहुंच जाता है। जिन विपरीत परिस्थितियों में स्वदेश में आर्यसमाज की गतिविधियां पनपती रही उनसे कहीं अधिक कष्टदायक और विषम स्थितियों में विदेशों में आर्यसमाज का बीजारोपण हुआ। महर्षि के जिन लगनशील, कर्मठ और उत्साही भक्तों ने इस सरणि का अनुकरण किया वे सब अभिनन्दनीय हैं। स्मरणीय है कि विदेशों में बसे भारतीयों का यह कार्य भारत और विश्व मैत्री की दिशा में सुखद प्रयास है।

सिंगापुर से उत्तरी अमरीका तक और इंगलैंड से पूर्वी अफ्रीका, कनाडा, थाइलैंड और फीजी तक विस्तृत होती हुई वैदिक ज्ञान और विश्व बन्धुत्व की ज्योति ऋषि के चरणों में एक अनुपम श्रद्धांजलि है। आज जिन विशाल भवनों, शिक्षा केन्द्रों, बालविद्यालयों, सत्संग समारोहों, महिला सभाओं, हिंदी शिक्षण वर्गों, पुस्तकालयों, क्रीड़ाङ्गनों, आर्य ग्रन्थों के पठन-पाठन और अनुसंधान केन्द्रों तथा तपस्वी संन्यासियों, मनीषी विद्वानों, कार्यशील और दूरदर्शी आर्य नेताओं की जन-कल्याण सम्बन्धी गतिविधियों के दर्शन होते हैं उसके पीछे विगत सौ वर्ष में हजारों चीन्हें और अनचीन्हें दीवाने व्यक्तित्व समर्पित हुए हैं। उनका स्मरण और अभिनन्दन अपने आप में एक पुण्य कार्य है।

सुविधानुसार इस विषय का एक संक्षिप्त विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता हैं :—

केनिया—इस प्रदेश के अभ्युत्थान और निर्माण में आर्यसमाज का विशिष्ट योगदान रहा है। गत सात दशाब्द से आर्यजनों ने इस प्रदेश में जो बहुमुखी कार्य किया है वह प्रशंसनीय है। आज वहां जिस जन-जागरण और राष्ट्रीयता की लहर चल रही है आर्यसमाज उसका समर्थन करता है। हम विश्व बंधुत्व और विश्व मानवता के हामी हैं, अतः हर राष्ट्र में उसके निवासी को मिलने वाले मानवीय अधिकारों के समर्थक हैं। जन-जन की सेवा और मानव प्रेम ही प्रभु भक्ति है। इसी आदर्श को लेकर आज तक यहां आर्यजन सामाजिक कार्यों में लगे हैं। शिक्षा क्षेत्र में विशेष रूप से स्त्री शिक्षा क्षेत्र में इस प्रदेश में आर्यसमाज का योगदान सबसे बड़ा है। युगांडा, केनिया और जंजीबार में ऐसा कोई आर्यसमाज नहीं जिसमें बालिका विद्यालय न हो।

सन् १६१० में नेरोबी में स्थापित आर्य कन्या पाठशाला इस देश की सबसे पहली पाठशाला थी। नेरोबी आर्यसमाज के यशस्वी पुरोहित पं० श्यामसुन्दर स्नातक जी, आदरणीय स्वामी सत्य प्रकाश जी महाराज एवं श्री पं० ओमप्रकाश जी त्यागी के अतिरिक्त श्रीअच्छरादास जी, श्री बी० आर० कपिला, श्री सी० पी० गुप्ता, श्री एस० जी० चतरह, श्री एच० सी० मेयर, डॉ० एफ० सी० सूद, श्री ए० के० सरीन, श्रीमती शकुन्तला खरबन्दा, श्रीमती दमयन्ती शर्मा, श्रीमती कृष्णा सूद तथा श्री आनन्द जी गवाल्ला के नाम नेरोबी तथा पूरे केनिया प्रदेश आर्यसमाज के प्रचार के लिए उल्लेखनीय हैं। पं० ज्ञानचन्द जी शास्त्री, महात्मा आनन्द स्वामी जी, श्री सत्यदेव वेदालंकार, पं० मदनमोहन तथा श्री पं० दलीप वेदालंकार ने भी इस देश में वैदिक विचारधारा के प्रचार और प्रसार में स्तुत्य योग-दान दिया है। युगांडा तथा तंजानिया में भी लगभग एक दर्जन आर्य-समाज की इकाइयां कार्यरत हैं।

दक्षिण अफ्रीका—इस क्षेत्र में आर्यसमाज की तेतीस शाखाएं कार्य कर रही है। व्याख्यान, साहित्यप्रचार और साप्ताहिक सत्संग के अतिरिक्त जरबन तथा पीटर मारिटस वर्ग की जेलों में भी प्रचार कार्य किया गया। श्री पं० आर० बनवारी महाराज, श्री बी० दुखरत, श्री आर० एफ० सिंह तथा पं० रामदध जी ने इस कार्य का संपादन कुशलता से किया। वैदिक निकेतन द्वारा भी यहां आर्य-विचारधारा का बहुत अधिक प्रचार हो रहा है। श्री पं० नरदेव वेदालंकार इस केन्द्र के अध्यक्ष हैं। हिन्दी शिक्षा संघ भी आपके निर्देशन में कार्यरत है। प्रीटोरिया स्काउट ग्रुप, सरस्वती महिला मंडल, नेहरू विद्या-मन्दिर, स्प्रिंग स्त्री आर्यसमाज लेडी स्मिथ आदि कई केन्द्र कार्य कर रहे हैं। श्री विनयचन्द पटेल, श्री एस० दुःखरन तथा श्री एस० छोटाई के नाम इस दिशा में उल्लेखनीय हैं। फिजी, सूवा और रोडेशिया में भी पं० नरदेव जी के प्रयास से अनेक केन्द्रों की स्थापना हो चुकी है।

लंदन—आर्यसमाज होसलों, वैदिक मिशन लन्दन द्वारा आर्य विचारों

का उपयोगी प्रचार हो रहा है। यह केन्द्र पारस्परिक सहयोग, प्रेम और भाईचारे के लिए दूसरे प्रतिष्ठानों से भी संपर्क रखता है। लीड में होने वाले संयुक्त इमीग्रेशन ऐडवाइजरी सर्विस के वार्षिक सम्मेलन में श्री जे० ऐल० आंघल तथा श्री ए० एन० गिरधर ने आर्यसमाज की ओर से भाग लिया। लन्दन तथा सम्बन्धित और स्थानों में आर्यसमाज स्थापना दिवस ऋषि बोधोत्सव तथा ऋषि निर्माण पर्व को उत्साह पूर्वक मनाया जाता है। प्रो० एस० एन० भारद्वाज, श्री डी० वी० पुरी, पी० एस० सेठी, श्री एस० के आर्य, श्री जे० आर० शर्मा, श्रीमती लाज चावला, श्रीमती एस० छावरा तथा श्री के० सी० चोपड़ा यहां तन्मयता से कार्य कर रहे हैं।
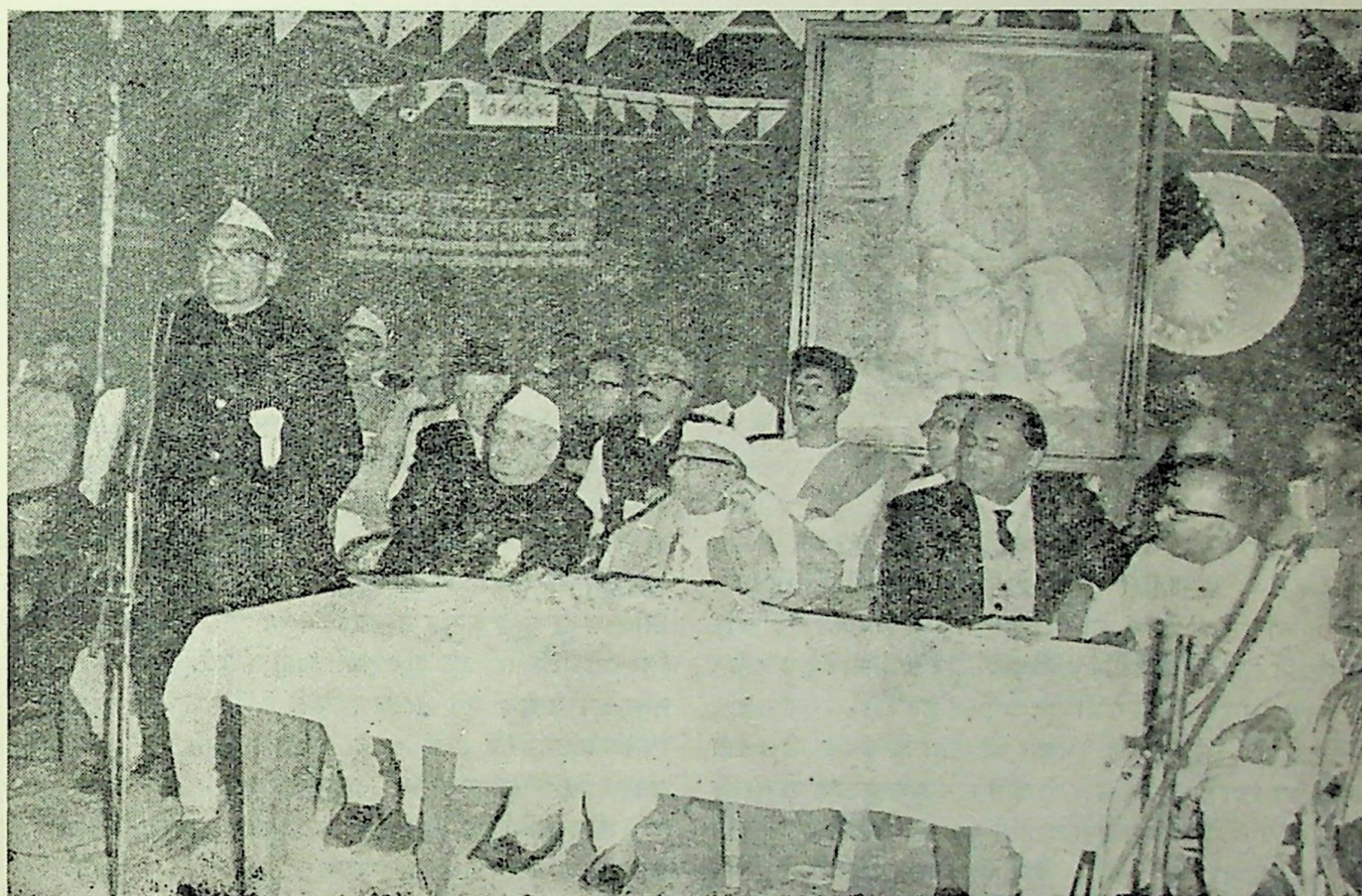
आर्य महा सम्मेलन (मारीशस) के अवसर पर आयोजित कवि सम्मेलन में कविता पाठ करते हुए डॉ० सुरेशचन्द्र शास्त्री ला० रामलाल मलिक, श्री प्रतापसिंह शूरजी बल्लभदास, श्री क्षेमचन्द्र सुमन (अध्यक्ष) श्री व्रजेन्द्र भगत मधुकर तथा डॉ० डी० राम।

मारीशस—यह लघु भारत आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में सबसे आगे कहा जा सकता हैं। गत वर्ष महासम्मेलन के अवसर पर मारीशस के प्रधानमंत्री सर डॉ० शिवसागर रामगुलाम से लेकर अन्य मन्त्रियों, अधिकारियों, नेताओं, व्यापारियों, कार्यकर्ताओं और साधारण नागरिकों ने भारत से गए हजारों आर्यों का मन मोह लिया। शताब्दी समारोह में मारीशस से आने वाले आर्य बन्धुओं के लिए दिल्ली वासी स्वागत के लिए कृत निश्चय हैं। इस प्रदेश में आर्य गतिविधियों को बढ़ाने में श्री धर्मवीर धूरा पुरोहित तथा श्री युत डी० कालीचरण का नाम बरवस स्मरण हो जाता है।

उत्तरी अमेरिका—इस प्रदेश में भारतीयों की संख्या बहुत बड़ी हो जाने से साल के कार्य का जो अभाव उस प्रदेश में था वह अब संवाहित होने लगा है। टोरेन्टो में २१-१०-७४ को तथा वाशिंगटन में २७-१०-७४ को आर्यसमाज की विधिवत स्थापना हुई। केलगरी में हिन्दू सोसाइटी के माध्यम से कार्य हो रहा है। वेनकूवार में भी आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हो चुकी है। भारत से कई हजार मील दूर इस प्रदेश में जो महानुभाव कार्य कर रहे है उनमें श्री पं० ज्ञानचन्द्र, डॉ० एच० सी० सूद, श्री सुरेन्द्र कुमार कांहली, श्री वी० के० सूद, श्री पं० निरूपमदेव शर्मा शास्त्री, डॉ० भूपेन्द्र सूद, श्री गुरुचरण जी चोपड़ा तथा श्री युत बलदेव कापिल के नाम उल्लेखनीय हैं। बाल-शिक्षा, स्त्री-शिक्षा, हिन्दी-शिक्षा, ऋषि के सिद्धान्तों तथा आर्यसमाज की पावन विचारधारा का प्रचार विदेशों में व्यापक पैमाने पर सुनियोजित ढंग से होना चाहिए। अन्त में मैं विदेशों में कार्यरत अपने हजारों भाइयों, बहनों का हार्दिक अभिनन्दन करता हुआ उनका अभिवादन करता हूं।

स्वामी दयानन्द और आर्य समाज

जीवन और कार्यों का मूल्यांकन

• श्री सी० एफ० एन्ड्रूज

मैं धर्म से तो ईसाई हूँ। किन्तु महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती के प्रति अपना मंतव्य प्रकट करने का जो अनुरोध मुझसे किया गया है वह अपने आप में इस बात का प्रमाण है एवं हम भारतवासी इस सत्य को अब और अच्छी तरह समझने लगे हैं कि यद्यपि सम्प्रदाय और धर्म मानव से मानव को अभी भी पृथक् रखे हुए हैं, फिर भी शुद्ध धार्मिक हृदय सदैव एकताभाव से ओतप्रोत रहता है। मैं जो कुछ लिखने जा रहा हूँ उसके पीछे वही एकताभाव कार्य कर रहा है। मैं केवल वे ही बातें बताना चाहता हूं जो एकता के सूत्र में बाँधती हैं। मैं यह दिखा देना चाहता हूं कि मैं धर्म से ईसाई होते हुए भी स्वामी दयानंद सरस्वती, जो कि हिन्दू थे, के प्रति कितना प्रेम और आदर रखता हूं।

वैसे तो मैं स्वामी दयानंद के चरित्र की समस्त विशेषताओं का ही आदर करता हूं। किन्तु सत्य पर दृढ़ता से अड़ जाने की उनकी विशेषता को मैं सर्वोपरि स्थान देता हूं। यह सत्य उनकी स्वयं की अन्तरात्मा में से निकलता था। इस विशेषता का पता उस घटना से ही लग जाता है, जब उन्होंने एक बार बचपन में ही, मंदिर में शिवमूर्ति पर चढ़ाये गये भोग को चूहे द्वारा खाते देखा और भविष्य में मूर्तिपूजा में विश्वास करने से इंकार कर दिया था। इतनी अल्पायु के बालक का, धर्मान्धता की उन बेड़ियों, को जो उसे जकड़े हुए थीं तोड़ फैंकना एक अद्‌भुत घटना थी। मुझे तो यही प्रतीत होता है कि निर्भीक स्वामीजी का सत्य पर डट जाना ही उनके जीवन की महान संघर्ष-शक्ति व उनके कर्मठ व्यक्तित्व का रहस्य था। इसके अतिरिक्त कोई भी शक्ति उन्हें उन भयानक यंत्रणाओं को सहने की सामर्थ्य नहीं दे सकती थी, जो उन्होंने सहन की थीं।

वह दूसरी विशेषता, जिसके कारण स्वामी दयानंद मुझे प्रिय लगते हैं—उनका प्रबल साहस है। भय नाम की किसी चीज़ को तो वह जानते ही न थे। भारी-से-भारी संकट में भी वह प्रसन्न और शान्त रहते थे। कई बार तो, जब उन्होंने अपनी अंतरात्मा के सत्य का उद्‌घाटन किया तो, वह निश्चित ही मृत्यु के मुंह में जा पहुँचे थे, किन्तु सत्य से कभी एक क्षण के लिए भी पीछे नहीं हटे अपितु खतरे की घंटी से उनके स्वभाव में श्रेष्ठतम तत्व उभरते थे। ऐसे श्रेष्ठतम तत्वों में से एक तत्व स्नेह है। स्वामीजी जितने महान स्नेह प्रकट करते समय लगते थे उतने और कभी नहीं। मैं उनकी इस विशेषता के लिए उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

तीसरी विशेषता, उनकी प्रगाढ़ और उत्कट देशभक्ति है, जिसके कारण स्वामी दयानंद का नाम भारत के घर-घर में प्रचलित हो गया था। उनका समस्त जीवन अपने देश की अथक सेवा में संलग्न रहा। मोह ममता की प्रत्येक वस्तु — जैसे पत्नी, गृह, संतति, सम्पत्ति—सभी उन्होंने मातृ-भूमि के चरणों पर अर्पित कर दी थी। मैं, जो एक विदेशी और अंग्रेज हूं, उनकी देशभक्ति के लिए उन्हें प्रेम और आदर करता हूं। मैं अपने स्वयं के देश इंगलैंड से भक्तिपूर्वक प्रेम करता हूं, और उसी तरह अपनी जन्मभूमि भारत के प्रति स्वामी दयानंद का प्रेम देखकर मुझे प्रसन्नता होती है।

चौथी विशेषता—जो मैं बता सकता हूं—यह है कि स्वामीजी महान सुधारक थे। वह समस्याओं से पलायन कर और समाज से दूर रहकर भगवत्प्राप्ति की स्वार्थभरी अभिलाषा से आत्मतुष्ट होकर बैठनेवाले न थे, अपितु उनके समाधान और उसके सुधार करने में उन्होंने अपनी समग्र-भावना-शक्ति लगा दी थी। उन्होंने धार्मिक सुधार से लेकर समाज सुधार तक का लक्ष्य अपने हाथों में लिया। यदि हम व्यावहारिक पहलू पर ध्यान दें तो उनके द्वारा प्रतिस्थापित धर्म की जड़ पहले-पहल पंजाब में जमीं थी, किन्तु स्वामी दयानंद द्वारा प्रमाणित महान सुधारवादी प्रभाव ने जो महान सामाजिक उत्थान किया उसका ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन होगा।

मेरे भारत-प्रवास के संस्मरणों की धरोहर के कोमलतम संस्मरण वे दिन हैं जो कुछ वर्ष पूर्व मैंने हरिद्वार के निकट कांगड़ी में स्थित गुरुकुल में व्यतीत किये थे। उन दिनों के संस्मरण बार-बार मेरे मस्तिष्क में ताजा हो उठते हैं और उस परमश्रेष्ठ एवं पुनीत कार्य में हाथ बंटाने के सौभाग्य का अवसर पाने की अपार खुशी में मैं झूम उठता हूं, जो महात्मा मुंशीराम—अब स्वामी श्रद्धानंद—ने गंगा के किनारे किया था। उनका समस्त जीवन केवल इस गुरुकुल के लिए ही समर्पित हो चुका था। उन दिनों की शान्ति और प्रसन्नता कभी नहीं भुलाई जा सकती। और जब मैं स्वामी दयानंद जी सरस्वती के बारे में लिखने बैठा हूं तो मेरे मस्तिष्क में उन दिनों का स्मरण हो आना स्वाभाविक है क्योंकि स्वयं वह गुरुकुल, आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती की प्रत्यक्ष और सीधी प्रेरणा का ही फल है, जिनके शिष्य महात्मा मुंशीराम थे।

यह मेरी आदत नहीं कि प्रशंसात्मक लेख लिखते समय केवल सराहना भरे शब्द ही लिखूँ और परामर्श या चेतावनी के रूप में कुछ न कहूं। क्योंकि केवल सराहना करने से शिथिलता आने की ही सम्भावना है, शक्ति आने की नहीं। यह दया के भाव तो उत्पन्न कर सकती है किन्तु स्वयं सत्य की चरमसीमा तक नहीं पहुंच सकती। अतः उपसंहार करते समय मैं इस पत्र में कुछ ऐसी बातों के बारे में भी कहना पसंद करूंगा जो बहुधा मेरे मन में रही हैं, विशेष रूप से, मैं जब से इन कष्ट और परीक्षा के दिनों में फिर पंजाब आया हूं और जो कार्य स्वामी दयानंद सरस्वती ने प्रारम्भ किया था उसे देख लिया है।

मुझे एक खतरा दिखाई देता है कि एक ओर तो शीघ्रता और परिवर्तन तथा दूसरी ओर तेजी से पैसा बनाने और सांसारिक सफलताएँ पाने के इस खतरनाक युग में, धार्मिक चिंतन द्वारा चित्त को मिलाने वाली शान्ति, स्थिरता और आनन्द इस सांसारिक कार्यकल्प के दबाव से कहीं उपेक्षित और अदेखा न रह जाय मैं अंत तक यही कहूंगा कि अभी बहुत कुछ करने की आवश्यकता है। मनुष्य के लिये सक्रिय जीवन श्रेष्ठ है और बहुत-सी त्रुटियों को केवल सक्रियता से ही सुधारा जा सकता है। किन्तु सक्रियता : जिसके प्रति पंजाबियों में विशेष आकर्षण होता है : के साथ ही साथ मैं शान्ति, आन्तरिक आनन्द तथा चिंतन एवं भगवान के प्रति भक्ति और अधिक गहन धार्मिक भावना देखना चाहूंगा। पंजाब में बहुत-से लोगों के लिये शरीर के सक्रिय जीवन की अपेक्षा आत्मा का आंतरिक जीवन कहीं अधिक कठिन है। किन्तु ऋषि स्वामी दयानंद सरस्वती, जिन्होंने आर्य समाज की स्थापना की थी, ने चरित्र के इन दोनों पहलुओं को ठीक-ठीक और साथ-साथ अपने में आत्मसात् किया था। उन्होंने एकान्त चिंतन में वर्षों व्यतीत किये; मानव जाति के कल्याण के लिये वर्षों तक सक्रिय कार्य किया। उन्होंने उनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं की थी। और मेरी यह तीव्र अभिलाषा रहेगी कि उनके अनुयायी इस पथ में उनका अनुसरण कर सकें।

हरिद्वार के निकट गंगा के किनारे गुरुकुल कांगड़ी में मुझे जो धार्मिक शान्ति मिली उस आन्तरिक शान्ति की इस युद्ध और संघर्षरत संसार में अत्यन्त आवश्यकता है। मुझे वहां ऐसी शान्ति मिली : क्योंकि यह शान्ति बंगाल में शान्ति निकेतन के बाद मिल रही थी : कि मैं जब पुनः पंजाब आया तो मेरे हृदय में हरिद्वार स्थित उस गुरुकुल में जाकर ऐसी शान्ति-सुधा का पान करने की तीव्र लालसा जाग्रत हुई। और ऐसा होता है कि यदि मैं वहाँ नहीं जा पाता हूं तो मेरे हृदय में एक टीस उठती है तथा अब इस वर्तमान कार्य की विश्राम-रहित दौड़-धूप में मैं इस टीस का अनुभव कर रहा हूं।

अतः आर्य समाज के लिए मेरी यह आकांक्षा है कि जो गम्भीर धार्मिक शान्ति मुझे हरिद्वार के निकट गंगा के किनारे गुरुकुल कांगड़ी में प्राप्त हुई वह आर्य समाज के समस्त आन्दोलन में व्याप्त हो जाय और प्रत्येक नया गुरुकुल, प्रत्येक नया विद्यालय, प्रत्येक नया महाविद्यालय, प्रत्येक नया अनाथालय, प्रत्येक नयी सामाजिक संस्था, जो आर्य समाज ने महान ऋषि स्वामी दयानंद सरस्वती के स्मारक के रूप में स्थापित किये हैं, इस शान्ति की भावना से पूर्ण ओतप्रोत हो जायं।

पंजाब बड़े भयानक दिनों से होकर गुजरा है और आर्य समाज को भी अपनी अन्य संस्थाओं के साथ, यंत्रणाओं की भयंकर कठोर परीक्षा से होकर गुजरना पड़ा है। यह उस कठोर अग्नि परीक्षा से पवित्र और परिमार्जित होकर निकला है तथा उस यंत्रणाकाल के महानतम वरदानों में एक वरदान यह रहा है कि उसने आर्य समाज के सदस्यों को स्वभाव से अपने देश के अन्य धर्मावलम्बी साथियों के निकट ला खड़ा किया है। विभिन्न धर्मों के अनुयायी भारतीय, जैसे :—हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई—अब एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रखना सीख चुके हैं; जो अब से पूर्व कभी नहीं रखते थे। इतने सब कष्टों के पश्चात् भी यदि वह शान्ति, जो परमात्मा से प्राप्त होती है और उसी की देन है, इस दुखाक्रान्त धरा के सभी धर्मों के भारतवासियों में व्याप्त हो जाय तो वे तमाम दुख और मानसिक संताप व्यर्थ नहीं जायेंगे। किन्तु यदि इस कठिन यंत्रणा के बाद भी वह लक्ष्य प्राप्त न हुआ तो उसके लिये जितने भी कष्ट हम भोग चुके हैं, वे सब व्यर्थ चले जायेंगे।

मैं अपनी स्वयं की असफलता व अयोग्यता का पूरा ध्यान रखते हुए भी अत्यंत विनम्रतापूर्वक आर्य समाज के सदस्यों को आर्य समाज शताब्दी वार्षिकोत्सव के अवसर पर यही बात ध्यान में रखने और उस महान ऋषि, जिसका हम सब सम्मान करते हैं, की भावना का सच्चे अर्थों में पालन करने का ही संदेश दे रहा हूं।

देश की एकता में हिन्दी का योग

• श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

किसी भी देश की एकता में उसकी भाषा का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इस दृष्टि से यदि हम विचार करें तो देखेंगे कि हमारे देश की एकता को बनाए रखने और उसकी अखण्डता को सुरक्षित रखने में हिन्दी का अभूतपूर्व स्थान है। हिन्दी को यह महत्त्व इसलिए नहीं दिया गया कि वह सारी भारतीय भाषाओं में ऊँची है, बल्कि उसे 'राष्ट्रभाषा' इसलिए कहा और समझा जाता है कि हिन्दी को जानने, समझने और बोलने वाले देश के कोने-कोने में फैले हुए हैं। ये लोग चाहे हिन्दी न जानते हों, व्याकरण की भूलें करते हों, अशुद्ध हिन्दी बोलते हों; परन्तु बोलते हिन्दी हैं और उसीमें अपने भाव व्यक्त करते एवं दूसरों की बात समझते हैं। वास्तव में हिन्दी की यह प्रकृति ही देश की एकता की परिचायक है और इसी प्रकृति ने उसे इतना व्यापक रूप दिया है। वह केवल हिन्दुओं या कुछ मुट्ठी-भर लोगों की भाषा नहीं है; वह तो देश के कोटि-कोटि कण्ठों की पुकार और उनका हृदय-हार है।

हिन्दी के सूत्र के सहारे देश के एक कोने से चलकर कोई भी व्यक्ति दूसरे कोने तक जा सकता है और अपना काम चला सकता है। देश में फैली हुई अनेक भाषाओं और संस्कृतियों के बीच यदि भारतीय जीवन की उदात्तता एवं एकात्मकता किसी भाषा में दिखाई देती है तो वह हिन्दी में ही है। चाहे सब लोग हिन्दी न जानते हों, लेकिन फिर भी इसके द्वारा वे अपना काम चला लेते हैं और उन्हें इसमें कोई कठिनाई नहीं होती। भारत की बहु-भाषिकता के प्रश्न को उठाकर जो लोग हिन्दी को राष्ट्रभाषा के गौरवपूर्ण स्थान पर अधिष्ठित करने में रुकावट डाल रहे हैं, वे यह कैसे भूल जाते हैं कि आज विश्व के सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न देश रूस ने इस समस्या का किस प्रकार समाधान किया है। उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि 'सोवियत-संघ' में यद्यपि ६६ भाषाएँ बोली तथा लिखी जाती हैं, किन्तु फिर भी वहाँ की राष्ट्रभाषा 'रूसी' ही है। सोवियत संघ की 'मंगोल' और 'तुर्की' भाषाओं के शब्दों का रूसी भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत यहाँ की दक्षिण की भाषाओं में भी संस्कृत के प्रायः ६० प्रतिशत शब्द मिल जाते हैं। तमिल को हम अपवाद के रूप में रख सकते हैं, किन्तु उसमें भी कुछ शब्द तो ऐसे मिल ही जाते हैं, जिन्हें भारत की दूसरी भाषाओं के बोलने वाले सरलता से समझ लेते हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व हिन्दी के ही माध्यम से भारत के अनेक सन्तों, सुधारकों, मनीषियों और नेताओं ने अपने विचारों का प्रसार एवं प्रचार किया था। अपनी दूरदर्शिता के कारण उन्होंने ऐसी ही भाषा को अपनी भाव-धारा के प्रचार का साधन बनाया, जो देश के सभी भू-भागों के अधिकांश जन-समुदाय को एकता के सूत्र में पिरो सकती थी; और वह भाषा हिन्दी थी। यही कारण था कि जहाँ उत्तर प्रदेश के कबीर, पंजाब के नानक, सिन्ध के सचल, कश्मीर के लल्लद्यद, बंगाल के बाउल, असम के शंकरदेव, गुजरात के नरसी मेहता और महाराष्ट्र के तुकाराम एवं ज्ञानेश्वर आदि सन्तों ने जिस सांस्कृतिक एकता को आधार बनाकर अपने काव्य की रचना की, वहाँ दक्षिण के वेमना और आलवार आदि सन्तों की कविता की मूल भावभूमि भी वही थी। इनके सन्देश में कहीं भी भाषागत विघटन का स्वर नहीं उभरा था, बल्कि सभीकी रचनाएँ उत्तर से दक्षिण तक और पूरब से पच्छिम तक समान रूप से समादृत होती थीं। जिन साधु-वैरागियों के मठ और अखाड़े सारे देश में फैले हुए थे, उनमें भी कहीं भाषा का झगड़ा नहीं उठता था।

भाषाओं की वह विविधता देश की एकता में कहीं भी बाधक नहीं समझी जानी चाहिए। 'दस बिगहा पर पानी बदलै, दस कोसन पर बानी' के अनुसार 'पानी' और 'बानी' की अनेकविधता तो स्वाभाविक ही है, किन्तु कबीर ने जिस 'संस्कृत' को 'कूप-जल' और जिस 'भाषा' को 'बहता नीर' कहा वह भाषा निश्चय ही 'हिन्दी' है। इसीमें उन्होंने अपना सन्देश देश को दिया और उसे वे 'एकता की कड़ी' के रूप में देखते थे। भाषा वही महत्त्वपूर्ण होती है जो लोगों को 'तोड़ने' के बजाय 'जोड़ने' का सन्देश दे

और जिसके माध्यम से प्रेम का मार्ग प्रशस्त हो। इसी पावन भावना से प्रेरित होकर महाकवि जायसी ने यह कहा था :

तुरकी, अरबी, हिन्दुई, भाषा जेती आहि ।
जेहि मँह मारग प्रेम का, सबै सराहै ताहि ।।

और यह प्रेम का मार्ग केवल हिन्दी के माध्यम से ही प्रशस्त हो सकता है। यदि ऐसा न होता तो बंगाल के अद्वितीय सुधारक राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन-जैसे मनीषी अपने विचारों के प्रचार के लिए इसे क्यों अपनाते ? आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने गुजराती होते हुए भी राष्ट्रीयता और समाज-सुधार की अपनी भाव-धारा को हिन्दी के द्वारा ही सारे देश में फैलाया। 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' के जन्मदाता लोकमान्य बाल-गंगाधर तिलक ने महाराष्ट्रीय होते हुए भी १६२० में बनारस में हिन्दी में भाषण दिया था। उनके यह विचार वास्तव में हिन्दी की व्यापकता का सुपुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने कहा था : "मेरी समझ में हिन्दी भारत की सामान्य भाषा होनी चाहिए। जब एक प्रान्त दूसरे प्रान्त से मिले तो आपस में विचार-विनिमय का माध्यम हिन्दी ही होनी चाहिए।" सामाजिक क्षेत्र में अनेक सुधारकों द्वारा जहाँ हिन्दी को भारत की एकता का प्रमुख साधन समझा जा रहा था वहाँ महात्मा गांधी के द्वारा उसके प्रचार और प्रसार को इतना व्यापक बल मिला कि कांग्रेस के अधिवेशनों में भी प्रस्तावों और भाषणों की भाषा हिन्दी हो गई। महात्मा गांधीजी ने हिन्दी का महत्त्व इन शब्दों में स्वीकार किया था : "जैसे अंग्रेज अपनी मातृभाषा अंग्रेजी में ही बोलते हैं वैसे ही मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप हिन्दी को भारत माता की एक भाषा बनाने का गौरव प्रदान करें। हिन्दी को सब समझते हैं। इसे राष्ट्रभाषा बनाकर हमें अपना कर्तव्य-पालन करना चाहिए।"

हिन्दी की सार्वजनीन उपयोगिता और महत्ता का इसीसे पता चलता है कि इसे दूसरे प्रदेशों के निवासी नेताओं और विचारकों ने अपने विचारों के प्रकट करने का माध्यम बनाया था। श्रीमती सरोजिनी नायडू ने इसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए एक बार कहा था : "देश के सबसे ज्यादा हिस्से में हिन्दी ही लिखी जाती है। अगर हम साधारण बुद्धि से काम लें तब भी हमें पता चलेगा कि हमारी कौमी जबान हिन्दी ही हो सकती है। "सुप्रसिद्ध मनीषी आचार्य क्षितिमोहन सेन ने भाषा को किसी भी देश की एकता का प्रधान साधन मानते हुए हिन्दी की महत्ता की जो प्रतिष्ठापना की थी वह भी हमारे लिए उपेक्षणीय नहीं है। उन्होंने कहा था : "अंग्रेजी भाषा की महिमा इसलिए नहीं है कि वह हमारे शासकों की भाषा थी बल्कि इसलिए है कि उसने संसार की समस्त विद्याओं को आत्मसात् किया है। हिन्दी को भी यही पद पाना है। उसे भी नाना विद्याओं, कलाओं और संस्कृतियों की त्रिवेणी बनना होगा। हिन्दी में वह क्षमता है। बिना ऐसा बने भाषा की साधना अधूरी रह जायगी। भाषा हमारे लिए साधन है, साध्य नहीं; मार्ग है, गन्तव्य नहीं; आधार है, आधेय नहीं।"

आज राजनीति की आड़ लेकर जहाँ बंगाल में यदा-कदा हिन्दी-विरोध की जो आवाज उठ खड़ी होती है वहाँ के निवासी यह कैसे भूल जाते हैं कि अतीत काल में बंगाल ने हिन्दी के संवर्धन और पल्लवन में बड़ा भारी योगदान दिया था। बंगाल से जहाँ राजा राममोहन राय ने 'अग्रदूत' नामक पत्र हिन्दी में सफलतापूर्वक प्रकाशित किया, वहाँ 'बन्देमातरम्' राष्ट्र-गान के अमर गायक बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपने 'बंग-दर्शन' नामक ग्रन्थ के पाँचवें खण्ड में स्पष्ट रूप से यह लिखा था : "हिन्दी भाषा की सहायता से भारत-वर्ष के विभिन्न प्रदेशों में बिखरे हुए लोग जो ऐक्य-बन्धन स्थापित कर सकेंगे, वास्तव में वे ही सच्चे भारतीय कहलाने योग्य हैं।" केवल यही नहीं, बंगला 'वसुमति' के सम्पादक श्री सुरेशचन्द्र समाजपति और 'सन्ध्या' के सम्पादक पं० ब्रह्मबान्धव उपाध्याय आदि ने भी अपने पत्रों में हिन्दी की राष्ट्र-भाषा-सम्बन्धी क्षमता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया था। सुप्रसिद्ध तत्त्व-चिन्तक श्री अरविन्द घोष ने भी अपने 'कर्मयोगी' और 'धर्म' नामक पत्रों के माध्यम से राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नयन में अपना अनन्य सहयोग देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का कार्य किया था। जहाँ बंग देश में उक्त सुधा-रक, विचारक और चिन्तक हिन्दी-सम्बन्धी आन्दोलन को आगे बढ़ा रहे थे वहाँ श्री भूदेव मुखर्जी बिहार में तथा श्री नवीनचन्द्र राय पंजाब में हिन्दी-प्रचार का कार्य कर रहे थे। प्रकाशन और मुद्रण के क्षेत्र में भी बंग-भाषियों की सेवाएँ अविस्मरणीय हैं। श्री रामानन्द चटर्जी ने अपने प्रवासी प्रेस से जहाँ 'विशाल भारत'-जैसा उच्चकोटि का मासिक पत्र निकाला वहाँ श्री चिन्तामणि घोष के इण्डियन प्रेस ने 'सरस्वती' का प्रकाशन करके हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि में अभूतपूर्व योगदान दिया।

अनेक बंग-नेताओं द्वारा जहाँ राष्ट्रभाषा के प्रचार-प्रसार में योगदान की दिशा में ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहे थे वहाँ जस्टिस शारदाचरण मित्र ने 'एक लिपि विस्तार परिषद्' की स्थापना करके उसके द्वारा 'देवनागर' नामक ऐसा पत्र प्रकाशित किया कि जिसका उद्देश्य देवनागरी लिपि के माध्यम से समस्त भारतीय भाषाओं की कृतियों को प्रकाशित करके उनमें समन्वय स्थापित करना था। उनका यह भी अभिमत था कि यदि भाषाओं में से लिपि की दीवार को हटा दिया जाय और सब भाषाओं को 'देव-नागरी' लिपि में ही लिखने की परम्परा चल पड़े तो भारत की एकता अखण्ड रह सकेगी। वास्तव में यदि लिपि की बाधा को दूर कर दिया जाय और सारे देश की भाषाएँ 'देवनागरी' को अपना लें तो हमारी सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक चेतना को बड़ा बल मिल सकेगा। पश्चिमी एशिया की 'ताजिक' और 'तुर्की' भाषाओं ने जब 'अरबी' लिपि को छोड़-कर रोमन लिपि को अपनाया तब वहाँ भी बड़े ही क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए थे। एक लिपि के माध्यम से हमारी एकता सर्वथा अक्षुण्ण रह सकेगी।

इस परिप्रेक्ष्य में यदि हम उर्दू के हिमायतियों के उन तर्कों को ध्यान से देखें जो आज उर्दू को एक स्वतन्त्र भाषा का दर्जा देने के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं, तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उर्दू कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं, बल्कि वह तो हिन्दी की ही एक शैली-मात्र है। यदि उर्दू के लिए देव-नागरी लिपि का आश्रय ले लिया जाय तो उसका शैलीगत रूप बना रह सकेगा। उर्दू के हिमायती यह कैसे भूल जाते हैं कि जिस हिन्दी को जायसी, रहीम, रसखान, आलम, शेख और उस्मान-जैसे मुस्लिम कवियों ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया वह क्या केवल हिन्दुओं की ही

भाषा कही जा सकती है ? खड़ी बोली के आदिकवि के रूप में जहाँ अमीर खुसरो ने हिन्दी कविता को नये मुहावरे दिये वहाँ सैयद इन्शा अल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' नामक रचना से हिन्दी कहानी की विधा में एक अभूतपूर्व निखार आया। हिन्दी-साहित्य में जहाँ उक्त विभूतियों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है वहाँ आधुनिक काल में ऐसे अनेक नाम हमारे सामने उभरकर आते हैं, जिन्होंने जाति और धर्म की दीवार को तोड़कर साहित्य-निर्माण के विविध क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य किया था। ऐसे महानुभावों में सैयद अमीर अली 'मीर', कासिमअली साहित्यालंकार, बन्दे अली फ़ातमी, जहूरबख्श हिन्दी कोविद और नबीबख्श 'फ़लक' आदि के नाम गौरव के साथ स्मरण किये जा सकते हैं। कदाचित् ऐसे ही उदारमना मनीषियों को दृष्टि में रखकर किसी कवि ने यह लिखा था : "इन मुसलमान हरिजनन पर, कोटिन हिन्दू वारिये।"

स्वतन्त्रता के बाद उर्दू भाषा के लिए आन्दोलन तो बहुत हुए, लेकिन वास्तविकता यह है कि प्रायः सभी उर्दू लेखकों ने अपनी रचनाएँ हिन्दी में प्रकाशित करनी प्रारम्भ कर दी हैं। यह शुभ चिह्न है। उर्दू की अधिकांश शायरी भी देवनागरी में लिप्यन्तरित होकर हिन्दी में आ गई है। ऐसी स्थिति में यदि भारत की एकता को दृष्टि में रखकर हम 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' के साथ-साथ 'राष्ट्र-लिपि देवनागरी' को अपनाने का संकल्प कर लें तो एक दिन समस्त भारतीय भाषाएँ मुक्त स्वर में यही उद्घोष करेंगी :

'एक हृदय हो भारत जननी।'

भाषा का विवाद राजनीतिक विवाद है, वह जनता का विवाद नहीं है। जनता को आज दिग्भ्रमित किया जा रहा है। हमारा यह कर्तव्य है कि हम जनता को शिक्षित करें और उससे कहें कि वह अपना सारा कार-बार, पत्र-व्यवहार आदि हिन्दी में करे। यदि हमने शुद्ध मन से और दृढ़ निश्चय से हिन्दी-प्रचार की पावन वेदी पर पैर रखा तो वह दिन दूर नहीं, जब देश के कोने-कोने में हिन्दी का स्वत: ही प्रचार हो जायगा।

(पृष्ठ १६२ का शेष)

नि:सन्देह विश्व हिन्दू परिषद तथा अन्य कुछ संगठनों की ओर से रक्षात्मक कार्य प्रारम्भ किये गए हैं। केवल रक्षात्मक कार्य से संकट टलेगा नहीं। यह संकट बहुत भयानक और शक्तिशाली है। इस संकट को अग्रगामी नीति से ही दूर किया जा सकता है। इसका इलाज महर्षि ने बतलाया था और जिसे आर्यसमाज ने अपनाया था, किन्तु जन्म पर आधारित जात-पात की भावना ने आर्यसमाज को भी शिथिल कर दिया। इस संकट की रोकथाम शुद्धि के द्वारा ही सम्भव है। किन्तु आर्यसमाजी स्वयं जात-पात को न मानकर भी उसी रोग से ग्रसित हो गये। आज समस्या है कि शुद्ध करने वालों का भविष्य क्या होगा ? उनका सामाजिक सम्पर्क, उनकी सन्तान के शादी-ब्याह की समस्या, इन सबका हल क्या होगा ? आर्यसमाज में भी आकर यदि अपनी जन्म की जाति-पाति के पाश में फंसे रहे, तो शुद्ध होकर आने वालों को कौन अपनाएगा। परिणाम यह हुआ कि शुद्धि आन्दोलन बन्द तो नहीं हुआ, वह अत्यन्त शिथिल अवश्य हो गया। अत: आर्यसमाज को शुद्धि आन्दोलन को तीव्र करने की आवश्यकता है, किन्तु उससे पूर्व जन्म पर आधारित जात-पात की भावना का सक्रिय रूप से अन्त भी उतना ही परमावश्यक है। इसकी सफलता का एकमात्र साधन जन्म-मूलक जात-पात तोड़कर विवाह पद्धति को प्रचलित करना है। इस दिशा में अब आर्यसमाजी ही नहीं अपितु आर्यसमाज से बाहर के चिन्तकों ने भी सोचना शुरू किया है।

भारतवासी देश-व्यापी भ्रष्टाचार और अनैतिक व्यवहार के कारण बहुत त्रस्त हैं। यह राष्ट्रीय चरित्र के सामान्य पतन का प्रमाण है। खेतिहरों श्रमिकों, व्यापारियों, अध्यापकों, छात्रों, सार्वजनिक कार्यकर्ताओं और अनेक नेताओं के चारित्रिक स्तर में पतनोन्मुख भारी परिवर्तन आया है। कोई राष्ट्र अपने नैतिक स्तर को गिराकर विकासोन्मुख नहीं हो सकता। इस कार्य को आर्यसमाज जैसी संगठित और जागरूक संस्था ही कर सकती है। अत: आर्यसमाज ऐसा कार्यक्रम बनाये जिससे कि भारतीय समाज से भ्रष्टाचार का लोप हो जाए। इसके लिए आर्यसमाज को छात्रों और युवकों के साथ सम्पर्क पैदा करने की आवश्यकता है।

आज देश में जिस तीव्रता के साथ मद्यपान, धूम्रपान और मांस भक्षण फैल रहा है, वह अत्यन्त चिन्ता का विषय है। इसके कारण राष्ट्रीय चरित्र पतनोन्मुख हो गया है। इसकी सुनियोजित कार्यक्रम के द्वारा रोकथाम करने की आवश्यकता है। आर्यसमाज जैसी सुधारक संस्था इसको कर सकती है।

आज नारी जाति का फैशन के नाम पर अपमान और अवहेलना हो रही है, उसको देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। दहेज ने पहले ही कन्याओं के विवाह को समस्या बना रखा था, अब तो वस्तुओं के मूल्यों की भांति दहेज की दरें भी द्रुतगति से बढ़ रही हैं। दहेज, पर्दा और पुरुषों के बहु-विवाह नारी जाति के घोर अपमान की द्योतक प्रथाएं हैं। अन्तिम दो का यद्यपि जोर टूटा है पर दहेज के रोग से तो शिक्षित और सुधारक भी पीड़ित हैं। इसकी रोकथाम सुनियोजित ढंग से करने की आवश्यकता है। नारी जाति के अपमान के दो अन्य मोर्चे आधुनिक युग की देन के रूप में खुल गए हैं—एक विज्ञापनबाजी का स्वरूप और दूसरा कैबरा-डांस। आज का युग विज्ञापन का युग है और आज के विज्ञापन क्षेत्र का केन्द्रीय-बिन्दु नारी बन गई है। ऐसे-ऐसे भद्दे और अश्लील रूप में नारी का प्रयोग विज्ञापन में देखा जाता है कि लज्जा भी लज्जित हो उठे और उससे एक कदम आगे बढ़कर कैबरे-डांस है। आज सिनेमा के रजत पटों के माध्यम से और उच्च स्तरीय होटलों में इसके कैसे भद्दे और अश्लील रूप दर्शाये जाते हैं। ऐसा लगता है, मानो पुरुष वर्ग नारी को माता, पुत्री और बहन के रूप में देखना नहीं चाहता, वह तो उसको अपनी वासना-तृप्ति का साधन मात्र ही समझता है। क्या इसकी रोकथाम की आवश्यकता नहीं है ? क्या आर्यसमाज इस चरित्र-भ्रष्टता और नारी-अपमान को तटस्थ रहकर देखना चाहता है ? नहीं, तो देशव्यापी आन्दोलन के द्वारा उसे ऐसी भ्रष्ट चीज़ों को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। ★

आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह की व्यवस्था समितियाँ

(१) आवास समिति

(क) श्री देशराज चौधरी	:	प्रधान
ला० ज्योति प्रसाद	:	संयोजक
श्री सूर्यदेव	:	सदस्य
,, धर्मचन्द	:	,,
,, ज्ञानप्रकाश	:	,,
,, दीवानचन्द पलटा	:	,,
,, रमेशचन्द	:	,,
,, प्रेमपाल शास्त्री	:	,,

(ख) स्कूल एवं कालेजों का आरक्षण

श्री रामलाल मलिक	:	संयोजक
प्रिंसिपल ओम्प्रकाश	:	सदस्य
ला० काह्नचन्द	:	,,
श्री तीर्थराम आहूजा	:	,,
श्री शान्तिलाल	:	,,
श्री देशराज चौधरी	:	,,

(ग) मैदानों का आरक्षण

श्री लक्ष्मीचन्द	:	संयोजक
चौ० परमानन्द	:	सदस्य

(घ) टैन्टों एवं पंडालों की व्यवस्था

श्री मदन गोपाल खोसला	:	संयोजक
श्री प्राणनाथ	:	सदस्य

(२) भोजन समिति

श्री राजभरत मनोचा	:	संयोजक
,, धर्मचन्द गुप्ता	:	सदस्य
,, प्रीतमदास	:	,,
,, साधूराम अग्रवाल	:	,,
,, श्रीमती शकुन्तला आर्य	:	,,
,, रमेशचन्द्र अग्रवाल	:	,,

(३) जल समिति

श्री नेतराम	:	संयोजक
श्री हरिप्रसाद	:	सदस्य

(४) सफ़ाई समिति

श्री देशराज चौधरी	:	संयोजक

(५) स्वास्थ्य समिति

डा० नरेन्द्रनाथ शास्त्री	:	संयोजक सदस्य
डा० दिनेश चन्द्र आयुर्वेदाचार्य	:	,,
श्री वेदप्रकाश आर्य	:	सदस्य
,, कंवर दयाल	:	,,
,, गुलाबसिंह राघव	:	,,
,, राजपालसिंह शास्त्री	:	,,

(६) सेवा एवं सुरक्षा समिति

आर्य वीर दल व स्वयं सेवक

प्रि० जगदेव	:	संयोजक

स्वयं सेविकाएं

श्रीमती प्रकाश आर्य	:	संयोजिका
,, शकुन्तला देवी	:	उपसंयोजिका

(७) प्रदर्शिनी समिति

श्री आशानन्द मलिक	:	संयोजक

(८) विदेश विभाग समिति

श्री ओम्प्रकाश त्यागी	:	संयोजक
ला० काह्नचन्द	:	सदस्य
डा० सत्यप्रकाश	:	,,
श्री रामलाल मलिक	:	,,

(९) पोस्ट आफ़िस व रेल विभाग समिति

श्री बलवन्तराय खन्ना	:	संयोजक
श्री प्राणनाथ	:	सदस्य

(१०) बैंकिंग व्यवस्था समिति

श्री ओम्प्रकाश सुनेजा	:	संयोजक
श्रीयुत श्रीपाल	:	सदस्य
श्री अशोककुमार सहगल	:	,,
श्री खानचन्द चौधरी	:	,,

(११) पूछताछ एवं स्वागत समिति

आर्य प्रतिनिधि सभा
एवं
आर्य केन्द्रीय सभा
१५, हनुमान रोड, नई दिल्ली के सदस्यगण

(१२) पंडाल समिति

श्री पण्डित नरेन्द्र	:	संयोजक
श्री रामनाथ सहगल	:	सदस्य
श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री	:	,,
श्री रमेशचन्द्र शास्त्री	:	,,
श्री काशीराम आर्य पेन्टर	:	,,

(१३) यज्ञ समिति

आचार्य श्रीकृष्ण	:	संयोजक
स्वामी ब्रह्मानन्द दण्डी	:	ब्रह्मा
श्री प्रकाशचन्द शास्त्री	:	सदस्य
,, ब्रह्मानन्द सरस्वती, राउरकेला	:	,,
,, प्रेमपाल शास्त्री	:	,,
,, आचार्य रामदत्त	:	,,
,, छविकृष्ण शास्त्री	:	,,

(१४) ध्वजारोहण समिति

श्री ओम्प्रकाश त्यागी	:	संयोजक
श्री देवव्रत शास्त्री, बम्बई	:	ध्वजगान

(१५) परिवहन समिति

ला० रामगोपाल शालवाले	:	संयोजक
श्री ओम्प्रकाश त्यागी	:	सदस्य

(१६) धन संग्रह समिति

श्री सोमनाथ मरवाह	:	संयोजक
ला० काहनचन्द	:	सदस्य
रतनचन्द सूद	:	,,
श्री मुलखराज भल्ला	:	,,
,, सहदेव चन्द	:	,,
,, ईश्वरचन्द आर्य	:	,,
,, ओमप्रकाश गोयल	:	,,
,, त्रिलोकचन्द	:	,,

(१७) शोभायात्रा समिति

श्री अशोककुमार सहगल	:	संयोजक
,, प्राणनाथ	:	सदस्य
,, मनोहरलाल गुप्त	:	,,

(१८) स्मारिका समिति

श्री राममूर्ति कला	:	संयोजक
,, सरदारीलाल वर्मा	:	सहसंयोजक
,, रतनलाल सहदेव	:	सदस्य
,, मदन गोपाल खोसला	:	,,
,, अजयकुमार	:	,,

संपादन

श्री विमलचन्द्र 'विमलेश' :

संपादन सहयोग

डा० दिलीप वेदालंकार
एम० ए० पी-एच० डी०

डा० देवेन्द्र आर्य
एम० ए० पी-एच० डी०

✲✲

(पृष्ठ १६० का शेष)

तस्य वकार मात्रयाऽपश्चन्द्रम समर्थ वेदन्त क्षत्राण्योमिति स्व मात्मानं जनयदित्यं गिरसा मनुष्टभं छन्द एक विंशति स्तोभं सृक्षिणं दिशि शरदतुं मनोऽध्यात्मं ज्ञानं ज्ञेयमतीन्द्रयाव्यन्व भंवन ।। २१।

अग्निर्देवत ऋग्वेदस्य यजुर्वेदोवायु देवतः ।।
आदित्यः सामवेदस्य चन्द्रमावेदयुतश्च भृग्वङ्गिरसाम्
प्र १ पूर्वभास १।५।२५

उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि जो सम्बन्ध ऋग्वेद का अग्नि से है वायु का यजुर्वेद से है, साम का आदित्य से है वही अथर्ववेद का चन्द्रमा से है और वही अङ्गिरा है।

अतः मन्त्र में चन्द्रमा का उल्लेख हुआ है। वेधा सूर्य का नाम है और अग्नि तो स्पष्ट ही है। चारों ऋषियों के हृदय में चारुमति = वेद ज्ञान को परमात्मा उत्पन्न करता है यह वेद मन्त्र से स्पष्ट है तथा उत्पत्ति का प्रकार भी बतला दिया गया है। चारों वेदों को प्राप्त करने वाले ऋषियों की ये चारों उपाधियां हैं जो कि उनके सम्बोधन परक नाम बन जाते हैं।

✲✲

(शेष पृष्ट २३ का)

उदाहरण रूप से उद्‌घोष किया गया है। गांधी जी ने स्वयं भी आर्यसमाज के इस सहयोग की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। क्रान्तिकारी आन्दोलन ने विदेशी शासन के उन्मूलन में अकथनीय प्रेरणा दी है। अनेक आर्ययुवकों ने अपने घर परिवार के सुखों को त्याग इस स्वराज्य यज्ञ में, बिना किसी प्रतिफल की आशा के, हंसते-हंसते पुण्य आहुति दी। श्री भगतसिंह, उनके दादा स० अर्जुनसिंह और पिता स० किशनसिंह तीनों पीढ़ियां दृढ़ आर्य होती हुई भारत माता के चरणों में अर्पित हो गयीं। सुखदेव, काकोरी षड्‌यंत्र के रामप्रसाद बिस्मिल, ठा० रोशनसिंह तथा पं० काशीराम, स० किशनसिंह गडगज्ज, सोहनलाल पाठक, गेंदाराम दीक्षित, ऋषि दयानन्द के परम भक्त राजस्थान के एक ही परिवार के ठा० केसरीसिंह, कुंवर प्रतापसिंह, बारहर प्रेरणा जोरासिंह बारहर, विजयसिंह पथिक, अर्जुनलाल सेठी, राजा महेन्द्र प्रताप, विष्णु शरण दुवलिस, रामचरणलाल वर्मा, शहीद देवसुमन इत्यादि बलिदानी युवकों के रक्त के अंशों में ऋषि दयानन्द की प्रेरणा और आर्यसमाज की शिक्षाएं जाज्वल्यमान थीं।

✲

आर्य समाज एवं सामाजिक पुनरुत्थान

• श्री परमेश शर्मा
एम० ए०, साहित्यरत्न, शास्त्री

महर्षि दयानन्द ने १९वीं शताब्दी में जन्म लेकर भारत का जितना कल्याण किया इतना किसी अकेले एक व्यक्ति द्वारा संभव नहीं हुआ है। सामाजिक क्षेत्र में, धार्मिक क्षेत्र में एवं राजनैतिक क्षेत्र में महर्षि की देन भारतवासियों को सदैव स्मरण रहेगी। यूँ तो महर्षि ने धार्मिक क्षेत्र में अपने मनृव्य का प्रकाश करके, उस समय में प्रचलित धर्म के नाम पर होने वाले पाखंडों की तो जड़ें हिला ही दीं, लोगों को महान ज्ञानान्धकार से निकालकर ज्ञान के सूर्य की ओर भी उन्मुख कर दिया और भूले-भटकों को सुमार्ग पर लाकर खड़ा किया। किन्तु धार्मिक क्षेत्र में की गई क्रान्ति से ही हम ऋषि के या आर्य समाज के कार्यों का सही-सहीं मूल्यांकन नहीं कर पाएँगे। आइये, उस क्रान्तदृष्टा की दूरदर्शिता को समझने के लिए "सामाजिक क्षेत्र को उसकी देन" पर विचार करें।

गुजरात के इस सपूत ने समाज सुधार के लिए, समाज कल्याण के लिए जो कार्य किया अथवा उनके द्वारा स्थापित 'आर्य समाज' द्वारा जो कार्य आज भी किया जा रहा है वह निःसंदेह स्तुत्य है। 'आर्य समाज' द्वारा दलितोद्धार, अछूतोद्धार, स्त्री शिक्षा विधवा विवाह, अनाथालयों की स्थापना, गुरुकुल, विद्यालयों तथा महाविद्यालयों की स्थापना, शुद्धिकरण, गौ संवर्धन आदि अनेकों लोककल्याण एवं समाजसुधार के कार्य किए जा रहे हैं। किन्तु इन सुधार कार्यों में, मेरी दृष्टि में' 'अछूतोद्धार' तथा 'स्त्री शिक्षा' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

अस्पृश्यता निवारण

१९वीं शताब्दी एक ऐसा काल था जिसमें वर्णव्यवस्था जन्म के आधार पर निर्धारित होकर फल-फूल रही थी। समाज में तथाकथित ब्राह्मणों का बोलबाला था, क्षत्रिय तथा वैश्य भी किसी से पीछे नहीं थे, बस पीछे थे वे जो जनता की सेवा के लिए जन्मे थे, जिन्हें शूद्र कहा जाता था। जिनसे कार्य तो पूरा लिया जा सकता था किन्तु उन्हें अपने पास बिठाना तो दूर उनकी छाया से भी अपने को बचाया जाता था। उन्हें समाज में किसी के साथ मिलकर बैठने, कार्य करने, भोजन करने की छूट नहीं थी। उन्हें 'अछूत' कहा जाता था। वे सवर्ण लोगों के कुँओं से पानी नहीं ले सकते थे। भगवान की पूजा के लिए मन्दिरों में उनका प्रवेश वर्जित था। सवर्ण लोगों के सामने से इनका गुजर जाना अशुभ माना जाता था ऐसे समय में 'टंकारा' में जन्मे उस महर्षि ने इन अछूतों के उद्धार का बीड़ा उठाया और लोगों को बताया कि यदि अन्य वर्ण कुछ कल्याण चाहते हैं तो उन्हें अपने इन भाइयों को गले लगाना पड़ेगा। मनुष्य जन्म से ब्राह्मण अथवा शूद्र नहीं। उसकी जाति 'गुण कर्म स्वभावेन' निर्धारित की जानी चाहिए। आर्य समाज ने ऋषि के आदेश का अक्षरशः पालन किया। वेद पढ़ने, यज्ञ करने और यज्ञोपवीत धारण करने का सब को समान अधिकार दिया गया। समग्र देश में आर्यों के लिए कोई भी व्यक्ति 'अछूत' नहीं रहा। जो अधिकार अन्य वर्णों को प्राप्त थे वे इन्हें भी प्राप्त हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्य समाज द्वारा अब तक समाज-सुधार के जितने कार्य किये गये अथवा किये जा रहे हैं उनमें अछूतोद्धार अथवा अस्पृश्यता निवारण का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। ध्यान से सोचने पर यह बात कितनी स्पष्ट होकर सामने उभरती है कि यदि आर्य समाज ने आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व इस कार्य को हाथ में न लिया होता तो आज हमारे समाज की क्या दशा हुई होती। युग प्रवर्तक उस महर्षि ने अपनी दूर दृष्टि से समाज की विघटनकारी वर्णव्यवस्था पर कुठाराघात किया। हिन्दू समाज का बहुत बड़ा वर्ग जो धर्म परिवर्तन करके दूसरे धर्मों में सम्मिलित हो रहा था, आर्य समाज द्वारा चलाये गये शुद्धि आंदोलन के परिणामों से विधर्मी होने से बचा लिया गया।

नारी जागरण

ऋषि दयानन्द के इस धरा पर अवतरण के पूर्व तथा अवतरित होने पर भी, इस भारत देश में नारी को बड़ा तिरस्कृत किया जा रहा था। यह वही नारी थी जिसे वैदिक ग्रन्थों में "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" कहकर गौरव प्रदान किया गया था। किन्तु खेद है कि उस समय 'नारी नरकस्य द्वारं', 'नारी की झाईं परत अंधा होत भुजंग', 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी···' आदि कहकर तिरस्कृत किया जा रहा था। ऋषि ने डंके की चोट कहा कि जिस देश में स्त्री का सम्मान नहीं होता वह देश उन्नति कर नहीं सकता और साथ ही स्त्री की दशा सुधारने के लिए देश में स्त्री शिक्षा के प्रसार प्रचार पर बल दिया। कन्या गुरुकुल तथा कन्या विद्यालय, महाविद्यालय खोले गये। वालविवाह, अनमेल विवाह बन्द किये गये। बाल विधवाओं के पुनर्विवाह को स्वीकृति मिली। नारी जाति ने वस्तुतः चैन की सांस ली और इसके लिए महर्षि तथा आर्य समाज के प्रति कृतज्ञता अर्पित की।

आज देश की वर्तमान सरकार ने आर्य समाज के प्रायः सभी सुधार-कार्यक्रमों को अपने हाथ में ले लिया है और वह बड़ी तत्परता व लगन से इन समाज सुधार के कार्यों में लगी हुई हैं और उसमें उसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। बिना सरकार के सहयोग के यह कार्य बड़ी कठिनाई से आगे बढ़ता। सरकार तदर्थ बधाई की पात्र है।

किन्तु अभी मंजिल दूर है। आर्यों को अपनी पूरी शक्ति व निष्ठा से नारी जागरण तथा अस्पृश्यता निवारण के कार्य को आगे बढ़ाना चाहिए। देश से सती प्रथा और बलि प्रथा का अंत किया जा सकता है तो यह भी कोई असंभव कार्य नहीं है। छुआछूत का कलंक देश से मिटे, सवर्ण तथा असवर्ण का भेद समाप्त हो और सभी लोग इस आर्य समाज शताब्दी के पुण्य अवसर पर 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का घोष करते हुए एक स्वर में एक साथ बोलें—बोलो महर्षि दयानन्द की जय।

ऋषि का एक सुन्दर स्वप्न

• डा० पुष्पावती, एम० ए०, पी-एच डी०

आर्य समाज क्या है ? संक्षेप में उत्तर दें दिव्य अनुभूति एवं मानव विकास की चरम सीमा प्राप्त एक ऋषि हृदय का एक स्वप्न था। ऋषि हृदय की भावना व विचार के अतिरेक का सम्मिश्रण था। वे समग्र विश्व के कल्याण का चित्रण कर रहे थे। मानव जाति के इतने पुण्य अर्जित नहीं थे कि वे सुदीर्घ काल तक इस धारा को सुवासित करते हुए मानव कल्याण के कार्यक्रम को पूर्ण कर जाते। फिर भी उन्होंने आर्य समाज की स्थापना कर दी, जिसका मुख्य लक्ष्य था "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'।

वास्तव में वे 'आर्यसमाज' के रूप में ही समग्र विश्व को देखना चाहते थे और इसके लिए आर्यसमाज की व्यवस्था वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार होना उनका मन्तव्य था। अतः आर्यसदस्य की आन्तरिक व्यवस्था वर्णाश्रम के अनुसार ही होनी चाहिए थी अर्थात् आर्यसमाज में प्रवेश लेने के समय ही आर्यसमाज का वर्ण उसके गुणकर्म स्वभाव के अनुसार निर्धारित कर दिया जाना चाहिए था, और तदनुसार समाज में उसका स्थान निश्चित कर दिया जाना चाहिए था और वर्णानुसार ही हमारी अर्थव्यवस्था (अर्थ रखने का अधिकार तथा अर्थवितरण की प्रणाली) भी होती।

इस प्रकार वैदिक समाज का एक जीवित जाग्रत उदाहरण आर्यसमाज के रूप में जनता के सामने आ जाता, जिसके आधार पर आगे चल कर विश्वभर के नागरिकों की समाज व्यवस्था की जा सकती और वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की उपादेयता स्वयंसिद्ध हो जाती। वर्तमान समय में सामाजिक विश्रंखलता का मूल कारण वर्ण सांकर्य ही है। वैदिक वर्णाश्रम के उपरोक्त क्रियात्मक रूप के द्वारा विश्व भर के सामने एक ऐसी समाज व्यवस्था स्पष्ट हो जाती जिसमें सामाजिक विषमताओं व विभीषिकाओं को कोई स्थाव न होता जिनकी अग्नि में वर्तमान विश्व दुःखी व अशान्त हो रहा है और जन्मगत जाति व धन व इनसे उद्भूत समस्याओं, का निराकरण तो स्वयमेव हो जाता। इससे भारतीय लोकतंत्र में भी स्वच्छता व सुदृढ़ता आ जाती।

दूसरे वेदार्थ की दिशा में भी हमें क्रान्तिकारी मोड़ देना है। वह यह कि वेद मंत्रों का सामान्य शब्दार्थ कर देने की अब तक की प्रचलित प्रणाली पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं है। मन्त्रों की अनेकार्थता को प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। इसके लिए मन्त्रार्थकर्ता को स्वाभावतः एक दिशा अपनानी होगी और उसी दिशा में मंत्रार्थ प्रतिपादन करना होगा। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भिन्न रुचियाँ होती हैं, भिन्न-भिन्न अनुभव होते हैं तो जब विभिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि व योग्यता के अनुसार एक ही मंत्र के विभिन्न अर्थ रखेंगे, तो वेद ज्ञान की विशालता का बोध होगा, तभी वेद से हम सच्चे रूप में लाभ भी उठा सकेंगे और तभी हमारा यह दावा कि वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। सिद्ध भी होगा।

ऋषि दयानन्द ने अपने वेद भाष्यों में मंत्रों की अनेकार्थता का संकेत दिया है। उसकी सुस्पष्ट अभिव्यक्ति शेष है। इसी उपक्रम में वेदमन्त्रों के वैज्ञानिक अर्थ भी अपने आप सामने आ जाएँगे, और वैज्ञानिक आधार पर प्रतिपादन से वेद समग्र विश्व की निधि स्वतः ही बन जायगा। वेद ज्ञान की सार्वभौमिकता, सार्वकालिकता का हमारा दावा भी विश्व को मान्य हो जायगा।

विगत शताब्दी आर्यविचारों व मान्यताओं के प्रचार की शताब्दी थी। ईश दया से इसमें हम सफल हुए हैं। आज विश्व के प्रत्येक भाग में आर्यसमाज स्थापित हैं। दूसरी शताब्दी का आरम्भ हमने वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की क्रियात्मकता तथा वेदार्थ की वैज्ञानिक व अनेकार्थता के साथ करना है, यही ऋषी का स्वप्न था, जिसे आर्यों पूरा करना है। विश्व पटल पर दुःख दैन्य व अशान्ति का नर्तन आर्यसमाज को इस ऋषि स्वप्न को शीघ्र ही पूरा करने के लिए तीव्रतर आह्वान कर रहा है।

आर्यो ! झिझको नहो, बढ़ चलो !

विदेशों में युवा वर्ग और आर्य समाज

• श्री रविदत्त, अध्यक्ष—भारतीय युवक परिषद्

युवक राष्ट्र की अजेय शक्ति होते हैं। किसी भी राष्ट्र के बहुमुखी कार्यक्रम का क्रियान्वयन युवकों के द्वारा ही होता है। राष्ट्र का वास्तविक स्वरूप युवकों में ही दिखाई देता है। आर्य समाज ने युवकों के लिये कुछ पृथक-कार्यक्रम स्पष्ट रूप से भले ही नहीं रक्खा किन्तु चरित्र निर्माण, नम्रता, उदारता अपने देश के मूलभूत जीवन आदेशों की रक्षा, नेतृत्व की भावना पाने की साधारण रूप प्रत्येक युवक में होनी चाहिये। स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन और कुछ नया (Advanture) कर सकने की क्षमता युवकों में होनी चाहिये। घर से लेकर मुहल्लों तक और अपने ग्राम कस्बे या नगर से लेकर सुदूर दूसरे देशों तक शांति और विश्व बन्धुत्व का मार्ग प्रशस्त करना युवकों का कार्य होना चाहिये।

विचारों की ऊँचाई और दैनिक जीवन की सरलता किसी भी युवक को महत्ता की ओर ले जाते हैं। मैं एशिया, यूरोप, अमेरिका, अरब राष्ट्र आदि समाजवादी देशों में युवकों के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समारोहों में गया हूँ। अनेक देशों के अनेक प्रतिनिधि मंडल भारत आते हैं और यहां से दूर दूसरे देशों में भी इसी प्रकार के युवक प्रतिनिधि मंडल जाते रहते हैं। इस प्रकार का आदान प्रदान हमें निश्चय ही आपसी भाई चारे और विश्व बंधुत्व की ओर ले जाता है।

हमारे जीवन दृष्टा ऋषियों ने 'तमसो मा ज्योतिर्गमय, में जिस भावधारा का उल्लेख किया है—वह युवा वर्ग को प्रेरणा दायक है। ऋषि दयानन्द का जीवन क्रम भारत ही नहीं विदेशों के युवा वर्ग का भी मार्ग प्रदर्शन कर सकता है। संकीर्णताओं विद्रोह, 'सत्यम्' का ग्रहण और 'शिवम्' की प्राप्ति के लिये अनवरत संघर्ष युवक ही कर सकते हैं। युवकों के जीवन का निर्माण और मार्ग दर्शन के लिये जिन गुरुकुलों और महाविद्यालयों की स्थापना की थी उनके द्वारा इस दिशा में पर्याप्त काम हुआ है। किन्तु आज विश्व के युवकों को एक सूत्र में बाँध कर निर्माण और विश्व कल्याण की ओर ले जाने की आवश्यकता है।

प्रत्येक देश में अनेक प्रकार के युवक संगठन हैं, कहीं-कहीं सरकारी तौर पर युवा वर्ग की समस्याओं को सुलझाने और उन्हें निर्माण कार्यों में लगा रखने के लिये युवकों से सम्बन्धित आयोजन भी होते हैं पर वह उतनी बड़ी मात्रा में नहीं जो युवकों को पूर्ण रूप से विघटनकारी प्रवृत्तियों से रोक सके। आर्य नेता मूल दिशा से पहल करे तो वह कदम स्वागत योग्य होगा।

व्यायाम शाला, योग शिविर, वादविवाद प्रतियोगितायें, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय यात्रा अभियान आदि कार्य तो होने ही चाहिएं युवक युवतियों का सादा जीवन, रूढ़ियों के उन्मूलन, समय-समय पर उठने वाली चुनौतियों का सामना करने की क्षमता और लगन भी अपनानी चाहिये।

आज युवा वर्ग में घुमन्त प्रवृत्ति दिखाई देती है, निठल्लापन, उद्देश्यहीनता, अकर्मण्यता और नशीली दवाओं आदि का प्रयोग भी बढ़ता जा रहा है। अनुसंधान के बाद जो आँकड़े सामने आये हैं वह कहीं तक चौंका देने वाले हैं। हाईस्कूलों से लेकर विश्वविद्यालयों तक जो पतनोन्मुखी प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही हैं उन पर अंकुश लगना चाहिए। संतोष है कि आर्य समाज शिक्षा में सबसे अग्रणी है। अब उसे आगे बढ़कर भारत ही नहीं विश्व के युवकों के चरित्र-निर्माण में लग जाना चाहिए।

आर्यसमाज के लिए सर्वस्व दान करने वाले सुप्रसिद्ध दानवीर
जिनकी पावन स्मृति में आर्य समाज हनुमान रोड, नई दिल्ली के मन्दिर का निर्माण
उनकी धर्मपत्नी माता सत्भ्रांवा जी ने करवाया

स्वर्गीय श्री लाला दीवान चन्द जी आवाल

जीवन परिचय

इस महानात्मा का जन्म भूतपूर्व अखण्ड पंजाब प्रान्त के जिला जेहलम के उस सैदपुर ग्राम के एक निर्धन परिवार में हुआ जिसकी मिट्टी ने आर्य समाज के शहीद शिरोमणि श्री पंडित लेखराम जी आर्य मुसाफिर को जन्म दिया। ८ वर्ष की अल्पायु में ही आपको माता-पिता के वियोग का दुःख सहना पड़ा। आप केवल तीसरी कक्षा तक ही शिक्षा प्राप्त कर पाये थे। ग्राम में कोई सहारा न पाकर असहाय लाला दीवान चन्द ग्राम छोड़कर डण्डोतखीवड़ा ग्राम के ठेकेदार गुरुदित्तामल जी के पास १० रुपये मासिक

प्रसिद्ध दानवीर स्व० श्री लाला दीवानचन्द जी ठेकेदार

जिनकी पावन स्मृति में आर्यसमाज हनुमान रोड का भवन बना है!

पर नौकर हो गये। तीन मास पश्चात् आपको २० रुपये मासिक मिलने लगे। तीन-चार वर्ष इस स्थान पर नौकरी करके लाला जी ने कुछ पूंजी जमा की और जम्मू के समीप बन रहे पुल पर स्वतन्त्र रूप से छोटी ठेकेदारी आरम्भ कर दी। उनके कठोर परिश्रम, सादगी, सत्यता एवं मिलनसारी ने आपको दिनों-दिन सफलता के दर्शन कराये। कुछ ही काल में आप अपने पांव पर भली प्रकार से खड़े हो गये।

विवाह—अपनी अपूर्व सूझ-बूझ से ही दीवान गंगाराम जी ने अपनी पुत्री सत्भ्रांवा जी का विवाह बिना मां-बाप बहिन-भाई वाले दीवान चन्द जी से कर दिया।

दिल्ली आगमन—१९११ में आप केवल पांच सौ रुपये की पूंजी के साथ दिल्ली पधारे और दिल्ली क्लाथ मिल के संचालक सर श्रीराम जी से सम्पर्क करके उनसे मिल की राख का ठेका ले लिया। अपने सत्य व्यवहार से आपकी सर श्रीराम जी से घनिष्ठता हो गई। आपने झरिया से कोयले की गाड़ियां मंगवानी प्रारम्भ कर दीं। साथ ही दीवान लाइम कम्पनी के नाम से चूने का काम शुरू कर दिया और सांभर एवं खीवड़ा नमक का ठेका लिया। साथ ही कलकत्ता में लारियों का काम भी शुरू किया। इन सब में आपको अपूर्व सफलता मिली और लाखों रुपये की आय होने लगी।

आप आर्य समाजों, आर्य कन्या पाठशालाओं, आर्य स्कूलों, गुरुकुलों, अनाथालयों, विधवाश्रमों, हस्पतालों, उपदेशक विद्यालयों, कालेजों और समाज सेवी जनों की दिल खोलकर सहायता करते थे। आप वास्तव में आर्य समाज के भामाशाह थे। आर्य समाज की प्रत्येक गतिविधि में आपका हाथ था। आप अमरहुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करते थे। स्वामीजी का मार्गदर्शन तथा नेतृत्व एवं लाला दीवान चन्द जी का रुपया आर्य हिन्दू जाति के हितों में बराबर लगता था।

आपने स्व० पं० मदनमोहन मालवीय एवं शेरे पंजाब लाला लाजपत राय से देश और समाज सेवा का व्रत लिया। अन्य सार्वजनिक कार्यों में भी लाला जी सर्वदा अग्रणी रहे। नई दिल्ली नगरपालिका के आप सदस्य बने, आनरेरी मैजेस्ट्रट बने, कांग्रेस की भी आपने धन से खूब सहायता की। कामर्शियल कालेज के लिये भी पर्याप्त दान दिया तथा महामना श्री पं० मदन मोहन जी मालवीय जी को भी बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के लिये एक भारी राशि प्रदान की।

यद्यपि लालाजी भौतिक शरीर के साथ इस संसार में आज नहीं हैं परन्तु आपके बनाये गये ट्रस्ट "दीवान चन्द धर्मार्थ ट्रस्ट" एवं आपकी धर्म पत्नी श्रीमती प्रकाशवती जी आवाल द्वारा आपकी दान-धर्म परायणता के अनुसार जो निरन्तर दान दिया जा रहा है और जो संस्थायें आपकी स्मृति में बनाई गई हैं, उनके यश द्वारा आप इस संसार में अमर हैं और रहेंगे।

लाला जी के कीर्ति स्तम्भ—दीवानचन्द इन्डीयन इन्फार्मेशन केन्द्र, आर्य समाज दीवान हाल, हनुमान रोड, दीवानचन्द हस्पताल औचन्दी, दीवानचन्द नर्सिंग होम, नई दिल्ली, दीवानचन्द आर्य हायर सैकेन्डरी स्कूल, सतभ्रांवा आर्य कन्या हायर सैकेन्डरी स्कूल करोलबाग, दीवान लाइम कम्पनी आदि हैं।

दीवान चन्द धर्मार्थ ट्रस्ट
नई दिल्ली

स्वर्गीय श्री ला० दीवानचन्द जी की पुण्य स्मृतियों को जागरूक रखने वाली तथा
उनके स्मारकों की रक्षा में तत्पर

श्रीमती प्रकाशवती जी, धर्मपत्नी स्वर्गीय ला० दीवानचन्द जी ठेकेदार
जो श्री जीवनलाल जी कपूर, ला० हंसराज जी गुप्त एवं श्री जे० एम० साहनी
अध्यक्ष दीवानचन्द ट्रस्ट के सहयोग से समाज सेवा में तत्पर हैं।

स्वर्गीया माता सतभ्रावां जी आवाल
धर्मपत्नी दानवीर लाला दीवानचंद जी आवाल
जिन्होंने अपने पूज्य पति की पुण्य स्मृति में
आर्य समाज मन्दिर
हनुमान रोड का भव्य भवन निर्माण कराया

यह आर्य समाज मन्दिर पूज्य लाला जी का एक अमर स्मारक है। दिल्ली में आर्य समाजों की गतिविधियों का केन्द्र है। आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली, आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली, वेद प्रतिष्ठान' टंकारा सहायक समिति, लोक सेवा संघ आदि संस्थाओं का केन्द्र है। इसी प्रकार दीवान चन्द स्मारक ट्रस्ट द्वारा निर्मित "आर्य समाज मन्दिर दीवान हाल" जो समस्त आर्य जगत की एक शिरोमणि आर्य समाज का केन्द्र है, पूज्य लाला जी का अमर स्मारक है। आर्य समाज की प्रत्येक गतिविधि इस आर्य समाज से ही चलती है। माता सतभ्रावां जी की पुण्य स्मृति में आर्य समाज रोड करोलबाग पर "सतभ्रावां आर्य कन्या महाविद्यालय" का निर्माण माता सतभ्रावां ट्रस्ट द्वारा किया गया। ट्रस्ट के प्रधान श्री लाला रामगोपाल शालवाले, मन्त्री श्री गोविन्दराम आवाल एवं श्री सोमनाथ जी मरवाह स्वर्गीय माता जी की वसीयत के अनुसार एक भव्य महिला सत्संग हाल के निर्माण में प्रयत्नशील हैं।

सतभ्रावां ट्रस्ट

शुभ कामनाओं सहित

कैम्ब्रिज पब्लिशिंग हाउस

एजूकेशनल पब्लिशर्स

डी-36, साउथ एक्स्टैशन पार्ट-I
नई दिल्ली-110049

आर्य समाज स्थापना शताब्दी समारोह पर हम देश-विदेश के समस्त आगन्तुक बंधुओं का हृदय से स्वागत करते हैं :-

WITH COMPLIMENTS FROM

Swadeshi Polytex Limited

Factory : Ghaziabad U.P.

India's first continuous process Polyester Fibre Plant
In technical collaboration with
ZIMMER AG. WEST GERMANY

THE FIBRE OF TODAY AND TOMORROW

WEIKFIELD GLUCOSE-D

for fresh energy instantly!
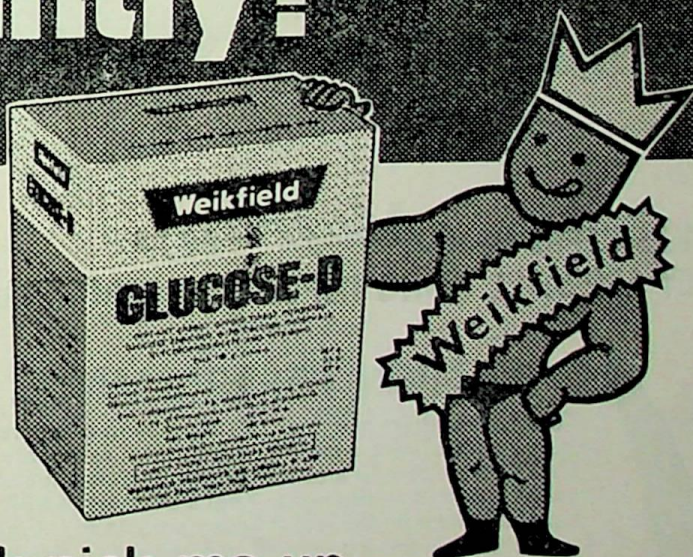
- Your quick pick-me-up— during games or between meals
- Ideal in illness and convalescence
- Easily assimilated
- Quickly builds up strength and energy

WEIKFIELD PRODUCTS CO. (INDIA) PVT. LTD.,
Nagar Road, Poona 411 014.

G.12.75

UNION OF A DIVERSE PEOPLE

This ancient land of India has been open to the cross currents of world thought and opinions right through the centuries. Today it has absorbed people of many life styles, many cultures and many languages.

This unity in diversity is seen in action in Mafatlal Group's corporate operation that upholds this nation's varied and undying cultural values...to achieve the greatest good for the greatest number.

MAFATLAL GROUP

AIYARS. M.347